अनेकान्त की वार्षिक-विषय-सूची

द्वै मासिक अप्रेल १९६९

अनेकान्त

चित्तौड़ के दि० जैन कीर्तिस्तम्भ के नीचे का भाग

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

अनेकान्त के पाठकों से

२१वे वर्ष की गत किरण ५–६ युगवीर विशेषांक के साथ सभी ग्राहकों का वार्षिक मूल्य समाप्त हो जाता है। यह २२वे वर्ष की प्रथम किरण पाठकों की सेवा मे भेजी जा रही है। प्रेमी पाठकों से साग्रह अनुरोध है कि वे अपना अपना वार्षिक शुल्क ६) रुपया मनीआर्डर द्वारा भिजवा कर अनुगृहीत करे। अन्यथा अगला अक वी. पी. से भेजा जायगा। जिसमे १) रुपया अधिक देना होगा।

व्यवस्थापक : **'अनेकान्त'**

'वीरसेवामन्दिर' २१ दरियागंज, दिल्ली

★

दानवीर श्री साहू शान्तिप्रसाद जी द्वारा दो लाख रु० का दान

दानवीर साहू शान्तिप्रसाद जी ने मैसूर विश्वविद्यालय मे जैन चेयर की स्थापना के लिए २ मई को सप्रू हाउस नई दिल्ली मे एक समारोह कांग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा की अध्यक्षता मे हुआ, जिसमे मैसूर विश्वविद्यालय के कुलपति डा० श्री माली को दो लाख रुपये का चैक भेंट किया गया। इसी अवसर पर डा० ए.एन. उपाध्ये का भारतीय साहित्य संस्कृति की समृद्धि मे कन्नड़ के जैनाचार्यों और साहित्य मनीषियो का योगदान' विषय पर महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। साहूजी द्वारा जैन संस्कृति के लिये जो कार्य किया जा रहा है वह महत्त्वपूर्ण तो है ही, साथ ही उनकी विवेकशीलता और उदारताका परिचायक भी है।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २२ किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | वीर निर्वाण सवत् २४९५, वि० सं० २०२६ | अप्रेल सन् १९६९

तीर्थंकर त्रय स्तवनम्

केवलणाण दिणेसं चोत्तीसादिसयभूदि संपण्णं ।
अप्पसरूवम्मि ठिदं, कुंथु जिणेसं णमंसामि ॥६६

संसारण्णवमहणं तिहुयणभवियाण मोक्ख संजणणं ।
संदरिसिय सयलत्थं अर जिणणाहं णमं सामि ॥६७
भव्वजणमोक्खजणणं मुणिंद-देविंद-णमिद-पयकमलं ।
अप्प - सुहं - संपत्तं मल्लि जिणेसं णमंसामि ॥६८

—आचार्य यतिवृषभ

अर्थ—जो केवलज्ञानरूप प्रकाश युक्त सूर्य है, चौतीस अतिशयरूप विभूति से संपन्न, और आत्मस्वरूप मे स्थित है, उन कुंथु जिनेन्द्र को नमस्कार करता हूँ ।।

जो संसार-समुद्र का मथन करने वाले और तीनो लोको के भव्य जीवों को मोक्ष के उत्पादक है तथा जिन्होने सकल पदार्थों को दिखला दिया है ऐसे अर जिनेन्द्र को नमस्कार करता हूँ ।।

जो भव्य जीवो को मोक्ष प्रदान करने वाले है, जिनके चरण कमलो को मुनीन्द्र और देवेन्द्रो ने नमस्कार किया है, और जो आत्मसुख को प्राप्त कर चुके है, उन मल्लि जिनेन्द्र को नमस्कार करता हूँ ।।

—:०:—

धनपाल की भविष्यदत्त कथा के रचनाकाल पर विचार

परमानन्द शास्त्री

संस्कृत और प्राकृत की तरह अपभ्रश भाषा में भी कथा साहित्य की सृष्टि की गई है। कथा साहित्य की सृष्टि कब से प्रारम्भ हुई, यह अभी निश्चित नही हो सका है। विक्रम की ७ वीं, आठवीं और नवमी शताब्दी मे रचे गये कथा ग्रन्थों और बाद में उपलब्ध ग्रन्थों मे पचमी कथा के नामोल्लेख उपलब्ध होते हैं। चउमुह और स्वयंभू ने 'पचमी' कथा बनाई, किन्तु आज वह उपलब्ध नही है। अपभ्रश 'प्रशस्ति सग्रह' मे मैने इस भाषा की ४० कथाओ के आदि अत भाग दिए है। इनके अतिरिक्त और भी कथाए है जिनके सम्बन्ध मे अभी तक कुछ नही लिखा गया। कविवर धनपाल की भविष्यदत्त कथा के रचनाकाल पर विचार करना ही इस लेख का प्रमुख विषय है। अपभ्रश भाषा की दो भविष्यदत्त कथाएं उपलब्ध है जिनमे एक के रचयिता धर्कटवशी धनपाल है। और दूसरी के रचयिता विबुध श्रीधर है। उनमे धनपाल की भविष्यदत्त कथा का रचनाकाल विक्रम की दशवी शताब्दी माना जाता है। और विबुध श्रीधर की कथा का रचना समय वि० स० १२३० है[1] और यह कथा अभी तक अप्रकाशित है। किन्तु धनपाल की भविष्यदत्त कथा का सम्पादन डा० हर्मन जैकोवी ने बडे परिश्रम से किया था और सन् १६१८ मे जर्मनी से उसका प्रकाशन हुआ था। भारत वर्ष में इस काव्य कथा का सस्करण सी. डी. दलाल और बी. डी. गुणे के द्वारा तैयार किया गया जो गायकवाड ओरियन्टल सीरीज बडौदा से सन् १६२३ मे प्रकाशित हुआ है। इस ग्रथ मे काव्यतत्त्वों की सयोजना का सक्षिप्तरूप बडी खूबी के साथ दर्शाया गया है। काव्य की दृष्टि से भी यह कृति महत्वपूर्ण है। सम्पादकों ने प्रस्तावना मे इसके सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रकाश डाला है। और उसका रचना काल दशवी शताब्दी बतलाया है।

परन्तु डा० देवेन्द्रकुमार जी रायपुर ने 'अपभ्रंश' की अन्य जैन कथाओ के साथ धनपाल की भविष्यदत्त कथा पर एक शोध-निबन्ध लिखा, जिस पर आगरा विश्वविद्यालय से उन्हे पी. एच. डी. की उपाधि मिली। वह शोध-प्रबन्ध अभी तक अप्रकाशित है। उसमे उन्होने उसका रचना काल बिना किसी प्रामाणिक आधार के, तथा आगरा की स० १४८० की एक हस्तलिखित प्रति मे स० १३६३ मे लिखाने वाले की प्रशस्ति को मूलग्रन्थकार की प्रशस्ति मान कर उसका रचना काल विक्रम की १४ वी शताब्दी बतलाया और दशवी शताब्दी के विद्वानों द्वारा सम्मत रचना काल को अमान्य किया। उनका लेख 'भविष्यदत्त कथा का रचना काल' नाम से हाल की राष्ट्रभाषा परिषद पत्रिका मे प्रकाशित हुआ है। उसकी एक अतिरिक्त कापी उन्होने मेरे पास भेजी है। उसे पढकर ज्ञात हुआ कि उन्होंने उक्त कथा के रचना काल पर कोई प्रामाणिक विचार नही किया। और न कोई प्रामाणिक अनुसन्धान कर ऐसे तथ्य को ही प्रकट किया जिससे उक्त भविष्यदत्त कथा का रचना काल १४वी शताब्दी निश्चित हो सकता। किन्तु स० १३६३ की प्रशस्ति के अनुसार भ्रमवश धनपाल की उक्त कथा का रचना काल १४ वी सदी सुनिश्चित किया है। जो उनकी किसी भूल का परिणाम है, एव वह प्रशस्ति जो डा० सा० के रचना काल का आधार है, जिसे लेख में ग्रंथकार की प्रशस्ति मान लिया गया है। और ग्रथ की प्रतिलिपि करने या कराने वाले को रचयिता स्वीकृत किया गया है। उस पर विचार करने और डा० सा० की भूल का परिमार्जन करना ही लेखक का प्रयास है।

---

१. णरणाह विक्कमाइच्च काले, पवहतए सुहयारए विसाले।
वारह सय वरसहि परिगएहिं,
फागुणमासम्भि बलक्ख पक्खे।
दसमिहि दिण तिमिरुक्कर विवक्खे,
रविवार समाणिउ एहु सत्थु ॥
—जैन ग्रन्थ प्र० स० पृ० ५०।

जिससे भविष्य मे इस प्रकार की भूलों की पुनरावृत्ति न हो, और साहित्यिक विद्वान खूब सोच समझ कर लिखे।

लिपिकार की प्रशस्ति की भाषा का मूलग्रन्थकार की भाषा से भी कोई सम्बन्ध प्रतीत नही होता। वह मगलाचरण के साथ एक जुदी प्रशस्ति है, मूलग्रन्थ के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है। प्रशस्ति में प्रयुक्त 'लिहिय' शब्द ग्रंथ लिखने या लिखाने का वाचक है, रचने का नही। मूलग्रथकार ने 'विरइउ' शब्द का प्रयोग किया है 'लिहिय' शब्द का नही। मूलग्रंथकार ने अपने को 'धर्कट' धक्कड वंश का वणिक सूचित किया है। और प्रतिलिपिकार ने दिल्ली के अग्रवाल वश का श्रेष्ठी हिमपाल का पुत्र साहू वाघू। इतना स्पष्ट भेद रहने पर भी डा० देवेन्द्र कुमार का ध्यान उस पर नही गया। उसका कारण सभवतः स० १४८० का प्रतिलिपिकार का समय है उसी के कारण उक्त भ्रम हुआ जान पडता है। अनेक ग्रथो मे प्रतिलिपिकारो द्वारा, पूर्व लिपि प्रशस्ति भी मूलग्रथ के साथ लिपि की हुई मिलती है। उदाहरण के लिए स० १४९४ मे लिखित मलयगिरिकृत मूलाचार प्रशस्ति भी १७ वीं शताब्दी मे लिखी जाने वाली प्रतियो मे मिलती है। लिपि प्रशस्ति की भाषा मूल ग्रथ की भाषा से कुछ घटिया दर्जे की है, और सरल है।

मूल ग्रथकार ने ग्रन्थ के अत मे अपना सक्षिप्त परिचय निम्न पद्य मे दिया है, जिसमे अपने को धक्कड (धर्कट) वशी वणिक बतलाया है और अपने पिता का नाम माएसर (मातेश्वर) और माता का नाम 'धनसिरि' (धनश्री) प्रकट किया है।

धक्कड़ वणिवसि माएसरहु समुब्भिविण।
धणसिरि देवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण॥

प्रशस्ति के अन्तिम घत्ते मे तथा सधि पुष्पिकाओ मे भी अपना नाम धनपाल बतलाया है[1]।

निसुणंत पढ़ंतह परचिंततह अप्पहिय।
धणवालि नेण पचमि पंच पयार किय॥

इस वाक्य से स्पष्ट है कि कवि ने पंचमी कथा आत्महित के लिए की है। किसी अन्य के द्वारा वह नही बनवाई गई। कवि ने अपने उक्त परिचय के साथ, राजा का नाम, रचनास्थल और रचनाकाल नही दिया। अन्यथा यह विवाद ही उपस्थित नही होता।

डा० देवेन्द्रकुमार जी ने अपने लेख के पृ० २७ पर लिखा है कि—"प्रथम धनपाल का जन्म जिस वश मे हुआ था, उसी मे जम्बूस्वामी के रचयिता महावीर, धर्मपरीक्षा के कर्ता हरिषेण आदि उत्पन्न हुए है।"

आपके इस निष्कर्ष मे प्रथम धनपाल के समान जम्बूस्वामीचरित के रचयिता कवि वीर को भी धर्कट वश (धक्कड वश) का लिखना अति साहस का कार्य है। वीर कवि का वश 'लाल वागड' था[2] धर्कट या धक्कड नही। जम्बूस्वामीचरित की रचना मे प्रेरक तक्खडु श्रेष्ठी अवश्य धर्कट वश के थे। वे मालव देश की धन-धान्य समृद्ध सिन्धु वर्षी नगरी के निवासी धक्कड वश के तिलक मधुसूदन के पुत्र थे[3]। इनके भाई भरत ने भी उसे पुष्ट किया था। ऐसी भूले झट-पट कलम चलाने से हो जाया करती है। डा० सा० जैसे उदीयमान विद्वानों को अच्छी तरह से विचार कर ही निष्कर्ष निकालना आवश्यक है।

कवि का धर्कट वंश एक प्राचीन ऐतिहासिक वश है। यह वश परम्परा पूर्व काल मे अच्छी प्रतिष्ठित रही है। इसमे अनेक प्रतिष्ठित पुरुष हुए है। इसका निकास 'सिरि उजपुर' या सिरोज (टोक) से निर्गत बतलाया है[4]। धर्मपरीक्षा के कर्ता हरिषेण (१०४४) भी इसी धर्कट वशीय गोवर्द्धन के पुत्र और सिद्धसेन के शिष्य थे। यह

---

१. इय भविसयत्त कहाए पयडिय धम्मत्थ काम मोक्खाए
बुह धणवाल कयाए पंचमि फल वण्णणाए।
कमलसिरि भविसदत्त भविसाणुरूव मोक्खगमणोणाम
बावीसमो संधी परिच्छेओ सम्मत्तो॥

२. देखो, जम्बूस्वामी चरित प्रशस्ति।

३. अहमालवम्मि धणकण दरिसि,
नयरी नामेण सिन्धुवरिसी।
तहिं धक्कडवग्ग वश तिलउ,
महसूयण नंदणु गुण निलउ।
नामेण सेट्ठि तक्खडु वसइ . ...
—जबूस्वामीचरितप्रशस्ति।

४. इह मेवाड देशे जण सकुले,
सिरि उजपुर णिग्गय धक्कड कुले।
—धर्मपरीक्षा प्रशस्ति।

धनपाल की भविष्यदत्त कथा के रचनाकाल पर विचार

परमानन्द शास्त्री

संस्कृत और प्राकृत की तरह अपभ्रंश भाषा मे भी कथा साहित्य की सृष्टि की गई है। कथा साहित्य की सृष्टि कब से प्रारम्भ हुई, यह अभी निश्चित नही हो सका है। विक्रम की ७ वीं, आठवीं और नवमी शताब्दी मे रचे गये कथा ग्रन्थों और बाद मे उपलब्ध ग्रन्थो मे पचमी कथा के नामोल्लेख उपलब्ध होते हैं। चउमुह और स्वयभू ने 'पचमी' कथा बनाई, किन्तु आज वह उपलब्ध नही है। अपभ्रश 'प्रशस्ति सग्रह' मे मैने इस भाषा की ४० कथाओ के आदि अत भाग दिए है। इनके अतिरिक्त और भी कथाए है जिनके सम्बन्ध मे अभी तक कुछ नही लिखा गया। कविवर धनपाल की भविष्यदत्त कथा के रचनाकाल पर विचार करना ही इस लेख का प्रमुख विषय है। अपभ्रश भाषा की दो भविष्यदत्त कथाएँ उपलब्ध है जिनमे एक के रचयिता धर्कटवशी धनपाल है। और दूसरी के रचयिता विबुध श्रीधर है। उनमे धनपाल की भविष्यदत्त कथा का रचनाकाल विक्रम की दशवी शताब्दी माना जाता है। और विबुध श्रीधर की कथा का रचना समय वि० स० १२३० है[1] और यह कथा अभी तक अप्रकाशित है। किन्तु धनपाल की भविष्यदत्त कथा का सम्पादन डा० हर्मन जैकोवी ने बड़े परिश्रम से किया था और सन् १९१८ मे जर्मनी से उसका प्रकाशन हुआ था। भारत वर्ष मे इस काव्य कथा का सस्करण सी. डी. दलाल और बी. डी. गुणे के द्वारा तैयार किया गया जो गायकवाड ओरियन्टल सीरीज बडौदा से सन् १९२३ मे प्रकाशित हुआ है। इस ग्रथ मे काव्यतत्वो की सयोजना का सक्षिप्तरूप बडी खूबी के साथ दर्शाया गया है। काव्य की दृष्टि से भी यह कृति महत्वपूर्ण है। सम्पादको ने प्रस्तावना में इसके सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रकाश डाला है। और उसका रचना काल दशवी शताब्दी बतलाया है।

परन्तु डा० देवेन्द्रकुमार जी रायपुर ने 'अपभ्रंश' की अन्य जैन कथाओ के साथ धनपाल की भविष्यदत्त कथा पर एक शोध-निबन्ध लिखा, जिस पर आगरा विश्वविद्यालय से उन्हे पी एच. डी. की उपाधि मिली। वह शोध-प्रबन्ध अभी तक अप्रकाशित है। उसमें उन्होने उसका रचना काल बिना किसी प्रामाणिक आधार के, तथा आगरा की स० १४८० की एक हस्तलिखित प्रति मे स० १३९३ वे मे लिखाने वाले की प्रशस्ति को मूल-ग्रन्थकार की प्रशस्ति मान कर उसका रचना काल विक्रम की १४ वी शताब्दी बतलाया और दशवी शताब्दी के विद्वानो द्वारा सम्मत रचना काल को अमान्य किया। उनका लेख 'भविष्यदत्त कथा का रचना काल' नाम से हाल की राष्ट्रभाषा परिषद् पत्रिका मे प्रकाशित हुआ है। उसकी एक अतिरिक्त कापी उन्होंने मेरे पास भेजी है। उसे पढकर ज्ञात हुआ कि उन्होने उक्त कथा के रचना काल पर कोई प्रामाणिक विचार नही किया। और न कोई प्रामाणिक अनुसन्धान कर ऐसे तथ्य को ही प्रकट किया जिससे उक्त भविष्यदत्त कथा का रचना काल १४वी शताब्दी निश्चित हो सकता। किन्तु स० १३९३ की प्रशस्ति के अनुसार भ्रमवश धनपाल की उक्त कथा का रचना काल १४ वी सदी सुनिश्चित किया है। जो उनकी किसी भूल का परिणाम है, एव वह प्रशस्ति जो डा० सा० के रचना काल का आधार है, जिसे लेख में ग्रंथकार की प्रशस्ति मान लिया गया है। और ग्रथ की प्रतिलिपि करने या कराने वाले को रचयिता स्वीकृत किया गया है। उस पर विचार करने और डा० सा० की भूल का परिमार्जन करना ही लेखक का प्रयास है।

---

१. णरणाह विक्कमाइच्च काले, पवहतए सुहयारए विसाले।
वारह सय वरसहि परिगएहिं,
फागुणमासम्मि बलक्ख पक्खे।
दसमिहि दिण तिमिरुक्कर विवक्खे,
रविवार समाणिउ एहु सत्थु ॥
—जैन ग्रन्थ प्र० सं० पृ० ५०।

जिससे भविष्य में इस प्रकार की भूलों की पुनरावृत्ति न हो, और साहित्यिक विद्वान खूब सोच समझ कर लिखें।

लिपिकार की प्रशस्ति की भाषा का मूलग्रन्थकार की भाषा से भी कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। वह मगलाचरण के साथ एक जुदी प्रशस्ति है, मूलग्रन्थ के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है। प्रशस्ति मे प्रयुक्त 'लिहिय' शब्द ग्रंथ लिखने या लिखाने का वाचक है, रचने का नहीं। मूलग्रथकार ने 'विरइउ' शब्द का प्रयोग किया है 'लिहिय' शब्द का नहीं। मूलग्रथकार ने अपने को 'धर्कट' धक्कड वंश का वणिक सूचित किया है। और प्रतिलिपिकार ने दिल्ली के अग्रवाल वश का श्रेष्ठी हिमपाल का पुत्र साहू वाधू। इतना स्पष्ट भेद रहने पर भी डा० देवेन्द्र कुमार का ध्यान उस पर नही गया। उसका कारण सभवतः स० १४८० का प्रतिलिपिकार का समय है उसी के कारण उक्त भ्रम हुआ जान पडता है। अनेक ग्रथो मे प्रतिलिपिकारो द्वारा, पूर्व लिपि प्रशस्ति भी मूलग्रंथ के साथ लिपि की हुई मिलती है। उदाहरण के लिए स० १४९४ में लिखित मलयगिरिकृत मूलाचार प्रशस्ति भी १७ वी शताब्दी मे लिखी जाने वाली प्रतियो मे मिलती है। लिपि प्रशस्ति की भाषा मूल ग्रथ की भाषा से कुछ घटिया दर्जे की है, और सरल है।

मूल ग्रथकार ने ग्रन्थ के अत मे अपना सक्षिप्त परिचय निम्न पद्य मे दिया है, जिसमें अपने को धक्कड़ (धर्कट) वशी वणिक बतलाया है और अपने पिता का नाम माएसर (मातेश्वर) और माता का नाम 'धनसिरि' (धनश्री) प्रकट किया है।

धक्कड़ वणिवंसि माएसरह समुब्भिविण।
धणसिरि देवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण॥

प्रशस्ति के अन्तिम घत्ते में तथा सधि पुष्पिकाओ मे भी अपना नाम धनपाल बतलाया है[1]।

निसुणंत पढंतह परचिततह अप्पहिय।
धणवालि नेण पचमि पंच पयार किय॥

इस वाक्य से स्पष्ट है कि कवि ने पंचमी कथा आत्महित के लिए की है। किसी अन्य के द्वारा वह नही बनवाई गई। कवि ने अपने उक्त परिचय के साथ, राजा का नाम, रचनास्थल और रचनाकाल नही दिया। अन्यथा यह विवाद ही उपस्थित नही होता।

डा० देवेन्द्रकुमार जी ने अपने लेख के पृ० २७ पर लिखा है कि—"प्रथम धनपाल का जन्म जिस वश मे हुआ था, उसी मे जम्बूस्वामी के रचयिता महावीर, धर्मपरीक्षा के कर्ता हरिषेण आदि उत्पन्न हुए है।"

आपके इस निष्कर्ष मे प्रथम धनपाल के समान जम्बूस्वामीचरित के रचयिता कवि वीर को भी धर्कट वश (धक्कड वंश) का लिखना अति साहस का कार्य है। वीर कवि का वश 'लाल वागड' था[2] धर्कट या धक्कड नही। जम्बूस्वामीचरित की रचना मे प्रेरक तक्खडु श्रेष्ठी अवश्य धर्कट वश के थे। वे मालव देश की धन-धान्य समृद्ध सिन्धु वर्षी नगरी के निवासी धक्कड वश के तिलक मधुसूदन के पुत्र थे[3]। इनके भाई भरत ने भी उसे पुष्ट किया था। ऐसी भूले झट-पट कलम चलाने से हो जाया करती है। डा० सा० जैसे उदीयमान विद्वानो को अच्छी तरह से विचार कर ही निष्कर्ष निकालना आवश्यक है।

कवि का धर्कट वंश एक प्राचीन ऐतिहासिक वश है। यह वश परम्परा पूर्व काल मे अच्छी प्रतिष्ठित रही है। इसमे अनेक प्रतिष्ठित पुरुष हुए है। इसका निकास 'सिरि उजपुर' या सिरोज (टोंक) से निर्गत बतलाया है[4]। धर्मपरीक्षा के कर्ता हरिषेण (१०४४) भी इसी धर्कट वशीय गोवर्द्धन के पुत्र और सिद्धसेन के शिष्य थे। यह

१. इय भविसयत्त कहाए पयडिय धम्मत्थ काम मोक्खाए
वुह धणवाल कयाए पंचमि फल वण्णणाए।
कमलसिरि भविसदत्त भविसाणुरूव मोक्खगमणोणाम
बावीसमो संधी परिच्छेओ सम्मत्तो॥

२. देखो, जम्बूस्वामी चरित प्रशस्ति।

३. अहमालवम्मि धणकण दरिसि,
नयरी नामेण सिन्धुवरिसी।
तहिं धक्कडवग्ग वश तिलउ,
महसूयण नंदणु गुण निलउ।
नामेण सेट्ठि तक्खडु वसइ.. ....
—जंबूस्वामीचरितप्रशस्ति।

४. इह मेवाड देशे जण सकुले,
सिरि उजपुर णिग्गय धक्कड कुले।
—धर्मपरीक्षा प्रशस्ति।

चित्तौड़ के रहने वाले थे और कार्यवश अचलपुर चले गए थे। और वहाँ पर उन्होंने स० १०४४ में 'धर्म-परीक्षा' का निर्माण किया था। धर्कट वश दिल्ली के आस-पास रहा नही जान पड़ता, किन्तु वह मारवाड़ राजपूताने और गुजरात आदि में रहा है। मालव देश की समृद्ध नगरी सिन्धुवर्षी में भी धर्कट वंश के तिलक मधुसूदन श्रेष्ठी के पुत्र तक्खडु और भरत थे, जिनकी प्रेरणा से वीर कवि ने जम्बूस्वामी चरित की रचना की थी। भविष्यदत्त कथा का रचयिता भी संभवतः उनमें से किसी एक प्रदेश मे रहा हो। इस वश का उल्लेख दि० श्वे० दोनों ही सम्प्रदायों में पाया जाता है।

डा० देवेन्द्रकुमार जी ने आगरा की जिस लिखित प्रति की प्रशस्ति से रचनाकाल विक्रम की १४वी शताब्दी बतलाया है उस पर भी यहां थोड़ासा विचार करना उपयुक्त जान पड़ता है, जो डा० देवेन्द्रकुमार के लेख का प्रमुख आधार है, और जिस पर से अन्य विद्वानों के समयादिक को अमान्य ठहराया है। वह प्रशस्ति भविसदत्त कथा लिखाने वाले अग्रवाल साहु वाधू की है जो दफराय बाद मे लिखी गई है।

प्रशस्ति-परिचय

प्रशस्ति में मगलाचरण के बाद बतलाया गया है कि —'जम्बू द्वीप भारत-क्षेत्र मे अत्यन्त धन-धान्य से परिपूर्ण आसीयवण्णु, आशीय या आशीवन नाम का नगर है, जो मन्दिर, उद्यान, ग्राम आदि से युक्त और धनकण से समृद्ध एव शोभायमान है। उस नगर मे ऋद्धि-वृद्धि से परिपूर्ण श्रेष्ठिजन, धर्मात्मा सज्जन अपने समस्त परिजनों के साथ सुखोपभोग करते हुए निवास करते थे। उससे पश्चिम दिशा मे साठ कोश की दूरी पर दिल्ली है वहाँ जैन धर्म के पालन करने वाले अनेक लोग रहते हैं। उनमें जिनधर्म में अनुरक्त बुद्धिमान और कामदेव समान रूपवान वहा के निवासियो में प्रसिद्ध अग्रवाल कुल मे समुत्पन्न रत्नपाल नाम का सेठ था, उसका पुत्र महनसिंह परोपकारी था, उसके चार पुत्र हुए, दुल्लहु (दुर्लभसेन) णइपाल (नतपाल) सहजपाल और पजुणपाल। उनमे ज्येष्ट पुत्र दुर्लभसेन अत्यन्त गुणवान था। उसके तीन पुत्र थे। हिमपाल, देवपाल और सबसे कनिष्ठ पुत्र का नाम लुद्दपाल था। इनमे हिमपाल अधिक धर्मात्मा था, उसकी धर्मपत्नी का नाम 'रइयाही' था जो नियम और शील सयम से युक्त थी। वे दोनो दिल्ली मे रहते थे वहीं उनके वाधू नाम का पुत्र हुआ। इसी बीच काल के प्रकोप से लोग क्षीण वैभव हो गए। धनिक वर्ग भी दुख के सागर मे पड गए और अपने नियम धर्म का परित्याग करने लगे। समस्त पृथ्वी करभार से पीडित हो गई। बसे हुए सेठ साहूकार अपने निवास स्थान को छोड़कर चारो दिशाओं मे भागकर दूर देशों में जा बसे। उस समय दिल्ली में प्रचण्ड राजा मुहम्मद शाह तुगलक का राज्य था, जिसने राजाओं का मानमर्दन कर बहुत दिनों तक एक छत्र राज्य किया था।

मुहम्मद शाह तुगलक वंश का अच्छा शासक था, जहाँ वह बुद्धिमान, बहुभाषाविज्ञ, तर्क, न्याय आदि विद्याओं में निपुण था और विद्वानो का समादर करता था, वह उदार, स्वतत्र विचारक, दानशील, प्रजा हितैषी, वीर योद्धा और सदाचारी था। वहां वह क्रोधी, उतावला, अदूरदर्शी, अव्यवहारिक, अत्यन्त निर्दयी और कठोर शासक था, इसमे सन्देह नहीं कि वह न्यायी शासक था, किन्तु विद्रोहियो को कडे से कडा दण्ड देता था। उसने अपने दोनों भानजो और कई उच्च पदाधिकारियों तथा एक काजी को भी खुले आम मृत्यु दण्ड दिया था। उसकी दण्ड व्यवस्था मे अल्प या अधिक अपराध करने पर दण्ड मे कोई परिवर्तन नही होता था। सबको एक सा दण्ड देता था। उसने सन् १३२७ (वि० स० १३८४) मे दौलताबाद (देवगिरि) मे राजधानी स्थानान्तरित करने के लिए दिल्ली को खाली करने का हुक्म दिया था। उससे जन-धन की जो बर्बादी हुई और जनता को कष्ट झेलने पडे उसकी चर्चा से रोंगटे खड़े हो जाते है। सन् १३४० (वि० स० १३९७) मे बादशाह ने पुनः राजधानी स्थानान्तरित करने की महान गलती की थी। जिसमे उसे भारी असफलता मिली, हजारो लोग कालकवलित हो गए। और अनेक राजधानी छोड़कर यत्र-तत्र भाग गए। जन-धन से रिक्त हो दरिद्री बन गए। उसी समय उत्तरा पथ में भयकर दुष्काल पड़ा था। सहस्रों लोग भूखों मर गए, यह उसकी अदूरदर्शिता का

ही अभिशाप था, जिससे जनता को महान् कष्ट का सामना करना पड़ा। राजधानीके प्रथम स्थानान्तरण के समय साहू वाघूभी दिल्ली छोड़कर दफराबाद चला गया। जहा उसने अपनी कीर्तिके लिए, अनेक शास्त्र उपशास्त्र लिखवाए, तथा अपने लिए श्रुत पंचमी की कथा लिखी या लिखवाई थी। जिसका समय वि० स० १३९३ पौष शुक्ला १२ सोमवार रोहिणी नक्षत्र बतलाया गया है। यह बादशाह सन् १३२५ (वि० सं० १३८२) मे मुहम्मद शाह बिन तुगलक के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा था। इसने सन् १३५१ (वि० स० १४०८) तक राज्य किया है।

उपसंहार

प्रस्तुत भविष्यदत्त कथा प्रशस्ति इसी के राज्यकाल की रचना है। प्रशस्ति मे अकित घटना उसी के राज्यकाल में घटित हुई थी। इससे यह प्रशस्ति अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अग्रवाल जाति के लिए यह घटना अनुपम है। ऐतिहासिक दृष्टिसे उसका महत्व है ही। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त प्रशस्ति मूलग्रथकार धनपालकी नही है, जब उक्त प्रशस्ति धनपाल रचित नही तब उसके आधार पर डाक्टर देवेन्द्रकुमार ने ग्रथ की १४वीं सदी रचनाकाल की जो काल्पनिक दीवाल बनाने का प्रयत्न किया था वह धराशायी हो जाती है। उसके बल पर भविष्यदत्त कथा का रचनाकाल विक्रम की १०वीं शताब्दी नही हो सकता। किन्तु पूर्व विद्वानों द्वारा सुनिश्चित दशमी शताब्दी समय ही अकित रहता है, और वह तब तक अकित रहेगा जब तक कोई दूसरा सही प्रामाणिक आधार नही मिल जाता। आशा है डा० देवेन्द्रकुमार जी अपनी इस भूल का परिमार्जन करेगे।

भविसयत्तकहा की सं० १३९३ की लिपि प्रशस्ति

जिण चलण णमंसिवि थुइ सुपसंसिवि, मागमि थोवउ किंपि णिरु।
सुह बुद्धि समासउ कलिमलु णासउ, हो दुत्तर ससार तरु॥
इह जंबूदीवि भरहम्मिखित्ति, संपुण्ण मही बहु रिद्धि वित्ति।
तह वण्णण को सक्कइ करेवि, तिंकारणि कहिउ समुच्चएवि॥
इत्थतरि अइ रमणीउ रम्मु, णामेण णयरु 'आसीयवण्णु'।
पुरमंदिर गामाराम जुत्तु, धण-कणय-समिद्धउ अइ विचित्तु॥
णिवसहि णायर जण बहु महंत, मह रिद्धि विद्धि संपुण्णवत।
धम्मधर सुट्ठु महाविणीय, सकल पुत्त परियण समीय।
सुहु भुंजहिं माणहिं परम भोय, एवं विहु तहि णिवसंत लोय।
'दिल्ली' पच्छिम दिसि सट्ठि कोस, तहिं सावय जण णिवसहिं असेस।
जिण धम्मरत्त सुहमइ विसाल, मयरद्धरूवे तणु कणय माल।
तहि मज्झि पसिद्धउ 'अयरवालु', णामेण पउत्तउ 'रयणपालु'।
तह सुउ 'महणसिंह परोवयारि, तहिं गेहि उपण्ण [इ] पुत्त चारि।
'वुल्लहु' 'णइवालु' 'सहजपालु', अण्णिक्कु कणिट्ठउ 'पजुणपालु'।
तहिं मज्झि जु वुल्लहु गुणगरिट्ठु, रयणत्तउ जायउ तेणि सुट्ठु।
'हिमपालु' पढमु पुणु 'देवपालु', तह लहुयउ पउत्तउ 'लहपालु'।
'हिमपालु' जु इह मज्झम्मि उत्तु, जिण चरण भत्तु अइ चार चित्तु।
'रइयाही' णामें भज्ज भत्त, वय-णियम-शील-संजम सइत्त।
दिल्ली मज्झम्मि वसंतएण, तहिं जायउ वाघू पुत्तु तेण।
घत्ता—इत्थतरि लोयइं कालपओयइं खीण विहवि संपत्तइं।
दुहु सागरि पडियइं माया जडियइं, णियम-धम्म परिचत्तइं॥ १॥

कर पीडिया पुहइ सयला समग्गा, वसाउव्व साहूय चउरो वि मग्गा।
णियट्ठाण वासाइं लोएहिं चत्ता, महा दुग्ग दूरम्मि वेसेहिं पत्ता।
मुहंमद्दसाहो वि राग्रो पयंडो, लिग्रो तेण सायर पमाणेहिं दंडो।
उसक्किट्टु णिछलिवि मलिग्रो वि माणो, किग्रो रज्जु इकच्छत्ति उवयंतमाणो।
पयट्टे वि दूसम्मि काले रउद्दे, पहुत्तो सुबाधूय वफरायवादे।
इहत्ति परत्ते सुहायार हेउ, तिणे लिहिय सुग्रपचमी णियहं हेउ।।
लिहेऊण सत्थोपसत्थाय लोए, पवुच्छामि जसु कित्त जिम पयडहोए।
सुसंवच्छरे ग्रविकरा विक्कमेण, ग्रहोएहिं तेणवदि तेरह सएणं।
वरिस्सेय पूसेण सेयम्मि पक्खे, तिहि वारसी सोम रोहिणिहिं रिक्खे।
सुहज्जोइमय रगग्रो बुद्धु मत्तो, इग्रो सुंदरो सत्थु सुह दिणि समत्तो।
जु भव्वोयणो पढइ भव्वाण लोए, सुदुक्कम्म णिग्गहु करइ मच्च लोए।
जु धारेइ वउ पुणु जहा जुत्ति कहिग्रो, मणो णिच्चले बंभचज्जेहिं सहिग्रो।
सुरिद्धीइविद्धीइ संपुण्णवतो, पुण देवलोयम्मि ठाणे पहुत्तो।
घत्ता—तारायणु ससिहरु जाम रवि, जावंचिय जिणधम्म कहा।
णिसुणत पढंतह भव्वयण ता णंदउ महि सत्थु इह ।। २ ।।

संवत् १४८० वर्ष कातिग वदि सुक्र दिन श्री राइसीह पुत्र हलू पुस्तकु लिषितं।
तैलाद् रक्षेद् जलाद् रक्षेदू रक्षेद् सिथिलबन्धनात्। परहस्तगतं रक्षेत् एवं वदति पुस्तिका ।।

देह से राग करना अहितकर है

कविवर दौलतराम

मत कीजौ जी यारी, घिनगेह देह जड़ जानिके ।। मत की० ।।टेक।।
मात-तात-रज-बीरजसों यह, उपजी मल फुलवारी।
अस्थिमाल-पल-नसा-जालकी, लाल लाल जलक्यारी ।। मत की० ।।१।।
कर्मकुरगथलीपुतली यह, मूत्रपुरीष भँडारी।
चर्ममँड़ी रिपुकर्मघड़ी धन, -धर्म चुरावनहारी ।। मत की० ।।२।।
जे जे पावन वस्तु जगत में, ते इन सर्वविगारी।
स्वेदमेदकफक्लेदमयी बहु, मद-गद-व्यालपिटारी ।। मत की० ।।३।।
जा संयोग रोगभव तोलौ, जा वियोग शिवकारी।
बुध तासों न ममत्व करै यह, मूढ़मतिन को प्यारी ।। मत की० ।।४।।
जिन पोषी ते भये सदोषी, तिन पाये दुख भारी।
जिन तप ठान ध्यानकर शोषी, तिन परनी शिवनारी ।। मत की० ।।५।।
सुरधनु शरदजलद जलबुदबुद, त्यों झट विनशनहारी।
यातैं भिन्न जान निज चेतन, दौल होहु शमधारी ।। मत की० ।।६।।

निर्वाणकाण्ड के पूर्वाधार तथा उसके रूपान्तर

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

१. प्रस्ताविका :—

दिगम्बर जैन समाज में निर्वाणकाण्ड एक सुपरिचित रचना है। १६ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध यह रचना कई पूजापाठों तथा स्तोत्रसंग्रहों में प्रकाशित हो चुकी है। इसका भैया भगवतीदास जी ने जो हिन्दी अनुवाद किया है। वह भी कई बार छप चुका है। इस निबन्ध मे निर्वाणकाण्ड के अन्य रूपान्तरों तथा उसके पूर्वाधारो का परिचय दिया जा रहा है।

२. उदयकीर्ति :—

इनकी तीर्थवन्दना मे अपभ्रंश भाषा मे १८ पद्य है। निर्वाणकाण्ड के कैलास, चम्पापुर, ऊर्जयन्त, पावापुर, सम्मेदशिखर, गजपथ, तारापुर, पावागिरि, (लवकुश-सिद्धिस्थान), शत्रुजय, तुगी, रेवातट तथा बडवानी इन बारह तीर्थ क्षेत्रो का उदयकीर्ति ने उल्लेख किया है। सवणागिरि, सिद्धवरकूट, रिस्सिदगिरि, कोटिशिला, कुथुगिरि, मेढागिरि, दोणगिरि तथा पावागिरि (सुवर्णभद्र-सिद्धिस्थान) का इन्होंने उल्लेख नही किया है। अतिशय क्षेत्रकाण्ड के नागद्रह, मगलपुर, अस्सारम्भ, पोदनपुर, हस्तिनापुर, वाराणसी, अग्गलदेव, सिरपुर तथा हुलगिर इन नौ तीर्थों का उदयकीर्ति ने उल्लेख किया है तथा मथुरा, अहिछत्र, जम्बूवन एव बरनगर का उल्लेख नही किया है।

उदयकीर्ति ने निर्वाणकाण्ड में अनुल्लिखित पांच क्षेत्रों का अधिक उल्लेख अपनी रचना मे किया है, ये क्षेत्र है —मालव शान्तिजिन, तिउरी के त्रिभुवनतिलक, कर्णाटक के वाडवजिनेन्द्र, तिलकपुर के चन्द्रप्रभ तथा माणिकदेव।

उदयकीर्ति का समय निश्चित ज्ञात नही है तथापि इतना कहा जा सकता है कि वे बारहवी सदी के बाद के है क्योकि हुलगिरि के वर्णन में उन्होंने विज्जण राजा का उल्लेख किया है। विज्जण बारहवी सदी मे कल्याण के कलचुर्य वंश में हुआ था। त्रिपुरी और तिलकपुर के वर्णन के कारण वे चौदहवी सदी के बाद के भी प्रतीत नहीं होते।

३. गुणकीर्ति :—

पन्द्रहवी सदी मे गुणकीर्ति ने धर्मामृत नामक मराठी ग्रन्थ लिखा। इसके १६७वें परिच्छेद मे निर्वाणकाण्ड-वर्णित सभी १६ तीर्थों का उल्लेख है तथा अतिशयक्षेत्र-काण्ड के मथुरा, अहिछत्र तथा वरणयर को छोडकर सभी तीर्थों का उल्लेख है। मालवशान्तिनाथ, तिलकपुर, वाडव-जिनेन्द्र तथा माणिकदेव ये जो क्षेत्र उदयकीर्ति द्वारा वर्णित है इनका भी गुणकीर्ति ने उल्लेख किया है। उनके वर्णन मे तीर्थनामो के रूपान्तर इस प्रकार है—मगलपुर के स्थान मे मगलावती, अस्सारंभ के स्थान मे आसारम्य पाटन। पावागिरि के स्थान मे पावा महागढ तथा तारापुर के स्थान मे तारागिरि। उन्होंने कुथुगिरि के स्थान पर केवल वसथल पर्वत कहा है, चलना नदीतट का उल्लेख किया है किन्तु पावागिरि यह नाम छोड दिया है, इसी प्रकार फलहोडी ग्राम का उल्लेख किया है किन्तु द्रोणगिरि यह नाम छोड दिया है।

४ मेघराज :—

इनकी गुजराती तीर्थ वन्दना मे २२ पद्य है। ये सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे हुए है। इनकी रचना में निर्वाणकाण्ड वर्णित तीर्थों मे सिद्धवरकूट, पावागिरि (सुवर्णभद्र-सिद्धिस्थान) तथा द्रोणगिरि को छोड़कर शेष सभी का उल्लेख है। अतिशयक्षेत्रकाण्ड के नागद्रह, पोदनपुर, हस्तिनापुर, सिरपुर तथा होलागिरि (इसके नामान्तर लक्ष्मीस्वर का उल्लेख है) इन पाच तीर्थों का मेघराज ने उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त बेलगुल के गोमटस्वामी, तेर के वर्धमान, समुद्र के आदिनाथ, वडभोई के पार्श्वनाथ, जीराउल के पार्श्वनाथ तथा तिलकपुर के चन्द्रनाथ का भी उन्होने उल्लेख किया है।

५. चिमणापण्डित :—सत्रहवी शताब्दी में उन्होंने मराठी मे ३७ पद्यों की तीर्थवन्दना लिखी है। इसमें

निर्वाणकाण्ड मे वर्णित सभी तीर्थों का उल्लेख है। चिमणा-पण्डित ने कैलास की वन्दना मे भरतनिर्मित मन्दिरों का, पावापुर के पद्मसरोवर का तथा पावागिरि (लवकुश-सिद्धिस्थान) में गगादास द्वारा निर्मित मन्दिरो का भी उल्लेख किया है। इन्होने तारगा मे कोटिशिला का सबध जोड़ा है। यद्यपि कलिंगदेश का नाम भी इन्होने दिया है। मेढगिरि के स्थान में वे मुगतागिरि नाम का प्रयोग करते है तथा वहाँ मेढा (मराठी शब्द जिसका तात्पर्य बकरा हैं) के उद्धार की चर्चा करते है, वहाँ की अखड तीर्थधारा (नदी का प्रवाह) तथा अपार मन्दिरो व मूर्तियो का भी उन्होंने जिक्र किया है। अतिशयक्षेत्रकाण्ड के क्षेत्रो मे वे सिर्फ सिरपुर का उल्लेख करते है तथा वहाँ के अन्तरिक्ष पासोजी (पार्श्वनाथ) की खरदूषण तथा श्रीपाल राजा द्वारा पूजा की चर्चा करते है। इसके अतिरिक्त लतासर्प-वेष्ठित गोमटस्वामी तथा प्रतिष्ठान के मुनिसुव्रतमन्दिर का उन्होंने वर्णन किया है। निर्वाणकाण्ड की दो प्रक्षिप्त गाथाओं का अनुवाद भी इनकी रचना में मिलता है जिनमे नर्मदातीर पर संभवनाथ की कैवल्यप्राप्ति का तथा मेघ-वर्ष तीर्थ में मेघनाद की मुक्ति का उल्लेख है।

६. **अन्य उल्लेखकर्ता :—**

उपर्युक्त चार लेखकों ने मुख्यतः निर्वाणकाड के आधार पर अपनी रचनाए लिखी प्रतीत होती है। कुछ अन्य लेखकों ने भी तीर्थसम्बन्धी कृतियो मे निर्वाणकाड-वर्णित कुछ तीर्थों के नाम सम्मिलित किये है। सत्रहवी सदी के लेखक ज्ञानसागर की सर्वतीर्थवन्दना मे कुल ७८ स्थानों का वर्णन १०० छप्पयों मे मिलता है। इन्होंने संमेदाचल, चम्पापुर (तथा वहाँ के प्रचड मानस्तम्भ), पावापुर (तथा वहाँ का तालाब के मध्य का मन्दिर), ऊर्जयन्त (तथा वहाँ के सहसावन, लक्खावन, राजुल की गुफा, भीमकुड, ज्ञानकुड तथा सात टोके), शत्रुंजय (तथा वहाँ के ललित सरोवर एवं अखयवड), तुगी, गजपथ, मुक्तागिरि (तथा वहाँ की नदी, मन्दिर, धर्मशाला तथा पाँच दिन की यात्रा), कैलास, तारगा (तथा कोटिशिला), पावागढ, कुंथुगिरि, वडवानी तथा सहेणाचल (सम्भवतः सवणागिरि के स्थान पर) इन निर्वाणकांडवर्णित स्थानों का उल्लेख किया है। वे उनका भी वर्णन करते हैं किन्तु पावागिरि नाम का या सुवर्णभद्र का उल्लेख नहीं करते। अतिशयक्षेत्रकांड के तीर्थों मे उन्होंने वाराणसी, मथुरा, जम्बूवन, सिरपुर, आगतदेव, हुलगिरि, इन छः स्थानों का वर्णन किया है।

पन्द्रहवीं सदी के लेखक श्रुतसागर की बोधप्राभृत टीका में गाथा २७ के विवरण मे कैलास, चम्पापुर, पावापुर, ऊर्जयन्त, समेदाचल, शत्रुजय, पावागिरि (गुजरात में), तुगीगिरि, गजपथ, सिद्धकूट, तारापुर, मेढगिरि, चूलगिरि, द्रोणगिरि, नर्मदातट, कुन्थुगिरि, चलनानदीतट, कोटिशिला इन तीर्थों का नामोल्लेख है तथा अतिशयक्षेत्रकाड के तीर्थों मे से वाराणसी, हस्तिनापुर तथा जम्बूवन का नामोल्लेख है। इन्ही की पल्याविधानकथा की प्रशस्ति मे ईडर के मन्त्री भोजराज की कन्या पुत्तलिका द्वारा तुगी और गज-पन्थ की यात्रा का भी वर्णन है।

पन्द्रहवी सदी मे ही अभयचन्द्र ने मांगीतुंगी के विषय मे एक विस्तृत गीत (जिसमें मुख्यतः श्रीकृष्ण के अन्त व बलराम के स्वर्गवास की कथा है) लिखा है। इसमे ४४ पद्य है।

पूर्वोक्त गुणकीर्ति ने भी ५ पद्यों का एक गीत तुगी-गिरि के विषय मे लिखा है।

सोलहवीं सदी के सुमतिसागर की जम्बूद्वीपजयमाला तथा तीर्थजयमाला में कुल ४० तीर्थ स्थानों के नाम उल्लि-खित है। इनमे कैलाश, समेदाचल, चम्पापुर, पावापुर, गजपन्थ, तुगी, शत्रुंजय, ऊर्जयन्त, मुक्तागिरि, तारगा (तथा कोटिशिला), वासीनयर (कुथुगिरि के लिए), रेवातट तथा विंध्याचल (चूलगिरि के लिए) ये तेरह तीर्थ निर्वाणकाण्ड-वर्णित भी है। इन्होने अन्तरिक्ष (सिरपुर के पार्श्वनाथ) का भी नामोल्लेख किया है।

सोलहवी सदी के लेखक ज्ञानकीर्ति ने समेदाचल पर राजा मानसिंह के मन्त्री साहू नानू द्वारा जिनमन्दिरों के निर्माण का वर्णन किया है। यह उनके यशोधररचित की प्रशस्ति में प्राप्त होता है।

सत्रहवी सदी के लेखक सोमसेन की पुष्पाजलि जय माला में कैलास, चम्पापुर, पावापुर, संमेदाचल, गिरनार वडवानी, गजपन्थ, शत्रुंजय, मुक्तागिरि, नर्मदातट ये निर्वा काण्डवर्णित तथा गोमटदेव एवं अन्तरिक्ष (सिरपुर)

अतिशयक्षेत्रकाण्डवर्णित तीर्थ उल्लिखित है ।

सत्रहवी सदी के ही लेखक जयसागर की तीर्थजयमाला मे *कुल ४६ तीर्थों का नामोल्लेख है ।* इनमें *निर्वाणकाण्ड*-वर्णित कैलास, संमेदाचल, चम्पापुर, पावापुर, गिरिनार, शत्रुंजय, वशस्थल, मुक्तागिरि, तुगी, गजपन्थ, तारगा तथा अतिशयक्षेत्रकाण्डवर्णित आगलदेव, गोमटदेव, सिरपुर, हुलगिरि इन तीर्थों के नाम पाये जाते है ।

सत्रहवीं सदी के ही विश्वभूषण की सर्वत्रैलोक्यजिनालय जयमाला मे २६ तीर्थों का उल्लेख है जिनमे सोनागिरि, रेवातट, सिद्धकूट, बडवानी ये तीर्थ निर्वाणकाण्ड-वर्णित तथा अग्गलदेव, हुलगिरि, गोमटदेव ये अतिशयक्षेत्र काण्ड वर्णित है ।

सत्रहवी सदी मे ही मेरुचन्द्र तथा गंगादास द्वारा *तुगीगिरि की यात्रा के लिए लिखे गये बलभद्र-अष्टक प्राप्त* हुए है ।

अठारहवी सदी के प्रारम्भ मे कारजा के भ० देवेन्द्रकीर्ति ने गजपन्थ, तुगी, तारगा, शत्रुजय तथा गिरिनार की यात्रा सघसहित की थी । उन्होने तत्सबधी छप्पयो मे यात्रातिथियाँ भी दी है । उनके शिष्य जिनसागर की लहुअकुश कथा मे राम-पुत्रो के निर्वाणस्थान पावागिरि का उल्लेख है ।

सत्रहवी सदी मे धनजी ने तथा अठारहवी सदी में राघव ने मुक्तागिरि की जयमाला व आरती की रचना की थी । इनमे पहली सस्कृतमिश्रित हिन्दी मे तथा दूसरी मराठी मे है ।

कारजा के भ० देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य पडित दिलसुख ने सन् १८३७ म अकृत्रिम चैत्यालय जयमाला मे पावागिरि (दोनो), द्रोणागिरि तथा सिद्धवरकूट को छोडकर निर्वाणकाण्ड वर्णित सभी तीर्थों का नामोल्लेख किया है ।

इसी समय के लगभग कवीन्द्रसेवक की मराठी तीर्थवन्दना मे कैलास, शत्रुजय' मागीतुगी, गिरिनार, मुक्तिगिरि यथा गजपन्थ का उल्लेख प्राप्त होता है ।

७. पूर्वाधार :—

निर्वाणकाण्ड मे वर्णित पहले पाँच तीर्थो का (कैलास चम्पापुर पावापुर, ऊर्जयन्त तथा समेदाचल का) वर्णन पद्मचरित, हरिवशपुराण, महापुराण आदि अनेक पुरातन ग्रन्थों मे मिलता है ।

बलराम के स्वर्गवास स्थान में तुगीगिरि का तथा पाण्डवों के *निर्वाणस्थान शत्रुंजय का वर्णन भी हरिवंश*-पुराण तथा महापुराण में प्राप्त है । किन्तु राम, हनुमान आदि का तुगीगिरि से सम्बन्ध निर्वाणकाण्डकर्ता के पहले किसी ने नहीं जोडा था ।

गजध्वज पर्वत के समीप पहले बलभद्र श्रीविजय के समवसरण का उल्लेख उत्तरपुराण मे मिलता है । किन्तु उनका तथा अन्य छः बलभद्रों का निर्वाण गजपन्थ पर हुआ यह मान्यता निर्वाणकाण्ड के पहले उपलब्ध नहीं होती ।

वरदत्त के निर्वाणस्थान तथा वरांग के स्वर्गवासस्थान के रूप में मणिमान पर्वत का वर्णन जटासिंहनन्दि के वरागचरित मे मिलता है । इसका जो स्थान उन्होने बतलाया है वह वर्तमान तारंगा से मिलता-जुलता है । यहाँ पर गुजरात के आठवीं सदी के राजा वत्सराज ने तारादेवी का मन्दिर बनवाकर तारापुर ग्राम बसाया था । निर्वाणकाण्ड मे मणिमान पर्वत का नाम न देकर केवल इतना बताया है । कि यह स्थान तारापुर के निकट है इस तरह दोनो वर्णनों मे कोई विरोध नही हैं ।

लव कुश के निर्वाणस्थान का कोई वर्णन निर्वाणकाड के पूर्व नही मिलता । यह बात सवणागिरि, सिद्धवरकूट, पावागिरि (सुवर्णभद्र-सिद्धिस्थान), मेढगिरि तथा रिष्यिद गिरि के बारे मे भी है ।

इन्द्रजित तथा कुम्भकर्ण का निर्वाणस्थान पद्मचरित अनुसार क्रमश. विंध्य पर्वत के महावन मे मेघरव तथा नर्मदा के किनारे पिठरक्षत यह था । निर्वाणकाण्ड मे दोनो का निर्वाण बडवानी के पास चूलगिरि पर बताया है । चूलगिरि विन्ध्य पर्वत के महावन मे भी है तथा नर्मदा के तीर के पास भी है । इस तरह पद्मचरित के वर्णन से यह मिलता-जुलता है । हो सकता है कि पुराने समय मे चूलगिरि के ही आसपास के दो स्थान मेघरव तथा पिठरक्षत के नाम से प्रसिद्ध हों तथा निर्वाणकाण्डकर्ता ने दोनो के लिए समीपवर्ती चूलगिरि का नाम दे दिया हो (जैसे कि मणिमान पर्वत के लिए उन्होंने तारापुर का नाम दिया है) ।

दोणिमंत पर्वत पर गुरुदत्त की सिद्धिप्राप्ति का उल्लेख शिवार्यकृत भगवती आराधना तथा हरिषेण के बृहत्कथा-कोश मे आता है। इसी को निर्वाणकाण्ड मे द्रोणगिरि कहा है। हरिषेण के अनुसार यह लाट देश (दक्षिण गुज-रात) मे था।

वशस्थलपुर के समीप राम द्वारा देशभूषण-कुलभूषण के उपसर्ग के निवारण की कथा पद्मचरित मे आती है। वहाँ इस पर्वत का नाम वशगिरि अथवा रामगिरि बत-लाया है। निर्वाणकाण्ड मे इन नामों के स्थान पर कुन्थु-गिरि नाम दिया है जो सम्भवतः उसी प्राचीन स्थान के लिए उनके समय मे अधिक प्रचलित था।

कोटिशिला का वर्णन भी पद्मचरित तथा हरिवश-पुराण मे आता है। किन्तु यशोधर राजा के पुत्रों के निर्वाणस्थान के रूप मे निर्वाणकाड में इसका जो परिचय दिया है वह उससे पूर्व उपलब्ध नहीं होता। निर्वाणकांड में उसे कलिगदेश मे बतलाया है। इसके स्थान के बारे में विभिन्न ग्रन्थकर्ताओ मे मतभेद है।

संस्कृत निर्वाणभक्ति (जो टीकाकार प्रभाचन्द्र के कथनानुसार पादपूज्य स्वामी की कृति है तथा अधिकाश विद्वान पादपूज्य को पूज्यपाद देवनन्दि का ही नामान्तर समझते है) मे कैलास, चम्पापुर, पावापुर, ऊर्जयन्त, सम्मे-दाचल, शत्रुजय, तु गी, गजपथ, सुवर्णभद्र का सिद्धिस्थान नदीतट (नदी का नाम नही बतलाया है), द्रोणीमत, मेढ्क, वरसिद्धकूट, ऋष्यद्रि, विध्य, इन निर्वाणकांडवर्णित तीर्थो का उल्लेख मिलता है—इस तरह निर्वाणकाड के पूर्वा-धारों मे यह सबसे मुख्य रचना है। इसमे पहले पाँच स्थानों मे तीर्थकरों के निर्वाण का उल्लेख है। शत्रुंजय में पांडवो के तु गी मे बलभद्र के तथा नदीतट पर सुवर्णभद्र के सुगतिप्राप्ति का भी उल्लेख है। शेष स्थानों के केवल नाम है।

निर्वाणकाड मे आठ कोटि यादव राजा (गजपन्थ), पाँच कोटि लाट राजा (पावागिरि), आठ कोटि द्रविण राजा (शत्रुंजय) तथा तारापुर के निकट ३॥ कोटि, ऊर्जयन्त पर ७२ कोटि सातसौ, तुंगीगिरि पर ९९ कोटि रेवातट पर २॥ कोटि, सवणागिरि पर २॥ कोटि, सिद्ध-वरकूट पर ३॥ कोटि, मेढगिरि पर ३॥ कोटि मुनियों की निर्वाणप्राप्ति की चर्चा की है इसका भी कोई पूर्वाधार प्राप्त नही है।

८ निर्वाणकाण्ड का रचना काल :—

ऊपर वराग के निर्वाणस्थान की चर्चा मे बतलाया है कि सातवी सदी मे जटासिहनदि ने यह स्थान मणि-मान पर्वत बतलाया है तथा आठवी सदी में यहाँ तारापुर ग्राम बसाया गया था जिसका नाम निर्वाणकाण्ड मे मिलता है। इस पर से प्रतीत होता है कि यह रचना आठवीं सदी के बाद की है। प्रभाचन्द्र की दशभक्तिटीका मे सस्कृत निर्वाणभक्ति की टीका है किन्तु निर्वाणकाण्ड की नही है इस पर से प्रतीत होता है कि यह दसवी सदी के बाद की रचना होनी चाहिए। यदि अतिशयक्षेत्रकाण्ड के कर्ता और निर्वाणकाण्ड के कर्ता एक ही हो तो भी उनका समय दसवीं सदी के बाद का होगा, क्योंकि अति-शयक्षेत्र काण्ड मे उल्लिखित सिरपुर के पार्श्वनाथ की स्थापना दसवी सदी मे ही हुई थी। ऊपर निर्वाणकाण्ड के रूपान्तरो का जो परिचय दिया है उसमे सर्वप्रथम रूपान्तरकार उदयकीर्ति का समय तेरहवी-चौदहवी सदी बतलाया है। अतः निर्वाणकान्ड ग्यारहवी या बारहवी सदी की रचना प्रतीत होती है।

९ उपसहार :—

प० नाथूराम जी प्रेमी तथा डा० हीरालाल जी जैन ने सर्वप्रथम सन् १९३९ में जैन सिद्धान्त भास्कर मे हमारे तीर्थक्षेत्र शीर्षक विस्तृत लेख मे निर्वाणकाण्ड की समीक्षा की थी। बाद मे प्रेमी जी के जैन साहित्य और इतिहास में भी यह निबन्ध प्रकाशित हुआ है। ऊपर निर्वाणकान्ड के जो पूर्वाधार बताये हैं वे बहुत कुछ इसी निबन्ध से लिए गये है। किन्तु उक्त निबन्ध लिखते समय सम्भवतः निर्वाणकान्ड के जिन रूपान्तरों का हमने परिचय दिया है वे उपलब्ध नही थे। हमने तारगा, चूलगिरि, द्रोणगिरि तथा कुंथुगिरि के सम्बन्ध मे जो विचार व्यक्त किये है वे भी उपर्युक्त निबन्ध से भिन्न है।

इस निबन्ध मे चर्चित कृतियो के मूल पद्य हमारे तीर्थवन्दनसंग्रह (जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर द्वारा १९६५ में प्रकाशित) मे पूर्णतः सकलित हैं। यहां विस्तार-भय से उन्हें उद्धृत नही किया गया है। ●

भारतीय दर्शनों में प्रमाणभेद की महत्त्वपूर्ण चर्चा

डा० दरबारीलाल कोठिया

भारतीय दर्शनो मे प्रमाणभेद की महत्त्वपूर्ण एव ज्ञातव्य चर्चा उपलब्ध है। सभी दर्शनों ने उस पर विमर्श किया है। प्रस्तुत मे विचारणीय है कि प्रमाण, जो वस्तु-व्यवस्था का मुख्य साधन है, कितने प्रकार का है और उसके भेदों का सर्वप्रथम प्रतिपादन करनेवाली परम्परा क्या है? दार्शनिक ग्रन्थों का आलोडन करने पर ज्ञात होता है कि प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार भेदों की परिगणना करने वाले न्यायसूत्रकार गौतम से[1] भी पूर्व प्रमाण के अनेक भेदों की मान्यता रही है, क्योंकि उन्होंने[2] ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन चार का स्पष्ट रूप मे उल्लेख करके उनकी अतिरिक्त प्रमाणता की समीक्षा की है तथा शब्द मे ऐतिह्य का और अनुमान मे शेष तीन का अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। प्रशस्तपादने[3] प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणो का समर्थन करते हुए उल्लिखित शब्द आदि प्रमाणों का इन्ही दो में समावेश किया है। तथा चेष्टा, निर्णय, आर्ष (प्रातिभ) और सिद्धदर्शन को भी इन्हीं के अन्तर्गत सिद्ध किया है।

प्रशस्तपाद से पूर्व उनके सूत्रकार कणादने[4] प्रत्यक्ष और लैङ्गिक के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की कोई सम्भावना या गौतम की तरह उनके समावेशादि की चर्चा नही की। इससे प्रतीत होता है कि प्रमाण के उक्त दो भेदो की मान्यता प्राचीन है। चार्वाक के मात्र अनुमान-समीक्षण और केवल एक प्रत्यक्ष के समर्थन से भी यही अवगत होता है। जो हो, इतना तथ्य है कि प्रत्यक्ष **और अनुमान इन दो को** वैशेषिकों[5] और बौद्धो ने[6]; प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन को साख्यों ने[7]; उपमान सहित उक्त चार को नैयायिकों ने[8] और अर्थापत्ति तथा अभाव सहित उक्त छह प्रमाणों को जैमिनीयों (मीमासको) ने[9] स्वीकार किया है। आगे चलकर जैमिनीय दो सम्प्रदायों मे विभक्त हो गये—भाट्ट और प्राभाकर। भाट्टों ने तो छहों प्रमाणों को मान्य किया। पर प्राभाकरो ने अभाव को छोड दिया यथा शेष पाच प्रमाणो को स्वीकार किया। इस तरह विभिन्न दर्शनों मे प्रमाण भेद की मान्यताएँ प्राप्त होनी हैं[10]।

जैन दर्शन में प्रमाण के भेद :—

जैन दर्शन मे भी प्रमाण के सम्भाव्य भेदों पर विस्तृत

---

१. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि।
—गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३।

२. न, चतुष्ट्वम्, ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्।

३. शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेध।
—वही, २।२।१,२।

३. शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भाव समानविधित्वात्।...।
—प्रश० भा० पृ० १०६–१११। १२७–१२९।

४.,५. तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम्।
—वैशेषि० सू० १०।१।३।

६. प्रत्यक्षमनुमान च प्रमाण हि द्विलक्षणम्।
प्रमेयं तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तर भवेत्॥
—दिङ्नाग, प्रमाणसमु० (प्र० परि०) का० २, पृ० ४।

७ दृष्टमनुमानमाप्तवचन च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविध प्रमाणमिष्ट प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि॥
—ईश्वरकृष्ण, सा० का० ४।

८. अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३।

९. शाबरभा० १।१।५।

१०. जैमिनेः षट्प्रमाणानि चत्वारि न्यायवेदिन.।
साख्यस्य त्रीणिवाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः॥
—अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमा० २।२ के टिप्पण मे उद्धृत पद्य, पृ० ४३।

ऊहापोह उपलब्ध है। भगवती सूत्र मे[1] चार प्रमाणो का उल्लेख है—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान और ४. आगम। स्थानागसूत्र में[2] प्रमाण के अर्थ मे हेतु शब्द का प्रयोग करके उसके उपर्युक्त प्रत्यक्ष विचार भेदों का निर्देश किया है। भगवती और स्थानागका यह प्रदिपादन लोक सग्रह का सूचक है।

आगमो मे मूलतः ज्ञान-मीमासा ही प्रस्तुत एव विवेचित है। षट्खण्डागम मे[3] विस्तृत ज्ञान-मीमासा दी गयी है। वहाँ तीन प्रकार के मिथ्याज्ञानों और पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञानों का निरूपण किया गया है तथा उन्हे वस्तु-परिच्छेदक बताया गया है। यद्यपि वहाँ प्रमाण और प्रमाणाभास शब्द अथवा उस रूप मे विभाजन पुष्टिगोचर नहीं होता। तथापि एक वर्ग के ज्ञानो को सम्यक् और दूसरे वर्ग के ज्ञानो को मिथ्या प्रतिपादित करने से अवगत होता है कि जो ज्ञान सम्यक् कहे गये है वे सम्यक् परिच्छित्ति कराने से प्रमाण तथा जिन्हें मिथ्या बताया गया है वे मिथ्या ज्ञान कराने से अप्रमाण (प्रमाणाभास) इष्ट है। हमारे इस कथन की सम्पुष्टि तत्त्वार्थसूत्रकार के निम्न प्रतिपादन से भी होती है।

मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे।[4]

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और वे प्रमाण है।

आशय यह कि षट्खण्डागम मे प्रमाण और प्रमाणाभास रूप से ज्ञानो का विवेचन होने पर भी उस समय की प्रतिपादन शैली के[5] अनुसार जो उसमे पाँच ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान और तीन ज्ञानो को मिथ्याज्ञान कहा गया है। वह प्रमाण तथा प्रमाणाभास का अवबोधक है। राजप्रश्नीय, नन्दीसूत्र और भगवती सूत्र मे भी ज्ञानमीमासा पायी जाती है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान या प्रमाण के मति, श्रुत, आदि पाँच भेदों की परम्परा आगम मे वर्णित है।

परन्तु इतर दर्शनो के लिए वह अज्ञान एव अलौकिक जैसी रही, क्योकि अन्य दर्शनो के प्रमाण-निरूपण के साथ उसका मेल नही खाता। अतः ऐसे प्रयत्न की आवश्यकता थी कि आगम का समन्वय भी हो जाय और अन्य दर्शनों के प्रमाण-निरूपण के साथ उसका मेल भी बैठ जाय। इस दिशा मे सर्व प्रथम दार्शनिक रूप से तत्त्वार्थसूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया। उन्होने[6] तत्त्वार्थसूत्र मे ज्ञान-मीमासा को निबद्ध करते हुए स्पष्ट कहा कि जो मति आदि पाँच ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान वर्णित है वह प्रमाण है और मूल में वह दो भेद रूप है—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। अर्थात् आगम मे जिन पाँच ज्ञानो को सम्यग्ज्ञान कहा गया है वे प्रमाण है तथा उनमे मति और श्रुत ये दो ज्ञान इन्द्रियादि पर सापेक्ष होने से परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन पर सापेक्ष न होने एवं आत्म मात्र की अपेक्षा से होने के कारण प्रत्यक्ष

---

१. 'गोयमा—से कि त पमाण ? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते—तं जहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्व पमाण।
—भ० सू० ५।३।१९१–१९२।

२. अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे।
—स्था० सू० ३३८।

३. णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभगणाणी आभिणिवोहिय णाणी सुद-णाणी ओहिणाणी मणपज्जव-णाणी केवलणाणी चेदि। (ज्ञान की अपेक्षा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभगज्ञान, आभिनिबोधिक-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनः पर्यय-ज्ञान और केवल ज्ञान ये केवल आठ ज्ञान है। इनमे आदि के तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान और अन्तिम पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।)
—भूतबली-पुष्पदन्त, षट्ख० १।१।११५।

४. आ० गृद्धपिच्छ, त० सू० १।९, १०।

५. वैशेपिक दर्शन के प्रवर्त्तक कणाद ने भी इसी शैली से बुद्धि के अविद्या और विद्या ये दो भेद बतलाकर अविद्या के सशय आदि चार तथा विद्या के प्रत्यक्षादि चार कुल आठ भेदों की परिगणना की है। तथा दूषित ज्ञान (मिथ्याज्ञान) को अविद्या और निर्दोष ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) को विद्या कहा है।
—देखिए, वै० सू० ९।२।७, ८, १० से १३ तथा १०।१।३।

६. त० सू० १।९, १०, ११, १२।

प्रमाण है। आचार्य गृद्धपिच्छ की यह प्रमाण द्वय की योजना इतनी विचार युक्त और कौशल्यपूर्ण हुई कि प्रमाणों का आनन्त्य भी इन्हीं दो मे समाविष्ट हो जाता है। उन्होंने[1] अति संक्षेप मे आगमोक्त मति, स्मृति, सज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को भी प्रमाणान्तर स्वीकार करते हुए उन्हे मतिज्ञान कह कर **'आद्ये परोक्षम्'**[2] सूत्र द्वारा उनका परोक्ष प्रमाण मे समावेश किया; क्योंकि ये सभी ज्ञान परसापेक्ष है। वैशेषिकों और बौद्धो ने भी प्रमाण द्वय स्वीकार किया है, पर उनका प्रमाण द्वय प्रत्यक्ष और अनुमान रूप है तथा अनुमान में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का समावेश सम्भव नही है। अतः आ० गृद्धपिच्छ ने उसे स्वीकार न कर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप प्रमाण द्वय का व्यापक विभाग प्रतिष्ठित किया। उत्तरवर्ती जैन तार्किको के लिए उनका यह विभाग आधार सिद्ध हुआ। प्राय सभी ने अपनी कृतियो मे उसी के अनुसार ज्ञानमीमासा और प्रमाण मीमासा का विवेचन किया है। पूज्यपाद ने[3] न्यायदर्शन आदि दर्शनों मे पृथक् प्रमाण के रूप मे स्वीकृत उपमान, अर्थापत्ति और आगम आदि प्रमाणो को परसापेक्ष होने से परोक्ष मे अन्तर्भाव किया और तत्त्वार्थसूत्रकार ने प्रमाण द्वय का समर्थन किया है। अकलङ्क ने[4] भी इसी प्रमाण द्वय की सम्पुष्टि की, साथ ही नये आलोक में प्रत्यक्ष और परोक्ष की परिभाषाओं तथा उनके भेदो का भी बहुत स्पष्टता के साथ प्रतिपादन किया है। परोक्ष की स्पष्ट सख्या[5] सर्वप्रथम उनके ग्रन्थों मे ही उपलब्धि होती है और प्रत्येक के लक्षण भी वही मिलते है। लगता है कि गृद्धपिच्छ और अकलङ्क ने जो प्रमाण निरूपण की दिशा प्रदर्शित की उसी पर उत्तरवर्ती जैन तार्किक चले है। विद्यानन्द,[6] माणिक्यनन्दि,[7] हेमचन्द्र,[8] और धर्मभूषण[9] प्रभृति तार्किको ने उनका अनुगमन किया और उनके कथन को पल्लवित किया।

स्मरणीय है कि आ. गृद्धपिच्छ के इस प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण द्वय विभाग से कुछ भिन्न प्रमाणद्वय का प्रतिपादन भी हमे जैन दर्शन मे प्राप्त होता है। वह प्रतिपादन है स्वामी समन्तभद्र का। स्वामी समन्तभद्र ने प्रमाण (केवलज्ञान) का स्वरूप युगवत्सर्वभासी तत्त्वज्ञान बतलाकर ऐसे ज्ञान को अक्रमभावी और क्रमशः अल्पपरिच्छेदी ज्ञान को क्रमभावी कहकर प्रमाण को दो भागो मे विभक्त किया है। समन्तभद्र के इन दो भेदो मे जहाँ अक्रमभावी मात्र केवल है और क्रमभावी मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ये चार ज्ञान अभिमत है वहाँ गृद्धपिच्छ के प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाण भेदो मे प्रत्यक्ष तो अवधि, मन पर्यय और केवल ये तीन ज्ञान है तथा परोक्ष मति और श्रुत ये दो ज्ञान इष्ट है। प्रमाण भेदों की इन दोनो विचारधाराओं मे वस्तुभूत कोई अन्तर नही है। गृद्धपिच्छ का निरूपण जहाँ ज्ञान कारणो की सापेक्षता और निरपेक्षता पर आधृत है वहा समन्तभद्र का प्रतिपादन विषयाधिगम के क्रम और अक्रम पर निर्भर है। पदार्थों का क्रम से होनेवाला ज्ञान क्रमभावि और युगवत् होने वाला अक्रमभावि प्रमाण है। पर इस विभाग की अपेक्षा गृद्धपिच्छ का प्रमाण द्वय विभाग अधिक प्रसिद्ध और तार्किको द्वारा अनुसृत हुआ है।

---

१. मतिः स्मृतिः सज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।
—त० सू० १।१४। २. वही, १।११।

३. अत उपमानागमादीना मत्रैवान्तर्भावः।
—पूज्यपाद, स० सि० १।११।

४. प्रत्यक्ष विशदं ज्ञान मुख्यसव्यवहारत।
परोक्ष शेषविज्ञान प्रमाणे इति सग्रह.॥
—अकलङ्क, लघीय, १।३।
ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासित प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता। —वही, स्व० वृ० १।३।

५. ज्ञानमाद्य मतिः सज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम्।
प्राङ् नामयोजनात् शेष श्रुत शब्दानुयोजनात्॥
—वही, १।११ तथा ३।६१।

६. विद्यानन्द, प्र० प० पृ० ६६।

७. मणिक्यनन्दि, परी० मु० २।१, २ तथा ३।१, २

८. हेमचन्द्र, प्र० मी० १।१।६, १० तथा १।२।१, २

९. धर्मभूषण, न्यायदी० प्रत्य० प्रका०, पृ० २३ तथा परो० प्रका० पृ० ५३

१०. तत्त्वज्ञान प्रमाण ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञान स्याद्वादनयसस्कृतम्॥
समन्तभद्र, आप्तमी० का० १०१

मुस्लिम युगीन मालवा का जैन पुरातत्व

तेजसिंह गौड़, एम· ए· रिसर्च स्कालर

संवत १३६७ के पश्चात् मालवा मे राजपूतो का प्रभाव पहले जैसा नही रहा। जब जयसिंह देव चतुर्थ मालवा में राज्य कर रहा था तब मुसलमानों ने बडा उत्पात मचाया था। एक प्रकार से जयसिह देव चतुर्थ अन्तिम राजपूत राजा था। राजपूत कालीन जैन पुरातत्व के विषय मे मैं अपने एक निबन्ध[1] के द्वारा प्रकाश डाल चुका हूँ। इस लघु निबन्ध मे मुस्लिम युगीन मालवा के जैन पुरातत्व पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

जयसिह देव चतुर्थ के उपरान्त मालवा के मुसलमान शासकों के अधीन चला गया। इस काल मे जैन मन्दिरों का निर्माण प्रचुर मात्रा मे नही हो पाया तथापि कही-कही इस काल के बने हुए मन्दिरो के भग्नावशेष उपलब्ध होते है जो इस प्रकार है :—

(१) **कोठड़ी** :—यह ग्राम मन्दसौर जिले की गरोठ तहसील से २४ मील की दूरी पर स्थित है। यहा पर १४वीं शताब्दी का एक जैन मन्दिर है जो बाद में ब्राह्मण धर्म के मन्दिर रूप मे परिवर्तित कर लिया गया है[2]।

(२) **मामोन** :—यह ग्राम गुना जिले मे स्थित है। यहाँ हिन्दू व जैन मन्दिरो के समूह उपलब्ध हुए है। मूर्तियाँ भी मिली है तथा मन्दिरो मे नक्काशी का काम भी है[3]।

(३) **चैनपुरा** :—यह ग्राम मन्दसौर जिले मे है। यहाँ एक दीर्घकाय जैन प्रतिमा मिली है। यह प्रतिमा आजकल भानपुरा मे है[4]।

(४) **छपेरा** :—यह ग्राम जिला रायगढ़ (ब्यावरा) मे है। यहाँ कुछ जैन मूर्तियाँ मिली है जिन पर कुछ लेख भी उत्कीर्ण है[5]।

इसके अतिरिक्त इस युग की कुछ और जैन प्रतिमाएँ मिलती है जिन पर लेख उत्कीर्ण है। लेख मे अंकित संवत के आधार पर वे प्रतिमाएँ इस काल की प्रमाणित होती हैं। एक प्रतिमा पर स० ६१२ का लेख उत्कीर्ण है। इसमे इस मूर्ति की प्राचीनता सिद्ध होती है; किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। श्री नन्दलाल लोढा[6] का कहना है कि इस लेख में संवत ६१२ विचारणीय है, क्योकि इस समय माँडवगढ के अस्तित्व का कोई प्रमाण उपलब्ध नही, उपलब्ध प्रमाणो से तो सवत ९७१ के महाराजा वाक्पति-राज के पुत्र वैरीसिंह की अधीनता मे मॉडवगढ का होना प्रमाणित हुआ है। इसके पहले के प्रमाण अभी मिले नही हैं। अत: यह शायद स० १६१२ सम्भावित दिखता है। इन जमाने मे मांडवगढ के महमूद खिलजी के दीवान चाँदाशाह का उल्लेख इतिहास मे मिलता है। सम्भव है कि इस लेख मे धनकुबेर के विशेषण से उल्लिखित शा० चन्द्रसिंह शायद ये ही चाँदाशाह हो। यह प्रतिमा तारापुर तीर्थ से सम्बन्धित है और लेख निम्नानुसार है —

"सवत ६१२ वर्षे शुभ चैत्रमासे शुक्ले च पचम्या तिथौ भौमवासरे श्रीमडपदुर्गे मध्यभागे तारापुर स्थित पार्श्वनाथ प्रसादे गगनचुम्बी—(बि) शिखरे श्री चन्द्रप्रभ बिम्बस्य प्रतिष्ठा कार्या प्रतिष्ठाकर्त्ता च धनकुबेर शा० चन्द्रसिंहस्य भार्या जमुनापुत्र श्रेयार्थ प्र० जगच्चन्द्र सूरिभि.[7]।"

मालवा के सुल्तान श्री गयासुद्दीन के समय का एक

---

१. अनेकान्त।

२. Bibliography of Madhyabharat Part I पृष्ठ 29.

३. वही पृष्ठ २४।

४. Bibliography of Madhya Bharat part I पृष्ठ ८।

५. वही पृष्ठ ६।

६. मांडवगढ तीर्थ पृष्ठ ४३-४४।

७. जैन तीर्थ सर्वसंग्रह भाग २ पृष्ठ।

लेख मिलता है जो तारापुर तीर्थ निर्माण-काल पर प्रकाश डालता है तथा जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि उपर्युक्त लेख से उत्पन्न भ्रांति दूर हो जाती। पूरा लेख[1] निम्नानुसार है .— .

१॥८०॥ श्रीजिनाय नमः। जयति परमतत्वानन्द केलीविलास × त्रिभुवनमहनीयः सत्वरूपविधिवास.—२ दलितविषयदोषोरिक्तजन्मप्रयास' प्रभुरनुपमधामावकृतः श्रीमुपासः ॥१॥ सवत १५५१ वर्षे...शाके—(३) १४१६... वैसाखसुदी षष्ठी शुक्रवासरे पुनरवसुनक्षत्रे (मालवीद्र) सुलताण श्री ग्यासदीन विजय ४ राज्ये। तस्य पुत्र सुलताण श्री नासिरसाही युवराज्ये। मन्त्रीवर माफरकमलिक श्री पुजराज बाधव मुजराज सहिते ॥ श्रीमालज्ञातीय बुहरागोत्रे बुहरारणमल्ल भार्या रयणाये। पुत्र बुहरा श्रीपारस भार्याउभय ६ कुलानन्ददायिकी सत्पुत्र रत्नगर्भा...त्पुत्र बुहरा गोपाल। उभयकुलालंकरण। सुशी गाभार्या पूनी ७ पुत्र सग्राम जी जा बुहरा सग्राम भार्या करमाई। जी जा भार्या जी वारे। प्रमुख स्वकुटुम्बयुनेन ॥ श्रीभिन्नमाला ८ वडगच्छे श्रीवादी देवसूरी मताने। स्वगुरु श्रीवीरदेवसूरीः। ततपट्टे श्री अमरप्रभसूरी तत्पट्टालकार विजयवता ९ गच्छ नायक पूज्यश्री श्री कनकप्रभसूरीश्वराणाम। उपदेशेन प्रगटप्रतापमल्लेन। परोपकारकरणचतुरेण १० निजभुजोपार्जितवित्तव्ययपुण्यकार्य स्वजन्म सफलीकरणेन। राजराजेन्द्रसभा सशोभितेन। सज्जनजन ११ मानसराजहसेन। श्री शत्रुजयादितीर्थविनारचतुष्टग पट्ट निर्मापणेन श्री देवगुरु आत्मपालनतत्परेण। सर्व ॥१२॥ कार्य विदुरेण श्रीमालज्ञाति बुहराणाच विभूषणेन। सर्वदा श्री जिनधर्म सत्कर्म्मकरण निर्दूषणेन। श्रीमन् १३ मडपाचल निवासीय विजयवत् बुहरा श्रीगोपालेन। मडपपुर्यात् दक्षिणदिगविभागे तलहट्या श्री तारापुरे स्वपुण्यार्थ मनोवाछित दायक सद्धर्म श्रीसुपार्श्व जिनेन्द्रस्य सर्वजन मजनिताल्हादः सुप्रसादः प्रादादः कारितः १५ सा गोपालः शीलाभरणविलसद्वृत्ति रमलो विनीनः प्रज्ञावान् विविधमुकृतारंभनिपुणः जिनाधीनः स्वांतः १६ स्वगुरुचरणाधनपर.। पुनीभार्या मुक्तोनुभवतिगृह स्वाश्रयसुख ॥१॥ चिर नदतु ॥ सर्व शुभ भवतु ॥श्रीरस्तु॥

इस युग मे भी बडे-बड़े पदो पर कुछ जैनी नियुक्त थे। उनमे सग्रामसिह सोनी, चादाशाह, जीवणशाह, पुजराज, मन्त्री मेघराज और जीवनराज आदि आदि। सग्रामसिह सोनी के द्वारा मक्सी पार्श्वनाथ तीर्थ का निर्माण हुआ, ऐसा उल्लेख मिलता है[2]।

चन्देरी का चौबीसी जैन मन्दिर भी उल्लेखनीय है। इस मन्दिर का निर्माण विक्रम स० १८९३ अर्थात् सन् १८६३ मे हुआ था[2]। और इसके बाद के भी अनेक उदाहरण हमे मिल सकते है।

चूकि इस काल मे निर्माण के स्थान पर तोड़-फोड एव विध्वस अधिक हुआ है। इसके प्रमाण यत्र-तत्र बिखरे पडे है तथा इतिहास भी इसका साक्षी है। अनेक देवलयों को मुसलमान शासको ने मस्जिद मे परिवर्तित कर लिया है और जिसके प्रमाण हमे बराबर मिलते है। श्री गणेशदत्त शर्मा 'इद्र' का कहना है, "आगरा की जामामस्जिद जिसे "होशंगशाही मस्जिद" भी कहते है, एक जैन मन्दिर तोड़कर बनवाई गई। इस मस्जिद मे उस समय का एक शिलालेख भी है, जो फारसी भाषा का होने से ठीक-ठीक पढा और समझा नही जा सका।"[3] उज्जैन की बिना वीक की मस्जिद के विषय मे श्री व्रजकिशोर चतुर्वेदी का कथन है, "यह मस्जिद अनन्तपेठ मे एक जैन मन्दिर को तोडकर सन् १३९७ ई० मे मालवे के सूबेदार दिलावर खान गौरी ने बनवाई थी।"[4] ये तो साधारण से उदाहरण है। यदि केवल मन्दिर परिवर्त्तन के प्रकरण को लेकर समस्त भारतवर्ष मे अनुसन्धान किया जाय तो हमे इस प्रकार के अनेक प्रमाण मिल सकते हैं।

१. Parmar Inscriptions-in Dhar State 875-1310 A. D. By C.B. Lele. पृष्ठ ८९-९०

१. माडवगढ तीर्थ पृष्ठ २९

२. Annual Report of the Archaeological Deptt Gwalior State for 1924-25. PP. 12

३ मध्यभारत सदेश १५ मई १९५४ पृष्ठ ५

४ सस्कृति केन्द्र उज्जयिनी पृष्ठ १४०

पण्डित शिरोमणिदास विरचित धर्मसार

डा० भागचन्द्र जैन

नागपुर के परवार जैन मन्दिर के हस्तलिखित ग्रन्थों को देखते समय मुझे एक गुटका मिला जिसमें छोटे-मोटे अनेक ग्रन्थो के साथ धर्मसार ग्रन्थ की भी प्रतिलिपि की गई है। पन्नों को पलटने से ऐसा लगा कि यह ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण है। भट्टारक सकलकीर्ति के उपदेश से पण्डित शिरोमणि ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया। प्रतिलिपि सवत् १८२१ की है।

ग्रन्थ का आदि भाग—

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे जिनेन्द्र भगवान की स्तुति कर पडितजी ने अपने आपको भट्टारक सकलकीर्ति का शिष्य बताया और कहा कि उन्ही के उपदेश से धर्मसार ग्रन्थ की रचना की जा रही है। ग्रन्थ का आदि भाग इस प्रकार है—

वीर जिनेसुर पनऊ देव। इन्द्र नरेंद्र करें सत सेव ।।
अरु वदौ हो गये जिनराय। सुमरत जाके पाप नसाय ।।१
वर्तमान जे जिनवर ईस। कर जोरें पुन नाऊँ सीस ।।
जे जिनेंद्र भवि मुनि कहे। पूजों ते मै सुर मुनि महे ।।२
जिनवानी पनऊँ धरि भाव। भव-जल पार उतारन नाव।
पुनि बदौ गौतम गनराय। धर्म भेद जिन दयौ बताय ।।३
आचारज कुंदकुंद मुनि भये। पूजौ तमै सुर मुनि भये।
अरु जे जतिवर भये अपार। पनऊं जिनते भवदधि तार ।।४
सेऊं सकल कीरति के पाय। सकल पुरान कहै समुझाय ।।
जिन सत गुर कहि मगल कहै। धर्मसार सुभ ग्रथहि कहै ।।५
ज्ञानवत जे मति अति जान। ते पुन पंथन सकै बखान ।।
मै निलज मूरख अति सही। कह न सकौ जैसी गुर कही ।।६
अव यांसु तजौ बहुमद जनै। तौ कह सूरज किरनहिं गनै।।
जिनवर सेऊं मनवचन काय। धर्मसार कहौ सुखदाय ।।७
भव जीव सुनिकै मन धरै, मूरिख सुनि बहु निंदा करै ।।
सुगति कुगति कौ यहु सुभाव। गहै जीव मैटौ को भाव ।।८
सुनहु भव्य तुम सुथिरचितुलाइ।
सुगतिपंथ मारग यहु आइ ।।
श्रावक जीत वर भेद अपार।
बरनन करौं सकल हितकार ।।९

ग्रन्थ का अन्तिम भाग

ग्रन्थ के अन्त में पण्डित जी ने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है। साथ ही आचार्य जिनसेन और सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र का भी स्मरण किया है।

जैसी गनधर वानी कही। सो धर्म मुनि तैसी सही ।।
नेमिचन्द सिद्धांत वखानौ। धर्म भेद पुन तिनतै जानौ ।७८।
जिनसेन भये गुन की खान। धरम भेद सव कहौ बखान।
तिन तै जतिवर भये अनेक। राखी बहुत धर्म की टेक ।७९।
सूरज बिन दीपक भये जैसे। गनधर विन मुनि जानौ तैसे।
जस कीरति भट्टारक संत। धर्म उपदेस दयौ गुनवन्त ।।८०।।
ललितकीर्ति भव जन सुख पाइ। जिनवर नाम जपै हित लाइ
धर्मकीर्ति भये धर्म विधान। पदमकीर्ति मुनि कहे बखान ।।
जिनके सकलकीर्ति मुनि राजै। जप तप सजम सील विराजै
ललितकीर्ति मुनि पूरव कहै। तिनके ब्रह्म सुमति पुनि भये ।।
तप आचार धर्म सुभ दीन। जिनवर सौं राखै निजु प्रीत।
तिनके सिव भयें परवीन। मिथ्या मति सब कीनी छीन ।।
पडित कहै जु गंगादास। व्रत तप विद्या सील निवास।
पर उपगार हेत अति कियौ। ग्यान दान पुन बहुतन दियौ ।।
तिन्ह के सिष्य सिरोमन जान। धर्मसार पुन कहौ बखान।
करम क्षिपक कारन सो भई। तव यह धर्म भेद विधि ठई ।।

इसके बाद धर्मसार की उपयोगिता प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थ समाप्ति के स्थान और काल का दिग्दर्शन कराया है—

जो या पढ़ै गुनै चित लाय। समकित प्रगटै ताको आय।
व्रत आचार जानै सुभ रूप। पुनि जानै संसार सरूप ८६
जिन महिमा जानै सुखदाई। पुनि सो होइ मुक्ति पुर राई
अक्षर मात तीन तुक होइ। फेरि सुधारौ सज्जन सोइ ८७

सिहरौन नगर उत्तिमसुभनाम। सांतिनाथ जिन सोहै धाम ॥
प्रतिमा अनेक जिनवर की असें। दरसन देखत पाप बिनासें
श्रावग बसें धर्म के लीन। अपने मारग चले प्रवीन ॥
कुटुंबसहित मिलि हेत जु कियौ। तहाँ ग्रन्थ यऊ पूरन कियौ।
क्षत्रपती सोहै सुलतान। औरंगपातसाहि जु बखान ॥
देवीसिंघ राजा तह चन्द। वैरिन को दीनो बहु दण्ड।
प्रजा पुत्र सम पालै धीर। राजन में सोहै बरवीर ॥
तिनकैं राज यह ग्रन्थबनायौ। कहैंसिरोमनि बहु सुख पायौ।
संवत् सत्रासैंबत्तीस। बैसाख मास उज्ज्वल पुन दीस ॥
त्रितिया तिथि है समभऊ समेत। भवनजनकौ मंगलसुखहेत।
ग्रन्थ सातसैं त्रेसठ जान। दोहा चौपही कही वखान ॥

इति धर्मसार ग्रन्थे श्री सकलकीर्ति उपदेसेन पडित सिरोमनिदास विरच्यते सप्तम सधि। इसके बाद प्रतिलिपिकार ने समय लिखा है प्रतिलिपि समाप्त होने का—चैत्रसमासे शुक्लपक्षे तिथि ३ बुधे सवत १८२१ भी ...। श्री के बाद कुछ भी नही लिखा। अतएव प्रतिलिपिकार का नाम अज्ञात ही है।

विषय विवेचन

समूचे ग्रन्थ मे ७६३ दोहे और चौपाइयाँ है। ग्रन्थकार ने उन्हे सात सन्धियो मे विभक्त किया है—१. श्रेणिक प्रश्न, २. सम्यक्त्व महिमा, ३. त्रेपनक्रिया वर्णन, ४. कर्म विपाक कथन, ५. योगीश्वर महिमा फल, ६. केवलज्ञान महिमा और ७. पचकल्याणक विधि।

१. श्रेणिक प्रश्न :—जैन साहित्य सृजन श्रेणिक प्रश्नो के माध्यम से अधिक हुआ है। श्रेणिक (बिम्बसार) भारतीय इतिहास का एक उज्ज्वल व्यक्तित्व है जिसने जैनधर्म और साहित्य की अनुपम सेवा की है। पडित शिरोमणि ने श्रेणिक से प्रश्न कराये और उनका उत्तर भगवान् महावीर से दिलाये। प्रश्न है—धर्म के भेद क्या है? स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है? जीव चतुर्गति में परिभ्रमण क्यों करता है और वह परिभ्रमण कैसे दूर किया जाता सकता है?—

श्रेनिक पूछें मनवचकाय। धर्म भेद कहिए समुझाय।
श्रावक मोक्ष फल कैसो होय। सोउ कहिये हम पर सोय ॥
श्रावक जतिवर भेद है जैसे। सो समुझावें मुनिवर तैसे।
कैसें जिय चहुंगति में परें। कैसें जिय भवसागर तरैं ॥
पंगु अंध निर्धन धनवन्त। जड़ पंडित पद पावै संत।
पुत्र हीन बहु रोग अपार। अरु बहु दुख भुगतैं संसार ॥

२. सम्यक्त्व महिमा :—धर्म का मूल सम्यक्त्व मानकर पण्डित जी ने उक्त सभी प्रश्नों के उत्तर सम्यक्त्व भूमिका पूर्वक प्रस्तुत किये है। सर्वप्रथम उन्होंने बताया कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति कैसे होती है और उसके बिना जीव क्यों भटकता है। इस प्रसग मे मूढता, मद, शकादिक दोषों का तथा उनके अतिचारो और पच मिथ्यात्वो का वर्णन है। इसके बाद सम्यक्त्व की महिमा का कथन किया गया है। मूढता वर्णन करते समय तत्कालीन कुछ ऐसी मूढताओ का भी वर्णन कियाहै जो वैदिक धर्मावलम्बियों के प्रभाव से जैनो मे आ गई थी। उदाहरणत: हाथी, घोडा, बैल, गाय आदि की पूजा करना, बड, पीपर, ऊमर, तुलसी, दूब आदि वृक्षो की सेवा करना, अन्तर, भूत, सती, सीतला, सूर्य, चन्द्र, यक्ष, नाग आदि को देवी-देवता मानना, गोबर थापकर उनकी पूजा करना, गाय का मूत्र पीना, मुजरिया बनना आदि।

३. त्रेपन क्रिया वर्णन।—श्रावक का मूल धर्म त्रेपन क्रियाओं का परिपालन करना है। इनका वर्णन इस अध्याय में दिया गया है।

अष्टमूलगुनव्रत सुन बार। द्वादस तप सामायिक चार।
येकादस प्रतिमा सुन हेत। बारा दिन में कहौं सुचेत ॥
जलगालन इक अन्थऊ लीन। तीन तत्त्व वह कहौ प्रवीन।
ये त्रेपन किरिया परवान। बरनन करो सुनो दे कान ॥
जैसी विधि ग्रन्थन में जानी। तैसी मैं पुनि कही बखानी।
जे नर विषई धर्म न जानैं। धर्म सार विधि ते नहि मानैं
जे नर धर्म सील मन लावैं। धर्मसार सुनकैं सुख पावैं।

यहां पण्डित जी ने ८ मूल गुण, १२ व्रत, १२ तप, ४ सामायिक, ११ प्रतिमा, जलगालन, रात्रि भोजन त्याग, ४ दान इन ५३ क्रियाओं का वर्णन किया है। कवित्त में उनका यथास्थान उल्लेख नहीं हो पाया। इसमें १६४ दोहे, सोरठे और चौपाइयाँ हैं। इनमें कुछ शब्द ऐसे हैं जो आज भी उसी रूप में प्रचलित हैं। जैसे—अन्थऊ, कुम्हडा, भटा, कलीदे, नैंनू, मूत, तुरकीवात, थाती इत्यादि। उक्त त्रेपन क्रियाओं का विस्तार से सुन्दर शैली में वर्णन किया

गया है यद्यपि उक्त कवित्त में उनकी स्पष्टता उतनी अधिक नहीं है।

४. कर्मविपाक कथन—इस अध्याय मे निगोद तथा नरक तिर्यच, मनुष्य और देव गति के दुःखों और उन दुःखो के कारणो का विस्तृत वर्णन है। किस कषाय और किस दुष्कर्म से जीव जिस गति में भ्रमण करता है इसका स्पष्ट कथन है।

५. योगीश्वर महिमा वर्णन—इसमे व्रत, तप, अनुप्रेक्षा, तत्त्व आदि का वर्णन है।

६. केवलज्ञान महिमा—इसमे भगवान के अतिशयों गुणों और ऋद्धियों का वर्णन है तदनन्तर ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया व उसकी महिमा दिखाई गई है।

७. पंच कल्याणक वर्णन—प्रस्तुत अध्याय मे समवशरण का चित्रण और पच कल्याणको का वर्णन किया गया है।

भाषा शैली—

पण्डित जी की भाषा मे सरस प्रवाह है। उनके शब्द और भाषा मे पर्याप्त सामञ्जस्य है। यद्यपि ग्रन्थ वर्णनात्मक शैली से लिखा गया है फिर भी रुचिकर बन पड़ा है। लौकिक शब्दों का यहाँ प्रयोग अधिक है। ग्रन्थ मे केवल दोहा, चौपई, सोरठा, अडिल्ल और कवित्त छन्दो का प्रयोग है। इनमें कवित्त और सवैया अधिक प्रभावक है। उदाहरणतः कवित्त की सुन्दरता देखिये—

जो अपजस की डंक बजावत लावत कुल कलंक परधान।
जो चारित को देइ जुलांजुल गुन वन कौं दावानल दान॥
सो शिव पंथ किवारि बतावत आवत विपति मिलन को थान
चिंतामन समान जग जे नर सील रतन जो करत भजान॥

इसी प्रकार सवैया की सरसता का पान कीजिए—

कलह गयंद उपजाईवे कौं विदागिरि,
कोप गीध के अघाइवे कौं सुमसान है।
सकट भुजग के निवास करिबे कौं बिल,
वैर भाव चोर कौं मह निसा समान है।
कोमल सुगुन घन खंडिवे कौं महा पौन,
पुंनवन दाहिवे कौं दावानल दान है।
नीत नय नीर जन साइवे कौं हिम रासि,
ऐसौ परिग्रह राग दोष को निदान है॥२-६२॥

ग्रन्थकर्ता का जीवन-दर्शन—

पण्डित शिरोमणिदास मूलतः आगरा के रहने वाले थे। मध्यावधि उनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—धर्मसार और सिद्धान्त-सिरोमणि। दोनों ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि उनमें भक्ति काल की मूल प्रवृत्तियाँ समाविष्ट हैं। धर्मसार मे जहाँ निर्गुण और सगुण भक्ति का दिग्दर्शन हैं वहाँ सिद्धान्त-शिरोमणि मे उसका दूसरा पक्ष सन्दर्शित है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के बीच मध्य काल में बढ़ते सिथिलाचार की वहाँ घोर निन्दा की है। श्वेताम्बर मुनि और दिगम्बर भट्टारक उनकी इस निन्दा के मुख्य मात्र है।

गुरुपरम्परा—पण्डित जी भट्टारक सकलकीर्ति को अपना अप्रत्यक्ष गुरु मानते थे। ग्रन्थ के आदि भाग मे जिन आचार्यों का उन्होंने नामोउल्लेख किया है उनमे भट्टारक सकलकीर्ति भी है। उनके विषय मे लिखा है—

सेऊँ सकलकीरति के पाय। सकल पुरान कहै समुझाय॥

ग्रन्थ के अन्त भाग मे पण्डित जी ने अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है :—

इस आचार्य परम्परा के देखने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पण्डित शिरोमणिदास बलात्कार गण की उत्तरीय जेहरट शाखा से सम्बन्धित रहे है। डॉ॰ विद्याधर जोहरापुरकर के भट्टारक सम्प्रदाय में सकलकीर्तिके

शिष्य ललितकीर्ति को छोड़कर शेष सभी भट्टारकों का उल्लेख मिलता है। उक्त ललितकीर्ति के साहित्यिक योगदान से भी हम परिचित नही। बलात्कार गण की जेरहट शाखा के अन्तिम भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति थे जिनका उल्लेख धर्मसार मे नही किया गया। यदि प्रतिलिपिकर्ता की भूल न मानी जाय तो सम्भव है कि सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्य ललितकीर्ति रहे है। और चूंकि ललितकीर्ति समाज अथवा साहित्य के क्षेत्र मे अधिक कार्य नही कर सके इसलिए उनका उल्लेख नही मिलता। जो भी हो, जेरहट शाखा की परम्परा में एक और आचार्य (भट्टारक) का नाम रखा जा सकता है। इस दृष्टि से धर्मसार के उल्लेख का महत्त्व निश्चित ही उल्लेखनीय है। इस उल्लेख से यह भी पता चलता है कि जेरहट शाखा के अन्तिम भट्टारक ललितकीर्ति रहे और उनके बाद उनके शिष्य-प्रशिष्य पण्डित कहे जाने लगे।

धर्मसार की प्रस्तुत प्रति मे स० १७३२ रचना काल दिया गया है। डॉ० प्रेमसागर ने जयपुर के बधीचन्द्र जी के मन्दिर मे सरक्षित एक अन्य प्रति का भी उल्लेख किया है जिसमे रचना सं० १७५१ लिखा है। स्व० प्रेमी जी ने १७३२ को रचना काल और १७५१ को लेखन काल माना है[1]। डॉ० प्रेमसागर ने इस सन्दर्भ मे अपना मत स्पष्ट नही किया फिर भी, लगता है, प्रेमी जी की स्वीकृति में ही उनकी स्वीकृति निहित है[2]। परन्तु वे निष्कर्ष ठीक नही दिखते। डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर ने सुरेन्द्रकीर्ति को बलात्कार गण की जेरहट शाखा का अन्तिम भट्टारक माना है और उनका समय सं० १७५६ बताया है। इसका प्रमाण है आदिनाथ स्तोत्र की निम्न पंक्तियां[3]—

मूलसंघ को नायक सोहे सकलकीर्ति गुरु बन्दो जू।
तस पट पाट पटोधर सोहे सुरेन्द्रकीर्ति मुनि जागे जू ।।
संवत् सत्रासो छप्पण है मास कार्तिक शुभ जानो जू।
दास बिहारी विनती गावे नाम लेत सुख पावे जू ।।

इसके अतिरिक्त सम्बन्धित सुरेन्द्रकीर्तिके अन्य उल्लेख मेरे देखने मे नहीं आये। पर इस उल्लेख से इतना तो निश्चित है कि स० १७५६ तक सुरेन्द्रकीर्ति निश्चित ही गद्दी पर रहे होंगे। और उन्होंने अपने उत्तराधिकारी का चुनाव इसके पूर्व ही कर दिया होगा। उत्तराधिकारी ललितकीर्ति ने अपनी शिष्य परम्परा भी प्रारम्भ कर दी होगी। उस शिष्य परम्परा में अग्रगण्य होगे पण्डित गंगादास। पण्डित गगादास स० १७५१ तक वृद्ध हो गये होंगे और उनके शिष्य पण्डित शिरोमणिदास युवक रहे होंगे। अतः निष्कर्ष यह हो सकता है कि धर्मसार का लेखन काल सं० १७५१ ही हो, १७३२ नही। इस सदर्भ में सिहरौन नगर, जहाँ धर्मसार की रचना समाप्त हुई, के राजा देवीसिंह का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। उनका समय भी यही है।

पण्डित शिरोमणिदास के दोनों ग्रन्थ धर्मसार और सिद्धान्तशिरोमणि भाव और भाषा की दृष्टि से उत्तमकोटि के है, दोनों ग्रन्थों के प्रकाशन से जहाँ तत्कालीन जैनसमाज और सस्कृति का परिचय मिलेगा वहाँ भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी वे उपयोगी सिद्ध हुए होंगे। ●

१. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, बम्बई, पृ. ६७
२. हिन्दी जैन-भक्ति काव्य और कवि, पृ. २७६
३. भट्टारक सम्प्रदाय, पृ. २०५

सुगुरु सीख

हम तो कबहूं न हित उपजाये। सुकुल-सुदेव-सुगुरु-सुसगहित, कारन पाय गमाये ।।टेक।।

ज्यों शिशु नाचत आप न माचत, लखन हार बौराये।
त्यों श्रुतबांचत आप न राचत, औरन को समुझाये ।।१।।
सुजस-लाहकी चाह न तज निज, प्रभुता लखि हरखाये।
विषय तजे न रजे निजपद में, परपद अपद लुभाये ।।२।।
पापत्याग जिन-जाप न कीन्हों, सुमनचापतप-ताये।
चेतन तन को कहत भिन्न पर, देह सनेही थाये ।।३।।
यह चिर भूल भई हमरी अब, कहा होत पछिताये।
दौल अजों भव-भोग रचौ मत, यों गुरु वचन सुनाये ।।४।।

कवि वर दौलतराम

द्वितीय जम्बूद्वीप

पं० गोपीलाल अमर शास्त्री, एम. ए.

प्रारम्भिक :—

जम्बूद्वीप की मान्यता भारतीय लोकविद्या में व्यापक रूप से प्राप्त होती है[1]। वैदिक[2] और बौद्ध[3] मान्यता में जम्बूद्वीप नाम का एक-एक ही द्वीप है जबकि जैन[4] मान्यता में दो[5] जम्बूद्वीप उपलब्ध होते है। ऐसा नही कि एक ही द्वीप के दो भाग करके उन्हें दो द्वीप मान लिया गया हो बल्कि इस नाम के दो पृथक्-पृथक् द्वीप ही, जैन मान्यता के अनुसार विद्यमान है। जम्बूद्वीप से आगे सख्यात् समुद्रों और द्वीपों के पश्चात् अतिशय रमणीय दूसरा जम्बूद्वीप है[6]। इसका वर्णन[7] करने से पूर्व तीन-लोक की रचना पर एक विहङ्गम दृष्टिपात उपयोगी होगा जिसके अग के रूप में यह द्वीप विद्यमान है।

लोकरचना : एक विहगम दृष्टि :—

त्रिलोकी का आकार ऐसे पुरुष की आकृति से मिलता-जुलता है जो दोनों पैर फैलाकर और दोनो हाथ कमर पर रखकर खड़ा हो[8]। इसके मध्य के एक लाख योजन मे मध्यलोक है, जिसके नीचे नरक लोक और ऊपर स्वर्ग-लोक की रचना है। मध्यलोक की पूर्व-पश्चिम लम्बाई और उत्तर-दक्षिण चौड़ाई एक-एक राजू[9] और ऊंचाई एक लाख योजन[10] है।

मध्यलोक मे, बीचो-बीच, एक योजन लम्बा और उतना ही चौडा एक मण्डलाकार महाद्वीप विद्यमान है[11]।

---

१. जम्बूद्वीप के विस्तृत और तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए : डॉ० सैयद मोहम्मद अली 'दि जॉग्रफी ऑफ दि पुराणस'।

२. देखिए वसुबन्धु 'अभिधर्म कोश' तथा अन्य ग्रन्थ।

४. देखिए 'जम्बूद्वीपपण्णत्ती' आदि ग्रथ।

५. एक ही नाम के दो या दो से अधिक द्वीप और भी बहुत से है, यद्यपि उनके नाम नही दिये गये है (एक्कणाम बहुबाण)

६. देखिए, 'तिलोयपण्णत्ती', ५, २७
'जबूदीवाहिंतो संखेज्जाणि पयोधिदीवाणि।
गंतूण अत्थि अण्णो जबूदीओ परमरम्मो॥'
'तिलोयपण्णत्ती ५, १७६

७. 'तिलोयपण्णत्ती' (महाधिकार ५, गाथा १८६–२३७) में इसका वर्णन सविस्तार आया है। 'हरिवश पुराण' (माणिकचन्द्र, ग्रथमाला) मे द्वितीय जम्बूद्वीप का उल्लेख केवल एक श्लोक (सर्ग ५ श्लोक १६६) में ही कर दिया गया है। हाँ, इस पुराण में प्रथम जम्बूद्वीप के वर्णन में ही सुदर्शन मेरू की चारों दिशाओं में स्थित नगरियों (जगती) का जो वर्णन है वह द्वितीय जम्बू के (तिलोयपण्णत्तीगत) वर्णन से पूर्णत मिलता-जुलता है।

८. त्रिलोकी के आकार की यह मान्यता भारतीय लोक-विद्या मे सर्वथा अनूठी है। इसका प्रतीकार्थ तो अभी शोधक विषय है लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पूर्वाचार्यों ने देवों और नारकियो के आकार-प्रकार को ही दृष्टिगत रखा होगा।

९. दूरी के नाप की एक अलौकिक इकाई=उतनी दूरी जिसे पुद्गल का एक स्वतत्र परमाणु अपनी पूरी रफ्तार से चलकर समय के सूक्ष्मतम भाग मे ही पार कर ले। 'राजू' शब्द का सस्कृत रूप है 'रज्जु' जिसका अर्थ होता है रस्सी और जिसे बुन्देलखण्ड मे पगहिया (सस्कृत मे 'प्रग्रहिका') कहते है। बहुत से स्थानों पर पगहिया को आज भी दूरी नापने की एक इकाई माना जाता है।

१०. यह महायोजन है जो हजार कोश के बराबर होता है। साधारणत: एक योजन चार कोश के बराबर माना जाता है।

११. 'तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो-जम्बूद्वीप:।' 'तत्त्वार्थसूत्र ३, ९

इसे जम्बूद्वीप कहते है[12]। यह प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण द्वीप है। जम्बूद्वीप के चारों ओर घेर कर एक महासमुद्र विद्यमान है जो अपने खारे जल के कारण लवण समुद्र कहलाता है। इस समुद्र को चारों ओर से घेरे हुए एक द्वीप है। उसका नाम धातकीखण्ड है। उसे भी काल समुद्र घेर कर विद्यमान है। काल समुद्र को घेर कर पुष्कर द्वीप है। वह स्वय इसी नाम के समुद्र से घिरा हुआ है। इस प्रकार, उत्तरोत्तर प्रत्येक द्वीप एक समुद्र से और वह समुद्र एक द्वीप से घिरा हुआ है। समुद्र का नाम वही है जो उसके पूर्ववर्ती द्वीप का है। इनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय द्वीपो मे आठवाँ[14] नन्दीश्वर, ग्यारहवाँ[14] कुण्डलकर, तेरवाँ[15] रुचकवर[16], सख्यातवाँ जम्बूद्वीप और अंतिम[17] स्वयभूरमण है। प्रथम ढाई द्वीपो मे नदी, पर्वत और क्षेत्र-विभाजन आदि की मनुष्यानुकूल रचना है। उनके पश्चात् जो भी द्वीप उल्लेखनीय है उनमे रचना तो अवश्य है परन्तु वह मनुष्यानुकूल न होकर देवानुकूल है। उनमे भवनवासी वर्ग के देव और देवियाँ निवास करती है। विभिन्न पर्वतो और कूटो पर विद्यमान अकृत्रिम चैत्यालय इन द्वीपो की विशेषता है।

द्वितीय जम्बूद्वीप : सामान्य लक्षण :—

द्वितीय जम्बूद्वीप सख्यात द्वीपों और समुद्रो को घेरकर एक चूड़ी के आकार मे स्थित है। इसकी चौड़ाई और परिधि का निश्चित मान नही दिया जा सकता क्योकि यह उल्लेख प्राप्त नही होता कि यह जम्बूद्वीप प्रथम जम्बूद्वीप से जिसका निश्चित मान उल्लिखित है और जिसके आधार शेष द्वीप-समुद्रों का मान निकाला जाता है, कितने द्वीप-समुद्रो के पश्चात् है। इसकी आभ्यन्तर और बाह्य परिधियाँ एक एक समुद्र द्वारा घिरी है। बाह्य परिधि को घेरने वाले समुद्र का नाम नियमानुसार जम्बू समुद्र है। इनमे आठवे, ग्यारहवे और तेरहवे द्वीपों के समान ही देवानुकूल रचना है पर यह रचना चित्रा पृथ्वी के ऊपर न होकर वज्रा पृथ्वी के ऊपर चित्रा के मध्य मे है। रचना के अतर्गत साङ्गोपाङ्ग नगरियाँ, जिनालय आदि उल्लेखनीय है। इनकी विशालता और विविधता अत्यन्त आकर्षण की वस्तु है। अन्य द्वीपों और समुद्रो की भाँति इस द्वीप के भी दो अधिपति व्यन्तर देव है परन्तु उनके नामो का उल्लेख नही है क्योकि शेष द्वीप समुद्रो के अधिपति देवो के नाम का उपदेश इस समय नष्ट हो गया है।[18]

नगरी-वर्णन :—

इस द्वीप की चारो दिशाओं मे विजय आदि देवों की दिव्य नगरियाँ स्थित है। ये नगरियाँ बारह हजार योजन विस्तृत जिन भवनो से विभूषित और उपवन-वेदियों से सयुक्त है। इन सब नगरियो के प्राकार साढे सैंतीस योजन ऊँचे तथा आधे योजन गहरे है[19] और उन पर रग बिरगी ध्वजाओ के समूह फहरा रहे है। उत्तम रत्नो से निर्मित इन सुवर्ण प्राकारो का भूविस्तार साढ़े बारह योजन और मुखविस्तार सवा छह योजन है।

इन नगरियों की एक-एक दिशा मे सुवर्ण से निर्मित और मणिमय तोरणस्तम्भो से रमणीय पच्चीस गोपुर है। इन नगरियों के उत्तम भवनो की ऊँचाई बासठ योजन, विस्तार इकतीस योजन और गहराई दो कोश है।

प्रत्येक नगरी के मध्य में तरह-तरह के अनेक भवनो

---

१२. क्योंकि इसके मध्य में जम्बू (जामुन) का एक अक्षय वृक्ष है।

१३. चौथे से सातवें तक क्रमशः वारुणीवर, क्षीरवर, घृतवर, क्षौद्रवर।

१४. नौवाँ अरुणवर और दशवाँ अरुणाभास।

१५. बारहवाँ शखवर

१६. चौदहवाँ भुजगवर, पन्द्रहवाँ कुशवर, सोलहवाँ क्रौञ्चवर।

१७. अन्त से प्रारम्भ करने पर स्वयम्भूरमण से पूर्व क्रमशः अहीन्द्रवर, देववर, यक्षवर, भूतवर, नागवर, वैडूर्यवर, काञ्चन, रूप्यवर, हिंगुल, अञ्जनवर, श्याम, सिन्दूर, हरिताल, मनःशिल।

१८. सेसाण दीवाण वारिणिहीण च अहिवई देवा।
जे केइ ताण णामस्सुवएसो सपहि पणट्ठो॥
—'ति० प०', ५, ४८

१९. इस गहराई (अवगाह) का तात्पर्य चित्रा पृथ्वी में उसकी निचली सतह से हो सकता है।

से अतिशय रमणीय, बारह सौ योजनप्रमाण विस्तार से सहित और एक कोश ऊँचा राजागण स्थित है। इस स्थल के ऊपर चारों ओर दो कोश ऊँची, पाँच सौ धनुष विस्तीर्ण और चार गोपुरों से युक्त वेदिका स्थित है। राजांगण के बीचोंबीच एक सौ पचास कोश विस्तारवाला, इससे दूना ऊँचा दो कोश गहरा और मणिमय तोरणों से परिपूर्ण प्रासाद है। इसका वज्रमय कपाटों से सुशोभित द्वार आठ योजन ऊँचा और चार योजन चौड़ा है।

प्रासादों की संयोजना :—

इसके चारों ओर एक-एक दिव्य प्रासाद है। उनसे आगे छठे मण्डल तक उत्तरोत्तर चार-चार गुने प्रासाद है। प्रत्येक मण्डल के प्रासादों का प्रमाण अग्रलिखित है। एक (मध्य का) प्रासाद मुख्य है। प्रथम मण्डल में चार प्रासाद है। द्वितीय मण्डल मे सोलह, तृतीय मे चौसठ, चतुर्थ में दो सौ छप्पन और पाँचवे मण्डल मे एक हजार चौबीस प्रासाद है। छठे मण्डल मे चार हजार छयानवे प्रासाद हैं। आदि के दो मण्डलों मे स्थित प्रासादों की ऊँचाई, विस्तार और अवगाह सबके बीच में स्थित मुख्य प्रासाद की ऊँचाई, विस्तार और अवगाह के समान है। तृतीय और चतुर्थ मण्डल के प्रासादो की ऊँचाई आदि इससे आधी है। इससे भी आधी पञ्चम और छठे मण्डल के प्रासादों की ऊँचाई आदि है। प्रत्येक प्रासाद की कलापूर्ण एक-एक वेदिका है। प्रथम प्रासाद की वेदिका दो कोश ऊँची और पाँच सौ धनुष विस्तीर्ण है। प्रथम और द्वितीय मण्डल में स्थित प्रसोपा की वेदिकाएँ भी इतनी ही ऊँची और विस्तीर्ण है। तृतीय और चतुर्थ मण्डल के प्रासादों की वेदिका की ऊँचाई और विस्तार पूर्वोक्त वेदिकाओं से आधा और इससे भी आधा पाचवे और छठे मण्डल के प्रसोपा की वेदिकाओं का है। गुणित क्रम से स्थित इन सब भवनों की संख्या पाँच हजार चार सौ इकसठ है।

सभाभवन-वर्णन :—

प्रथम प्रासाद के उत्तर भाग में साढे बारह योजन लम्बी और इससे आधे विस्तारवाली सुधर्मा सभा स्थित है। सुवर्ण और रत्नमयी यह सभा नौ योजन ऊंची और दो कोश गहरी है। इसके उतर भाग में इतने ही विशाल जिनभवन हैं। प्रथम प्रासाद की वायव्य दिशा में जिनेन्द्र-भवन के समान सुवर्ण और उत्तम रत्नों से निर्मित उपपादसभा स्थित है। प्रथम प्रासाद के पूर्व में उपपादसभा के समान विचित्र रचना वाली अभिषेक सभा स्थित है। इसी दिशा मे अभिषेक सभा के समान विस्तार आदि वाली और मणिमय तोरण द्वारों से रमणीय अलंकार सभा है। इसी दिशा में पूर्व सभा के समान ऊँचाई और विस्तार से सहित, सुवर्ण एवं रत्नो से निर्मित और सुन्दर द्वारों से सुसज्जित मन्त्रसभा है। इन छह प्रासादों के पूर्वोक्त मदिरों में जोडने पर भवनों की समस्त संख्या पाँच हजार चार सौ अड़सठ होती है।

आवास-योजना ;—

जिनकी किरणे चारो दिशाओ मे प्रकाशमान हो रही है ऐसे ये भवन उत्तम रत्नमय प्रदीपो से नित्य प्रकाशित रहते है। पुष्करिणिओ (सरोवरों) से रमणीय, फल-फूलो से सुशोभित, अनेक प्रकार के वृक्षो से सहित, और देव-युगलों से सयुक्त उपवनो से वे प्रासाद शोभायमान होते है। इनमें से कितने ही भवन मूंगे जैसे वर्णवाले कितने ही कपूर और कुन्दपुष्प के सदृश, कितने ही सुनहरे रंग के और कितने ही वज्र एवं इन्द्रनीलमणि के सदृश हैं। उन भवनों में हजारों देवियों के साथ विजय नामक देव निवास करता है। वहाँ नित्य-युवक, उत्तम रत्नों से विभूषित शरीर से संयुक्त, लक्षण और व्यञ्जनो से सहित, धातुओं से विहीन, व्याधि से रहित, तथा विविध प्रकार के सुखों मे आसक्त अनेक देव भी बहुत विनोद के साथ क्रीड़ा करते रहते है। इन भवनो मे मृदुल, निर्मल और मनोरंजक, आकर्षक, रत्नमय शय्याएँ और आसन विद्यमान हैं।

विजयदेव और उसका परिकर :—

प्रथम प्रासाद के बीचोंबीच अतिशय रमणीय, पादपीठ सहित, सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित विशाल सिंहासन है। वहाँ पूर्वमुख प्रासाद में सिंहासन पर आरूढ़ विजय नामक अधिपति देव अनेक प्रकार की लीलाओं का आनन्द प्राप्त करता है। विजय के सिंहासन की उत्तर दिशा और विदिशा में उसके छह हजार सामानिक देव रहते हैं।

मुख्य सिंहासन की पूर्व दिशा में विजय देव की छह अनुपम अग्रदेवियाँ रहती है। उनके सिंहासन रमणीय है। इनमे से प्रत्येक अग्रदेवी की परिवारदेवियाँ तीन हजार है जिनकी आयु एक पल्य से अधिक होती हैं। ये परिवारदेवियाँ भी अपने-अपने भवनों मे रहती है। विजय देव की बाह्यपरिषद् मे बारह हजार देव है। उनके सिंहासन स्वामी के सिंहासन के नैऋत्य मे है। उसकी मध्यम परिषद् में दस हजार देव होते है जिनके सिंहासन स्वामी के सिंहासन के दक्षिण मे स्थित होते है। उसकी अभ्यन्तर परिषद् मे जो आठ हजार देव रहते है, उनके सिंहासन स्वामी के सिंहासन के आग्नेय मे स्थित है। सात सेना-महत्तरो के उत्तम सुवर्ण एवं रत्नो से रचित दिव्य सिंहासन मुख्य सिंहासन के पश्चिम मे होते है। विजय देव के जो अठारह हजार शरीर रक्षक देव है, उन सभी के चन्द्रपीठ चारों दिशाओ मे स्थित हैं। वहाँ अनेक देव विविध प्रकार के नृत्य सगीत आदि द्वारा विजय का मनोरजन करते है। राजागण के बाहर परिवार देवों के, फहराती हुई ध्वजा-पताकाओ से मनोहर और उत्तम रत्नो की ज्योति से अत्यन्त रमणीय प्रासाद है। जो बहुत प्रकार की रति के करने मे कुशल है, नित्य यौवन से युक्त है, नाना प्रकार की विक्रिया को करती है, माया एव लोभादि से रहित है, हास-विलास मे निपुण है, और स्वभाव से ही प्रेम करने वाली है ऐसी समस्त देवियाँ विजय देव की सेवा करती है। अपने नगरो के रहने वाले अन्य सभी देव विनय से परिपूर्ण और अतिशय भक्ति मे आसक्त होकर निरंतर विजय देव की सेवा करते है।

वन और चैत्यवृक्ष :—

उस नगरी से बाहर पचीस योजन की दूरी पर चार वन हैं। उनमें से प्रत्येक मे चैत्यवृक्ष हैं। अशोक और सप्तपर्ण, चम्पक और आम्रवृक्षों के ये वन पूर्वादि दिशाओं में प्रदक्षिणाक्रम से है। प्रत्येक वन बारह सौ योजन लम्बा और पाँच सौ योजन चौड़ा है। इन वनों में जो चैत्यवृक्ष है उनकी सख्या भावनलोक के चैत्यवृक्षों की सख्या के बराबर है। उनकी चारों दिशाओं मे चार जिनेन्द्र प्रतिमाएँ हैं जो देवों और असुरों द्वारा पूजित, प्रातिहार्यों से अलंकृत, पद्मासन में स्थित और रत्ननिर्मित हैं।

अशोक प्रासाद :—

प्रत्येक चैत्यवृक्ष की ईशान दिशा मे इकतीस योजन एक कोश विस्तार वाला दिव्य प्रासाद स्थित है। रंग-बिरंग मणियों से निर्मित स्तम्भों वाले इस प्रासाद की ऊँचाई साढ़े बासठ योजन और अवगाह दो कोश है। उसके द्वार का विस्तार चार योजन और ऊँचाई आठ योजन है।

यह प्रासाद देदीप्यमान रत्नदीपको से प्रकाशित रहता है, विचित्र शय्याओं और आसनों से परिपूर्ण रहता है और उसमे उपलब्ध शब्द, रस, रूप, गध एव स्पर्श से देवों के मन आनन्द मे भर उठते है। स्वर्णमय भित्तियो पर अकित विचित्र चित्रों से उसका स्वरूप निखर उठा है। बहुत कहने से क्या, वह प्रासाद अनुपम है। उस प्रासाद मे उत्तम रत्नमुकुट को धारण करने वाला और चामर-छत्रादि से सुशोभित अशोक नामक देव हजारो देवियों के साथ आनन्द से रहता है।

शेष वैजयन्त आदि तीन देवो का सम्पूर्ण वर्णन विजयदेव के ही समान है। इनके भी नगर क्रमशः दक्षिण पश्चिम और उत्तर दिशा मे स्थित है।

मननीय :—

जैसा कि टिप्पणी ७ मे कहा जा चुका है, यह लेख मुख्य रूप से तिलोयपण्णत्ती पर आधारित है। यह ई० ४७३ से ६०६ के मध्य की रचना मानी गई है।[१०] भारतीय इतिहास मे यह काल स्वर्णयुग के नाम से विख्यात है। इस तथ्य की पुष्टि तिलोयपण्णत्ती के पारायण से शतशः होती है।

उसने स्थान-स्थान पर उल्लिखित विभिन्न प्रकार की नगर योजनाएँ और भवनों की विन्यास रेखाएं (ले आउट प्लान) संस्कृति और पुरातत्त्व के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है।

नगरियाँ योजनो लम्बी-चौड़ी होती थी जैन मन्दिर और उपवन उनमें अवश्य होते थे। प्राकारो और गोपुरों की अनिवार्यता थी। भवन और प्राकार न केवल ऊंचे होते थे, उनकी नीव भी काफी गहरी (अवगाह) खोदी जाती थी। राजागण एक विशाल, सर्वसुविधासपन्न,

सुदृढ़ और अलकृत दुर्ग होता था, जिसके चारों ओर योजनाबद्ध भवनो की पक्तियाँ होती थी। नगरी में ज्यों-ज्यों बाहर से भीतर की ओर बढ़ा जाता, त्यों-त्यों भवनों की ऊँचाई भी बढती जाती थी। भवनों की गणना रेखा-गणित के आधार पर की जा सकती थी। सार्वजनिक उपयोग के लिए सभाएं (विशाल हाल) होते थे। उनमे से सुधर्मा सभा, उपपाद सभा, अभिषेक सभा, अलकार सभा और मन्त्र सभा उल्लेखनीय थी। भवनो की साज-सज्जा रत्नों, स्वर्ण, चित्रकारी, पताकाओ आदि द्वारा होती थी और उनमे नृत्य संगीत आदि के आयोजन होते रहते थे। उपवनों मे अशोक, सप्तवर्ण, चम्पक, आम आदि की प्रधानता थी। चैत्यवृक्ष को विशेष महत्त्व दिया जाता था।

गुप्त युग के जो कुछ मन्दिर आज भी ध्वंसावशिष्ट है। उन्हे देखकर यह कल्पना नहीं की जा सकती कि उस समय यहाँ भवन-निर्माण कला इतनी विकसित हो चुकी थी। परन्तु, दूसरी ओर काल का कराल परिपाक, मौसम के निर्दय थपेडों और आततायिओं की निर्मम तोडफोड़ का स्मरण आते ही मजूर करना पड़ता है कि तिलोय-पण्णत्ती और तत्सदृश ग्रन्थो के विवरण कागज पर ही न रहते होंगे उन पर अमल भी किया जाता होगा।

प्रस्तुत लेख में आये विवरणों मे देवों के रहन सहन, तौर-तरीकों, धार्मिक मान्यता, वर्ग-विभाग आदि पर विशद प्रकाश पड़ता है। यदि इन विवरणों का आदर्श तत्कालीन मनुष्यों से लिया गया माना जाय तो गुप्त-कालीन संस्कृति और सभ्यता हमारे समक्ष और भी अधिक विस्तृत, स्पष्टतर एवं सप्रमाण हो उठेगी। विजय नामक देव की तत्कालीन सम्राट् का तो नही, पर उसके एक औसत क्षत्रप या सामन्त का प्रतीक अवश्य माना जा सकता है। इस लेख में आये विवरण स्त्रियों की दशा पर भी अच्छा प्रकाश डालते है। बहुपत्नी प्रथा का उन दिनों जोरदार प्रचलन था, पर स्त्रियो में सदाचार पर बल दिया जाता था वे विविध कलाओं में जिनमे रतिकला की प्रमुखता थी, निपुण होती थी।

इस लेख में आये विवरणों से तत्कालीन धार्मिक मान्यता का भी अच्छा परिज्ञान होता है। प्रत्येक नगरी में जैन मन्दिर अवश्य हुआ करता था। उन दिनो तक यक्षों और देवों की पूजा का प्रचलन नही हुआ था, उनकी मान्यता तीर्थकरों के भक्तो के रूप मे थी। वे जैन मन्दिरों मे जाकर समय-समय पर धर्मोत्सवों का आयोजन करते थे। सुधर्मा सभा कदाचित् धार्मिक व्याख्यानो और स्वाध्याय के उपयोग मे आती थी। इसी प्रकार अभिषेक सभा मे कदाचित् तीर्थकर की मूर्ति के अभिषेक आदि अनुष्ठान सपन्न होते थे।[21]

तिलोयपण्णत्ती में द्वितीय जम्बूद्वीप आदि जैसे कुछ और भी ऐसे विषय है जिनका उल्लेख अन्यत्र नही मिलता, इस दृष्टि से भी यह ग्रथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आशा, है, इस तथा ऐसे ही ग्रथो को धार्मिक अध्ययन के ही दायरे से निकाल कर इतिहास, भूगोल, खगोल, सस्कृति, समाज आदि के अध्ययन का भी विषय बनाया जायगा।

---

२०. देखिए 'ति० प०' (सोलापुर), भाग २, प्रस्तावना, पृ० १५।

२१. 'हरिवश' (५, ४१६) मे ऐसी ही सभाओ मे एक व्यवसाय सभा का भी उल्लेख है, जो आजकल के बाजार या मडी के रूप मे प्रयुक्त होती होगी।

आत्म अनुभव की महत्ता

कविवर भागचन्द

आतम अनुभव आवै जब निज, आतम अनुभव आवै। और कछू न सुहावै ॥टेक॥
रस नीरस हो जात ततच्छिन, अक्ष विषय नहीं भावै ॥१॥
गोष्ठी कथा कौतूहल विघटै, पुद्गल प्रीति नसावै ॥२॥
राग दोष जुग चपल पक्षजुत, मन पक्षी मर जावै ॥३॥
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अंतर न समावै ॥४॥
'भागचंद' ऐसे अनुभव के हाथ जोरि सिरनावै ॥६॥

'सम्मत्तगुणणिहाण' कव्व की प्रशस्ति के आलोक में :

गोपाचल-दुर्गके एक मूर्तिलेखका अध्ययन

प्रो० डा० राजाम जैन

गोपाचल का मध्यकालीन इतिहास वस्तुतः तत्कालीन जैन अग्रवालों की सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास है। विक्रम की १४वीं सदी के प्रारम्भ से १६वीं सदी तक का समय गोपाचल का स्वर्ण काल कहा जा सकता है और उसके मूल में जैन अग्रवाल ही प्रमुख रहे है। तोमरवशी राजाओ को उन्होंने अपने आचरण, बुद्धि-कौशल, चतुराई, साहस, कुशल सूझ-बूझ, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि, साहित्यकारों के प्रति महान आस्था एवं कलाप्रेम आदि से प्रभावित कर उन्होंने महाकवि रइधू के शब्दो मे गोपाचल को 'श्रेष्ठ तीर्थ' बना दिया था। यहाँ पर उक्त सभी तथ्यों पर प्रकाश डालने का प्रसग नही है; क्योकि उन पर विस्तृत रूप में अन्यत्र प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ गोपाचल का एक मूर्ति लेख ही चर्चनीय प्रसग है जिसका अध्ययन एवं अनुवाद आदि किन्हीं कारर्णोवश भ्रमपूर्ण होता रहा है किन्तु महाकवि रइधू की एक प्रशस्ति से उसका पूर्णतया संशोधन एवं स्पष्टीणरण हो जाता है। पठित मूर्ति लेख निम्न प्रकार है[1] :—

श्री आदिनाथाय नमः॥ संवत् १४९७ वर्षे वैशाख... ७ शुक्रे पुनर्वसुनक्षत्रे श्री 'गोपाचल दुर्गे' महाराजाधिराज राज श्री डुग... संवर्त्तमानो श्री काञ्चीसघे, मायूरान्वयो पुष्करगण भट्टारक श्री गणकीर्तिदेव तत्पदे यत्यः कीर्तिदेवा प्रतिष्ठाचार्य श्री पण्डित रघू तेपं आभाए अग्रोतवंशे मोद्गलगोत्रा सा॥ धुरात्मा तस्य पुत्रः साधु भोपा तस्या भार्या नाल्ही। पुत्र प्रथम साधु क्षेमसी द्वितीय साधु महाराजा तृतीय असराज चतुर्थ धनपाल पञ्चम साधु पाल्का। साधु क्षेमसी भार्या नोरादेवी पुत्र ज्येष्ठ पुत्र मघायि पति 'कौल'॥ भ—भार्या च ज्येष्ठ स्त्री सरसुती पुत्र मल्लिदास द्वितीय भार्या साध्वी सरा पुत्र चन्द्रपाल। क्षेमसी पुत्र द्वितीया साधु श्री भोजराजा भायो देवस्य पुत्र पूर्णपाल। एतेषां मध्ये श्री॥ त्यादि जिन-संघाधिपति 'काला' सदा प्रणमति।

उक्त लेखमें मोटे टाइपके पद विचारणीय है। यह तो सर्वविदित ही है कि गोपाचल (ग्वालियर) काष्ठासघ माथुरगच्छ की पुष्करगण शाखा के अनुयायी भट्टारकों का सुप्रसिद्ध केन्द्र रहा है[2]। वहाँ के सभी जैन अग्रवालों के वे ही परम्परा गुरु एवं समाजनेता रहे है। महाकवि रइधू ने भी उस परम्परा के भट्टारकों को अपना गुरु माना है। रइधू भगवान आदिनाथ के परमभक्त थे इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध है। कविता के क्षेत्र में अधिक लोकप्रियता प्राप्त करने के बाद राजा डूगरसिंह ने जब उन्हें अपने दुर्ग में रहकर साहित्य साधना करने हेतु आमन्त्रित किया तब रइधू ने उसे स्वीकार तो अवश्य कर लिया किन्तु भ० आदिनाथ के दर्शन बिना उनका मन नहीं लगता था। अतः उनके बाल-सखा एवं शिष्य साहू कमलसिंह संघवी, जो कि मुद्गलगोत्रीय जैन अग्रवाल थे, तथा राजा डूगरसिंह के अत्यन्त विश्वस्त पात्र एवं समृद्ध नगर सेठ थे, उन्होंने कवि की इच्छापूर्ति हेतु गोपाचल दुर्ग में ५७ फीट ऊँची आदिनाथ भगवान की विशाल जिन प्रतिमा का निर्माण कराया था और उनकी प्रतिष्ठा स्वयं महाकवि रइधू ने की थी[3]। रइधू विरचित 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व' नामक ग्रन्थ-प्रशस्ति से उक्त घटना बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। प्रशस्ति का पद्यांश निम्न प्रकार है :—

---

१. जैन लेख संग्रह (द्वितीय भाग, पूरनचन्द्र नाहर, कलकत्ता, १९२७ ई०) लेखक १४२७।

२. जैन शिला लेख संग्रह (स्मारिका सीरीज) तृ० भा०, भूमिका, पृ. १५३।

३. सम्मत० १।१३ तथा जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह द्वि० भा० (सम्पादक पं० परमानन्द जी शास्त्री) पृ. ८६।

गोपायलि डुंगरराय रज्जि ।
सिवउ राइणा विहिय कज्जि ।।
तहि णिव सम्माणें तोसियगु ।
बुहयणहं विहिउ जं णिच्च संगु ।।
करुणावल्ली वण घवण कंदु ।
सिरि 'अइरवाल कुल' कुमुयचन्दु ।।
सिरि 'भोपा' णामें हुवउ साहु ।
सपत्तु जेण धम्में लहाउ ।।
तहु 'णाल्हाही' णामेण भज्ज ।
अइ सावहाण सा पुण्ण कज्ज ।।
तहु णंदण चारि गुणोहवास ।
ससिणिह जस भर पूरिय दिसास ।।
'खेमसिहु' पसिद्धउ महि गरिट्ठु ।
'महराजु' महामइ तहु कणिट्ठु ।।
'असराज' बुहिय जण आसऊर ।
'पाल्हा' कुलकमलवियासस्रूर ।
एयहु गरुवउ जो खेमसीहु ।
वणियउ एक्क भव-भमण वीहु ।।
तहु 'णिउरादे' भामिणि पउत्त ।
विण्णाण कलागुण सेणिजुत्त ।।
पढमउ संघाहिवउ 'कमलसीहु' ।
जो पयलु महीयलि सिवसमीहु ।।
णामेण 'सरासइ' तहु कलत्त ।
बीइ जिं स सेविय पायभत्त ।।
चउ विह दाणें पीणिय सुपत्त ।
अह णिसु विरइय जिणणाह जत्त ।।
तहु णंदण णामें 'मल्लिदासु' ।
सो संपत्तउ सुहगइ णिवासु ।।
संघाहिव 'कमलहु' लहुव भाउ ।
णामेण पसिद्धउ 'भोयराउ' ।।
तह भामिणि 'देवइ' णाम उत्त ।
बिह पुत्तहि सा सोहइ सउत्त ।।
णामेण भणिउ गुरु चन्दसेणु ।
पुणु 'पुणपालु' लहुवउ अरेण ।।
घत्ता—इय परियण जुत्तउ एच्छणिरु ।
कमलसीह संघाहिव चिर णंदउ ।।

भावार्थ—गोपाचल में महाराज डूंगरसिंह राज्य करते थे। उनके राज्य में अग्रवाल वशोत्पन्न भोपा नामक साहु निवास करते थे। उनकी पत्नी णाल्हासे खेमसिंह, महाराज, असराज एवं पाल्हा नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए। खेमसिंह की णिउरादेवी (नोरादेवी) नामक पत्नी से कमलसिंह एवं भोजराज नामक पुत्र उत्पन्न हुए। कमलसिंह की दूसरी पत्नी सरस्वती से मल्लिदास नामक पुत्र एवं भोजराज की देवकी नामक पत्नी से चन्द्रसेन एवं पूर्णपाल नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। कमलसिंह संघवी का यही परिवार था।

महाकवि रइधू ने भट्टारक गुणकीर्ति एवं उनके पट्ट शिष्य भ० यशःकीर्ति की प्रेरणा से कई ग्रन्थो की रचना की है। कवि ने अनेक स्थानों पर उन्हें अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है। पहले तो ये दोनो भट्टारक सहोदर भाई थे किन्तु बाद मे गुरु-शिष्य हो गये थे। कवि ने उनका बड़ी ही श्रद्धा भक्ति के साथ उल्लेख किया है। यशःकीर्ति के विषय मे लिखा है:—

ताहं कमागय तवतवियंगो ।
णिच्चब्भासिय पवयणसंगो ।।
भव्व-कमल-सरवोहपयंगो ।
वंदिवि सिरि 'जसकित्ति' असगो ।।
तस्स पसाएं कव्वु पयासमि ।
चिर भवि विहिउ असुह णिण्णासमि ।।

सम्मइ० १।३।४-६

महाकवि रइधू के इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि उक्त मूर्ति लेख में आये हुए पूर्वोक्त रेखांकित पद वस्तुतः **डूंगरसिंह, काष्ठासंघ, माथुरान्वय, गुणकीर्तिदेव, यशःकीर्ति रइधू आम्नाय, कमलसीह** एवं **कमलसिंह** है। काञ्चीसंघ आदि पाठ पूर्णतः भ्रमात्मक हैं और इस प्रकार महाकवि रइधू के 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व' की प्रशस्ति को सम्मुख रखकर उक्त मूर्ति लेख के अशुद्ध पढ़े गये पाठों को शुद्ध किया जा सकता है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन करने से निम्न निष्कर्ष सम्मुख आते हैं :—

१. तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह के राज्यकाल में गोपाचल दुर्ग की ५७ फीट ऊँची आदिनाथ की मूर्ति का निर्माण एवं प्रतिष्ठा वि० सं० १४९७ की वैशाख...सप्तमी शुक्र-

वार को हुई थी।

२. अग्रवाल कुलोत्पन्न मुद्गलगोत्रीय साहू कमलसिंह संघवी इसके निर्मापक थे तथा महाकवि रइधू इसके प्रतिष्ठाचार्य थे।

३. भट्टारक गुणकीर्ति के छोटे भाई एवं शिष्य भट्टारक यशःकीर्ति थे जो गोपाचल के काष्ठासघ माथुरगच्छ एवं पुष्करगण शाखा के अत्यन्त प्रभावशाली भट्टारक थे तथा उन्होंने रइधू को शिष्य मानकर उन्हें हर दृष्टि से प्रशिक्षित कर योग्य बनाया।

४. मूर्ति लेख में भोपा साहू के पाँच पुत्रों के नामोल्लेख हैं किन्तु रइधू प्रशस्ति मे चार पुत्रों के ही उल्लेख हैं। उसमें चतुर्थ पुत्र धनपाल का नामोल्लेख नही है। यह प्रतीत होता है कि प्रशस्ति के अकन के समय तक धनपाल की मृत्यु हो गई थी इसलिए कवि ने उसके नाम का अंकन नही किया।

५. प्रशस्ति में णिउरादेवी का ज्येष्ठ पुत्र कमलसिंह बताया गया है, किन्तु मूर्ति लेख मे भधायिपति कौल अंकित है। वस्तुतः यहाँ कौल नही 'कमलसिंह' होना चाहिए और 'भधायि' (या भद्रा) सम्भवतः उसकी प्रथम पत्नी का नाम रहा होगा। रइधू ने इस पत्नी का उल्लेख नही किया। हाँ, कमलसिंह की द्वितीय पत्नी सरस्वती का उल्लेख मूर्ति लेख एवं प्रशस्ति दोनों में उपलब्ध है।

६. मूर्ति लेख के अनुसार कमलसिंह की द्वितीय पत्नी का नाम ईसरा था जिससे चन्द्रपाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। किन्तु प्रशस्ति के अनुसार उसका नाम मल्लिदास था। हो सकता है कि उसके ये दोनों ही नाम रहे हैं। एक नाम छुटपन का हो और दूसरा नाम बड़प्पन का।

प्रशस्ति के अनुसार कमलसिंह के भाई भोजराज की देवकी नाम की पत्नी से दो पुत्र उत्पन्न हुए चन्द्रसेन एवं पूर्णपाल। जबकि मूर्ति लेख के अनुसार भोजराज का एक ही पुत्र था पूर्णपाल।

उक्त अन्तर को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति लेख के प्राथमिक वाचन में काफी भ्रम हुआ है। वस्तुतः उसके पुनर्वाचन की आवश्यकता है। उससे बहुत सम्भव है कि हम सत्य के अधिक निकट पहुँच सकें।

जैन मूर्तिलेखों एवं शिलालेखों के अध्ययन में इस प्रकार की कई गल्तियाँ हुई हैं और एक बार जो गल्ती होती है उसका सुधार बड़ी कठिनाई से हो पाता है। पूर्वापेक्षया आज हम अधिक साधन-सम्पन्न है, ऐसी स्थिति मे क्या ही अच्छा हो कि उनका पुनर्वाचन कर उनका प्रशस्तियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करें और जैन-इतिहास के विवाद ग्रस्त प्रश्नों का सशोधन करें।

ऊन (पावागिरी) के निर्माता राजा बल्लाल

पं० नेमचन्द धन्नूसा जैन

यह दिगंबर जैन सिद्धक्षेत्र मध्यप्रदेश के निमाड जिले में है। यह ब्राह्मण गांव से २७ मील तथा खरगौन से १० मील है। इस क्षेत्र के इतिहास के बारे मे प्रो० हीरालालजी जैन लिखते है, "यह क्षेत्र रेवा नदी के किनारे है तथा गाँव के आसपास अनेक खण्डहर दिखाई देते है। जनश्रुति है कि यहाँ बल्लाल नामक नरेश ने व्याधि से मुक्त होकर सौ मन्दिर बनवाने का संकल्प किया था। किंतु अपने जीवन में वह ९९ ही बनवा पाया। इस प्रकार एक मन्दिर कम रह जाने से यह स्थान 'ऊन' नाम से प्रसिद्ध हुआ। (इन्दौर स्टेट गभेटीयर, भाग १, पृष्ठ ६६९) हो सकता है ऊन नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए ही यह आख्यान गढ़ा हो। किन्तु उसमे कुछ ऐतिहासिकता हो तो, बल्लाल नरेश होयसल वंश के वीर बल्लाल द्वि०) हो सकते हैं, जिनके गुरु एक जैन मुनि थे।" (भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान–पृष्ठ ३३२)।

इन्दौर गजेटीयर में बताया है कि–एक समय बल्लाल राजा किसी दुर्धर व्याधि से ग्रस्त हो गया था। इसलिए राज्य का कारभार छोड़कर वह गंगा की यात्रार्थ निकला। किसी समय वह राजा रानी के साथ इस क्षेत्र में मुक्काम को

आया। एक रात्रि में राजा गाढ़ निद्रा में सोरहा था और रानी की नीद यकायक खुल गई। उसने सुना कि दो नाग आपस में बातचीत कर रहे हैं। एक नाग दूसरे से कह रहा था, 'अरे तेरा जीवन कितना धोखे में है, राजा अगर थोड़ा चूना खा जायगा तो तू मर जायगा और राजा की व्याधि भी चली जायगी।

बाद मे दूसरा भी पहले को कहने लगा, 'अरे तेरा भी जीवन धोखे में ही है। अगर राजा उबाला हुआ तेल तेरे बीच में डाल दे तो, तू समूल नष्ट होगा और वहाँ की धन-राशि राजा को प्राप्त होगी।"

रानी ने यह शुभ समाचार प्रातःकाल राजा को सुनाया। राजा ने प्रतिज्ञा की, कि अगर यह सच हो जाय तो मैं यहां उसी धनराशि से सौ मंदिर बनवाऊँगा। राजा ने ठीक वैसा ही किया। उससे राजा निरोग और धनवान (तथा शत्रु रहित) हो गया। राजा ने वहाँ सौ मन्दिर बनवाना प्रारम्भ किया। लेकिन वह ९९ ही बनवा पाया। इसीलिए पावागिरि को ऊन भी कहते हैं। आदि।

गजेटीयर में उल्लिखित इस बल्लाल राजा को प्रो० हीरालालजी ने होयसल नरेश बताया है, जो प्रायः जैन और समकालीन नरेश थे। लेकिन इसी समय के दरम्यान एक मालव नरेश बल्लाल का भी इतिहास में उल्लेख मिलता है। जिसको परमार राजा यशोधवल ने या कुमारपाल ने मारा था।

एक ही व्यक्ति के विषय में ऐसे परस्पर भिन्न दो उल्लेख क्यों है? इस पर मेरी यह समझ थी कि, चौलुक्य सिद्धराज जयसिंह और परमार राजा विक्रमसिंह का १२ साल तक संघर्ष चलता रहा। और विक्रमसिंह कुमारपाल यद्यपि प्रारम्भ में शरण आया, तो भी बाद में विरुद्ध हो गया था। वह मालव नरेश बल्लाल को मिला था। उसको मारकर उसका राज्य उसके भतीजे यशोधवल को (शायद) इस शर्त पर दिया था, कि उसे बल्लाल के विरुद्ध कुमारपाल की सहायता करना।

राज्य प्राप्ति के लोभ में उसने यह भी प्रतिज्ञा की, "मैं बल्लाल का शिरच्छेद करके आपको अर्पित करूँगा, तब ही सिंहासन ग्रहण करूँगा। इस प्रतिज्ञा पूर्ति में यशोधवल को सैनिक सहायता कुमारपाल ने दी होगी, उससे यशोधवल विजयी हुए। और उन्होंने बल्लाल का शिरकमल कुमारपाल को भेट के रूप में अर्पण किया होगा।

यशोधवल ने बल्लाल को मारा इसलिये कि उनका उल्लेख शिलालेख मे आना स्वाभाविक है। तथा यह सामन्त राजा होने और कुमारपाल की सहायता से बल्लाल को हराया इसलिए सार्वभौम के नाते कुमारपाल को 'बल्लाल राज के मस्तक पर उछलने वाला सिंह' भी कहा हो। इस प्रकार के विचार से संतोष तो कर लिया था। मगर आशंका बनी रहती थी।

लक्ष्मीशंकर व्यास के 'चौलुक्य कुमारपाल' नाम की पुस्तक का जब बारीकी से अध्ययन किया तब पता चला कि, उस समय बल्लाल नाम के दो राजा कुमारपाल के विरुद्ध थे। व्यासजी पृष्ठ १०२ पर लिखते हैं—'अपने किसी से कुछ प्रतिज्ञा कर...... **उज्जयिनी के राजा बल्लाल** तथा पश्चिमी गुजरात के राजाओं से मैत्री कर ली।......उज्जयिनी राज देश देशान्तर में भ्रमणशील व्यवसायियों से गुजरात की वास्तविक स्थिति से परिचित हो चुका था। उसने **मालव नरेश बल्लाल से** एक सैनिक अभिसन्धि कर ली थी।

आमुख लेखक डॉ० राजबली पाण्डेय जी पृष्ठ ४ पर लिखते हैं कि, 'सपादलक्ष के चौहान राजाने अपने वर्तमान नागोर की ओर से चढाई की, तो दूसरी ओर से उज्जयिनी के राजा बल्लाल ने और तीसरी ओर से चंद्रावती के अधिपति विक्रमसिंह ने आक्रमण कर दिया।

व्यासजी पृष्ठ १०७ पर लिखते है—'अर्णोराज गुजरात के सीमात की ओर बढ़ आया और उसने अवंती नरेश बल्लाल के राज्य की सीमा में प्रवेश कर अणहिल पुर की ओर अग्रसर हो रहा था। कुमारपाल तत्काल ही अपनी सेना एकत्र कर बल्लाल का सामना करने के लिये रवाना हुआ। हाथी पर सवार कुमारपाल ने बल्लाल पर प्रहार कर उसे पराजित किया।

वही पृष्ट १०९ पर—बडनगर प्रशस्ति में कहा गया है कि, 'मालव नरेश अपने देश की सुरक्षा करते हुए हत हुआ। उसका सिर कुमारपाल के राज प्रासाद के द्वार पर लटकाया गया था।

वही पृष्ठ १११ पर—विक्रमसिंह के राजगद्दी पर उसके भ्रातृ पुत्र यशोधवल को स्थापित कराया गया। इस घटना की 'पुष्टि तेजपाल के वि० सं० १२८७ की आबू पहाड़ी प्रशस्ति से भी होती है। इसमें कहा गया है, "अर्बुद परमार यशोधवल ने, यह विदित होते ही कि, बल्लाल कुमारपाल का विरोधी तथा शत्रु हो गया है, मालवाधिप बल्लाल को हत कर दिया।" इन विवरणो से बलाल नाम के दो भिन्न व्यक्ति प्रतिभाषित होते है।

इतना स्पष्ट होते हुए भी कही-कहीं मालव नरेश को ही उज्जयिनी नरेश समझकर वर्णन मिलता है। जैसा कीर्ति-कौमुदी के अनुसार—कुमारपाल ने गुजरात पर आक्रमण करने वाले मालवराज बल्लाल का शिरच्छेद कर दिया था। ऐसा ही अभिप्राय प्रायः व्यासजी का भी दिखता है। जबकि वे स्वय पृष्ठ १०२ पर लिखते है कि, —उसने (उज्जयिनी नरेश ने) मालव नरेश बल्लाल से एक सैनिक अभिसन्धि कर ली थी।"

इसका समाधान शायद इस तरह हो सकता है कि, किसी समय मालवा की राजधानी उज्जयिनी थी। इसलिए मालव नरेश को उज्जयिनी नरेश कहा गया हो। लेकिन मुज या भोज परमार राजाओ के समय से मालवा की राजधानी धारा नगरी थी। यानी ई० सन् की ११वीं शदी से पूर्व ही उज्जयिनी का महत्त्व कम हो गया था। अत: उस समय से मालव नरेश को उज्जयिनी नरेश नहीं कहा जाता।

ऐसा हो सकता है कि, धाराधिपति परमार राजाओं की परम्परा में (उस समय या बाद) बल्लाल नाम के किसी भी राजा का उल्लेख न मिलने से उज्जयिनी नरेश को ही मालव नरेश कह दिया हो।

अत: उज्जयिनी नरेश एक विशिष्ट और निश्चित स्थान के राजा होने से उनकी ऐतिहासिक खोज होनी चाहिए। इसके लिए कवि सिंह या सिद्ध विरचित प्रद्युम्न चरित प्रशस्ति संशोध्य हैं। ग्रंथ प्रशस्ति में 'बह्मणवाड' नगर का वर्णन करते हुए लिखा है कि, उस समय वहां रणधोरी या रणवीरका पुत्र बल्लाल था, जो अर्णोराज को भयभीत करने के लिए काल स्वरूप था। और जिसका मांडलिक भृत्य अथवा सामन्त गुहिल वंशीय क्षत्रिय भुल्लन उस समय बह्मणवाड का शासक था[1]। (जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह भाग २ प्रस्तावना पृष्ठ ७८)

इससे रणधोरीय के पुत्र बल्लाल ने अर्णोराज को भयभीत किया होगा ऐसा लगता है। कुमारपाल चरित में ठीक इसके विरुद्ध लिखा है कि, खुद कुमारपाल ने ही चौहान वशी अर्णोराज की हत्या की थी। लेकिन यह कवि सिंह का उल्लेख समकालीन होने से अधिक प्रमाण लगता है। इससे राजा बल्लाल की शक्ति की ठीक कल्पना आती है। बह्मणवाड के क्षत्रिय भुल्लण भी जब उसके सामन्त राजा थे, तब ऐसा लगता है कि अर्णोराज की हत्या कर यह बल्लाल (उज्जयिनीराज) ऊपर बताये मुजब गुजरात मे आक्रमण कर कुमारपाल के विरुद्ध रहा होगा। और इसी समय कुमारपाल ने इसकी हत्या की होगी।

अत: ऐसे उज्जयिनी नरेश बल्लाल की ऐतिहासिक खोज स्वतत्र होनी चाहिए। क्योकि सम्पूर्ण मालव राज्य पर अधिकार जमाने वाला होगा या न होगा, लेकिन इसी समय 'मालवनरेश' ऐसी उपाधि जिसको होगी और जिसकी हत्या यशोधवल ने की थी, ऐसे एक बल्लाल राजा के इतिहास पर हाल ही खेरला शिलालेख से प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

ता० २४-१२-६७ को डॉ० य० खु० देशपाण्डे तथा प्रो० म० श० वाबगावकर इन्होने नागपुर के 'तरुण भारत' नाम के दैनिक वर्तमान पत्र मे 'खेरला गांव' (जिला बैतूल-म० प्रदेश) के एक शिलालेख पर प्रकाश डाला है। उसमे एक राजा नृसिह-बल्लाल-जैतपाल ऐसी राज परपरा दी है। लेखन का काल आरम्भ में शक स० १०७९ (ई०

---

१ वम्हणवाडउ णामे पट्टणु, अरिणरणाह-सेणदल वट्टणु।
जो भुंजई अरिण समकाल हो,
रणधोरीय हो सुग्रहो बल्लाल हो॥
जासु भिच्चु दुज्जण-मणसल्लणु,
खत्तिउ गुहिल उत्तु जहिं भुल्लणु॥
लहिं सपत्तु मुणीसरु जावहिं,
भव्वु लेउ आणंदिउ तावहिं॥
पज्जुण्ण चरियं (आदि भाग)

स० ११५७) है। तथा दो लाईन के बाद यह लेख खण्डित या अपूर्ण है। उसके बाद शायद ऊपर को पूरक ऐसा लेख है। उसका काल शक स० १०९४ (ई० स० ११७२) है। यह लेख एक वापिकादान के हेतु उत्कीर्ण होने से इसमें इन राजाओंके कर्तृत्व या इतिहास पर खास प्रकाश नहीं पड़ता। तो भी इस शिलालेख का प्रारंभ 'जिनानुसिद्धि:'से शुरु होने से ये राजा ई० स० १२५७ में जैनधर्मीय थे और बाद एकादशी व्रतमान्य वेदधर्मीय बने ऐसा उलेख है। उसका काल काल ई० स० ११७२ दिया है।

इस समय जैतपाल राजा थे। उनको मराठी के आद्य-कवि मुकुंदकाज ने वेदधर्म का उपदेश देकर ब्रह्म साक्षात्कार कराया था। ऐसा उल्लेख स्वयं मुकुंदराज ने शक स० १११० (ई० स० ११८८) के 'विवेक सिधु' नामके ग्रंथ में किया है। और उस समय राजा सारंगधर राज्य कर रहा था ऐसा भी बताया है।

इस शिलालेख से यह स्पष्ट होता है की, ई० स० ११५७ से ११७२ तक जैतपाल राज्य कर रहा था। अगर उसका राज्य काल इस मर्यादा के आगे पीछे पांच साल याने ई० स० ११५२ से ११७७ तक ऐसे २५ साल माने जाएं तो ई० स० ११७७ से ११८८ के दरम्यान ही उसका अंतिमकाल निश्चित होता है। तथा बडनगर प्रशस्ति के आधार पर अनेक इतिहास-कारो का यह अभिप्राय है कि राजा बल्लाल की मृत्यु ई० स० ११५१ मे या इसके पूर्व ही हुई है। अत: जैतपाल ई० स० ११५१ से ही राज्यारूढ़ होंगे।

राजा बल्लाल के राज्य करने के उल्लेख प्राय: ई० स० ११३५ के मिलते हैं। क्योकि लक्ष्मीशंकर व्यास जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि, ऐतिहासिक तौर पर इस बल्लाल का पता लगाना कठिन है। इतना तो निश्चित है कि, बल्लाल ने ई० स० ११३४-४० मे यकायक राज्य प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की हो। इससे कम से कम यह बल्लाल ई० स० ११६५ से ११५० तक राज्य करता रहा यह स्पष्ट है। वैसे ही उसके पिता नृसिह-नरसिंह का राज्य काल ज्यादा से ज्यादा ३५ साल भी माने तो भी ई० स० ११०० से ११३५ तक हो सकता है। निदान इसके पीछे तो जा नहीं सकता।

यह सब देने का कारण यह है कि, इन राज पुरुषों को एलिचपुर के राजा श्रीपाल उर्फ ईलके ही वंशज माना जाता है। क्योंकि खेरला यह गाँव श्रीपाल राजा के आधीन था इतना ही नही किन्तु वहाँ के किले में वह रहता था। (आर्चियॉलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया,'न्यू सिरीज, वाल्यूम १९ पृष्ठ ४५) कितनेक खेटक को खेडला भी कहनेसे खटइल-खेडइल-ऐसे उत्पत्तीके साथ राजा ईल ने ही बसाया है; ऐसा ही मानते है। इसी ईल राजा के वश में जयतपाल राजा हुआ। देखो लिस्ट एन्टिक्वेरियन् रीमेन्स इन् द सेंट्रल प्रॉव्हन्सेस अँड बेरार-कमेन्स, १८९७, पृष्ठ ४६। तथा बैतूल गजेटियररसेल, १७०६ पृष्ठ २६; और बेरार गजेटियर-सर आलफ्रेड लायस पृष्ठ ११४) इस लेख में प्रो० वाबगावकरके अनुसार-राजा श्रीपाल, जयतपाल के १५० साल पहले हुआ, ऐसा बताया है।

डॉ० य० खु० देशपांडे, राजा श्रीपाल की मृत्यु ई० स० १०७५ के दरम्यान मानते है। साथ में यह भी मानते कि राजा श्रीपाल के साथ मुहम्मद गजनी का भांजा दुल अब्दुल रहमान का खेडला और एलिचपुर के पास युद्ध हुआ था। इस समय मुहम्मद गजनी जिन्दा था। मुहम्मद गजनी का काल प्राय: ई० स० ९९९ से १०२७ है। और 'तवारिख-इ-अभजदिया' के अनुसार श्रीपाल विरुद्ध अब्दुल रहमान का युद्ध ई० स० १००१ में हुआ। तो इस काल मे १०-१५ साल का अतर पड सकता है। ७५ साल का का अंतर नही आ सकता। निदान १०२७ के पहले श्रीपाल की मृत्यु माननी ही पड़ी।

इससे राजा श्रीपाल तथा नृसिह तक चार पीढ़ी हो गई हो ऐसा लगता है। क्योंकि इनमे १०० साल का अतर है। इन को साधनेवाला प्रमाण मिल जाय तो एक लुप्त प्राय दिगंबर जैन राजवंश का पता चल जायगा। बताया जाता है कि, खेरला के किले में एक और शिलालेख है। उसको देखने पर या उसके प्रकाश मे आने पर अधिक संशोधन हो सकता है।

या प्रारम्भ में जिस ऊन क्षेत्र का उल्लेख किया, वहाँ के मूर्तिलेखों का या खण्डहरों का अधिक बार किसी विद्वान द्वारा अध्ययन हो जाय तो भी इस राजवंश पर अधिक प्रकाश पड़ने की संभावना है। क्योंकि वहाँ के प्राचीन मूर्तिलेखों

काल वहीं है। यथा[1]—(१) मूर्ति संभवनाथ स० १२१८ ......यह दो लाईन में होते हुए भी अस्पष्ट है (२) अदाजा १२।। फुट ऊची मूर्ति ३ के प्रत्येकी लेख संवत १२६३ जेष्ठ वदी १३ गुरौ......आचार्य श्री यशकीर्ति प्रणमति। (यह लेख बहुत बडा है) (३) सं० १२६३ जेष्ठ वदी १३ गुणे (गुरौ) सिघी प० तरगसिह सुत जीतसिंह प्रणमति। (४) आचार्य श्री प्रभाचन्द्र प्रणमति नित्य। स० १२५२ माघ सुदी ५ श्री चित्रकूटान्वये साधु (हु) बाल्हु भार्या शाल्ह तथा मन्दोदरी सुत गोल्ह रतन भालू प्रणमति नित्यम्। तथा कुछ मूर्तियों पर इस प्रकार प्रतिभासित होता है—(५) स० १२४२ माघ सुदि ५...... ...आदि।

इन मूर्तिलेखों के काल का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस क्षेत्र पर मन्दिरों की रचना ई० स० ११६२ के पूर्व ही हो गयी होगी। अतः खेरला शिलालेख मे उध्दृत नृसिह के पुत्र बल्लाल ही ऊनके निर्माता हैं। न कि होयसल नरेश बल्लाल। क्योंकि इस होयसल वीर बल्लाल का काल ई० स० ११७३ से १२२० है। राजा बल्लाल के जीते जी ही वहाँ प्रतिष्ठा नही हो सकती कारण जब राजा बल्लाल वहाँ एक अतिम मन्दिर नही बनवा पाया (सिर्फ ९९ ही बनवा पाया) तब १०० मन्दिर की पूर्ति के पहले मन्दिरों में प्रतिष्ठा कार्यों मे वह तैयार नहीं हो सकता। तथा इस होयसल नरेश की मृत्यु कोई यकायक होने का उल्लेख नही मिलता जिससे उसकी १०० मन्दिर बनवाने की प्रतिज्ञा अधूरी रह जाय। अतः होयसल नरेश के बदले उज्जयिनी नरेश बल्लाल की संभावना जरूर है। लेकिन जब तक उसके जैनत्व पर प्रकाश न पड़े तब तक उसको उनके निर्माता या जैन मन्दिरों के निर्माता नहीं कहा जा सकता। मन्दिरों के निर्माता के सम्बन्घ में वहाँ के एकाध मन्दिर पर शिलालेख अवश्य ही प्राप्त होगा।

दूसरी महत्व की बात यह है कि, उनके प्रमुख मन्दिर को 'ग्वालेश्वर मन्दिर' कहते हैं। यद्यपि इसका अर्थ वहाँ वाले या इतिहासकार यह बताते हैं कि, 'इस मन्दिर के पास अनेक गायें चरती हैं तथा विश्राम के लिये यहाँ बैठती है, अतः इस मन्दिर को 'ग्वालेश्वर मन्दिर कहते है।' लेकिन मेरा अनुमान विशेषण से वहाँ पर कुछ ऐतिहासिकत्व बताना ऐसा है। जैसे—शिरपुर के एक प्राचीन मन्दिर में एक शिलालेख में—रामसेन के शिष्य—ग्वालगोत्री होने का उल्लेख है[2]। तथा कोशरिया जी के मन्दिर में ग्वाल (गवाल) गोत्री दिगबर जैनों द्वारा प्रतिष्ठा करने के उल्लेख है, उसी प्रकार उस मन्दिर के प्रतिष्ठाकार कोई ग्वालगोत्रीय होंगे। ग्वालीय गढ़ किले का निर्माता कोई ग्वाल राजा था ऐसा बताया जाता है। अतः इस बाबत कुछ सशोधन होना चाहिए। क्योकि रामसेन के शिष्य के नाते शिरपुर के इतिहास मे श्रीपाल राजा को ही ग्वाल गोत्रीय बताया जा सकता है उसी प्रकार उसके वंशज बल्लाल का यह प्रमुख मन्दिर अगर हो और उससे इस मन्दिर को ग्वालेश्वर मन्दिर कहते हों तो भी खेरला शिलालेख उद्धत मालव नरेश बल्लाल को ही इसके (उनके) निर्माता कह सकते हैं।

तथा इस बल्लाल को ई० स० ११३५ में अचानक राज्य प्राप्ति में सफलता मिल गयी होगी। ऐसा इतिहासकारों का कथन है इससे भी उनके निर्माता राजा बल्लाल के आख्यान से पुष्टी ही मिलती है तथा उसने दोनों नागों का नाश कर घन प्राप्त करने का उल्लेख तो किया ही है कि, जिसके अतर्गत शत्रु तथा बाह्य शत्रु का नाश कर और विपुल घन सचय कर ई० स० ११३५ मे महत्व प्राप्त किया हो।

इसकी अधिक पुष्टि के लिये उज्जयिनी नरेश की स्वतत्र खोज, और उन क्षेत्रों का बारीकी से अध्ययन तथा उत्खनन होना चाहिए। क्योंकि वहाँ १२वीं सदी के अनेक अवशेष प्राप्त हुये हैं तथा और होने की सभावना व्यक्त की जाती है। इन्दौर गजेटीयर मे उल्लेख है कि वहाँ इसी समय के धारा नगरीके परमार राजाओं के शिलालेख पाये जाते हैं। (ई० स० ११६५ धारा में सुमलवर्म देव का राज्य था।) अतः इसी क्षेत्र के साथ इसका परिकर को अगर इस दृष्टि से देखा जाय तो ही इस क्षेत्र के निर्माता व इतिहास पर पूरा प्रकाश पड़ सकता है।

---

१ यह सब मूर्तिलेख ऊन तीर्थ के प्रसिद्ध किताब पर से लिये है।

२ ग्वाल गोत्री श्री—रामसेनु...।

शुभचन्द्र का प्राकृत व्याकरण

डा० आ. ने. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्

अनेकान्त (अक्तूबर १९६८, वर्ष २१, किरण ४) में डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने एक लेख लिखा है। इस विषय में संशोधक विद्वानो के लिए कई सन्दर्भों का निर्देश करना मैं अपना कर्तव्य मानता हूँ।

(१) 'शुभचन्द्र और उनका प्राकृत व्याकरण' तथा उसका 'श्रुतसागर के प्राकृत व्याकरण के सम्बन्ध' इस विषय पर पूर्व में बहुत कुछ लेखन हो चुका है। उसका सदर्भ इस प्रकार है : i) शभचन्द्र एण्ड हिज प्राकृत ग्रामर, अॅनल्स ऑफ दि भांडारकर ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूट, पूना, भाग—१३, अक १, पृष्ठ ३७-५८, ii) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, अगस्त १९६०, प्रस्तावना, पृष्ट ७९-८८, iii) नितिडोलची का प्राकृत व्याकरणों पर लिखा हुआ फ्रेन्च ग्रन्थ।

(२) इस व्याकरण के प्रकाशन के बारे मे बहुत कुछ प्रयत्न पहले हुए थे, परन्तु विपुल हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए और जो हुए वे भी असमाधानकारक थे। 'व्याकरणसरीखे ग्रन्थों का जल्दबाजी से सम्पादन करना दुःसाहस है' यह दिवंगत पडित प्रेमी जी की सूचना ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि अब तक नही हुई।

(३) पंडित अप्पाशास्त्री उदगांवकर ने जो हस्तलिखित प्रति मुझे दी थी, वह अब दुर्मिल है। ईडर प्रति से प० प्रेमी जी ने जो प्रतिलिपि कराई थी, वह सम्भवतः पं० प्रेमी जी के सग्रह मे होगी ही।

(४) इस प्राकृत व्याकरण की प्रतियाँ विपुल मात्रा में नहीं मिलती हैं। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने किस प्रति का उपयोग किया है, इसका उल्लेख नही है। जिन रत्नकोश में इसका निर्देश 'चिन्तामणि व्याकरण' ऐसा किया है, किन्तु वहाँ भी हस्तलिखितों का निर्देश नही है। मैं सुनता हूँ कि इसकी एक हस्तलिखित प्रति ब्यावर में है, और उसकी प्रतिलिपि शायद शोलापुर में उपलब्ध है।

(५) मैंने १९३० में शुभचन्द्र व्याकरण के सूत्रपाठ की प्रतिलिपि की थी, वह अभी मेरे पास उपलब्ध है।

शुभचन्द्र के प्राकृत व्याकरण का अध्ययन तथा उसकी मौलिकता का निर्णय करते समय दो मुख्य बातें ध्यान मे रखनी चाहिए। '(१) शुभचन्द्र ने अपने व्याकरण में ऐसे कितने नियम और उदाहरण दिये है, जो पूर्ववर्ती व्याकरणकारों ने—खासकर त्रिविक्रम और हेमचन्द्र ने—नहीं दिये है। (२) और ऐसे कौन-से साहित्य का—खासकर प्राकृत ग्रन्थों का—शुभचन्द्र ने अपने व्याकरण मे निर्देश और उपयोग किया है जिनका उपयोग हेमचन्द्र और त्रिविक्रम ने नही किया है।

मै आशा करता हूँ कि इस विषय पर जहाँ-जहाँ सशोधनात्मक कार्य हुआ है, उसे ध्यान मे लेकर आगे कार्य करने से ही सशोधन का क्षेत्र बढ जायेगा। ●

संग्रह और दान

कवि—जलधर! तुझे रहने के लिए बहुत ऊँचा स्थान मिला है। तू सारे ससार पर गर्जता है। सारा मानव-समाज चातक बनकर तेरी ओर निहार रहा है। तेरे समागम से मयूर की भाँति जन-जन का मानस शान्ति उद्यान मे नृत्य करने लग जाता है। तू सबको प्रिय लगता है। तू जहाँ जाता है, वहीं तेरा बड़ा सम्मान होता है। पर थोड़ा गौर से तो देख, तेरे पिता समुद्र की आज क्या स्थिति हो रही है। पिता होने के नाते उसे भी बहुत ऊँचा सम्मानीय स्थान मिलना चाहिये था। किन्तु उसे तो रसातल—सबसे निम्न स्थान मिला है। उसकी सम्पत्ति का तनिक भी उपयोग नही होता। मेघ! इतना बड़ा अन्तर क्यों?

जलधर—कविवर! इस रहस्य की गिरि-कन्दरा मे एक गहन तत्त्व छिपा हुआ है। वह है—सग्रहशील न होना। संग्रह करना बहुत बड़ा पाप है। यही मानव को नीचे की ओर ढकेलने वाला है। संग्रह वृत्ति के कारण ही समुद्र को रहने के लिए निम्न स्थान मिला है और उसका पानी भी पड़ा-पड़ा कड़वा हो गया। समुद्र ने अपने जीवन में लेना ही अधिक सीखा है और देना अत्यन्त अल्प। मैं देने का ही व्यसनी हूँ। सम्मान और असम्मान का, उन्नति और अवनति का, निम्नता और उच्चता का यही मुख्य निमित्त है।

जैन काव्य में विरहानुभूति

डा० गंगाराम गर्ग

कवियों की साधना में विरह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विरह की अनुभूति प्रेम मे तीव्रता, नवीनता लाने के लिए बडी उपादेय होती है तथा काव्य-मर्मज्ञों के लिए मर्मस्पर्शी तथा मधुर, इसीलिए श्रेष्ठ कवि अपने काव्य मे विरह का वर्णन करते आये है। आदि कवि बाल्मीकि के राम के प्रलाप, कालिदास के अज और रति के विलाप तथा पत्थरों को भी रुला देने वाले भवभूति की करुणा विगलित वाणी से काव्य-प्रेमियो का मन आज भी सिक्त है। हिन्दी मे जायसी की नागमती के आँसू युग-युगो तक न भुलाये जा सकेंगे। समाज के कल्मष-कर्दम को फेकने मे प्रयत्नशील कबीर आदि सत कवियों ने भी अन्तःकरण मे ज्ञान उत्पन्न करने के लिए मार्मिक विरह रागिनियाँ अलापी है। कृष्ण काव्य-भूमि का वह भाग अधिक मधुर और आकर्षक जो गोपिकाओं की अविरल अश्रुधारा से अभिसिञ्चत है। इसी प्रकार द्यानतराय, जगजीवन, नवल, पार्श्वदास आदि जैन साधको का विशाल काव्य-सागर की विरह-उर्मियो द्वारा तरगायित होने से वचित नही रहा है।

हिन्दी काव्य मे विरह के दो रूप होते है—१. लौकिक विरह २. अलौकिक विरह। लौकिक विरह मे आलम्बन और आश्रय लौकिक होते है अथवा लौकिक प्रतीत होते है यथा—नागमती-रत्नसेन, गोपी कृष्ण। अलौकिक विरह में आलम्बन अलौकिक होना है। कबीर, दादू आदि सभी सन्तों का विरह इसी प्रकार का है। जैन कवियों का विरह वीतरागी तीर्थकरो के प्रति है, अतः वह अलौकिक है। जैन कवियों ने अपनी विरहजन्य वेदनायें राजमती के माध्यम से परोक्षरूप में नेमिनाथ (तीर्थंकर) तक पहुँचाई हैं। जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की पुत्री राजमती का विवाह नेमिनाथ से होना था। नेमिनाथ बारात की भोज्य-सामग्री के लिए एकत्रित पशुओं को देखकर इस हिंसक संसार से विरक्त हो गये और राजमती विरह मे तड़पती ही रही। राजमती की नेमिनाथ से मिलन की इसी तड़पन और पीड़ा में जैन भक्तों की आराध्य के प्रति विकलता व आतुरता अन्तर्निहित है। जैन साधकों ने चेतन के कुमति से प्रेम करने पर सुमति की तड़पन दिखलाकर आध्यात्मिक विरह के भी थोड़े चित्र प्रस्तुत किये है।

हिन्दी साहित्य मे विरह की १० अवस्थायें मानी गई है—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। इनमें से 'उन्माद' के के अतिरिक्त विरह की सभी अवस्थाये जैन काव्य में उपलब्ध होती है—

अभिलाषा :—

अभिलाषा विरहानुभूति की पहली अवस्था है। इनमें विरहिणी को प्रिय-दर्शन की सामान्य इच्छा रहा करती है। राजमती नेमिनाथ के दर्शन पर ही अपनी प्रसन्नता आधारित मानती है—

देख्यो, री! कहीं नेमिकुमार।
नैननि प्यारो नाथ हमारो प्रान जीवन प्रानन आधार।

—भूधरदास

चिन्ता :—

सामान्यतः अभिलाषा से ही जब प्रियतम के दर्शन नही होते, तो विरहिणी को उसका विरह पीड़ित करने लगता है। अब वह चिन्तित रहने लगती है। राजमती वियोग के प्रारम्भिक क्षणों मे स्वप्न में प्रिय-दर्शन का किञ्चित् लाभ उठा लिया करती थी, किन्तु कोरे स्वप्न उसके वेदनाग्रस्त हृदय को कब तक सहलाते? रंगीन स्वप्नों का महल भी जब ढह गया तो वह तड़पती पुकार उठी—

अब क्यों देर हो, जदुपति नेमिकुमार प्रभु सुनि।
किंचित् सुख सपने का बीत्यौ, अब दुःख भयो सुमेर हो।

मैं अनाथ मोहि साथ निबाहो, अब क्यों करत अबेर हो।
'मानिक' अरज सुनो रजमति प्रभु राखो चरननि लेर हो।

स्मृति :—

प्रिय-दर्शन की चिन्ता के बढ़ते रहने के साथ प्रियतम की स्मृतियाँ विरहिणी के विरहदग्ध हृदय को कुरेदने लग जाती हैं। तो उसकी आकुलता अधिक बढ जाती है। स्मृतियों में प्रियतम के अनुपम रूप और सयोगकालीन मधुर घटनाओं की ही अभिव्यंजना नही होती, अपितु उसके निर्मोहीपन को उलाहना भी निहित रहता है। राजमती ने नेमिनाथ के सौम्यरूप और दयार्द्र मन को कई बार याद किया है किन्तु उसके निर्मोहीपन की कसक वह मन से नहीं निकाल पाई है—

हे जी, मोकूं सुरतितिहारी सय्यां हो नैना लागि।
जब सें चढ़े गिरि सुधिहू ना लीनी, तुमनें पिया हो।

गुणकथन :—

इस अवस्था में प्रियतम की गुण पयस्विनी का प्रवाह विरहिणी के हृदय सागर में होकर कण्ठ के माध्यम से उन्मुक्त निस्सरित होने लगता है। लोक-लाज की अभेद्य प्राचीरें भी उसे बाधित नही कर पाती। नेमिनाथ की दया और विरक्ति भाव से प्रभावित राजमती अपने मन को समझाने मे असमर्थ होकर कहती है—

कैसे कै समझाऊँ मेरी सजनी,
श्री जदुपति प्रभु सौं प्रीति लगी।
पशुयन बंध निहारि दयानिधि,
जग असारि लखि भये हैं विरागी।। —माणिकचंद

वन को प्रस्थान करने वाले नेमिनाथ लौकिक माया-मोह से उदासीन राजमती को पहचान न सके - राजमती का यह उलाहना कितना मार्मिक है—

कहांरी, कित जाऊँ सखी मैं नेमि गये वन औरे री।
कहा चूक प्रभु सौं मैं कीनी, जो पीड मोह न लारे री।
—द्यानतराय

उद्वेग :—

इस अवस्था में पहुँच कर विरहिणी को सुखद वस्तुएं दुःखद प्रतीत होती हैं। राजमती को भी पावस कालीन घटाएं, नन्हीं नन्हीं फुहारें कीर, कोयल पपीहादि के स्वर अब अच्छे नहीं लगते। सप्तरंगी इन्द्रधनुष, घन गर्जन तो उसका हृदय बेघते हैं—

सखी री सावन घटा ई सतावे।
रिमझिम बूंद बदरिया बरसत नेमि नेरे नहिं आवे।
कूजत कीर कोकिला बोलत, पपीहा वचन न भावे।
दादुर मोर घोर गन गरजत, इन्द्र धनुष डरावे।

रजनी, शुभचन्द्र, रजत रश्मि या नक्षत्र भी राजमती को बड़ी पीडा देते हैं—

नेम निशाकर बिन यह चंदा, तन मन दहत सकल री।
किरन किधों नाविक शर, तति कै ज्यों पावक की झलरी।
तारे हैं कि अंगारे सजनी, रजनी राकस दलरी।—भूधरदास

प्रलाप :—

बहुत दिनों तक तडपते रहने पर भी प्रियतम के दर्शन न पाकर विहरिणी लोक-लज्जा को भी कतई भूल जाती है तथा अपनी प्रेमातुरता को गुरुजनो के समक्ष स्पष्ट करने में भी नही हिचकती। प्रलाप की अवस्था राजमती के विरह-वर्णन मे भी देखी जा सकती है—

मां विलंब न लावरी, पठाव तहांरी, जहं जगपति प्रिय प्यारो
और न मोहि सुहाव कछु अब, दीसै जगत अंधारो री।

मीरा की तरह राजमती भी ढोल बजा-बजाकर कहती फिरती है कि वह न तो नेत्रों में काजल डालेगी, न श्रृंगार करेगी। स्नान करने तथा अलको को मोती-मांग से संवारने मे भी अब उसकी रुचि नही। वह तो वैरागिनी होगी। नेमिनाथ की सच्ची दासी बनेगी—

कहां थे मंडन करूं कजरा नैन भरूं,
होऊँ रे वैरागन नेम की चेरी।
शीश न मंजन देउं, मांग मोती न लडं,
अब पूरहु तेरे गुनन की बेरी। —रत्नकीर्ति

व्याधि :—

इस अवस्था में विरहिणी को प्रिय-मिलन की आशा अत्यन्त क्षीण हो जाती है। उसको शामिल करने के प्रसाघन भी प्रतिकूल साबित होते हैं। राजमती भी प्रिय-वियोग में इतनी संतप्त है कि कर्पूर, कमलदल चन्द्र-किरण आदि प्रसाधन उसके संताप को बढ़ाते ही हैं—

नेमि बिना न रहै मेरा जियरा।
हेररी हेली तपतउरकैसो, लावत क्यों न निज हाथ न नियरा।
करि करिदूर कपूर कमलदल, लगत करूर कलाधरसियरा।
'भूधर' के प्रभु नेमि पिया बिन, शीतल होय न हियरा।

जड़ता :—

जड़वत् सुख-दुःख को महसूस न कर पाना, खाने-पीने तथा सोने आदि की आवश्यकता न होना वियोग की 'जडता' अवस्था है। जैन कवियों के कई पदों मे 'जड़ता' अवस्था के दर्शन होते है—

नहिं न भूख नहिं तिसु लागत, घरहिं घर मुरझात।
मन तो उरझि रह्यो मोहन सूं, सेवन ही सुरझात।
नाहिं न नींद परत निसि, बासुर होत विसूरत प्रात।

—कुमुदचन्द्र

मात तात परयन न सुहावे, षान पान विष ह्वै गया।
अब हमकूं घर में नहिं रहनो, चित दर्शन बिन बह गया।

मरण—

यह विरह की अन्तिम अवस्था है। इसमे विरहिणी या तो आत्मघात करने लगती है या ईश्वर से मरने की प्रार्थना करती है। साहित्य मे यह अवस्था विरल है। जैन काव्य मे विरहिणी ने कभी आत्मघात करने या मरने की बात नही सोची। एकाध स्थल पर उसे अपने निराधार जीवन के अधिक दिनो तक चल सकने की शका अवश्य हो गई—

देखो रैन वियोगिनी चकई, सो विलखै निशि सारी।
आश बांधि अपनो जिय राखे, प्रात: मिलै पिय प्यारी।
मैं निराश निरधारिनी कैसें जीवों अती दुःखारी।
इह विधि विरह नदी में व्याकुल उग्रसेन की बारी।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति की शैली के अन्यथा होने पर भी जैन कवियों की विरह-स्थितियाँ हिन्दी के अन्य कवियों जैसी ही हैं। जैन कवियो के विरह में 'उन्माद' की स्थिति न मिलने का कारण उसकी आध्यात्मिकता है। 'उन्माद' की अवस्था मे विरहिणी आत्म-विस्मृत और विक्षिप्त-सी रहती है—कभी रोना, कभी हसना, कभी पति में अनुरक्त होना तथा कभी विरक्त होना आदि। जैन कवियों के विरह मे राजमती के माध्यम से परमात्म के प्रति आत्मा की व्याकुलता का निदशन है अतः उसमे आत्म विस्मृति कैसी ? 'उन्माद' के अभाव के अतिरिक्त जैन कवियों की विरह उक्तियो मे न तो सूफी कवियों के से बीभत्स प्रसंग है और न रीतिकालीन कवियों जैसी उनहात्मकता। 'मान' आदि से रहित जैन कवियों का विरह-वर्णन अपनी सजीवता, नैरन्तर्य व मर्मस्पर्शिता के कारण हिन्दी विरह-काव्य में निराले स्थान का अधिकारी है। ●

एक रूपक

कवि रवीन्द्रनाथ टेगौर

एक फूल डाली पर हंस रहा था, अपने रूप और सौरभ पर गदराया हुआ। पास ही में एक पत्थर पड़ा था, बिल्कुल श्री-हीन ! बेडौल ! पत्थर की ओर देखकर फूल का अहंकार उद्दीप्त हो उठा—"पत्थर ! तुम्हारी भी कोई जिन्दगी है ! न रूप है, न सौन्दर्य ! न सौरभ और न सरसता ! तुच्छ और व्यर्थ है तुम्हारा जीवन ! सिर्फ जगत् की ठोकरे खाने लायक ? एक ओर मुझे देखो—हजारों लाखो आंखें मेरी रूप-सुधा को पी रही हैं, मधुर-सुवास पर मानव ही क्या, हजारो-हजार भौरे मँडराए आरहे है, सृष्टि का समस्त सौन्दर्य मेरे मघुकोषो मे उछ्वसित हो रहा है।"

पत्थर फिर भी मौन था, फूल के अहकार का उत्तर देने के लिए समय की प्रतीक्षा करने लगा। एक कलाकार (शिल्पी) आया, पत्थर को उठाकर छैनी और हथौड़ों से तरासा, सुन्दर दिव्य देव प्रतिमा बनाई, किसी धनिक श्रद्धालु ने एक भव्य एवं विराट मन्दिर बनाकर, उसे भगवान के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। और पूजा के लिए वही फूल तोड़ कर भगवान् के चरणो में चढ़ाया गया।

फूल ने देखा, तो स्तब्ध ! अरे, यह तो वही पत्थर है, जिसकी मैं हँसी उड़ाया करता था, आज यह भगवान् बन गया और मुझे इसके चरण-स्पर्श करने पड़े यह सब क्या हुआ ?

पत्थर की देव प्रतिमा फूल को यों चरणों मे चढ़ा देख कर हलकी-सी मुस्कराहट के साथ बोली—"पुष्प ! तुम वही हो न, जो कल अपनी डाली पर इतराए मुझे नफरत की नजरों से घूर कर व्यर्थ और तुच्छ बता रहे रहे थे। कब क्या हो एकता है, कुछ पता नही। यह ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर का खेल सदा होता रहता है। इसमें उदास होने जैसी क्या बात है भाई।"

फूल बिल्कुल मौन था, अपनी दयनीय दशा को वह आंख खोल कर ठीक तरह देख भी नहीं सका।

जैन कीर्तिस्तम्भ चित्तौड़ के अप्रकाशित शिलालेख

श्री रामवल्लभ सोमानी जयपुर

"महाराणा कुम्भा" और "वीर भूमि चित्तौड" पुस्तके लिखते समय मुझे कई दिनों तक चित्तौड़ रहना पड़ा था और यहाँ के शिलालेखों के बारे मे भी विस्तृत अध्ययन करने का अवसर मिला था। उदयपुर महाराणा साहब के संग्रह में कई शिलालेखों की प्रतिलिपियाँ देखने को मिली। इनमें से ३ लेख जैन कीर्तिस्तम्भ से सम्बन्धित है और एक किसी विस्तृत प्रशस्ति का खंड था। ये लेख मेवाड़ के विस्तृत इतिहास "वीर विनोद" लिखते समय सग्रहीत कराये गये थे। इनमें से कुछ उदयपुर सग्रहालय मे रखे है और अब तक अप्रकाशित है। लेख बहुत अधिक खंडित हैं।

वि० सं० १५४१ के मूर्ति लेख में जैन कीर्तिस्तम्भ स्थापित करने वाले साह जीजा और उसके पुत्र पुण्यसिह का नामोल्लेख है। प्रस्तुत लेखो में एक जीजा का और दूसरा श्रेष्ठि पुण्यसिंह का है।

मैंने कुछ वर्षो पूर्व "चित्तौड़ और दिगम्बर जैन सम्प्रदाय" नामक विस्तृत लेख शोध पत्रिका (उदयपुर) मे प्रकाशित कराया था। इसके बाद गगराल और सेणवाँ जिला (चित्तौड़) से प्राप्त १३७५-७६ और १३८६ के दिगम्बर जैन लेख भी 'वीरवाणी' जयपुर मे प्रकाशित कराये थे। इन लेखों के मिल जाने से चित्तौड़ मे दिगम्बर सम्प्रदाय की स्थिति का विस्तृत परिचय मिलता है।

श्रेष्ठि जीजा शाह सम्बन्धी ३ लेख मिले है। इनमें से २ लेख इसके साथ दिये जा रहे है। तीसरा लेख बहुत ही अधिक खंडितावस्था मे है। पहले में प्रथम श्लोक में कैलाश शैल शिखर स्थित आदिनाथ देव की स्तुति की गई है। दूसरे श्लोक में अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। इसके बाद पावापुरी सम्मेद शिखर आदि निर्वाण स्थलों का उल्लेख है। कुल १२ श्लोक हैं। पाठ अधिकतर खंडित हैं। अन्त में "संघ जीजान्वितं सदा" उल्लेखित है। दूसरे लेख में जिसका आगे का कुछ भाग खंडित हो गया है। संघपति जीजा का सुन्दर वर्णन है। इसमे उसके द्वारा स्तम्भ निर्माण करने का भी उल्लेख किया है। इसे बघेरवाल जाति का वर्णित किया है। [बघेरवाल जातीय सा० नाथ सुतः जीजा केन स्तम्भः कारापितः]।

पुण्यसिह सम्बन्धी लेख सम्भवतः किसी मन्दिर मे लग रहा था। इसका प्रस्तुत खड गुसाईजी के चबूतरे पर स्थित समाधि पर लग रहा है जिसे किसी ने बुरी तरह से घिस दिया है जिसे अब अच्छी तरह से पढ नही सकते है। इस लेख को ढूढने के लिए गत वर्ष मई मे चित्तौड गया था। तब वहाँ अनायास ही जैन कीर्ति स्तम्भ के पास महावीर प्रसाद प्रशस्ति वि०स० १४९५ का खंड मिल गया है जिसे मैने "वरदा" पत्रिका मे प्रकाशित करा दिया है।

श्रेष्ठि पुण्यसिह वाला यह लेख कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। इसमे जैन साधु विशालकीर्ति और शुभकीर्ति का उल्लेख है जो निस्सदेह दिगम्बर सम्प्रदाय के है। प्रस्तुत लेख में इनका बडा सुन्दर वर्णन है। इन्हे बड़ा विद्वान वर्णित किया गया है। श्लोक स० ४० से ४२ तक विशालकीर्ति का वर्णन है। ये सभवतः दर्शनशास्त्र के विद्वान थे। श्लोक सं० ४३ एव ४४ में शुभकीर्ति का उल्लेख है।

प्रारम्भ मे श्लोक सं० २२ से २५ तक जीजा श्रेष्ठि का वर्णन है। इसके द्वारा सुन्दर मन्दिर निर्माण का उल्लेख है। दुर्ग के अतिरिक्त चित्तौड की तलहटी, खोहर सांचोर आदि में भी जैन मदिर बनवाये। इसका पुत्र पुण्यसिह था जो महाराणा हमीर का समकालीन था। इसका प्रस्तुत प्रशस्ति में बडा सुन्दर वर्णन है।

इन प्रशस्तियों के मिल जाने से यह विवादास्पद प्रश्न समाप्त हो जाता है कि जैन किर्त्तिस्तम्भ दिगम्बर सम्प्रदाय का ही था। इसे श्रेष्ठि जीजा ने बनाया था। इसके पुत्र पुण्यसिह ने भी कई निर्माण कार्य कराये। संभवतः कीर्त्तिस्तम्भ की प्रतिष्टा विशालकीर्त्ति से कराई गई थी, क्योंकि लेख की अंतिम पंक्ति में 'मानसस्तम्भ" की प्रतिष्ठा का जो वर्णन आता है वह संभवतः इससे ही सम्बधित रहा हो। इसका निर्माणकाल भी १३वीं शताब्दीं सिद्ध होता है।

गुसाईं जी के चबूतरे के पास की अपूर्ण प्रशस्ति

सुनुस्तस्य तु दीनाको वाच्छो भार्या समन्वितः अथ: सूरोति पूजायै पुरदरसचीरुचं ॥२१॥ नायरव्यः सूनुरभ्यासीत् नायकाद्धर्म कर्मणि अथवा न...... कर्मसु रुद्धदा ॥२२॥ विशाल कच्छके तुच्छ च्छाया छलध्वज व्रजैः निज प्रासाद सौधाग्रनृत्यतुगकरैरिव ॥२३॥ तत्रयः कारयामास......मदिरमिदिर सुन्दरं रम्यकाम्यं सम्यक्त्व वेतसा ॥२४॥ स्वःसोपानोपदेश द्रढयति च जिनः श्रीपदोत्कंठितानां । सोपानेर्मडपोपि प्रकटयति ह... . विवाहः उच्चै प्रासाद चचत्कनक मय महा कुंभ शुंभदध्वजाग्रैरारूढा नृत्यतीवप्रभुपदजयिनी मानसी सिद्धिरस्य ॥२५॥ नागश्री संगतो देन......जडाग्नयः कालकूटान्वयोन्माथी योवृषांकः कलौयुगे ॥२६॥ हाल्लजिजुस्तथा न्योट्टल ऽसमभिधः श्री कुमार स्थिराख्य पट्ट श्री ए...... पि विजयिनश्चक्रवर्ती श्रियस्त तेषां या जिजु नामा जनि जनि हनभ्रप्राण पोराणमार्ग्यः प्रज्ञाति श्रीत्रिवर्ग प्रभुरभव दसो जैन [जैनधर्माभिलम्बी]॥२७॥ यश्चन्द्र प्रभमुच्चकूटघटनं श्री 'चित्रकूटे' नटत्कोत्रत्पल्लव तालवी जनमरुप्रध्वस्तसुर्याश्रमे श्री चैत्ये तलहट्टिकासमघटी श्रीसाद पीध्या......वि जिनेश्वरस्य सदन श्री खोट्टरेसत्पुरे ॥१६॥ बूढा डोगरके भ, घा च सुमिरौ जाने समारभ्यंतन्मानस्तम्भ महादिम...... मिदंनिर्वर्त्य......सत्य सय सुमगला य जयिने 'श्रीपूर्णसिंहायवैः' । गीर्णावोदयिनीश्चि यं समगमधर्मानुरागोल्वणः ॥३०॥ पुण्यसिंहोपि धर्मधुरा धवलवृंहणः जितारिः पितृसद्भारदत्तस्कंधो जयत्यसौ ॥३१॥ किंचि दारोपित स्कंधोऽभ्यास योगाद्दिने दिने विषमेऽधिवलो भूयोद्धवलः शवलोचन ॥३२॥ अन्वयागत सद्धर्म भार धोरेय विक्रमः अकिणां कष्ट थु स्कन्धः 'पुण्यसिंहो' महाद्भुतम् ॥३३॥ यत्पुण्य निटले भाति भारती चक्रमण्डले यत्कीर्त्तिस्त्रिजगत्सौधे धर्मलक्ष्मीर्मलांबुजे ॥३४॥ अपूर्वोयं धनीकश्चिद्यच्छन्नपि दृच्छया बद्धर्यत्य निशं स्व स्वं परं सत्पुण्य संचयः ॥३५॥ उररीकृत निर्वाहनिव सौम्यैव संपदः स्थिरा श्रयपदं मेजुस्तेजो कृभित्तविग्रहाः ॥३६॥ 'पुण्यसिंहो' जयत्येष दानिनां जनकुञ्जरः यत्कीर्त्ति कामिनी नेत्रे कज्जल भुवनांबरं ॥३७॥ कि मेरुः कनकप्रभः किमु हरि र्गीर्वाणप्रियः कि सोमः सकलं चकारश्पुन्योदयात्पेयं धर्मधुराधराविजयते श्री पूर्णसिंहः कलौ ॥३८॥ किं मेरु. कि न मेरु. किमुत सुरगुरुः किं हरिः किं मुरारिः कि रुद्रः किं समुद्रः किमुत च विलसच्चंद्रिका चद्र चद्रः उन्नत्या स्वेष्टदत्त्या विमलतरधियासद्धि भूत्या विमत्या गोनीत्या रत्नभृत्यासकल तनुतया पूर्णसिंहः पृथिव्यां ॥३६॥ ध्येयस्तस्य 'विशालकीर्त्ति' मुनिपः सारस्वत श्रीलता कंदोद्भेदघनाय मानवघनः स्याद्वाद्विद्यापतिः, वर्गत्या स गर्वचो विलोम् विलसद्भोलिदीर्यत्यस क्षोणी [चं] च्चत्स मयास्तपो निधिरसा वासीद्धरत्री तले ॥४०॥ कत्ताक्कार्काछश्य कृसित परवादि द्विप मदं क्वनिः श्रीमत् प्रेमप्रचुररस निस्यदि कवितोपन्यास प्राप्ते क्वच विहित वगव्य जनिता मनो गम्य रम्य श्रुतमिह यदीय विलसितं ॥४१॥ योगानगत्रिनेत्रस्त्रिभुवनरचनानूतनेऽपित्रिनेत्रो मीमांसा वाग्निरोध प्रकटनदिन कृत् सांख्य मत्तेभसिंहः उद्यद्वोद्धाहि दर्प्पस्फुरदुजगुरुड़ः प्रौढचाधीक शैलश्रेणी सपात शंपा कलित वर वचो वर्णिनी वल्लभो यः ॥४२॥ तत्पुत्रः 'शुभकीर्त्तिरुर्जित तपोनुष्ठान निष्ठापति श्री संसारविकार कारण गुणस्तृप्यन्मनो देवतः प्रारब्धाय पद प्रयाण कलसत्पंचाक्षरोच्चारण पुत्यत्कीकृत निर्भवे हिमककृक्षब्धत्स माध्याब्धिठः ॥४३॥ सिद्धांतोदधिवीचिवद्धनस्त्रद्धं द्रोवितं द्रोधुना विख्यातोऽस्ति समग्रशुद्ध चरितः श्रीधर्म्मव...... यतिः तत्कीर्त्तिः किल धोर वार्द्धि नृपति श्रीनारसिंहादिह स्वोकृत्य प्रकटीचकार सततं 'हमीर'वीरोप्यसौ ॥४४॥ तच्चरण कमलमधुपेमानस्तंभ प्रतिष्ठयामानं । प्रकटी चकार भुवने धनिकः श्री'पूर्णसिंहोऽत्र' ॥४५॥

जैन कीर्तिस्तम्भ सम्बन्धि लेख

"खाति साय न सुधा सं प्राव मं प्रोदयाः ॥१॥ दुवारप्रतिपक्षशाक्तविभवन्यग्भावभगोद्गत स्व

व्यापारमनारतंयद वृ......
पदस्वाद्याकाररसानुरक्ति खचितं क्षोभभ्रभा-
वर्तितं चित्तं क्षेत्र नियंत्रितं महदणु ख्यातयं कितं
विघ्नित त्यागादि......
तत् कौटस्थ्यं प्रति पद्यनंदथ सदामुद्धि परा विभ्रता
।।४।। प्रत्येकार्पित सप्त भंग्यु पहितैर्द्धर्मैरनंतैर्विधि...
मत द्रूप विद्रूप शाश्वदने दसानवलवी भावम्व सा
कुर्वंत भावान्निर्विशतः पराकृत तृषो द्वेष्या न शेषा...
मचलस्तच्छ प्रभंगेस्फुरन् दूरं स्वरैमसंकरव्यति-
करंति तिर्यङ्...लेतोद्धतां आकारै वियुत युतं च ...
स्व महसि स्वार्थ प्रकाशात्मके मज्जन्नोनिरुपाक्ष
मोथचिद चिन्मोक्षार्थितीर्थं क्षिपः कृत्वा नाद्य......
स्थिति कृते स्वर्गापवर्गात्तयो यः प्राज्ञैरनुमीयते
स्वीकृति ना 'जीजेन निर्मापित स्तम्भः' सै......
शुभा लोकैर्नकै ख्यते 'बघेरवाल जातीय' सा 'नाय-
सुतः जीजाकेन' स्तम्भः कारापितः। शुभ भवतु।।*

३ यत्रार्हता गणभृतां श्रुतपारगाणां,
निर्वाणभूमिरिह भारतवषजानाम्।
ता मद्य शुद्धमनसा क्रियया वचोभिः,
संस्तोतुमुद्यतमतिः परिणौमि भक्त्या ॥१
कैलाशे शैलशिखरे परिनिर्वृ तोऽसौ।
शैलेशिभावमुपपद्य वृषो महात्मा।
चम्पापुरे च वसुपूज्यसुतः सुधीमान्।
सिद्धिं परामुपगतो गतरागबधः ॥२
यत्प्रार्थ्यते शिवमयंविबुधेश्वराद्यैः,
पाखडिभिश्च परमार्थ गवेशशीलैः।
नष्टाष्टकर्मसमये तदरिष्टनेमिः,
संप्राप्तवान् क्षितिधरे वृहदूर्जयन्ते ॥३
पावापुरस्य वहिरुन्नतभूमिदेशे,
पद्मोत्पला कुलवतां सरसां हि मध्ये।
श्रीवर्द्धमान जिनदेव इतिप्रतीतो,
निर्वाणमापभगवनप्रविधूत पाप्मा ॥
शेषास्तु ते जिनवराहतमोहमल्ला,
ज्ञानार्कभूरिकिरणैरवभास्य लोकान्।
स्थानं परं निरवधारितसौख्यनिष्ठं,
सम्मेदपर्वततले समवा पुरीशाः ॥
आद्यश्चतुर्दशदिनै विनिवृत्तयोगः,
षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्द्धमानः।
शेषा विधूतवनकर्मनिवद्धपाशा,
मासेन ते यतिवरास्त्वभवान्वियोगाः ॥
माल्यानिवाक्स्तुतिमयः कुसुमैः, मुदृब्धा
—न्यादायमानसकरैरभितः किरतः।
पर्येम आदृति युताभगवन्निपद्या,
सप्रार्थिता वयमिमे परमा गतिं ताः ॥७
शत्रुंजये नगवरे दमितारिपक्षाः,
पंडोः सुताः परमनिर्वृ तिमभ्युपेताः।
तुंग्या तु संगरहितो बलभद्रनामा,
नद्यास्तटे जितरिपुश्च सुवर्णभद्रः ॥८
द्रोणीमति प्रबलकुंडलमेढ्के च,
वैभारपर्वततले वर सिद्धकूटे।
ऋष्यद्रिके च विपुलाद्रि बलाहके च,
विन्ध्ये च पौदनपुरेवृषदीपके च ॥९
सह्याचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे,
दडात्मके गजपथे पृथुसारयष्टौ।
ये साधवो हतमलाः सुगतिप्रयाताः,
स्थानानि तानिजगति प्रथितान्यभूवन् ॥१०
इक्षोर्विकाररसपृक्तगुणेन लोके,
पिष्टोऽधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत्।
तद्वच्च पुण्यपुरुषैरुषितानि नित्यं,
स्थानानितानि जगतामिह पावनानि ॥११
इत्यर्हता शमवतां च महामुनीनां,
प्रोक्ता मयात्र परिनिर्वृ तिभूमिदेशाः।
ते मे जिना जितभया मुनयश्च शांता,
दिश्यासुराशु सुगतिं निरवद्यसौख्याम् ॥१२
तेन सुवालंत जिने[श्वरा]णां मुनिगणानां च[निर्वाण]
स्थानानि निवृत्यैः [वा] पांतु संघ जीजान्वितं सदा।

---

* ये दोनो लेख पाषाणखडों मे अपूर्ण और त्रुटित होने के कारण अत्यन्त अशुद्ध है। फिर भी वे अपनी इष्ट सिद्धिमे सहायक है। अतएव उन्हे जैसे का तैसा दिया जाता है। हां, तीसरा लेख पूज्यपादकी निर्वाणभक्ति के अन्त मे १२ पद्यों में निबद्ध है, उससे शुद्ध करने मे मुझे सहायता मिली है। वे १२ पद्य जैन कीर्तिस्तम्भ के शिलालेख मे अकित है। अन्तिम पद्य में जीजा के सघ की रक्षा की कामना की गई है। परमानन्द शास्त्री

वसुनन्दि के नाम से प्राकृत का एक संग्रह-ग्रन्थः 'तत्वविचार'

प्रो० प्रेमसुमन जैन एम. ए., शास्त्री

'तत्व विचार' की सं० १९८८ मे लिखित प्रति का मैंने अवलोकन किया है, पन्नालाल सरस्वती भवन व्यावर से प्राप्त हुई थी। इतनी आधुनिक प्रति होने पर भी अशुद्धियाँ इसमें काफी हैं। जगह-जगह पाठ भी छूटे है। कुछ गाथाएँ भी लुप्त हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ श्री पार्श्वनाथ की वन्दना के साथ प्रारम्भ होता है—

णमिय जिणपासपयं विग्घहरं पणय बंछियत्थपयं।
बुच्छं तत्तवियारं सखेवेण निसामेह ॥१॥

तदुपरांत पचनमस्कार मन्त्र की महिमा एवं फल का निरूपण २७ गाथाओं मे किया गया है। मन्त्र को जिन शासन का सार बतलाया गया है—

जिण सासणस्य सारो चउदसपुव्वाण जो समुद्धारो।
जस्स मणे णवकारो संसारो तस्य किं कुणई ॥२८॥

इसके बाद दूसरे धर्मप्रकरण मे १३ गाथाओ द्वारा दस धर्मों का वर्णन, तीसरे एकोनत्रिंशद् भावना प्रकरण में २९ गाथाओं द्वारा भावनाओ का वर्णन, चौथे सम्यक्त्व प्रकरण में २१ गाथाओ द्वारा सम्यक्त्व का वर्णन, पाँचवे पूजाफल प्रकरण मे २० गाथाओ द्वारा पूजा एव उसके फल का वर्णन, छठे विनयफल प्रकरण मे १६ गाथाओं मे पाँच विषयों का स्वरूप एवं फल का वर्णन, सातवे वैयावृत्य प्रकरण में १४ गाथाओ द्वारा वैयावृत्य का वर्णन, आठवें सप्तव्यसन प्रकरण[1] में १३ गाथाओ द्वारा सात व्यसनों का वर्णन, नौवे एकादश प्रतिमा प्रकरण मे ४० गाथाओं द्वारा प्रतिमाओं का विशद वर्णन, दसवें जीवदया प्रकरण में २३ गाथाओं द्वारा अहिंसा आदि का वर्णन, ग्यारहवें श्रावकविधि प्रकरण मे ६ गाथाओं द्वारा जिन प्रतिष्ठा आदि का वर्णन, बारहवे अणुव्रत प्रकरण में १० गाथाओं द्वारा संक्षेप में अणुव्रतो का स्वरूप वर्णन तथा तेरहवें और अन्तिम दान प्रकरण में ५९ गाथाओं द्वारा सभी प्रकार दानों का स्वरूप एवं फल निरूपण किया गया है।

अन्त की दो गाथाओं में से प्रथम ग्रन्थ और ग्रन्थकार का नाम निर्दिष्ट है तथा अन्तिम गाथा आशीष वचन के रूप में है—

जो पढइ सुणइ अक्खइ अण्णं पढ़ाइ देई उवएसं।
सो हणइ णियय कम्मं कमेण सिद्धालयं जाइ ॥२९५॥

प्रस्तुत 'तत्वविचार' के सम्पादन आदि के विषय में भाई सा० डा० गोकुलचन्द्र जैन, वाराणसी मुझे बराबर प्रेरित करते रहे। अत: मै इसी दृष्टि से इस ग्रन्थ को देख रहा था। 'तत्वविचार' को बहुत समय तक मैं वसुनन्दि सैद्धांतिक की ही एक अन्य रचना मानता रहा। ग्रन्थ में स्वय इस बात का निर्देश है—

एसो तत्तवियारो सारो सज्जण जणाण सिवसुहवो।
'वसुनंदिसूरि रइओ भव्वाण पवोहणट्ठं खु ॥२९४॥

वसुनन्दिसूरि, आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दि सैद्धान्तिक ये सब एक ही व्यक्ति के विशेषणयुक्त नाम मुझे प्रतीत हुए। 'तत्व विचार' के लिपिकार ने अपनी प्रशस्ति मे भी इसी बात की पुष्टि की है—'इति वसुनन्दी सैद्धांती विरचित तत्वविचार समाप्तः।' प० आशाधर ने वसुनन्दि की बहुमुखी प्रतिभा, संस्कृत-प्राकृत की उभय भाषा विज्ञता एवं अनेक सैद्धांतिक ग्रंथों के रचयिता होने के कारण उन्हे सैद्धांतिक कहा है—'इति वसुनन्दि सैद्धांतिकमते'—।[2] इससे भी मुझे अपनी मान्यता के लिए बल मिला। साथ ही 'तत्वविचार' और वसुनन्दि श्रावकाचार के विषय की सम्यता, भाषा की एकता और श्रावकाचार की लगभग १०० गाथाओं का 'तत्वविचार' में पाया जाना आदि ने मुझे यह मानने को मजबूर कर दिया कि प्रस्तुत 'तत्व-

१. प्रति में 'इति सप्त व्यसन प्रकरण ॥८॥' लिखना छूट गया है। अतः ग्रन्थ में १३ प्रकरण होने पर भी १२ प्रकरण का ही निर्देश है।

२. सागार धर्मामृत अ. ३, श्लोक १६ की टीका तथा ४-५२ की टीका में।

विचार' श्रावकाचार के रचयिता वसुनन्दि की ही परवर्ती रचना होनी चाहिए। क्योंकि दूसरे के ग्रन्थ की इतनी गाथाएँ अपने मौलिक ग्रंथ मे कौन लेखक उद्धृत करेगा ?

'तत्वविचार' के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करते समय श्री अगरचद जी नाहटा का 'तत्वविचार' के सबध में एक लेख राजस्थान भारती[३] मे देखने को मिला। इसमे उन्होंने 'तत्वविचार' को राजस्थानी का गद्य-ग्रथ बतलाते हुए थोड़ा-सा परिचय दिया है। प्रकाशित अश मे 'तत्व-विचार' की प्रथम गाथा के बाद राजस्थानी मे टीका है, जिसमें बारह व्रतोंका वर्णन दिया गया है। और अन्त मे—

एयं तत्तवियारं रइयं सुयसागराइ उद्धरिय।
थोवक्खरं गहत्थं भव्वाण मणुग्गट्ठाणं ॥

गाथा के द्वारा 'तत्वविचार' प्रकरण के समाप्ति की सूचना दी गयी है। बीच में सम्यक्त्व का वर्णन करते हुए एक गाथा और आई है—

अरिहं देवो गुरुणो सुसाहुणो जिणमयं महापमाण।
इच्चाइ सुहो भावो सम्मत्तं विंति जग गुरुणो ॥

उक्त ये दोनों गाथाएँ 'तत्वविचार' की चर्चित प्रति-लिपि मे नही है। दूसरी बात, श्री नाहटा द्वारा प्रकाशित इस अश मे १२ व्रतों का वर्णन भी 'तत्वविचार' के व्रतो के वर्णन से भिन्न है। तथा अन्त में अरिहत देव का जो स्वरूप उसमें वर्णित है वह भी श्वेताम्बर परम्परा से अधिक सम्बन्ध रखता है। यथा—"अरिहत देवता किसउ होइ ?......बारह भेदे तपु कीजइ। सत्तरहे भेदे सजमु पालियइ ॥ आठ प्रवचन माता उपयोगु दीजइ। रजोहरणु मुहुत्ती। गोछउ। पडिगहिउ धरइ।' इन सब कारणों से श्री नाहटा जी द्वारा प्रकाशित अश प्रस्तुत 'तत्वविचार' ग्रन्थ से सम्बन्धित नही माना जा सकता। दोनों के स्वरूप एवं भाषा में भी भेद है। केवल प्रथम मगल गाथा (णमिय जिण...) का दोनों में एक-सा पाया जाना इस ओर संकेत करता है कि सम्भवतः किसी एक ही स्रोत से दोनों जगह उक्त गाथा ग्रहण की गयी है।

'तत्वविचार' के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करते समय केटलाग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत ऑफ सी. पी. (पृ. ६४७) में सेनगण जैन मन्दिर कारंजा और बलात्कार गण जैन मन्दिर कारजा में उपलब्ध 'तत्वविचार' की दो प्रतियों की सूचना मिली। उन्हे मैं अभी देख नही पाया हूँ। उपलब्ध होने पर प्रस्तुत ग्रथ पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है।

अनेकान्त (वर्ष प्रथम, किरण ५) में स्व० प० श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'तत्वविचार और वसुनन्दि' नाम से एक नोट लिखा है। इसमें उन्होंने ग्रन्थ के १२ प्रकरणों का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ परिमाण केवल ६५ गाथाओं का बतलाया है, जबकि प्रस्तुत प्रति में ग्रथ की गाथा सख्या २८५ है। यह भूल इस कारण हुई प्रतीत होती है कि प्रति मे अन्तिम गाथा का न० ६५ ही पड़ा है। ग्रन्थकार अथवा लिपिकार न १०० गाथाओं के बाद पुनः अगली गाथा मे १ नम्बर दिया है। अतः सरसरी निगाह मे देखने पर ऐसी भूल होनी स्वाभाविक थी। श्री मुख्तार साहब ने स्वयं 'पुरातन जैन वाक्यसूची' की प्रस्तावना (पृ. १००) मे स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने बम्बई में थोड़े समय मे इस ग्रथ की प्रति को देखा था। और उसी आधार पर यह नोट लिखा है।

किन्तु 'तत्वविचार' की गाथाओ का मिलान करने पर उनकी सख्या २९५ भी नही हो पाती। कारण, गाथा न. ११ के बाद १३ न. पडा है। ८१, ८२ न. की गाथाएँ समान है। तथा ८७ न. के बाद ८९ एव १८६ के १८८ नं. लिख दिया गया है। इस तरह चार गाथाएं कम हो जाने से २९१ गाथाएं ही बचती है। किन्तु ग्रन्थ मे जगह-जगह विषयभग को देखते हुए लगता है कि लिपिकारों की असावधानी के कारण गाथाएँ "छूटी हैं। सम्भवतः ३०० गाथा-प्रमाण" यह ग्रन्थ रहा होगा।

स्व० श्री मुख्तार सा० ने अपने उक्त नोट मे कहा है कि यह ग्रन्थ श्रावकाचार के रचयिता वसुनन्दि का नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें कई जगह विषय क्रम भेद है। यथा—'तत्वविचार' मे व्रत प्रतिमा के वर्णन में 'गुणव्रत' और 'शिक्षाव्रत' के इस प्रकार भेद किये गये है—१ गुणव्रत—दिग्विदिक प्रत्याख्यान, अनर्थदण्डपरिहार और भोगोपभोग संख्या[४]। (२) शिक्षाव्रत—त्रिकालदेव स्तुति, पर्व में

३. वर्ष ३, लंक ३-४, पु. ११८।

४. दिसिविदिसि पच्चक्खाण अणत्थदंडाण होई परिहारो।
भाओवभोयसंखा एए हु गुणव्वया तिण्णि ॥१५७॥

प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और मरणान्त में सल्लेखना[५]। जबकि वसुनंदि श्रावकाचार का कथन इससे भिन्न है। उसमें दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति को गुणव्रत[६] तथा भोगविरति, परभोगनिवृत्ति, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत कहा गया है[७]। और 'तत्वविचार' में दो गाथाएँ भावसग्रह की भी प्राप्त होती हैं। अतः इसे मौलिक ग्रन्थ न होकर, सग्रह ग्रंथ होना चाहिए।

श्री मुख्तार सा० की इस सूचना के कारण 'तत्वविचार' को वसुनन्दि का ही परवर्ती ग्रंथ मानने में मुझे भी हिचक हुई। श्री नाहटा जी से विचार-विमर्श करने पर भी इसके संग्रह ग्रन्थ होने की पुष्टि हुई। अतः मैं इसके सदर्भ खोजने में जुट गया। परिणामस्वरूप जो तथ्य सामने आये उनसे यह भलीभाँति प्रमाणित हो गया कि तत्वविचार' में न केवल वसुनन्दि के श्रावकाचार और भावसंग्रह से गाथाएँ उद्धृत की गई है, बल्कि लगभग २०-२५ प्राचीन ग्रंथों की गाथाएँ इसमें संग्रहीत है। कुछ गथाएँ श्वेताम्बर ग्रन्थों की भी हैं, जिनके कारण इसमे न केवल विभिन्न गाथाओं का सग्रह है, अपितु विभिन्न विचारों का भी समावेश है। यथा—'तत्वविचार' की एक गाथा मे 'णमोकारमन्त्र' के एक लाख जाप से निःसन्देह तीर्थंकर गोत्र का बन्ध होना' बतलाया है[८] जो श्वेताम्बर परम्परा का प्रभाव है[९]।

'तत्वविचार' की प्रस्तुत २६१ गाथाओं में से अधिकाश गाथाओं के सन्दर्भ निम्नलिखित ग्रथों में खोजे जा सके हैं, जो इसके संग्रह ग्रथ होने के लिए पर्याप्त है। यथा—

ग्रन्थ का नाम		उद्धृत गाथा	संख्या
१. वसुनन्दि श्रावकाचार	से	६०	गाथाएँ
२. भावसंग्रह	,,	७५	,,
३. लघुनवकारफलं	,,	२३	,,
४. जीवदया प्रकरण	,,	१७	,,
५. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा	,,	१२	,,
६. मोक्खपाहुड	,,	६	,,
७. मूलाचार	,,	४	,,
८. भगवती आराधना	,,	३	,,
६. वृद्धनवकारफल	,,	२	,,
१०. आयणाणतिलय, ११. आरधनासार, १२. कल्याणालोयणा, १३. छेदसत्थ, १४. णियमसार, १५. तिलोयपण्णत्ति १६. दंसण पाहुड, १७. धम्मरसायण १८. वारस अणुवेक्खा, १९. पचत्थिपाहुड २०. पचसंग्रह, २१. रिट्ठसमुच्चय २१. सीलपाहुड। इन ग्रंथों में से १-१ यथा—		१३	,,
		२४५	कुल

शेष लगभग ५० गाथाओं में से अधिकांश तीसरे एकोनत्रिंशत्प्रकरण एवं तेरहवें दान प्रकरण की गाथाएँ हैं, जिनके संदर्भ नहीं खोजे जा सके। सम्भवतः इस नाम के प्रकरण जिन ग्रन्थों में हों उन्हीसे ये गथाएँ ली गयीं होंगी। अथवा संग्रहकर्ता ने शायद इतनी गाथाएँ मौलिक रूप से लिखीं होंगी। इसका निर्णय आगेके अध्ययन से हो सकेगा।

'तत्वविचार' सग्रह प्रमाणित हो जाने के बाद प्रश्न उपस्थित करता है, उतने उसके मौलिक ग्रंथ होने मे न उठते। कुछ प्रमुख प्रश्न विचारणीय हैं। यथा—१. 'तत्वविचार' का सग्रहकर्ता कौन ? २. उसका पाण्डित्य एवं समय ? ३. संग्रह ग्रथ निर्माण का प्रयोजन ? ४. ग्रन्थ के रचयिता मे वसुनन्दिसूरि के नाम देने का रहस्य ? ५. दिगम्बर व श्वेताम्बर परम्परा के विचारों के समन्वय का उद्देश्य ? आदि। इस सब पर प्रामाणिक रूप से विचार करना समय सापेक्ष है। श्रमसाध्य भी। विद्वानों से अनुरोध है, इस सम्बन्ध में कोई जानकारी हो या आगे प्राप्त हो तो कृपया सूचित करेंगे। ●

---

५. देवे थुवइ तिदाले पव्वे पव्वे य पोसहोवासं।
अतिहीण संविभाओ मरणंते कुणइ सल्लिहणं ॥१५८॥

६. वसु. श्रा. गाथा २१४, १५, १६।

७. वही, गा० २१७-२०।

८. जो गुणइ लक्खमेणं पूयविही जिण णमोक्कारं।
तित्थयरनामगोत्तं सो बंधइ णत्थि संदेहो ॥१-१५॥

९. 'लघुनवकारफलं' श्वेताम्बर ग्रन्थ की गाथा नं० १२।

तत्त्वविचार की गाथानुक्रमणिका एवं सन्दर्भ

ठ

— य —

ण

त

—:०:—

साहित्य-समीक्षा

१. गद्यचिन्तामणि—मूल वादीभसिंह सूरि, सम्पादक अनुवादक पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ काशी। बड़ा साइज पृष्ठ संख्या ५०० मूल्य सजिल्द प्रतिका १२.०० रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ कादम्बरी के समकक्ष का एक महत्वपूर्ण गद्य संस्कृत काव्य है, जिसके कर्ता आचार्य वादीभसिंह सूरि हैं। जो अपने समय के एक विशिष्ट विद्वान थे। आचार्य वादीभसिंह ने प्रौढ़ संस्कृत में जीवंधर का यह चरित्र निबद्ध किया है। जैन साहित्य मे इस पर विविध भाषाओं में अनेक ग्रंथ लिखे गए है, जिससे उनकी महत्ता का सहज ही आभास हो जाता है। जीवंधर कुमार भगवान महावीर के समय होने वाले राजा सत्यंधर के क्षत्रिय पुत्र थे। आपने अपने पिता के राज्य को पुनः प्राप्त किया, और अन्त मे उसका परित्याग कर आत्म-साधना सम्पन्न की। कवि ने अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक उपलब्धियों को आत्मसात नही किया किन्तु उनकी विशाल प्रतिभा ने उस युग के सांस्कृतिक जीवन के जो चित्र ग्रहण किये, उन्हे कवि ने कुशल मणिहार निर्माता की भांति सावधानी से काव्य में उतार दिया है। कर्ता ने मणिहार की तरह काव्यग्रंथ के एक-एक शब्द को इस तरह पिरोया है कि लम्बे दीर्घ समासो मे भी काव्य का लालित्य एवं सौन्दर्य कही खोया नही, किन्तु जागृत रहा है।

इस संस्करण में सम्पादक ने संस्कृत व्याख्या और मूलानुगामी सरल हिन्दी अनुवाद देकर ग्रंथ को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। और प्रस्तावना मे ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी दे दी है। और परिशिष्ट में व्यक्ति वाचक, भौगोलिक, पारिभाषिक तथा विशिष्ट शब्दों का एक शब्दकोष भी दे दिया है जिससे ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ गई है। गद्यचिन्तामणि का यह विशिष्ट संस्करण अध्येताओं के लिए विशेष रुचिकार होगा। ग्रंथ का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ के अनुरूप हुआ है। प्राचीन भारतीय संस्कृत के अध्येताओं को इस ग्रंथ को मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए। इस उत्तम प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ धन्यवाद की पात्र है।

२. योगसार प्राभृत—मूल अमितगतिप्रथम सम्पादक अनुवादक पं० जुगलकिशोर मुख्तार प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बड़ा साइज, सजिल्द प्रति मूल्य ८.०० रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ देवसेनाचार्य के शिष्य निस्संग अमितगति प्रथम की रचना है, जो अध्यात्म विषय का एक सुन्दर ग्रंथ है। इस ग्रंथ में ९ अधिकार है और ५४० पद्य हैं जिनमें आत्म-तत्त्व की प्राप्ति का सरस वर्णन है। सात अधिकारो में जीवादि सप्त तत्त्वों का दिग्दर्शन कराते हुए उनकी महत्ता का कथन किया गया है। और आठवां अधिकार चारित्राधिकार है, जिसके १०० पद्यों मे चारित्र का बड़ा ही सुन्दर और संक्षिप्त कथन दिया है। उसे पढ़ कर प्रवचनसार के चारित्राधिकार की स्मृति हो जाती है। और अन्तिम चूलिकाधिकार में योगी के योग का स्वरूप बतलाते हुए भोग से उत्पन्न सुख की विशिष्टता, सुख का लक्षण, तथा योग के स्वरूप का कथन करते हुए भोग को महान रोग बतलाते हुए उससे छुटकारा मिलने पर उसे फिर संसार मे जन्म नहीं लेना पड़ता। भोग से सच्चा वैराग्य कब होता है। उसका भी निर्देश किया है। और भी संबद्ध विषय का सुन्दर विवेचन किया है।

मुख्तार सा. ने ग्रंथके पद्योंका मूलानुगामी अनुवाद देकर उसके विषय को अच्छी तरह विशद किया है। टिप्पणियों में भी उसका स्पष्ट संकेत किया और प्रस्तावना मे अमितगति प्रथमके संबंधमें जो विचार किया है वह सुन्दर है। ग्रंथ की छपाई सफाई ज्ञानपीठ के अनुरूप है। और वह मुख्तार साहब के जीवन काल में ही छप कर तैयार हो गया था, उसे देख कर उन्हें आत्म संतोष हुआ होगा। इस ग्रंथ को सभी मंदिरों, स्वाध्यायशालाओं, अध्यात्म के विचारकों को मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

३. **कर्म प्रकृति संस्कृत**—मूल अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सम्पादक अनुवादक डा० गोकुलचन्दजी एम० ए० पी० एच० डी०, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृष्ठ ७५, मूल्य दो रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ संस्कृत के गद्यसूत्रों में कर्म प्रकृतियों के स्वरूप का वर्णन किया है। प्रकृति, प्रदेश स्थिति और अनुभाग इन चार प्रकार के बंधों का स्वरूप भी दिया हुआ है। अनुवाद मूलानुगामी है। ग्रन्थ कर्ता अभयचन्द सैद्धान्तिक चक्रवर्ती है। उनका समय ईसा की तेरवीं शताब्दी है ग्रंथकार के सम्बन्ध में सम्पादकजी ने जो लिखा है वह प्रायः ठीक है। अभयचन्द सिद्धान्ती की इस कृति का अनेकान्त के आठवें वर्ष की किरण ११ में मुख्तार साहब ने परिचय दिया था। ग्रंथ उपयोगी है। पाठकों को कर्म प्रकृति मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए।

४. **अणुव्रत** (विशेषांक)—सम्पादक रिषभदास रांका, प्रबन्ध सम्पादक हर्षचन्द प्रकाशक रामेश्वरदयाल अग्रवाल, अ० भा० अणुव्रत समिति छतरपुर रोड, महरौली, नई दिल्ली ३०, वार्षिक मूल्य १० रुपया।

प्रस्तुत विशेषांक गांधी शताब्दी के उपलक्ष मे प्रकाशित किया गया है। यह अणुव्रत समिति के नैतिक जागरण का अग्रदूत पाक्षिक पत्र है। तेरा पंथी सम्प्रदाय के विद्वान आचार्य तुलसीगणी के प्रयत्नों का यह सुफल प्रयास है कि अणुव्रत का व्यापक प्रचार करने एवं जीवन की अनैतक धारा को नैतिकता मे बदलने मे अणुव्रत एक साधन के रूप में अपनाया गया है। इस अंक में गांधीजी के सिद्धान्तों और जैन सिद्धान्तों की तुलना की गई है। इस अंक में अनेक लेख पठनीय हैं—जैसे स्वतंत्रता संग्राम में अहिंसा की भूमिका—श्री उ० न० ढेबर। अध्यक्ष खादीग्रामोद्योग कमीशन। गांधीजी के जीवन में अहिंसा का प्रयोग, मांसाशन का मन और तन पर कुप्रभाव, दया जब हिंसा बन जाती है? अहिंसा के कुछ सूत्र आदि। इस सामयिक उपयोगी सामग्री प्रकाशन के लिए अणुव्रत समिति धन्यवाद की पात्र है।

५. **महावीर जयन्ती स्मारिका**—प्रधान सम्पादक पं० भंवरलाल पोल्याका जैन दर्शनाचार्य प्रकाशक राजस्थान जैन सभा, जयपुर, मूल्य २ रुपया।

प्रस्तुत स्मारिका ४ खंडों मे विभाजित है। ३ खंड की सामग्री हिन्दी भाषा मे दी हुई है और चतुर्थ खण्ड की अंग्रेजी मे। लेखों का चयन सुन्दर और नयनाभिराम है। स्मारिका अपने उद्देश्य में सफल होती जा रही है। राजस्थान सभा की कर्तव्य परायणता और सम्पादक एवं सम्पादक मंडल तथा प्रकाशक की तत्परता शोध-खोज के लेखों से परिपूर्ण स्मारिका, पत्र जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी का अभाव सचमुच खटकता है। ऐसे पत्रों में खोजपूर्ण लेखों के साथ कुछ ऐतिहासिक और पुरातात्त्विक चित्रों का न होना कुछ खटकता है। परन्तु उनका शिष्य वर्ग उनके आदर्श कार्य को कायम रखेगा ऐसी आशा है। ★

दानी महानुभावों से

वीर-सेवा-मन्दिर एक प्रसिद्ध शोध-सस्थान है, उसकी लायब्रेरी से अनेक रिसर्चस्कालर अपनी थीसिस के लिए उपयोगी ग्रंथ लेकर अनुसन्धान करते है। लायब्रेरी में इस समय पांच हजार के लगभग ग्रन्थ है। गोम्मट सार जीवकाण्ड की भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता से प्रकाशित बडी टीका की लक्षणावली के लिए आवश्यकता है जो महानुभाव भेंट स्वरूप या मूल्य से प्रदान करेगे इसके लिए हम उनके बहुत आभारी होगे।

जिन शास्त्र भंडारों में हस्तलिखित ग्रंथों की व्यवस्था नही हो रही है। उनसे निवेदन है कि वे अपने भण्डार के उन हस्तलिखित ग्रंथों को वीर सेवामन्दिर लायब्रेरी को प्रदान कर दे। यहाँ उनकी पूर्ण व्यवस्था है, उससे रिसर्च स्कालरों को विशेष सुविधा हो जायगी। आशा है मन्दिर और भण्डार के प्रबन्धक अपनी उदारता का परिचय देकर अनुगृहीत करेंगे।

प्रेमचन्द्र जैन
मंत्री, वीरसेवामन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली।

एक महान विभूति का वियोग

इस अंक के छपते-छपते बड़ा ही दुखद समाचार मिला है कि राष्ट्रपति डा. जाकिरहुसेन का ३ मई को हृदयगति के रुक जाने से अकस्मात् देहान्त हो गया। इस समाचार से सारे देश का शोक-मग्न हो जाना स्वाभाविक ही है। डा० जाकिरहुसेन देश की महान विभूति थे, वह भारत के राष्ट्रपति पद पर आसीन थे। पर उनकी महत्ता इस बात मे थी कि वे मानवता के केवल हामी ही नहीं थे किन्तु उसमे बडे थे। देश के अभ्युत्थान मे जिन-जिन क्षेत्रों में उनकी सेवाओं की आवश्यकता हुई वे सदा तत्पर रहे। बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र मे उन्होंने जो कार्य किया वह हमारे इतिहास मे सदा अमर रहेगा। उन्होने जामा मिलिया के रूप मे जो देन दी है, वह महान है।

डा० जाकिरहुसेन ने देश के सामने धर्म-निरपेक्षता की एक ऐसी मिसाल पेश की, जिसने लोक-मानस पर बड़ा प्रभाव डाला। सभी धर्मों के अनुयायी उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। ऐसी विभूति के निधन से जो स्थान रिक्त हुआ है उसकी पूर्ति सहज ही नही हो सकती।

हम दिवगत आत्मा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए आशा करते है कि उन्होंने अपने वैयक्तिगुणो और सेवाकार्यो से जो प्रेरणाएँ दी है वे देशवासियो का मार्गदर्शन करती रहेगी। अनेकान्त पत्र के माध्यम से उनके शोक-सन्तप्त परिवार के लिए हमारी समवेदनाएँ।

दि० जैन समाज में उपेक्षा का परिणाम

दि० जैन समाज यद्यपि मन्दगति से अपना कार्य कर रहा है। उसकी जैसी प्रगति होनी चाहिए थी नही हो सकी। अनेक जैन मन्दिरों और मूर्तियो का निर्माण तथा पचकल्याणक प्रतिष्ठाओ मे अपार धन खर्च किया जाता है। पर तीर्थकरो की वाणी के प्रसार मे या शास्त्रों के जीर्णोद्धार मे एक पैसा भी कोई खर्च करने को तैयार नही है। दि० जैन मन्दिरो मे स्थित शास्त्रभण्डार अव्यवस्थित है, चूहा, दीमक और कीटकादि के भक्ष्य हो रहे है। अभी प० परमानन्द शास्त्री का लश्कर जाना हुआ था। उनसे ज्ञात हुआ कि ग्वालियर किसी समय जैन समाज का केन्द्र स्थल था, वहाँ के मन्दिरों मे दसवी शताब्दी से २०वी शताब्दी तक की प्रतिष्ठत अनेक मूर्तियाँ मन्दिरो मे विराजमान है। किले मे उर्वाही द्वार की दायें बाये दोनो ओर चट्टानो को खोद कर बनाई गयी प्रतिमाएँ अत्यन्त आकर्षक और कला पूर्ण हैं और अधिकाश खण्डित है। परन्तु वे जैनो द्वारा सदा उपेक्षित रही है। उनका पत्थर गल रहा है, शिला लेख नष्ट होते जा रहे है। अनेक मूर्तियाँ खण्डित है। उनकी ओर वहाँ की समाज की पूर्ण उपेक्षा है। मन्दिरो के शास्त्र भण्डारो की कोई व्यवस्था नही है। ग्वालियर का भट्टारकीय शास्त्र भडार ४० वर्ष से बन्द पड़ा है, उसकी न कोई सूची है, और न यही ज्ञात हो सका कि वहा कितने और क्या-क्या अमूल्य ग्रथ हैं। उनकी सार सम्हाल यदि जल्दी न की गई तो फिर इस अमूल्य सम्पदा से सदा के लिये हाथ धोना पडेगा। शास्त्र भडारो की सम्पत्ति जैन समाज की व राष्ट्र की निधि है। उसका संरक्षण देव मन्दिर व प्रतिमाओ के समान ही होना चाहिये। ग्वालियर में ७ हजार जैनियों की सख्या है, २३, २४ मन्दिर है। आशा है ग्वालियर और लश्कर की जैन समाज के धर्मात्मा सज्जन इस उपेक्षावृत्ति को छोड़कर धर्म रक्षार्थ मंदिर मूर्तियों की तरह शास्त्रों के प्रति अपनी भक्ति का परिचय देगी, भट्टारकजी के भंडार को भी आदर्श रूप में व्यवस्थित करेगी।

मन्त्री—वीर सेवामन्दिर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५·००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८·००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २·००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १·५०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १·५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ·७५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३·००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४·००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४·००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १·००

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१९ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका ·१९ पैसे, (१७) महावीर पूजा ·२५

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १·००

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण सग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२·००

(२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० ७·००

(२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ५·००

(२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... २०·००

(२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६·००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक

जून १९६९

अनेकान्त

खण्डगिरि में उत्कीर्ण तीर्थंकर मूर्तियां

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

अनेकान्त के लिए स्थायी ग्राहकों और विशेष सहायक सदस्यों की आवश्यकता

अनेकान्त जैन सस्कृति की प्रतिष्ठित एव प्रामाणिक पत्रिका है। इतना होने पर भी जैन समाज का ध्यान इस पत्रिका की ओर नही है। तो भी पत्रिका घाटा उठाकर भी सस्कृति के प्रचार और प्रसार मे संलग्न रहती है। अनेकान्त द्वारा जो खोज की गई है, वे महत्वपूर्ण हैं। अत हम अनेकान्त के संरक्षको विशेष सहायकों और स्थायी सदस्यो तथा विद्वानों से प्रेरणा करते है कि वे अनेकान्त की ग्राहक सख्या बढाने मे हमे सहयोग प्रदान करे। महगाई होने पर भी अनेकान्त का वही ६) रु० मूल्य है। जब कि सब पत्रों का मूल्य बढ गया है तब भी अनेकान्त का मूल्य नही बढाया गया।

अनेकान्तके लिए २५१) प्रदान करने वाले ५० विशेष सहायक सदस्यो, और १०१) प्रदान करने वाले सौ स्थायी सदस्यों की आवश्यकता है। कुछ ऐसे धर्मात्मा सज्जनो की भी आवश्यकता है जो अपनी ओर से अनेकान्त पत्रिका कालेजो, पुस्तकालयों और विश्वविद्यालयो को अपनी ओर से भिजवा सके। साथ ही विवाहो, पर्वो और उत्सवो पर निकाले जाने वाले दान मे से अनेकान्त को भी आर्थिक सहयोग प्राप्त हो।

कुछ दानी महानुभाव अपनी ओर से जैन संस्थाओ पुस्तकालयो मे अनेकान्त भिजवाएं।

व्यवस्थापक
'अनेकान्त'

अनेकान्त के पाठकों से

अनेकान्त प्रेमी पाठको से निवेदन है कि उनका वार्षिक मूल्य समाप्त हो चुका है। नए २२वे वर्ष का मूल्य ६) रुपया मनीआर्डर द्वारा भिजवा कर अनुगृहीत करे। अन्यथा अगला अक वी. पी. से भेजा जायगा। जिससे आपको १) एक रुपया अधिक खर्च देना पड़ेगा।

व्यवस्थापक : **'अनेकान्त'**
'वीरसेवामन्दिर' २१ दरियागंज, दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २२ किरण २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण सवत् २४९५, वि० स० २०२६ | जून सन् १९६९

अर्हत् परमेष्ठी स्तवन

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तसंगग्रहात्
अस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषोऽपि संभाव्यते ।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणा-
मानन्दादि गुणाश्रयस्तु नियतं सोऽर्हन्सदा पातु वः ॥३॥

मुनि श्री पद्मनन्दि

अर्थ—जिस अरहंत परमेष्ठी के परिग्रहरूपी पिशाच से रहित हो जाने के कारण किसी भी इन्द्रिय विषय में राग नही है, त्रिशूल आदि आयुधों से रहित होने के कारण उक्त अरहंत परमेष्ठी के विद्वानों के द्वारा द्वेष की भी सम्भावना नही की जा सकती है। इसीलिए राग-द्वेष से रहित हो जाने के कारण उनके समताभाव आविर्भूत हुआ है। अतएव कर्मों के क्षय से जो अर्हत् परमेष्ठी अनन्त सुख आदि गुणो के आश्रय को प्राप्त हुए है वे अर्हत् परमेष्ठी सर्वदा आप लोगों की रक्षा करे ।।

—:०:—

जैन समाज की कुछ उपजातियाँ

परमानन्द जैन शास्त्री

उपजातियां कब और कैसे बनीं, इसका कोई प्रामाणिक इतिवृत्त अभी तक भी नही लिखा गया। पर ग्राम-नगरों या व्यवसाय के नाम पर अनेक उपजातियों का नामकरण और गोत्रों आदि का निर्माण किया गया है। दसवीं शताब्दी से पूर्व उपजातियो का कोई इतिवृत्त नहीं मिलता। सम्भव है उससे पूर्व भी उनका अस्तित्व रहा हो। जैन समाज में चौरासी उपजातिया प्रसिद्ध है। अठारहवीं शताब्दी के विद्वान प० विनोदीलाल अग्रवाल की 'फूलमाला पच्चीसी' एक पच्चीस पद्यात्मक रचना है। जिसमें अग्रवाल, खण्डेलवाल, बघेरवाल, गोलापूर्व, परवार, (पौर पट्ट) आदि जातियों का नामाकन किया गया है। ग्राम नगरादि के नाम पर अनेक उपजातिया बनी। ओसा से ओसवाल, बघेरा से बघेरवाल। पालि से पल्लीवाल, मेवाड से मेवाड़ा। इस तरह ग्राम एव नगरों तथा कार्यों आदि से उपजातियो और गोत्रो आदि का निर्माण हुआ है। अनेक उपजातियों के उल्लेख मूर्ति लेखों और ग्रथ प्रशस्तियो आदि मे उपलब्ध होते है। पर उनका अस्तित्व अब वर्तमान मे नही मिलता। जैसे धक्कड़ या धर्कट। यह एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक जाति है जिसकी वश परम्परा पूर्व काल मे अच्छी प्रतिष्ठित रही है। इसमे अनेक प्रतिष्ठित विद्वान हुए है। इसका निकास 'उजपुर' सिरोंज (टोक) से बतलाया गया है। "इह मेवाड़ देसे जण सकुले, सिरि उजपुर निग्गयधक्कड कुले।" धर्म परीक्षा के कर्ता हरिषेण (१०४४) भी इसी धर्कट वशीय गोवर्द्धन के पुत्र और सिद्धसेन के शिष्य थे। यह चित्तौड़ के निवासी थे और कार्यवश अचलपुर चले गए थे और वहाँ पर उन्होंने सं० १०४४ मे धर्म परीक्षा का निर्माण किया था। मालव देश की समृद्ध नगरी सिन्धुवर्षी में भी धर्कट वश के तिलक मधुसूदन श्रेष्ठी के पुत्र तक्खडु और भरत थे, जिनकी प्रेरणा से वीर कवि ने जम्बू स्वामी चरित की रचना की थी। यह धर्कट वश दिल्ली के आस-पास नही रहा जान पडता। यह राजपूताने और गुजरात आदि मे रहा है। वर्तमान मे इस जाति का अस्तित्व ही नहीं जान पडता। सहलवाल, गगेरवाल, गर्गराट, आदि अनेक उपजातिया ऐसी है जिनका परिचय नही मिलता।

कविवर विनोदीलाल ने लिखा है कि एक बार उपजातियो का समूह गिरिनार जी मे नेमिप्रभु की फूलमाल लेने के लिए इकट्ठा हुआ और परस्पर मे यह होड़ लगी कि प्रभु को जयमाल पहले मै लू। दूसरा कहता था कि पहले मै लू। और तीसरा भी चाहता था कि फूलमाल मुझे मिले। इस होड मे सभी उपजातियाँ अपने वैभव के अनुसार बोली छुडाने के लिए तैयार थी। फूलमाल लेने की जिज्ञासा ने जन-साधारण मे अपूर्व जागृति की लहर उत्पन्न कर दी। और एक से एक बढकर फूलमाल का मूल्य देने के लिये तय्यार हो गया। पर उन सबमे से किसी एक को ही फूलमाल मिली। यह रचना विक्रम की १८वी शताब्दी के मध्य काल की है। यद्यपि १६वी शताब्दी के विद्वान ब्रह्म नेमिदत्त ने भी फूलमाल जयमाला का निर्माण किया है। जो सक्षिप्त सरल और सुन्दर है। जो सज्जन इस महर्धिक फूलमाल को अपनी लक्ष्मी देकर लेते है उनके सब दुख दूर हो जाते है[1]।

इस लेख मे कुछ उपजातियो का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। जिन जातियों का नामादि के अतिरिक्त कुछ परिचय भी नही मिला, उन्हे छोड़ दिया गया है।

अग्रवाल—यह शब्द एक क्षत्रिय जाति का सूचक है। जिसका निकास अग्रोहा या 'अग्रोदक' जनपद से हुआ

---

१. भो भवियण जिण-पय-कमल, माल महग्घिय लेहु।
णिय लच्छि फलु करिकरहु, दुक्ख जलजलु देहु॥
माला रोहिणी

है। यह स्थान हिसार जिले में है। अग्रोहा एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर था। यहाँ के एक साठ फुट ऊचे टीले की खुदाई सन् १९३९-४० में हुई थी। उसमे प्राचीन नगर के अवशेष और प्राचीन सिक्कों आदि का एक ढेर प्राप्त हुआ था। २६ फुट से नीचे आहत मुद्रा का नमूना, ४ यूनानी सिक्के और ११ चौखूटे ताँबे के सिक्के भी मिले है। ताँबे के सिक्कों में सामने की ओर 'वृषभ' और पीछे की ओर सिंह या चैत्यवृक्ष की मूर्ति है। सिक्कों के पीछे ब्राह्मी अक्षरो में—'अगोद के अगच जनपदस' शिलालेख भी अंकित है जिसका अर्थ अग्रोदक मे अगच जनपद का सिक्का होता है। अग्रोहे का नाम अग्रोदक भी रहा है। उक्त सिक्कों पर अकित वृषभ, सिंह या चैत्य वृक्ष की मूर्ति जैन मान्यता की ओर सकेत करती है। (देखो एपिग्राफि का इडिकाजिल्द २ पृ० २४४ और इण्डियन एण्टी क्वेरी भा० १५ पृ० ३४३ पर अग्रोतक वैश्यो का वर्णन दिया हुआ है।

अग्रोहा मे अग्रसेन नाम का एक क्षत्रिय राजा था, उसी की सन्तान परम्परा अग्रवाल कहलाते है। अग्रवाल शब्द के अनेक अर्थ है किन्तु यहां उनकी विवक्षा नही है। यहा अग्रदेश के रहने वाले अर्थ ही विवक्षित है। अग्रवालो के १८ गोत्र बतलाये जाते है, जिनमे गर्ग, गोयल, मित्तल, जिन्दल और सिंहल आदि नाम प्रसिद्ध है। इनमे दो धर्मों के मानने वाले पाये जाते है। जैन अग्रवाल और वैष्णव अग्रवाल। श्री लोहाचार्य के उपदेश से जो जैन धर्म मे दीक्षित हो गये थे, वे जैन अग्रवाल कहलाये —उनके आचार-विचार सभी जैन धर्ममूलक है। शेष वैष्णव अग्रवाल। दोनो मे रोटी-बेटी व्यवहार होता है। रीति-रिवाजो मे भी कुछ समानता होते हुए भी अपने-अपने धर्मपरक प्रवृत्ति पाई जाती है। हाँ वे सभी अहिंसा धर्म के मानने वाले है। उपजातियों का इतिहास १०वी शताब्दी से पूर्व का नही मिलता, पर हो सकता है कि उनमे कुछ उपजातिया पूर्ववर्ती रही हों। अग्रवाल जैन परम्परा के उल्लेख १२वीं शताब्दी से पूर्व के मेरे अवलोकन मे नही आये।

डा० परमेश्वरीलाल ने लिखा है कि 'अग्रवाल' नामका उल्लेख १४वीं शताब्दी से पहले नही मिलता है। इसका प्राचीनतम उल्लेख मौलाना दाऊदकृत अवधी काव्य चन्द्रामन (रचना काल सन् १३७९ ई०) में हुआ है[1]। 'वामन खतरी' वंसह गुवारा, गहरवार और अग्गरवारा।'

डा० परमेश्वरीलाल का उक्त निष्कर्ष ठीक नही मालूम होता, क्योंकि अग्रवाल वश का सूचक 'अयरवाल' शब्द अपभ्रंशभाषा के १२वी से १७वी शताब्दी तक के ग्रन्थों मे उल्लिखित मिला है। वि० सं० ११८९ (सन् ११३२ ई०) मे दिल्ली के तोमरवशी शासक अनंगपाल तृतीय के राज्य काल मे रचित 'पासणाह चरिउ' की आदि अन्त प्रशस्ति मे अयरवाल शब्द का प्रयोग हुआ है, यह कवि स्वय अग्रवाल कुल मे उत्पन्न हुआ था। उसने अपने लिये—'सिरि अयरवाल कुल सम्भवेण, जणणी वील्हा गब्भुब्भवेण' का प्रयोग किया है। कवि स्वय हरियाणा प्रदेश का निवासी था वहा से यमुना नदी को पार कर वह दिल्ली मे आया था। उस समय के राजा अनंगपाल तृतीय के मन्त्री सिरि नट्टलसाहू अग्रवाल थे। थे। जिन्हे कवि ने सिरि अयरवाल कुल कमल, 'मित्तु, सुहधम्म-कम्म पवियण्य-वित्तु।' रूप मे उल्लिखित किया है। इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि अग्रवाल शब्द का व्यवहार विक्रम की १२वी शताब्दी मे प्रचलित था, और उनके पूर्वज १२वी शताब्दी से पूर्ववर्ती रहे है। उस समय दिल्ली म अग्रवाल जैन और वैष्णव दोनो का निवास था। कई अग्रवाल अब आर्य समाजी भी है। निवास की दृष्टि से मारवाड़ मारवाड़ी कहे जाते है। किन्तु रक्त शुद्धि आदि के कारण किसी समय वीसा और दस्सा भेदो मे विभक्त देखे जाते है। अब भेद वाली बात नगण्य हो गई है। और सब एक रूप मे देखे जाने लगे है। ये लोग धर्मज्ञ, आचारनिष्ठ, अहिंसक, जन धन से सम्पन्न राज्य-मान रहे है। इनकी वृत्ति शासन की ओर रही है। तोमरवंशी राजा अनंगपाल तृतीय के राज्य श्रेष्ठी और आमात्य अग्रवाल कुलावतश साहू नट्टल ने दिल्ली में आदिनाथ का विशाल सुन्दरतम मन्दिर बनवाया था जिसका उल्लेख उसी समय के कवि श्रीधर द्वारा रचित पार्श्वपुराण प्रशस्ति मे उपलब्ध होता है।

संवत् १३९३ में साहू वाघू अग्रवाल ने मुहम्मद शाह

१. देखो, अग्रवाल जाति का इतिहास पृ० ६१।

जैन समाज की कुछ उपजातियाँ

परमानन्द जैन शास्त्री

उपजातिया कब और कैसे बनीं, इसका कोई प्रामाणिक इतिवृत्त अभी तक भी नही लिखा गया। पर ग्राम-नगरों या व्यवसाय के नाम पर अनेक उपजातियों का नामकरण और गोत्रों आदि का निर्माण किया गया है। दसवीं शताब्दी से पूर्व उपजातियों का कोई इतिवृत्त नहीं मिलता। सम्भव है उससे पूर्व भी उनका अस्तित्व रहा हो। जैन समाज मे चौरासी उपजातिया प्रसिद्ध है। अठारहवीं शताब्दी के विद्वान प० विनोदीलाल अग्रवाल की 'फूलमाला पच्चीसी' एक पच्चीस पद्यात्मक रचना है। जिसमे अग्रवाल, खण्डेलवाल, बघेरवाल, गोलापूर्व, परवार, (पौर पट्ट) आदि जातियो का नामाकन किया गया है। ग्राम नगरादि के नाम पर अनेक उपजातिया बनी। ओसा से ओसवाल, बघेरा से बघेरवाल। पालि से पल्लीवाल, मेवाड से मेवाडा। इस तरह ग्राम एव नगरो तथा कार्यो आदि से उपजातियों और गोत्रों आदि का निर्माण हुआ है। अनेक उपजातियों के उल्लेख मूर्ति लेखो और ग्रथ प्रशस्तियों आदि मे उपलब्ध होते है। पर उनका अस्तित्व अब वर्तमान मे नही मिलता। जैसे धक्कड़ या धर्कट। यह एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक जाति है जिसकी वश परम्परा पूर्व काल मे अच्छी प्रतिष्ठित रही है। इसमे अनेक प्रतिष्ठित विद्वान हुए है। इसका निकास 'उजपुर' सिरोंज (टोंक) से बतलाया गया है। "इह मेवाड़ देसे जण सकुले, सिरि उजपुर निग्गयधक्कड कुले।" धर्म परीक्षा के कर्ता हरिषेण (१०४४) भी इसी धर्कट वशीय गोवर्द्धन के पुत्र और सिद्धसेन के शिष्य थे। यह चित्तौड़ के निवासी थे और कार्यवश अचलपुर चले गए थे और वहाँ पर उन्होंने स० १०४४ मे धर्म परीक्षा का निर्माण किया था। मालव देश की समृद्ध नगरी सिन्धुवर्षी मे भी धर्कट वश के तिलक मधुसूदन श्रेष्ठी के पुत्र तक्खडु और भरत थे, जिनकी प्रेरणा से वीर कवि ने जम्बू स्वामी चरित की रचना की थी। यह धर्कट वश दिल्ली के आस-पास नही रहा जान पडता। यह राजपूताने और गुजरात आदि मे रहा है। वर्तमान मे इस जाति का अस्तित्व ही नही जान पडता। सहलवाल, गगेरवाल, गर्गराट, आदि अनेक उपजातिया ऐसी है जिनका परिचय नहीं मिलता।

कविवर विनोदीलाल ने लिखा है कि एक बार उप जातियो का समूह गिरिनार जी मे नेमिप्रभु की फूलमाल लेने के लिए इकट्ठा हुआ और परस्पर मे यह होड लगी कि प्रभु को जयमाल पहले मै लू। दूसरा कहता था कि पहले मै लू। और तीसरा भी चाहता था कि फूलमाल मुझे मिले। इस होड मे सभी उपजातियाँ अपने वैभव के अनुसार बोली छुड़ाने के लिए तैयार थी। फूलमाल लेने की जिज्ञासा ने जन-साधारण मे अपूर्व जागृति की लहर उत्पन्न कर दी। और एक से एक बढकर फूलमाल का मूल्य देने के लिये तय्यार हो गया। पर उन सबमे से किसी एक को ही फूलमाल मिली। यह रचना विक्रम की १८वी शताब्दी के मध्य काल की है। यद्यपि १६वी शताब्दी के विद्वान ब्रह्म नेमिदत्त ने भी फूलमाल जयमाला का निर्माण किया है। जो सक्षिप्त सरल और सुन्दर है। जो सज्जन इस महर्धिक फूलमाल को अपनी लक्ष्मी देकर लेते है उनके सब दुख दूर हो जाते है[1]।

इस लेख मे कुछ उपजातियों का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। जिन जातियों का नामादि के अतिरिक्त कुछ परिचय भी नहीं मिला, उन्हें छोड दिया गया है।

अग्रवाल—यह शब्द एक क्षत्रिय जाति का सूचक है। जिसका निकास अग्रोहा या 'अग्रोदक' जनपद से हुआ

---

१. भो भवियण जिण-पय-कमल, माल महग्घिय लेहु।
णिय लच्छि फलु करिकरहु, दुक्ख जलजलु देहु॥
माला रोहिणी

है। यह स्थान हिसार जिले में है। अग्रोहा एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर था। यहाँ के एक साठ फुट ऊचे टीले की खुदाई सन् १६३६-४० मे हुई थी। उसमे प्राचीन नगर के अवशेष और प्राचीन सिक्कों आदि का एक ढेर प्राप्त हुआ था। २६ फुट से नीचे आहत मुद्रा का नमूना, ४ यूनानी सिक्के और ११ चौखूटे ताँबे के सिक्के भी मिले है। ताँबे के सिक्कों मे सामने की ओर 'वृषभ' और पीछे की ओर सिंह या चैत्यवृक्ष की मूर्ति है। सिक्कों के पीछे ब्राह्मी अक्षरों मे—'अगोद के अगच जनपदस' शिलालेख भी अंकित है जिसका अर्थ अग्रोदक मे अगच जनपद का सिक्का होता है। अग्रोहे का नाम अग्रोदक भी रहा है। उक्त सिक्कों पर अंकित वृषभ, सिंह या चैत्य वृक्ष की मूर्ति जैन मान्यता की ओर सकेत करती है। (देखो एपिग्राफिका इंडिकाजिल्द २ पृ० २४४ और इण्डियन एण्टी क्वेरी भा० १५ पृ० ३४३ पर अग्रोतक वैश्यों का वर्णन दिया हुआ है।

अग्रोहा मे अग्रसेन नाम का एक क्षत्रिय राजा था, उसी की सन्तान परम्परा अग्रवाल कहलाते है। अग्रवाल शब्द के अनेक अर्थ है किन्तु यहाँ उनकी विवक्षा नही है। यहा अग्रदेश के रहने वाले अर्थ ही विवक्षित है। अग्रवालों के १८ गोत्र बतलाये जाते है, जिनमे गर्ग, गोयल, मित्तल, जिन्दल और सिंहल आदि नाम प्रसिद्ध है। इनमे दो धर्मों के मानने वाले पाये जाते है। जैन अग्रवाल और वैष्णव अग्रवाल। श्री लोहाचार्य के उपदेश से जो जैन धर्म मे दीक्षित हो गये थे, वे जैन अग्रवाल कहलाये —उनके आचार-विचार सभी जैन धर्ममूलक है। शेष वैष्णव अग्रवाल। दोनो मे रोटी-बेटी व्यवहार होता है। रीति-रिवाजों मे भी कुछ समानता होते हुए भी अपने-अपने धर्मपरक प्रवृत्ति पाई जाती है। हाँ वे सभी अहिंसा धर्म के मानने वाले है। उपजातियो का इतिहास १०वी शताब्दी से पूर्व का नहीं मिलता, पर हो सकता है कि उनमे कुछ उपजातिया पूर्ववर्ती रही हो। अग्रवाल जैन परम्परा के उल्लेख १२वी शताब्दी से पूर्व के मेरे अवलोकन में नही आये।

डा० परमेश्वरीलाल ने लिखा है कि 'अग्रवाल' नामका उल्लेख १४वी शताब्दी से पहले नही मिलता है। इसका प्राचीनतम उल्लेख मौलाना दाऊदकृत अवधी काव्य चन्द्रामन (रचना काल सन् १३७६ ई०) में हुआ है[1]। 'वामन खतरी' वंसह गुवारा, गहरवार और अग्गरवारा।'

डा० परमेश्वरीलाल का उक्त निष्कर्ष ठीक नही मालूम होता, क्योंकि अग्रवाल वंश का सूचक 'अयरवाल' शब्द अपभ्रंशभाषा के १२वी से १७वीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में उल्लिखित मिला है। वि० सं० ११८९ (सन् ११३२ ई०) मे दिल्ली के तोमरवंशी शासक अनंगपाल तृतीय के राज्य काल में रचित 'पासणाह चरिउ' की आदि अन्त प्रशस्ति मे अयरवाल शब्द का प्रयोग हुआ है, यह कवि स्वय अग्रवाल कुल मे उत्पन्न हुआ था। उसने अपने लिये—'सिरि अयरवाल कुल सम्भवेण, जणणी वील्हा गब्भुब्भवेण' का प्रयोग किया है। कवि स्वय हरियाणा प्रदेश का निवासी था वहा से यमुना नदी को पार कर वह दिल्ली मे आया था। उस समय के राजा अनंगपाल तृतीय के मन्त्री सिरि नट्टलसाहू अग्रवाल थे। थे। जिन्हे कवि ने सिरि अयरवाल कुल कमल, 'मित्तु, सुहधम्म-कम्म पवियण्ण-वित्तु।' रूप मे उल्लिखित किया है। इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि अग्रवाल शब्द का व्यवहार विक्रम की १२वी शताब्दी मे प्रचलित था, और उनके पूर्वज १२वी शताब्दी से पूर्ववर्ती रहे है। उस समय दिल्ली म अग्रवाल जैन और वैष्णव दोनो का निवास था। कई अग्रवाल अब आर्य समाजी भी है। निवास की दृष्टि से मारवाड़ मारवाडी कहे जाते है। किन्तु रक्त शुद्धि आदि के कारण किसी समय बीसा और दस्सा भेदो मे विभक्त देखे जाते है। अब भेद वाली बात नगण्य हो गई है। और सब एक रूप मे देखे जाने लगे है। ये लोग धर्मज्ञ, आचारनिष्ठ, अहिंसक, जन धन से सम्पन्न राज्यमान रहे है। इनकी वृत्ति शासन की ओर रही है। तोमरवंशी राजा अनंगपाल तृतीय के राज्य श्रेष्ठी और आमात्य अग्रवाल कुलावतंश साहू नट्टल ने दिल्ली मे आदिनाथ का विशाल सुन्दरतम् मन्दिर बनवाया था जिसका उल्लेख उसी समय के कवि श्रीधर द्वारा रचित पार्श्वपुराण प्रशस्ति में उपलब्ध होता है।

संवत् १३६३ में साहू वाघू अग्रवाल ने मुहम्मद शाह

---

१. देखो, अग्रवाल जाति का इतिहास पृ० ६१।

तुगलक के राज्य काल मे धनपाल कविकृत भविष्य दत्त पचमी कथा की प्रतिलिपि कराई थी।

संवत् १४६४ सन् १४३७ में दिल्ली के बादशाह फिरोजशाह तुगलक द्वारा बसाये हुए फिरोजाबादसे दिल्ली मे आकर साहू खेतल ने अपनी धर्मपत्नी के श्रुतपचमी व्रत के उद्यापन के लिए मूलाचार की प्रतिलिपि कराकर भ० धर्मकीर्ति को अर्पित की थी। उनके दिवगत होने पर वह ग्रंथ उनके शिष्य मलयकीर्ति को समर्पित किया गया।

भटानियाकोल (अलीगढ़) वासी साहू पारस के पुत्र साहू टोडरमल अग्रवाल ने मथुरा मे ५१४ स्तूपों का जीर्णोद्धार करा कर प्रतिष्ठा कराई थी। और आगरा मे जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। साथ ही वि० स० १६३२ मे पाडे राजमल से जबूस्वामी चरित का निर्माण कराया था। उनके पुत्र ऋषभदास ने ज्ञानार्णव की सस्कृत टीका बनवाई थी। साहू टोडर अकबर की शाही टकसाल का अध्यक्ष और कृष्णामंगल चौधरी का मन्त्री था। बड़ा धर्मात्मा, उदार और प्रकृति का सज्जन पुरुष था। अग्रवालों ने ग्वालियर किले की सुन्दर मूर्तियों का निर्माण कराया था और कवि रइधू से अनेक ग्रन्थों की रचना कराई थी। इसी तरह दिल्ली के राजा हरसुखराय सुगन चन्द्र ने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। राजा हरसुखराय भरतपुर राज्य के कोसलर भी थे। इनके द्वारा निर्मित मन्दिर-मूर्तियाँ और ग्रन्थों का निर्माण, शास्त्रों का निर्माण तथा प्रतिलेखन कार्य भी महत्वपूर्ण है।

खंडेलवाल—यह उपजाति भी चौरासी उपजातियों में से एक है। इस जाति का निकास स्थान 'खडेला' है जो राजस्थान में एक छोटासा स्थान है, जो कभी अच्छा समृद्ध रहा है। इस जाति के चौरासी गोत्र बतलाये जाते है। जिनमे छावड़ा, कासलीवाल, बाकलीवाल, लुहाडचा, पाण्डचा, पहाडचा, सोनी, गोधा, भौसा, काला और पाटनी आदि है। इन गोत्रों की कल्पना ग्राम-नगर और व्यवसाय आदि के नाम पर हुई है। इसमे भी दो धर्मों के मानने वाले हैं। जैन और वैष्णव। यह जाति सम्पन्न और व्यापार में कुशल रही है। आज व्यापार आदि की दृष्टि से ही यह भारत के सभी नगरों में पाये जाते है। इस जाति मे अनेक धन सम्पन्न, विद्वान कोषाध्यक्ष और दीवान जैसे राज्यकीय उच्च पदों पर काम करने वाले धर्मनिष्ठ व्यक्ति हुए है। और वर्तमान मे भी है। अकेले जयपुर मे २५-२६ दीवान हुए है। जिन्होंने राज्य की सदा रक्षा की है। इन दीवानो मे बालचन्द छावड़ा, रायचन्द्र[1] अमरचन्द[2] दीवान अधिक ख्याति प्राप्त है। अमरचन्द दीवान की महत्ता का लोक में विशेष आदर है। अमरचन्द दीवान की सुजनता, उदारता और धर्म तत्परता की जितनी अधिक तारीफ की जाय वह थोड़ी है। उनका जयपुर की रक्षा मे प्रमुख हाथ है। उसके लिए उन्होंने अपनी देह तक का उत्सर्ग कर दिया। ऐसे परोपकारी और धर्मात्मा दीवान का कौन स्मरण नही करेगा। इनके द्वारा निर्मित मन्दिर और मूर्तियां, जैन ग्रन्थो का निर्माण कार्य, और प्रतिलिपि कार्य, महत्वपूर्ण है। वर्तमान मे भी इनकी सम्पन्नता श्लाघनीय है। खडेलवालो द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति लेख स० १२०७, १२२३ और १२३७ के देखने मे आए है[3]। खडेलवाल समाज के अनेक विद्वानों का परिचय भी लेखक द्वारा लिखा गया है जो अनेकान्त मे प्रकाशित है, पं० टोडरमलजी, दीपचन्द जी शाह, दौलतरामजी, जयचन्द जी, सदासुखदास जी बुधजन जी (बधीचंद जी) आदि का परिचय पढने योग्य है। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मदिर, मूर्तिया और शास्त्रभडार आदि इनकी महानता के निदर्शक और गौरव के प्रतीक है।

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष १३ कि० १० मे दीवान रामचद छावड़ा वाला लेख

२. देखो, दीवान अमरचन्द, अनेकान्त वर्ष १३ कि० ८ पृ० १६८१

३. संवत् १२०७। माघ वदी ८ खडेलवालान्वये साहु माहवस्तत्सुत वाल प्रसन भार्या सावित्री तत्सुत बीकऊ नित्य प्रणमन्ति।

खडेलवालान्वये साहु धामदेव भार्या पल्हा पुत्र सालू भार्या वस्त्रा स० १२२३ वैसाख सुदी ८ प्रणमन्ति नित्यम्। संवत् १२३७ अगहन सुदी ३ शुक्ले खडिल्लवालान्वये साहु वाल्हल भार्या वस्ता सुत लाखना विघ्ननाशाय प्रणमन्तिनित्यम्। अनेकान्त में प्रकाशित आहार के मूर्तिलेख वर्ष १०

गोलापूर्व—जैन समाज की ८४ उपजातियो मे से यह भी एक सम्पन्न जाति रही है। इस जाति का वर्तमान में अधिकतर निवास बुंदेल खण्ड मे पाया जाता है। साथ ही सागर जिला, दमोह, छतरपुर पन्ना, सतना, रीवा आहार, महोवा, नावई धुवेला, जबलपुर, शिवपुरी और ग्वालियर के आस-पास के स्थानो मे निवास रहा है। १२वी शताब्दी और १३वी के मूर्ति लेखो से इसकी समृद्धि का अनुमान किया जा सकता है। इस जाति का निकास गोल्लागढ (गोला कोट) की पूर्व दिशा से हुआ है। उसकी पूर्व दिशा में रहने वाले गोलापूर्व कहलाते है। यह जाति किसी समय इक्ष्वाकु वशी क्षत्रिय थी। किन्तु व्यापार आदि करने के कारण वणिको (वानियो) मे इसकी गणना होने लगी। ग्वालियर के पास कितने ही गोलापूर्व विद्वानोने ग्रन्थ रचना और ग्रथ प्रतिलिपि की है। ग्वालियर के अतर्गत श्योपुर (शिवपुरी) मे कवि धनराज गोलापूर्व ने स० १६९४ से कुछ ही समय पूर्व 'भव्यानन्द पचासिका' (भक्तामर का भाषा पद्यानुवाद) किया था और उनके पितृव्य जिनदास के पुत्र खड्गसेन (असिसेन) ने पन्द्रह-पन्द्रह पद्यों की एक सस्कृत जयमाला बनाई थी। इसकी एक जीर्ण-शीर्ण सचित्र प्रति श्वे० मुनि कान्ति सागर के पास है। यह टीका पाडे हेमराजकी टीका से पूर्ववर्ती है। मूर्ति लेखो और मन्दिरों की विशालता से गोलापूर्वान्वय गौरवान्वित है। वर्तमान में भी उसके अनेक शिखर बन्द मन्दिर मौजूद हैं। धुलेवा के सं० ११९९ के मूर्ति लेख तो सस्कृत पद्यो मे अकित है। शेष सब गद्य मे पाये जाते है। अनेक सम्पन्न परिवार और अच्छे विद्वान और ग्रथकार इस जाति मे पाये जाते है। उन पर से इस जाति की समृद्धि का मूल्याकन किया जा सकता है। गोलापूर्वान्वय के स० ११९९, १२०२, १२०७, १२१३ और १२३७ आदि के अनेक लेख है: जिन्हे लेख वृद्धि के भयसे छोड़ा जाता है। इसमें अनेक ग्रथकार विद्वान और कवि है। वर्तमान मे भी अनेक विद्वान डा०, आचार्य और शास्त्री व्याख्याता और सुलेखक विद्वान है।

गोलालारे—गोल्लागढ़ के समीप रहने वाले गोलालारे कहलाते हैं। यह उपजाति यद्यपि संख्या में अल्प रही है; परन्तु फिर भी अपना विकास करती रही है। इस जाति के द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियां देखने में आती है[1]। अनेक विद्वान तथा श्रीमान पुरुष भी इसमे होते रहते है और कुछ वर्तमान भी है। अनेक ग्रथकार और कवि भी हुए है। इसके निकास का स्थान गोल्लागढ़ है। गोलाराडान्वय में खरौआ एक जाति है जिसका गोत्र कुलहा कहा जाता है। इनके गोत्रों की सख्या कितनी और उनके क्या-क्या नाम है यह मेरे जानने मे नही आया। एक यत्र लेख मे 'सेठि' गोत्र मिलता है जिससे गोत्र मान्यता का स्पष्ट आभास होता है।

कवि रइधू ने सम्यक्त्व कौमुदी या सावयचरिउ की प्रशस्ति मे ग्वालियरवासी साहू सेऊ के पुत्र सघाधिप कुसराज की प्रेरणा से उक्त ग्रथ बनाया था और एक जिन मन्दिर का भी निर्माण कराया था जो ध्वजा पंक्तियों से अलकृत था[2]।

गोलसिंघारे (गोल शृगार)—गोल्लागढ मे सामूहिक रूपसे निवास करने वालोमे वे उसके सिंगार कहे जाते है। यदि शृगार शब्द का ठीक अर्थ सहज अभिप्राय को व्यक्त करना ठीक माना जाय तो वे उसके भूषण कहला सकते है।

इसके उदय अभ्युदय और ह्रास आदि का कोई इति-

---

१. सं० १४७४ माघसुदी १३ गुरौ मूलसंघे गोलाराडान्वये सा० लम्पू पुत्र नरसिंह इद यत्रं प्रतिष्ठापित। (अनेकान्त वर्ष १८ कि० ६ पृ० २६४)
स० १६५८ मूलसघे भ० ललितकीर्ति उपदेशात् गोलालारे सा० रूपनुभार्या रुक्मनी पुत्र सा० चतुर्भुज भार्या हीरा पुत्र भाउने हरिवंस मनोहर नित्यं प्रणमन्ति। (अनेकान्त वर्ष १८ कि० ६ पृ० २६३)
स० १७२६ माघसुदी १३ रवौ पद्मनन्दि सकलकीर्ति उपदेशात् गोलालारे सेठि गोत्रे सि०लच्छे भा० कपूरा पुत्र खांडे राय भा० वसन्ती पुत्र ३ जेठा पुत्र विसुनदास भा० लालमती द्वि० पुत्र श्रीराम भा० सुवती तृतीय पुत्र भगवानदासेन यत्र प्रतिष्ठितं वरना ग्रामे। (अनेकान्त वर्ष १८ कि० ६ पृ० २६४)

२. जेण कराविउ जिणहरु ससेउ, धयवड पंतिहि रहसूरतेउ।
—अनेकान्त वर्ष १७ कि० १ पृ० १३

वृत्त ज्ञात नहीं हो सका। और न इसके ग्रथकर्ता विद्वान कवियों का ही परिचय ज्ञात हो सका। मूर्ति लेख भी मेरे अवलोकन मे नहीं आया। एक सिद्धयंत्र का लेख अवश्य मिला है। जो स० १६८८ है उसमे गोल सिंघार गोत्र का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि इस उपजाति में भी गोत्रो की मान्यता है। सभवत. लम्धकचुक, गोलाराडान्वय और गोल सिंगारान्वय ये तीनों नाम गोलालारीय जाति के अभिसूचक है। किसी समय ये तीनो एक रूप मे रहे होंगे। पर अलग-अलग कब और कैसे हुए, इसके जानने का भी कोई साधन प्राप्त नही है। इसलिए इसके सम्बन्ध मे विशेष विचार करना सभव नही है। वह यत्रलेख इस प्रकार है :—

"सं० १६८८ वर्षे आपाढ वदी ८ श्री मूलसघे बलात्कार गणे सरस्वती गच्छे कुंदकुंदाम्नाये भ० श्री शीलभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूपणदेवास्तत्पट्टे भ० श्री जगत्भूषणदेवास्तदाम्नाये गोलसिंगारान्वये रगा गोत्रे साहू श्री लालू तस्य भार्या जिना तयो पुत्र कुवेरसी भार्या चटढा तयो: पुत्रा: चत्वारि ज्येष्ट पुत्र धरमदास द्वितीय पुत्र दामोदर तृतीय पुत्र भगवान [दास] चतुर्थ जमधरदास भार्या अर्जुना एतेषामध्ये धरमदास दशलक्षणी व्रत उद्यापनार्थं यंत्र प्रतिष्ठाकारापित। शुभ भवतु।

जैन सि० भा० भा० २ किरण ३ पृ० १८

जैसवाल—यदु, यादव, जायव, जायस ये शब्द एक ही जैसवाल नामक क्षत्रिय जाति के सूचक है। यदु कुल एक प्रख्यात एवं ऐतिहासिक कुल है। यदु कुल का ही अपभ्रंश जायव या जायस बन गया है। यह एक प्रसिद्ध क्षत्रिय वश है। इसी पावन कुल में जैनियो के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था जो कृष्ण के चचेरे भाई थे। इस कुल में जैनधर्म के धारक अनेक राजा राजश्रेष्ठी, महामात्य और राज्यमान महापुरुष हुए है। यह क्षत्रिय कुल भी वैश्य कुल मे परिवर्तित हो गया है।

वि० सं० ११४५ में कच्छप वंशी महाराज विक्रमसिंह के राज्यकाल मे मुनि विजयकीर्ति के उपदेश से जैसवाल वंशी पाहड, सूर्पट, देवधर और महीचन्द्र आदि चतुर श्रावकों ने ७५० फीट लम्बे और ४०० वर्ग फीट चौडे अडाकार क्षेत्र में विशाल मदिर का निर्माण कराया था और उसके पूजन, सरक्षण एवं जीर्णोद्धार आदि के लिए उक्त कच्छपवशी विक्रमसिंह ने भूमिदान दिया था[1]।

वि० स० ११९० मे जैसवाल वशी साहू नेमिचन्द ने कवि श्रीधर अग्रवाल से 'वर्धमान चरित' की रचना कराई थी[2]। जैसवाल कवि माणिक्यराज ने 'अमरसेन चरित' और नागकुमारचरित की रचना की थी[3]।

तोमरवशी राजा वीरमदेव के महामात्य जैसवाल वंशी कुशराज ने ग्वालियर मे चन्द्रप्रभ का मन्दिर बनवाया था और पद्मनाम कायस्थ से भ० गुणकीर्ति के आदेश से 'यशोधर चरित' अपरनाम दयासुन्दर विधान काव्य की रचना कराई थी। और सवत् १४७५ में आपाढ सुदी ५ के दिन ग्वालियर के राजा वीरमदेव के राज्य काल मे कुशराज ने एक यत्र को प्रतिष्ठित किया था, जो अब नरवर के मन्दिर मे विराजमान है[4]।

कविवर लक्ष्मण ने, जो जैसवाल कुल मे उत्पन्न हुआ

---

१. See Epigraphica Indka Vol II P. 227–240

२. एयारह सएहि पर विगवहि,
सवच्छर सय णवहि समेयहि।
जेट्ठ पढम पक्खइ पंचमि दिणे,
सूरुवारे गयणगणि ठिइयणे॥
—वर्धमानचरित प्रशस्ति

३. देखो, जैनग्रंथ प्रशस्ति सग्रह भा० २ पृ० ५७, ६१ दोनों ग्रथो का रचनाकाल क्रम से १५७६ और १५७९ है।

४. स० १४७५ आषाढ़ सुदि ५ गोपाद्रिमया राजाधिराज श्री वीरमेन्द्रराज्ये श्री कर्षतां जनै: संघीन्द्र वंशे [साधु भुल्लण भार्या पितामही] पुत्र जैनपाल भा० [लोणा देवी] तयो पुत्र: परमश्रावक: साधु कुशराजोऽभूत। भार्या [तिस्त्रा] रल्हो, लक्षण श्रो, कौशीरा तयो तत्पुत्रै कल्याणमात्र भूत भार्ये धर्म श्री जयतम्मि दे इत्यादि परिवारेण समे शाह कुशराजा यंत्र प्रणमति। नरवर जैन मन्दिर

था, सं० १२७५ मे जिनदत्त चरित की रचना की थी[५]। और स० १३१३ में 'अणुवयरयण पईव' की रचना की थी[६]। इन्ही सब कार्यों से इस जाति की सम्पन्नता और धार्मिकता पर प्रकाश पड़ता है। इस जाति के द्वारा प्रतिष्ठित अनेकमूर्ति लेख भी उपलब्ध होते हैं[७]। जिनमे से कुछ यहा दिये जाते है। जिनसे उनकी धर्मप्रियता और जिनभक्ति का परिचय मिल जाता है।

परवार या पौरपट्ट—परवार जाति का उल्लेख पौर पाटान्वय के रूप में मूर्तिलेखो मे मिलता है। पर इसका निकास कब कहाँ और कैसे हुआ, इस पर अभी तक कोई प्रामाणिक विवेचन नहीं किया गया। कुछ लोग प्राग्वाट या पोरवाडो के साथ परवारो का सम्बन्ध बतलाते है। पर उसने कोई प्रामाणिक उल्लेख उपस्थित नही किया गया। पोरवाड और प्राग्वाट शब्द संभवतः एक अर्थ के वाची हो सकते है, किन्तु पौरपट्ट नही। पौरपट्ट के साथ अष्ट शाखा और चतु शाखा का सम्बन्ध उल्लिखित मिलता है पर पोरवाड के साथ ऐसा कोई सम्बन्ध देखने मे नही आया। उपजातियों मे गोत्रो की परम्परा है। वैयाकरण पाणिनी ने गोत्र का लक्षण 'अत्यन्त पौत्र प्रभृति गोत्रम्' किया है। अर्थात् पौत्र से शुरू करके संतति या वंशजो को गोत्र कहते है। वैदिक समय से लेकर ब्राह्मण परम्परा मे गोत्र परम्परा अखण्ड रूप से चली आ रही है। महाभारत मे मूल गोत्र चार बतलाये है—अंगिरा, काश्यप, वशिष्ठ और भृगु। जन संख्या बढने पर गोत्र संख्या भी बढ़ने लगी। गोत्र परम्परा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो मे उपलब्ध होती है। अन्य जातियो मे गोत्र परम्परा किस रूप मे प्रचलित है यह मुझे ज्ञात नही है। परवारो मे १२ गोत्र माने जाते है जो गोइल्ल, कामिल्ल, भारिल्ल, कोछल्ल और फागुल आदि है। किन्तु एक गोत्र के बारह बारह मूर होते है। अतएव मूरो की संख्या १४४ हो जाती है। मूर अन्य जातियों मे भी प्रचलित है या नही कुछ ज्ञात नहीं होता। उपजातियो का इतिवृत्त दशवी शताब्दी से पहले का देखने मे नही आता। पचराई के शान्तिनाथ मन्दिर मे वि० सं० ११२२ का लेख है, उसमें 'पौर पट्टान्वय' का उल्लेख है :—

'पौर पट्टान्वये शुद्धे साधु नाम्ना महेश्वरः।
महेश्वरे व विख्यातस्तत्सुतः धर्म सज्ञकः॥"

चन्देरी की ऋषभदेव की प्राचीन मूर्ति पर भी सं० ११०३ वर्षे माघ सुदि ९ बुधे मूल संघे लिखा हुआ है। इससे पुरातन उल्लेख अभी प्राप्त नही हुए।

इस जाति मे भी अनेक विद्वान होते रहे है। उनमे से एक विद्वान की कृति के नाम के साथ संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

सं० १३७१ मे कवि देल्हने २६ पद्यात्मक एक चौबीसी छन्द नाम की कविता बनाई थी जो उपलब्ध है जिसका जन्म परवार जाति मे हुआ था। इनके धर्मसाह, पैतसाह, उदैसाह तीन भाई थे। यह टिहडा नगरी के निवासी थे। इनके द्वारा बनवाए हुए अनेक मन्दिर और मूर्तियां तथा ग्रन्थ रचना देखी जाती है। यह भी एक सम्पन्न जाति

---

५. बारह सय सत्तरयं पचोत्तरय विक्कम कालवि इत्तइ।
पढम पक्खि रविवारइ छट्ठि सहारइ पूसमासे सम्मत्तउ॥
—जिनदत्तचरित प्रशस्ति

६. तेरह सय तेरह उत्तराल,
परिगलिय विक्कमाइच्च काल।
सवेयरहइ सव्वहं समक्ख,
कत्तिय मासम्मि असेय पक्खि।
सत्तमि दिण गुरु वारे समोए,
अट्ठमि रिक्खे साहिज्ज जोए॥
—अणुवयरयण पईव प्रशस्ति

७. संवत् १२०३ माघसुदी १३ जैसवालान्वये साहू खोने भार्या यशकरी सुत नायक साहु भ्रातृ पाल्हण पील्हे, माल्ह परने महिणी सुत श्रीरा प्रणमन्ति नित्यम्।
सवत् १२०३ माघसुदी १३ जैसवालान्वये साहु बाहड़ भार्या शिवदेवि सुत साहु सोमिनि भ्राता साहु माल्ह जन प्राहड़, लाखू लाल्हे प्रणमन्ति नित्यम्।
स० १२०३ माघसुदी १३ जैसवालान्वये साहु खोने भार्या जसकरी सुत नायक साहु शान्तिपाल-वील्हे-परये-महिपाल सुत श्रीरा प्रणयन्ति नित्यम्।
सं० १२०७ माघवदी ८ जैसवालान्वये साहु तना तत्सुताः श्री देवनूकान्त-भूपसिंह प्रणयन्ति नित्यम्।
—अनेकान्त वर्ष १०, किरण २, ३

है। इसमें अनेक महापुरुष हुए है। प्रतिष्ठित मन्दिर और मूर्तियां विक्रम की १२वीं शताब्दी से पूर्व की नहीं मिलतीं।

विक्रम की १३वी शताब्दी के विद्वान पं० आशाधर जी ने महीचन्द्र साहु का उल्लेख किया है, जो पौरपट्ट वंशी समुद्धर श्रेष्ठी के पुत्र थे। इनकी प्रेरणा से 'सागार-धर्मामृत' की टीका की रचना की। इनके द्वारा प्रतिष्ठित कई मूर्तिया देवगढ़, आहार आदि मे पाई जाती है। बारहवी (११२२) शताब्दी के उत्कीर्ण पचराई लेख का ऊपर उल्लेख किया गया है। १३वी १४वी और १५वी शताब्दी के तीन लेख नीचे दिये जाते है :—

स० १२५२ फाल्गुण सुदि १२ सोमे पौर पाटान्वये यशहृद रुद्रपाल साधु नाल भार्या यनि······पुत्र सोलू भीमू प्रणमन्ति नित्यम्।

(—चन्देरी का पार्श्वनाथ मन्दिर)

सं० १३४५ आषाढ सुदि २ बुधौ (धे) श्री मूल सघे भट्टारक श्री रत्नकीर्ति देवा. पौरपाटान्वये साधु याहृद भार्या वानी सुतश्चासौ प्रणमन्ति नित्यम्।

(—प्रानपुरा चन्देरी)

स० १२१० वैशाख सुदी १३ पौर पाटान्वये साहू टूडू भार्या यशकरी तत्सुत साहु भार्या दिल्ली नलछी तत्सुत पोषति एतै प्रणमन्ति नित्यम्।

(आहार क्षेत्र लेख)

सं० १४०३ वर्षे माघसुदी ६ बुधे मूल संघे भट्टारक श्री पद्मनन्दि देव शिष्य देवेन्द्रकीर्ति पौरपट्ट अष्टशाखा आम्नाय सं० थणऊ भार्या पुतस्तत्पुत्र स० कालि भार्या आमिणि तत्पुत्र स० जैसिघ भार्या महासिरि तत्पुत्र स०···

(चन्देरी की ऋषभदेव मूर्ति)

देवगढ के एक लेख में जो स० १४९३ का है, उसमे पौरपाटान्वय के साथ अष्टशाखा का भी उल्लेख है। अष्टशाखा और चार शाखा का उल्लेख परवारों मे ही पाया जाता है। जब तक भारतीय जैन मूर्तियो के समस्त लेख संकलित होकर नहीं आते, तब तक हम उन उपजातियों के सम्बन्ध में विशेष कुछ नही कहा जा सकता।

पद्मावती पुरवाल—इस उपजाति का निकास 'पोमावइ' (पद्मावती) नाम की नगरी से हुआ है। यह नगरी पूर्वकाल में अत्यन्त समृद्ध थी। इसकी समृद्धि का उल्लेख खजुराहो के स० १०५२ के शिलालेख मे पाया जाता है[1]। इस नगरी में गगनचुम्बी अनेक विशाल भवन बने हुए थे। यह नागराजाओं की राजधानी थी। इसकी खुदाई मे अनेक नागराजाओं के सिक्के वगैरह प्राप्त हुए हैं। 'नव नागा: पद्मावत्या कातिपुर्या' वाक्य से भी स्पष्ट है। ग्यारहवीं शताब्दी मे रचित सरस्वती कठाभरण मे भी पद्मावती का वर्णन है। मालती माधव में भी पद्मावती का वर्णन पाया जाता है। वर्तमान में ग्वालियर मे 'पद्मपवाया' नाम का एक छोटा सा गॉव बसा हुआ है जो देहली से बम्बई जाने वाली रेलवे लाइन पर देवरा नामक स्टेशन से कुछ ही दूरी पर स्थित है। इस कारण पद्मावती नगरी ही पद्मावती पुरवालो के निकास का स्थल है। उपजातियो मे यह एक समृद्ध जाति रही है। जिसकी जनसख्या चालीस हजार के लगभग है। इसमे भी अनेक विद्वान, त्यागी, ब्रह्मचारी और साधु पुरुष हुए है। वर्तमान मे भी है जो धर्मनिष्ठ है, जैनधर्म के परम श्रद्धालु और श्रावक व्रतो का अनुष्ठान करते है। इनके द्वारा अनेक मन्दिर और मूर्तियो का निर्माण भी हुआ है। महाकवि रइधू जैसा विद्वान कविभी इसी जातिमे उत्पन्न हुआ था। जिसने सं० १४४८ से १५२५ तक अनेक ग्रन्थों की रचना की, और अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा सम्पन्न की सवत् १४९७, १५०६ और १५२५ की प्रतिष्ठित मूर्तियो मे कुछ मूर्तिया रइधू के द्वारा प्रतिष्ठित मिलती है। ग्वालियर किले की मूर्तियों का निर्माण और प्रतिष्ठा रइधू के समय मे हुई है। कवि छत्रपति की और कवि ब्रह्म गुलाल की कविताएं भी भावपूर्ण है। रइधू की प्राय· सभी रचनाएँ तोमरवशी राजा डूगर सिह और कीर्ति सिह के राज्यकाल मे रची गई है। यद्यपि यह उपजाति अन्य उपजातियो की अपेक्षा कुछ पिछड़ी हुई है। फिर भी अपना शानदार अस्तित्व बनाए हुए है। ये सभी दिगम्बर जैन आम्नाय के पोषक और वीस पथ के प्रबल समर्थक है। प्रचारक है। पद्मावती पुरवाल ब्राह्मण भी पाये जाते है। यह अपने को ब्राह्मणो से सम्बद्ध मानते है। इस जाति के विद्वानो मे ब्राह्मणो जैसी वृत्ति पाई जाती है। वर्तमान मे इसमे अनेक विद्वान और प्रतिष्ठित

धनी व्यक्ति पाए जाते हैं। इस जाति का अधिकाश निवास आगरा जिला, मैनपुरी, एटा, दिल्ली, ग्वालियर और कलकत्ता आदि स्थानों में पाया जाता है।

पल्लिवाल—पालि नगर से पल्लिवालों का निकास हुआ है। यह उपजाति भी अपने समय में प्रसिद्ध रही है। इनके द्वारा भी मन्दिर और मूर्तियों का निर्माण हुआ है। सेठ छदामीलाल जो फिरोजाबाद पल्लिवाल कुल के एक संभ्रान्त परिवार के व्यक्ति है। उन्होंने जैन नगर मे एक सुन्दर विशाल मन्दिर का निर्माण कराया है। पल्लिवालों द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तिया भी उपलब्ध होती है। प० मक्खनलाल जी प्रचारक इसी जाति के भूषण है। इस जाति की आबादी अल्प है। इस जाति के लोग दिगम्बर श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायो मे पाये जाते है।

लमेचू—यह भी एक उपजाति है जो मूर्तिलेखो और ग्रन्थ प्रशस्तियो मे 'लम्ब कचुकान्वय' के नाम से प्रसिद्ध है। मूर्ति लेखो मे लम्बकचुकान्वय के साथ यदुवशी लिखा हुआ मिलता है। जिससे यह एक क्षत्रिय जाति ज्ञात होती है। यद्यपि वर्तमान मे ये क्षत्रिय नही है वैश्य है। इस जाति का निकास किसी लम्ब काचन नामक नगर से हुआ जान पड़ता है। इसमें रपरिया, रावत, ककौआ और पचोले गोत्रो का भी उल्लेख मिलता है। इस जाति मे अनेक पुरुष प्रतिष्ठित और परोपकारी हुए है। जिन्होने जिन मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण कराया है, अनेक ग्रन्थ लिखवाए है। इनमे बुढेले और लमेचू ये दो भेद पाये जाते है, जो प्राचीन नही है। बाबू कामता प्रसाद जी ने 'प्रतिमा लेख सग्रह' मे लिखा है कि—बुढेले लमेचू अथवा लम्ब कचुक जाति का एक गोत्र था; किन्तु किसी सामाजिक अनबन के कारण स० १५६० और १६७० के मध्य किसी समय यह पृथक् जाति बन गया। बुढेले जाति के रावत संघई आदि गोत्रो का उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट है कि इस गोत्र के साथ अन्य लोग भी लमेचुओं से अलग होकर एक अन्य उपजाति बनाकर बैठ गये। इन उपजातियों के इतिवृत्त के लिए अन्वेषण की आवश्यकता है। चन्द्रवाड के चौहान वशी राजा आहवमल्ल के राज्यकाल मे लंब कंचुक कुल के मणि साहू सेठके द्वितीय पुत्र, जो मल्हादेवी की कुक्षी से जन्मे थे, बड़े बुद्धिमान और राजनीति में दक्ष थे। इनका नाम कण्ह या कृष्णादित्य था, आहवमल्लन के प्रधान मंत्री थे[1]। जो बड़े धर्मात्मा थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम 'सुलक्षणा' था जो उदार, धर्मात्मा, पतिभक्ता और रूपवती थी। इनके दो पुत्र थे हरिदेव और द्विजराज। इन्हीं कण्ह की प्रार्थना से कविलक्ष्मण ने वि० स० १३१३ में अणुवय-रयण-पईव नाम का ग्रन्थ बनाया था[2]।

कवि धनपाल ने अपने 'बाहुबलि चरित' की प्रशस्ति में चन्द्रवाड में चौहानवशी राजा अभयचन्द्र के और उनके पुत्र जयचन्द के राज्यकाल मे लम्बकचुक वश के साहु सोमदेव मन्त्रि पद पर प्रतिष्ठित थे[3]। और उनके द्वितीय पुत्र रामचन्द्र के समय सोमदेव के पुत्र साहू वासाधर राज्य के मत्री थे, जो सम्यकत्वी जिनचरणो के भक्त, जैनधर्म के पालन मे तत्पर, दयालु, मिथ्यात्व रहित, बहुलोक मित्र और शुद्ध चित्त के धारक थे[4]। इनके आठ पुत्र। जसपाल, रतपाल, चन्द्रपाल, विहराज, पुण्यपाल, वाहड़ और रूपदेव। ये आठो ही पुत्र अपने पिता के समान धर्मज्ञ और सुयोग्य थे। भ० प्रभाचन्द्र ने स० १४५४ मे वासाधर की प्रेरणा से बाहुबलि चरित की रचना की थी। इन्होने चन्द्रवाड मे एक मन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा की थी। इन सब उल्लेखों से स्पष्ट

---

१ देखो अणुवय-रयण-पईव, प्रशस्ति, तथा चन्द्रवाड नाम का मेरा लेख जैनसि० भा० भा० २३ कि० १, पृ. ७५

२ तेरह सय तेरह उत्तराल, परिगलियविक्कमाइच्च काल।
सत्तेय रहइ सत्वह समक्ख, कत्तिय-मासम्मि असेय-पक्ख॥

३ श्री लम्बकेचुकुल पद्मविकासभानुः,
सोमात्मजो दुरितदास चय कृशानु:।
धर्मैक साधन परो भुविभव्व बन्धु,
वासाधरो विजयते गुणरत्न सिन्धुः॥

—बाहुबलि चरित सघि ४

जिणणाहचरणभत्तो जिणधम्मपरोदयालोए।
सिरि सोमदेव तणओ णंदउ वासद्धरो णिच्चं॥
सम्मत्त जुत्तो जिण पायभत्तो दयालुरत्तो बहुलोयमित्तो।
मिच्छत्तचत्तो सुविसुद्धचित्तो वासाधरो णंदउ पुण्ण चित्तो॥

—बाहुबलिचरित संधि ३

है कि लम्ब कंचुक आम्नायी भी अच्छे सम्पन्न और राजमान्य रहे हैं। वर्तमान में भी वे अच्छे धनी और प्रतिष्ठित है। यहाँ लम्बकंचुकान्वय के एक दो मूर्तिलेख उद्धृत किये जाते हैं :—

१ संवत् १४१३ वर्षे वैशाख सुदी १३ बुधे श्रीमूलसंघे प्रतिष्ठाचार्य श्री जिनचन्द्रदेव लम्बकचुक साहु सहदेव भार्या चम्पा पुत्र दोनदेव भार्या मूला पुत्र लखनदेव, पद्मदेव, धर्मदेव प्रणमन्ति नित्यम्।

—जैनसि० भा० भा० २ पृ० ६

२ सं० १४१२ वर्षे वैशाख सुदी १३ बुधे मूलसघे प्रतिष्ठाचार्य प्रभाचन्द्रदेव लम्बकचुक सा० न्याङ्गदेव भार्या ताण पुत्र लाल्ह भार्या महादेवी वारम्बारं प्रणमति।

—जैनसि० भा० भा० २, पृ० ५

बघेरवाल—इस जाति का निकास 'बघेरा' से है। बघेरा राजस्थान मे केकड़ी से १०–११ मील के लगभग दूर है। यद्यपि वर्तमान मे वहां बघेरवालों का एकभी घर विद्यमान नहीं है। किन्तु राजस्थान मे अजमेर और जयपुर के आस-पास रहने वाले बघेरवाल अपनी पैतृक जन्मभूमि को देखने और वहा की शान्तिनाथ की मूर्ति के दर्शन करने अवश्य आते रहते है। सन् ६२मे जब मै असोज के महीने में केकड़ी से बघेरा गया था तो वहा अनेक समागत बघेरवाल सज्जनो से परिचय हुआ। उनसे पूछने पर ज्ञात हुआ कि किसी समय यह स्थान बघेरवालो से आवृत था, हमारे पूर्वज पहले यही रहे। बघेरवाल कुटुम्बियो के मध्य में बसा हुआ था, किसी समय उसका विनाश हुआ होगा। वहाँ अनेक खण्डहर पड़े है। किसी समय वह एक बड़े नगर के रूप मे प्रसिद्ध होगा, इस समय वह एक छोटा-सा गाँव जान पडता है। १२वी १३वी शताब्दी की प्रतिष्ठित अनेक मूर्तिया विराजमान है, जिनमे शान्तिनाथ की मूर्ति वडी मनोग्य है। यहाँ दो मन्दिर है, एक कुछ पुराना और दूसरा नवीन। स्थान अवश्य प्राचीन जान पड़ता है। एक स्थान पर दो बड़े शिलालेख भी देखने में आये पर वे साधन सामग्री के अभाव मे पढ़े नहीं जा सके।

इस उपजाति मे भी अनेक महापुरुष होते रहे है जिन्हें समय-समय पर जैन धर्म के उत्थान एव प्रसार में अपना योगदान दिया है। इस जाति के १५ गोत्र बतलाये जाते है जिनका उल्लेख डा० विद्याधर जोहरापुरकर ने किया है। खरोड, खंडारिया, वोखंडिया, गोवाल, चवरिया, जुग्गिया, ठोलया, नगोत्या, पितलिया, वागदिया, भूरिया, मढया, सावला, सेठिया, हरसोरा। इनमें ढोल्या निगोत्या—ये दोनों गोत्र खंडेलवालों के गोत्र ठोल्या और निगोत्या से साम्य रखते है और हरसोरा गोत्र राजस्थान के 'हरसोरा ग्राम की याद दिलाता है।' जहाँ आज भी अनेक बघेरवाल जन विद्यमान है। बघेरवालो का वर्तमान निवास महाराष्ट्र और राजस्थान (जयपुर) मे पाया जाता है. बघेरवालो के २०-२५ घर धार स्टेट मे है, और अन्यत्र भी होगे। आचार्य कल्प प० आशाधर जी इसी जाति के अलकार थे। जिनके द्वारा धर्मामृत नाम का महान ग्रथ स्वोपज्ञ टीका सहित बनाया गया है। इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है। अनगार धर्मामृत की टीका वि० सं० १३०० मे पूर्ण हुई है।

चित्तौड के दिगम्बर जैन कीर्ति स्तम्भ के निर्मापक शाह जीजा बघेरवाल वशी है। जो साह सानाय के पुत्र थे, और जीजा के पुत्र पूर्णसिंह या पुण्यसिह भी अपने पूर्वजो की कीर्ति का सरक्षण करते रहे है। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तिया और मन्दिर अनेक स्थानों पर पाये जाते है[१]। नेनवां (राजस्थान) मे बघेरवालो का अच्छा मन्दिर बना हुआ है। अनेकान्त वर्ष २२ किरण १ मे चित्तौड़ के कीर्ति स्तम्भ से सम्बन्धित जो अप्रकाशित अपूर्ण शिलालेख छपा है उससे ऐसा आभास होता है कि उक्त कीर्ति स्तम्भ

---

१. स० १५३२ वैशाख सुदी ७ श्री मूलसंघे भट्टारक जिनचन्द्रदेवा बघेरवालान्वये साह टीकम पुत्र कोनो भार्या धर्मणी तस्य पुत्र वछमाडल नित्य प्रणमति।
(पादौदी मन्दिर जयपुर)

सं० १५७१ जेठ सुदी २ मूलसघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये प्रभाचन्द्राम्नाये बघेलवाल वशे रतन...।

स० १७४६ सावन सुदी ६ मूलसघे भ० जगत्कीर्ति तदाम्नाये बघेरवालान्वये मघा गोत्रे सा० श्री नेपूसी भार्या नौलादे तयोः पुत्रः सं० श्री किशनदास प्रतिष्ठा कारापिता डूगरसी छीलूनित्य प्रणमति।

(अनेकात वर्ष १८ किरण ६ पृ० २६२, २६४),

शाह जोजा ने बनवाया और उनके पुत्र पुण्यसिंह ने उसकी विधिवत प्रतिष्ठा की। प्रतिष्ठाकर्ता मुनि विशालकीर्ति के शिष्य शुभकीर्ति हैं[२] जो बडे विद्वान और तपस्वी थे। इनसे कीर्ति स्तम्भ के समय पर पर्याप्त प्रकाश पडने की सम्भावना है।

बघेरवाल वंश में कृष्णदास नाम के कोई धर्मिष्ठ श्रावक हुए है। वे चाँदखेड़ी के हाडा वंशीय राजा किशोर सिंह के आमात्य थे। राज्य का सब कार्यभार वहन करते थे। उन्होंने चाँदखेडी में एक विशाल भोयरे का निर्माण कराया था जो स० १७३६ मे बनकर समाप्त हुआ था। उसकी उन्होंने पंच कल्याणक प्रतिष्ठा स० १७४६ मे कराई थी, जो महत्वपूर्ण थी। और जिसे आमेर के भट्टारक जयकीर्ति ने सम्पन्न कराई थी[३]।

हुंबड या हूमड़—यह उपजाति भी उन चौरासी उपजातियों मे से एक है। इसका यह नामकरण कब और कैसे हुआ, इसका कोई इतिवृत्त नही मिलता। पर यह जाति सम्पन्न और वैभवशालिनी रही है। इस जाति का निवास स्थान गुजरात, बम्बई प्रान्त और बागड प्रात मे रहा है। यह दस्सा और बीसा दो भागो मे बटी हुई है। इस जाति में भी अनेक महापुरुष और धर्मनिष्ठ व्यक्ति हुए है। अनेक राज्य मन्त्री और कोषाध्यक्ष आदि सम्माननीय पदो पर प्रतिष्ठित रहे है। इनके द्वारा निर्मित अनेक मन्दिर और मूर्तियाँ पाई जाती है। ग्रन्थ निर्माण में भी यह प्रेरक रहे हैं। इनके द्वारा लिखाये हुए ग्रन्थ अनेक शास्त्र भडारों मे उपलब्ध होते है। वर्तमान मे भी वे समृद्ध देखे जाते हैं। इनमें १८ गोत्र प्रचलित हैं। खेरजू, कमलेश्वर, काकड़ेश्वर, उत्तेश्वर, मंत्रेश्वर, भीमेश्वर, भद्रेश्वर, विश्वेश्वर, सखेश्वर, अम्बेश्वर, चाचनेश्वर, सोमेश्वर, राजियानो, ललितेश्वर, काशवेश्वर, बुद्धेश्वर और सघेश्वर। इनके अतिरिक्त 'वजीयान' नाम का एक गोत्र और पाया जाता है। इस गोत्र वाली बाई हीरो ने जो भ० सकलचन्द्र के द्वारा दीक्षित थी। उसने सं० १६६८ मे सागवाडे मे सकलकीर्ति के वर्धमान पुराण की प्रति सकलचन्द्र को भेट की थी।

इस वंश के द्वारा निर्मित मन्दिरो में सबसे प्राचीन मन्दिर झालरापाटन का वह शान्तिनाथ का मन्दिर है, जिसकी प्रतिष्ठा हूमडवशी शाह पीपा ने वि० स० ११०३ मे करवाई थी। इस जाति मे अनेक विद्वान भट्टारक भी हुए हैं।

भट्टारक सकलकीर्ति और ब्रह्म जिनदास इसी वश के भूषण थे, जिनकी परम्परा २-३ सौ वर्षों तक चमकी। इस जाति में जैनधर्म परम्परा का बराबर पालन होता रहा है।

इनके अतिरिक्त गंगेरवाल, सहलवाल, नरसिंहपुरा, आदि अनेक उप जातिया है जिनका परिचय प्राप्त नही है, इसलिए उनके सम्बन्ध मे यहाँ कुछ प्रकाश नही डाला जा सका।

नोट—विशेष परिचय के लिए देखे अनेकान्त वर्ष १३ किरण ५।

२. देखो अनेकान्त वर्ष २२ किरण १।

३. देखो, कृष्ण बघेरवाला का रासा, जयपुर भण्डार (अप्रकाशित)।

एक प्रतीकांकित द्वार

गोपीलाल अमर एम. ए.

मन्दिरों के प्रवेशद्वार पर अलकरण की परंपरा प्राचीन है। देव-देवियों और तीर्थकरों की मूर्तियां भी प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण......होती रहीं। कुछ प्रतीक भी उन पर स्थान पाते रहे। पर एक ऐसा भी प्रवेशद्वार है जिस पर ५६ प्रतीक, ८ बीजाक्षर और दो अभिलेख समूहबद्ध और शास्त्रीय रूप में उत्कीर्ण है।

सागर (म० प्र०) के चकराघाट मुहल्ले मे 'बुधब्या का दिगम्बर जैन मन्दिर' है। इस आधुनिक मन्दिर के दूसरे खण्ड पर १९३५ ई० मे यहाँ प्रसिद्ध दानवीर सिंघई रेवाराम ने एक वेदी स्थापित करायी जिस पर आठवें तीर्थकर चन्द्रप्रभ की सफेद संगमर्मर की मूर्ति स्थापित है।

यह वेदी जिस गर्भगृह मे है उसके प्रवेशद्वार ने आधुनिक होकर भी प्राचीन भारतीय कला की बेशकीमत विरासत सहेज रखी है। ५ फु० ७ इ० ऊँचा और ४ फु० १ इं० चौड़ा यह द्वार देशी पत्थर का बना है। उस पर बार्निश कर दिया गया है। द्वार को जालीदार शटर से बद किया जाता है।

द्वार की आधार शिला पर एक पंक्ति का अभिलेख है। इसके आदि और अत मे तर्जनी दिखाता हुआ हाथ अंकित है। अभिलेख के शब्द है 'सिंघई उमराव आतमज बुद्धू लाल तत पुत्र रेवाराम वीर निरवाण सवत् २४६२ विक्रम सवत् १९९२ सन् १९३५'।

बायें पक्ष पर ऊपर से नीचे, पहले से बारहवे तक और दायें पक्ष पर ऊपर से नीचे, तेरहवे से चौबीसवें तक तीर्थकर-चिह्न उत्कीर्ण हैं। जन्मकाल मे तीर्थकर के दाये चरण के अगूठे पर जो चिह्न होता है उसी से उनकी मूर्ति की पहचान की जाती है। एक अन्य मान्यता के अनुसार जो *व्यावहारिक भी है, तीर्थकर* की ध्वजा पर जो चिह्न होता है उसी से उनकी मूर्ति भी पहिचानी जाती है। इन चिह्नों की परंपरागत सूचियो में कुछ अन्तर मिलता है। यहाँ जो चिह्न उत्कीर्ण हैं वे सम्बद्ध तीर्थकर के साथ ये है: १. बैल-आदिनाथ, २. हाथी-अजित, ३. घोडा-सभव, ४. बंदर-अभिनन्दन, ५. चकवा-सुमति, ६. कमल-पद्मप्रभ, ७. स्वस्तिक-सुपार्श्व, ८. चन्द्र-चन्द्रप्रभ, ९. मगर-पुष्पदन्त, १०. कल्पवृक्ष-शीतल, ११. गेड़ा-श्रेयांस, १२. भैसा-वासुपूज्य, १३. सुअर-विमल, १४. भालू-अनन्त, १५. वज्र-धर्म, १६. हिरन-शान्ति, १७. बकरा-कुन्थु, १८. मछली अरिह, १९. घड़ा-मल्लि, २०. कछवा-मुनिसुव्रत, २१. नीलकमल-नमि, २२. शख-नेमि, २३. सर्प-पार्श्व, २४. सिंह-महावीर।

ऊपर, तोरण पर अष्ट मंगल द्रव्य-उत्कीर्ण है: भृंगार कलश, व्यजन, स्वस्तिक, ध्वज, छत्र, चमर, दर्पण। शास्त्रीय दृष्टि से यह क्रम होना चाहिए था: भृगार, कलश, दर्पण, व्यजन, ध्वज, चमर, छत्र, स्वस्तिक। तीर्थकर के समवशरण की गन्धकुटी के प्रथम द्वार पर ये आठ मगल द्रव्य शोभित होते है।

इनके ऊपर एक पत्थर की जाली है जिसके मध्य मे एक अभिलिखित शिलाजड़ी है। उसके दो पक्तियो के अभिलेख के शब्द है: 'श्री सि० रज्जीलाल जी के उपदेश से निर्मित'।

दोनों पक्षों के बाजू मे ३ फु० ६ इ० की ऊँचाई तक टाइल जड़े है जिन पर मयूर का रगीन अकन है।

इनके ऊपर बाये पहले से आठवे तक और दायें नवे से सोलहवें तक, सोलह स्वप्नो का अकन है जिन्हे तीर्थकर की माता गर्भाधान के समय देखा करती है। ये स्वप्न और उनसे सूचित होने वाले गुण (तीर्थकर के) ये है: १. हाथी-उच्चकोटि का आचरण, २. बैल-धर्मात्मत्व, ३. सिंह-पराक्रम, ४. लक्ष्मी-अतिशयलक्ष्मी, ५. दो मालाएँ-शिरोधार्यता, ६. चंद्र-संतापहरण, ७. सूर्य-तेजस्विता, ८. मछलियों का दो जोड़ा-सौन्दर्य, ९. दो कलश-कल्याण, १०.

सरोवर-वात्सल्य, ११. समुद्र-पूर्णज्ञान, १२. सिंहासन-राज्याधिकार, १३. देव विमान-देवो द्वारा सेवा, १४. नागभवन-नागकुमार जाति के देवो द्वारा सेवा, १५. रत्न-समूह-गुणसमूह, १६. जाज्वल्यमान अग्नि-कर्मदाह। श्वेताम्बर जैन मान्यता के अनुसार माता सोलह नही, चौदह स्वप्न देखती है। प्रथम तीर्थंकर के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती और सम्राट् चन्द्रगुप्त (मौर्य) द्वारा भी सोलह-सोलह स्वप्न देखे गये थे, यद्यपि वे भिन्न-भिन्न थे। इन स्वप्नो और उक्त जाली के ऊपर अष्ट प्रातिहार्य उत्कीर्ण है। तीर्थंकर की ऐश्वर्य सूचक विशेषताएँ प्रातिहार्य। वे ये है : सिंहासन, अशोक वृक्ष, छत्रत्रय, प्रभामण्डल, दिव्य ध्वनि, पुष्पवृष्टि, चमर, देवदुन्दुभि। इस द्वार पर उत्कीर्ण प्रातिहार्यों का क्रम (अशुद्ध) यह है : दिव्य ध्वनि, अशोक वृक्ष, छत्रत्रय, सिंहासन, पुष्पवृष्टि, चमर, प्रभामण्डल, देवदुन्दुभि।

प्रातिहार्यों के ऊपर जो आठ बीजाक्षर उत्कीर्ण है उसका सकारण और सक्रम विवेचन कदाचित् उपलब्ध नहीं। इनमे से तीसरा 'ओं' सभी भारतीय धर्मों में मान्य है। जैनधर्म में यह पाँच परमेष्ठियों अर्हन्त, अशरीरी (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय, मुनि (सर्वसाधु) के प्रथम अक्षरों की सन्धि से बना माना गया है। यहाँ का पाँचवाँ बीजाक्षर 'णमो' है, जिसका अर्थ है नमस्कार। जैनधर्म के आदिमन्त्र 'णमोकार' का प्रथम शब्द भी 'णमो' है; इसलिए यह बीजाक्षर सपूर्ण णमोकारमंत्र का प्रतीक मालूम पड़ता है।

इस संक्षिप्त विवरण से भी स्पष्ट है कि यह द्वार अपनी शैली और कला मे अनुपम है। भारतीय प्रतीकों का अध्ययन इस द्वार के सन्दर्भ के बिना अपूर्ण ही रहेगा। ★

अंतरीक्ष पार्श्वनाथ विनंती

नेमचन्द धन्नूसा जैन

श्रुत पचमी के दिन उपेक्षित कई हस्त लिखित पोथी मे से एक गुटका हाथ लगा। सहज ही धूल झटकते हुए उसको खोला तो पृष्ठ ८० पर लिखा हुआ बांचा—'इति अतरिक्ष पार्श्वनाथ विनती समाप्त ॥' यह बाच कर जो हर्ष हुआ, लिख नही सकता। न मालूम ऐसी कितनी सामग्री अभी अप्रकाशित है। यह एक ऐसी सामग्री है जिसमें कुमुदचन्द्र जी ने बताया है कि डभोई नगर के पार्श्वनाथ की प्रतिमा सागरदत्त बनजारा के स्वप्नो में आई। यह प्रतिमा वालूकामय थी। और डाली थी एक जलकूप मे। ऊपर निकालने का मार्ग बतलाया गया था कि—कच्चे सूत को कूप में छोड़ना उसमे बैठ कर प्रभू जी ऊपर आए, जयजयकार हुआ। अनेक मंगल वाद्य के साथ बनजारा ने हाथ पर उस प्रतिमा को ले जाकर डभोई नगर में स्थापन किया। इस प्रतिमा का भार कुछ नहीं था इस लिए इसका नाम (लेड-न-पास) 'लेडनपास' ऐसा रखा गया। इस तीर्थ की वंदना से क्या क्या लाभ होते है यह अत मे बताया है।

शिरपुर के अतरिक्ष पार्श्वनाथ प्रतिमा का और इस तीर्थ का कोई सम्बन्ध नही है तो भी अंतिम पुष्पिका वाक्य मे 'अंतरिक्ष' शब्द का प्रयोग क्यों ? इसपर विद्वानों को विचार करना चाहिए। साथ ही उस काल सम्बन्धी साहित्य और इतिवृत्त का भी अनुसंधान आवश्यक है। क्या यह लेडन पास की प्रतिमा कभी अतरिक्ष थी ? इसका समाधानहोना चाहिए और इस प्रतिमा को स्थापन करने वाले सागरदत्त बनजारा का स्थल काल का पता चलना चाहिए। डभोई क्षेत्र में इस बाबत इससे अधिक इतिहास विदित हो तो उसे प्रकाश में लाना चाहिए। अस्तु।

वह काव्य इस प्रकार है :—

सुमरु सारदा देवी माय, राहनीस सुरनर सेवे पाय ।
आपे वचन विशाल ॥१॥
लाड देस दीसे अभिराम, नयर डभोइ सुदर ठाम ।
जांहां छे लोडन पास ॥२॥
आवे संघ मली मनरंगे, नर नारी वांदे सहु सगे ।
पूजे परमानंदे ॥३॥
जयजयकार करे मन हरषें, जिन ऊपरि कुसुमांजलि वरषें ।
स्तवन करे बहु छंदे ॥४॥
गायें गीत मनोहर सादें, पच सवद बादे वर नादे ।
नाचे नारी वृन्द ॥५॥
वालू मय प्रतिमा वीतनात्, जानें देस विदेसें वात ।
सोहे सीस फणींद ॥६॥
सागरदत्त हतो वनजारो, पाले नेम भले एक सारो ।
जीन वांदी जम वानो ॥७॥
एक समे वाटे उतरयो, जम वा वेल जीन सांभले ।
सच करे प्रतीमानो ॥८॥
वालुनी प्रतिमा आलेषी, वांदी पूजीने मन हरषी ।
ते पधरावी कूप ॥९॥
त्यारे ते बालूनी मूरत, जल मांहे भइ सुंदर सूरत ।
अंग अनूपम रूप ॥१०॥
वनजारो ते आव्यो वेहले, वलतो लभ घनो एक लख्यो ।
उत्तरीयो तेने ठाम ॥११॥
सागरदत्त करे सुविचार, वाटे कुसल न लागो वार ।
ते स्वामी ने नामें ॥१२॥
राते स्वप्न हवु ते त्यारे, केम नाषी हूं कूप मझारे ।
काठ तीहां मडने ॥१३॥
तुं काचे तांतन पर बेसाडे, काढें नही हुं लागुं भारे ।
वचन कहूं छूं तुमने ॥१४॥
वनजारो जाग्यो वेहल कसुं, उठयी उल्लथ धरयो मनसुं ।
गयो तीहां परभाते ॥१५॥
सज्जन साथें वात करीने, मुक्यो तांतन जिन समरीने ।
सागर दत्तें जातें ॥१६॥
काचे तातें जिनवर वेठा, लेह कता लोके ते दीठा ।
हलवा फूल समान ॥१७॥
बाहेर पधरावी बेसाडयो, जय जय जिन सहु कोने जुहायो।
आप्या उलट दान ॥१८॥
जो तां हैदें हरष न माये, वचन रूप कहू नवी जाये ।
चील अचंभो भाये ॥१९॥
नाना विघ्न वाजींभ बजाडे, आगल थी षेल नचाडें ।
माननी मंगल गायें ॥२०॥
आन्या अधिक दीवाज्या साथे, वनजारे लीधी जिन हाथे ।
रम्य डभोई गाम ॥२१॥
रूडे दीन मूरत जोई ने, वारु पूजा नमन करीने ।
पधराव्या जिन धाम ॥२२॥
नाम धरू ते लाडन पास, पंचम काले पूरे आस ।
वांका विघ्न निवारे ॥२३॥
नामे चीरन डे नही वाटे, उज्जड अटवी डुगर घाटे ।
दरियो पार उतारें ॥२४॥
भूत पिशाच तणो भय टाले, चेडा चेटक मंत्र न चालें ।
डांकिन्नी दूरे त्रासे ॥२५॥
व्यंतर वापानी भइ जाए, जेह नामे विषधर न विषाये ।
वाघ न आवे पास ॥२६॥
भव भवनी भाव भंजे, रन माहे वैरी न विगंजे ।
रोग न आवे अंगे ॥२७॥
जेह ने नामे नाहासे सोक, संकट सघल थाये फोक ।
लक्ष्मी रहे निति संगे ॥२८॥
नाम जपंतां न रहे पाप, जनम मरन टाले संताप ।
आये मुगती निवास ॥२९॥
ज नर समरे लेडन नाम, ते पाये मन वांचित काम ।
कुमुदचन्द्र कहे भास ॥३०॥

इति अतरिक्ष पार्श्वनाथ विनती समाप्त ॥

★

'प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने आचार विचार को पवित्र रक्खे। आचार विचारों की पवित्रता जीवन की आन्तरिक पवित्रता पर प्रभाव डालती है, उससे जीवन आदर्श और समुन्नत बनता है। —अज्ञात

आत्म-सम्बोधन

कविवर दौलतराम १९वी २०वी शताब्दी के प्रमुख विद्वान और कवि थे। वे संस्कृत-प्राकृत भाषा के साथ अध्यात्म ग्रन्थों के अच्छे अभ्यासी थे। उनकी दृष्टि बाह्य कामो मे नही लगती थी वे अन्तर्दृष्टि की ओर अग्रसर रहते थे। सिद्धान्त-ग्रथो के दोहन से निष्पन्न आत्मरस से ओत-प्रोत रहते थे। उनकी दृष्टि मे जगत का वैभव ऐश्वर्य और भोगविलास की रमणीय वस्तुएँ जिन्हे रागीजन अपनी समझ उनमे रति करते है। कविवर उनसे सदा विमुख रहते थे, उन्हे राग-रग मे रहना असह्य हो उठता। उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है कि मथुरा के प्रसिद्ध सेठ मनीराम जी पडितजी को जब हाथरस से मथुरा ले गये और अपने सजे हुए मकान मे उन्हे बड़े प्रेम एव आग्रह से ठहराया। पर उन्हे मखमली गद्दों और झाड फानूसो और चाँदी सोने की कुर्सियो से अलकृत भवन मे रहना दुष्कर हो गया। यद्यपि उन गद्यो पर सीतल पाटी बिछाकर बैठे हुए थे। फिर भी उनके चित्त मे 'मै अनत जीवो के पिण्ड' पर बैठा हुआ हूँ यह विकल्प मन मे शान्ति एव स्थिरता नही आने देता था। जी चाहता था कि मै यहाँ से अभी चला जाऊँ। पर उन्हे सेठ जी के अत्याग्रह से ३-४ दिन गुजारने ही पड़े। जब वे वहाँ से लश्कर चले गये। तब उनके मन मे शान्ति आई। कवि का मन अध्यात्म रस से छकाछक भरा हुआ था। पर द्रव्यों से उनका राग नहीं था, और न उनसे द्वेष ही रखते थे। किन्तु परद्रव्यो से अपनी स्वामित्व बुद्धि का परित्याग करना श्रेयस्कर समझते थे। भोगो को भुजग के समान जानकर उनसे रति करना दुःख का कारण मानते थे। वे अपनी आत्मा को समझाते हुए कहते थे कि— 'मान ले या सिख मोरी, झुके मत भोगन ओरी—' इससे उनकी अन्तरपरिणति का सहज ही आभास हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि वे सदा आत्महित का लक्ष्य रखते थे। वे नीचे पद्य मे अपने को सम्बोधन करते हुए कहते है कि— जगत के सब द्वन्दो को मिटाकर जिन आगम से प्रीति करनी चाहिए। उसी की प्रतीति करनी भी आवश्यक है। जगत के सब द्वन्द बध कर और असार है। वे तेरी कुछ भी गरज को नही सारते। कमला चपला है। यौवन इन्द्र धनुष के समान अस्थिर है स्वजन पथिकजनो के समान है। इनसे तू वृथा रति क्यो जोडता है। विषय कषाय दोनो ही भवों मे दुखद है। इनसे तू स्नेह की डोरी तोड, तेरी बुद्धि बडी भोली है तू पर द्रव्यों की अपनावत को क्यों नहीं छोड़ता। जब देवो की सागरो की स्थिति बीन जाती है तब मनुष्य पर्याय की तो स्थिति अल्प ही है। हे दौलतराम! अब तुम शुभ अवसर पाकर चूक गये तो सागर मे गिरी हुई मणि के समान पुन. नरभव मिलना कठिन है।

और सबै जग द्वन्द मिटावो, लौ लावो जिन आगम ओरी ।।टेक।।
है असार जग द्वन्द्व वन्धकर, ये कछु गरज न सारत तोरी।
कमला चपला यौवन सुरधनु, स्वजन पथिक जन क्यों रति जोरो ।।१

विषय-कषाय दुखद दोनों भव, इन तै तोर नेह की डोरी।
पर द्रव्यन को तू अपनावत, क्यों न तजै ऐसी बुधि भारी ।।२
बीत जाय सागर थिति सुर की, नर परजायतनी अति थोरी।
अवसर पाय 'दौल' अब चूको, फिर न मिलै मनि सागर बोरो ।।३

—.०.—

ग्वालियर के कुछ काष्ठासंघी भट्टारक

परमानन्द शास्त्री

श्रमण संस्कृति युगादि देव (आदिनाथ) के समय से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर के परिनिर्वाण काल पश्चात् तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रही है। और उनके निर्वाण के बाद अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षके कारण वह दिगम्बर श्वेताम्बर रूप दो धाराओ में विभक्त हो गई। उक्त दोनों धाराओं मे भी परवर्ती कालों मे अनेक अवान्तर सघ और गण-गच्छों का आविर्भाव हुआ। इसका कारण दुर्भिक्ष के समय की विकट परिस्थिति, विचार विभिन्नता और संकीर्ण मनोवृत्ति हैं। संकुचित मनोवृत्ति से आत्म परिणति में अनुदारता रहती है। संकीर्ण दायरे मे अनेकान्त की सर्वोदयी समुदार भावना तिरोहित हो जाती है। इससे वह परस्पर में सौहार्द को उत्पन्न नहीं होने देती प्रत्युत कटुता को जन्म देती रहती है। दोनो ही परम्पराओ मे मत विभिन्नतादि कारणो से विभिन्न गण-गच्छ उत्पन्न होते रहे हैं। और २४ सौ वर्षों के दीर्घ काल मे भी गण-गच्छों की विभिन्नता मे कोई अतर नही आ पाया है। शिलाभेद के समान इन संघों की विभिन्नता परस्पर मे अभिन्नता में परिणत नही हो सकी। यदि गण-गच्छादि के सम्बन्ध मे अन्वेषण किया जाय तो एक बड़े ग्रथ का निर्माण किया जा सकता है।

यहां ग्वालियर के काष्ठा संघ के कुछ भट्टारकों का परिचय दिया जाता है।

ग्वालियर प्राचीन काल से दि० जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। यहाँ के दिगम्बर जैन मन्दिरों में ११वी शताब्दी तक की धातु मूर्तिया उपलब्ध होती है। यहाँ काष्ठा संघी भट्टारको की बडी गद्दी रही है जिनके द्वारा वहाँ आस-पास के प्रदेशो मे जैन धर्म और जैन संस्कृति का प्रसार हुआ है। अनेक विद्वान और भट्टारको द्वारा ग्रंथों की रचना हुई है। यहाँ मूलसंघी और काष्ठा सघी भट्टारक बराबर प्रेम से रहे है।। दोनो के द्वारा प्रतिष्ठापित अनेक मूर्तियाँ मन्दिरों में विराजमान हैं। उन सब भट्टारको मे भट्टारक गुणकीर्ति अपने समय के विशिष्ट विद्वान, तपस्वी और प्रभावक थे। उनके निर्मल चरित्र और व्यक्तित्व का प्रभाव तोमर वंश के क्षत्रीय शासकों पर अप्रतिहत रूप मे पड़ा, जिससे वे स्वय जैनधर्म के प्रति निष्ठावान हुए। उनके तपश्चरण के प्रभाव से राज्य में सक्रान्ति और विरोध जैसे विकार पास मे भी नही फटक सके। राजा गण अपने राज्य का संचालन स्वतन्त्रता और विवेक से करते रहे। राज्यकीय विषम समस्याओं का समाधान भी होता रहा। अपनी प्रजा का पालन करते हुए राज्य वृद्धि मे सहायक हुए। जनता स्वतंत्रता से अपने-अपने धर्म का पालन करती हुई सासारिक सुख-शान्ति का उपभोग करती थी। अनेक वरिष्ठ श्रेष्ठि जन राज्य के आमात्य और कोषाध्यक्ष जैसे उच्च पदो पर प्रतिष्ठित रहते हुए निरंतर राज्य की अभिवृद्धि और अमन मे सहायक हुए। उस समय के ग्वालियर राज्य की परिस्थिति का सुन्दर वर्णन कविवर रइधू ने पार्श्व नाथ चरित्र मे किया है। उससे उस समय की सुखद स्थिति का खासा आभास हो जाता है।

यहाँ उन भट्टारको का जिनके नाम का उल्लेख कविवर रइधू के ग्रथों और मूर्ति लेखो मे उपलब्ध होता है उनका सक्षिप्त परिचय देना ही इस लेख का प्रमुख विषय है।

१ भट्टारक देवसेन—काष्ठासघ, माथुरान्वय, बालात्कारगण सरस्वती गच्छ के विद्वान भट्टारक उद्धरसेन के पट्टधर एव तपस्वी थे। वे मिथ्यात्वरूप अधकार के विनाशक, आगम और अर्थ के धारक तथा तप के निलय और विद्वानो मे तिलक स्वरूप थे। इन्द्रिय रूपी भुजंगों

के दलने वाले और गरुड के समान (इंद्रियजयी) थे[१]। काष्ठा संघ की गुर्वावली में उन्हें अमित गुणों का निवास, कर्मपाश के खण्डक, समय के ज्ञायक निर्दोष, संसार की शंका के नाशक, मदन कदन (युद्ध) के विनाशक, धर्मतीर्थ के नेता वे देवसेन गणी जयवंत रहें[२]। ऐसा प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत देवसेन अपने समय के बड़े विद्वान थे। इसीसे उनके यश का खुला गान किया गया है। इनका समय विक्रम की १४वीं शताब्दी संभव है।

दूसरे देवसेन वे हैं जिनका उल्लेख दूब कुण्ड (चडोभ) के मानस्तम्भ के नीचे दो पंक्तियों वाले लेख मे पाया जाता है, उसमें देवसेन की भग्नमूर्ति भी अंकित है।

"संवत् ११५२ वैशाखसुदि पंचम्याम्
श्री काष्ठासंघे श्रीदेवसेन पादुका युगलम्।

प्रस्तुत देवसेन किसके शिष्य थे, और इन्होंने क्या-क्या कार्य किये है यह अभी कुछ ज्ञात नही हो सका। इनका समय विक्रम की १२वीं शताब्दी का मध्यकाल है। यह किसके शिष्य थे और इनकी गुरु परम्परा क्या है यह कुछ ज्ञात नही हो सका। क्योंकि इनके साथ काष्ठा-संघ का उल्लेख है। इसलिए यह जानना आवश्यक है यह किसके शिष्य थे।

विमलसेन—यह देवसेन गणी के पट्टधर एवं शिष्य थे, जो अनुपम गुणो के धारक, समितियों से युक्त, कर्म-बन्धादि से भय-भीत, तथा चन्द्रकिरण के समान शीतल विमलसेन हमे सुख प्रदान करें। जो भव्यजनो के चित्त को आनन्द प्रदान करने वाले, विमलमति। मलसग के विनाशक, अनुपम गुणमंदिर, ऐसे ऋषि पुगव विमलसेन थे[३]। इस गुणानुवाद से ज्ञात होता है कि भट्टारक विमल-सेन विद्वान, तपस्वी, द्विविधसंग के त्यागी और प्रतिष्ठा-चार्य थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित धातु की एक पद्मासन चौबीसी मूर्ति सं० १४१४ की प्रतिष्ठित जयपुर (राजस्थान) के पाटौदी मन्दिर में विराजमान है[४]। और दूसरी प्रतिष्ठित आदिनाथकी एक मूर्ति दिल्लीके नयामन्दिर धर्मपुरा में विद्यमान है जो सवत् १४२८ में किसी जयस-वाल सज्जन के द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी[५]। इनकी

---

१. मिच्छत्त-तिमिर हरणाइं सुहायरु,
आयमत्थहरु तव-णिलउ।
णामेण पयडु जणि देवसेणु गणि,
सजायउ चिरु वुह-तिलउ॥
—सम्मइ जिन चरिउ प्रशस्ति

इदिय-भुअंग णिद्दलण-वेणु। पद्मपुराण प्रशस्ति।

२. विज्ञानसारी जिनयज्ञकारी,
तत्त्वार्थ वेदी वर सघभेदी।
स्वकर्मभंगी वुधयूथसंगी,
चिरं क्षितौ नंदतु देवसेनः॥
अमितगुणनिवासः खंडिता कर्मपाशः,
समयविदकलंकः क्षीणसंसार-शंकः।
मदन-कदनहंता धर्मतीर्थस्य नेता,
जयति महतिलीनः शासने देवसेनः॥
—काष्ठासंघ मा० गुर्वावली

३. तासु पट्टि णिरुवम गुण मन्दिरु,
णिच्चुभवजणचित्ताणदिरु।
विमलमई फेडिय-मल-सगमु,
विमलसेणु णामे रिसि पुगमु॥
—सम्मइ जिनचरिउ प्रशस्ति

४. सं० १४१४ वैशाख सुदि १५ गुरौ श्री काष्ठासघे माथुरान्वये भट्टारक श्री देवसेन तत्पट्टे प्रतिष्ठाचार्य श्री विमलसेन देवा अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्रे...... साहु गोकल भार्या लिरदा पुत्र कुधरा भार्या गयसिरि पुत्र देवराज भार्या......। पाटौदी मन्दिर जयपुर

५. सवत् १४२८ वर्षे जेष्ठ सुदि १२ द्वादश्या सोम-वासरे काष्ठासघे माथुरान्वये भट्टारक देवसेन देवा स्तत्पट्टे त्रयोदशचारित्ररत्नालंकृता सकलविमल मुनिमडलीशिष्यशिखामणयः प्रतिष्ठाचार्य श्री-भट्टारक विमलसेनदेवाः तेषामुपदेशेन जाइसवालान्वये सा० वूइपति भार्या मदना पुत्र विजयदेव पत्नी पूजा द्वितीय पुत्र लालसिंह तत्पुत्र विजयदेव तत्पुत्र समस्त-दातुधुरीण साधु श्री भोज भार्या ईसरी पुत्र हम्मीर-देवः द्वितीय भार्या कर्पी करपूरा पुत्र शुभराज कोल्हाकौ हम्मीर देवा भार्या धर्मश्री तत्पुत्र धर्मसिंह एतेषां स्व श्रेयोऽर्थं शिव तत्पुत्रः आदिनाथ नेमिचन्द्रा-भ्यां प्रतिष्ठतम्॥

नया मन्दिर धर्मपुरा दिल्ली वेदी १ कटनी २

उपाधि मलधारी थी। इनका समय १५वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

धर्मसेन—यह भट्टारक विमलसेन के पट्टधर थे, जो वस्तुधर्म के धारक थे, जिन्होंने लोक में दश धर्मों का विस्तार किया था। व्रत, तप शील गुणों में जो श्रेष्ठ थे, बाह्याभ्यान्तर परिग्रहों के निवारक, वे धर्मसेन मुनि जनता को संसार समुद्र से तारने वाले थे। वे काष्ठसंघ के नायक थे और धर्मध्यान के विधान में दक्ष थे, तथा सकल सघ मे शोभायमान थे[1]। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित तीन मूर्तियां पार्श्वनाथ, अजितनाथ और वर्धमान तीर्थंकर की हिसार जिले के मिट्ठी ग्राम से मनीराम जाट को प्राप्त हुई थीं[2]। जो अब हिसारके मन्दिर में विराजमान हैं। जो १४×१० इंच के आकार को लिए हुए हैं। तीनों मूर्तियां पहाड़ी मटियाले पाषाण की हैं। इससे भट्टारक धर्मसेन का समय विक्रम की १५वी शताब्दी का मध्यकाल जान पड़ता है।

भावसेन—इस नाम के अनेक विद्वान हो गए है। उनमें प्रस्तुत भावसेन काष्ठासंघ मथुरान्वय के आचार्य थे, वे धर्मसेन के शिष्य एवं पट्टधर थे। तथा सहस्रकीर्ति के गुरु थे। सिद्धान्त के पारगामी विद्वान थे, शीलादि व्रतों के धारक, शम, दम और क्षमा से युक्त थे। वैभारादि तीर्थ में हुए प्रतिष्ठोदय में जिन्होंने महान योग दिया था। और जो अपने गुणोंकी भावना में सदा तन्मय रहते थे[3]। इनका समय विक्रम की १५वीं शताब्दी है।

सहस्रकीर्ति—यह भावसेन के पट्टधर विद्वान थे। रत्नत्रय के आकर, कर्म-ग्रन्थों के सार विचारक, व्रतादिक के अनुष्ठाता और अनेक सद्गुणों से परिपूर्ण थे। अपने समय के अच्छे विद्वान थे[4]। इनके द्वारा प्रतिष्ठित कोई प्रतिमा लेख और ग्रंथ रचना अभी तक मेरे देखने में नहीं आई। अन्वेषण करने पर उसकी प्राप्ति सम्भव है। इनका समय भी विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी है।

भट्टारक गुणकीर्ति—यह भट्टारक सहस्रकीर्ति के शिष्य एवं पट्टधर थे। १५वीं शताब्दी के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान, विशिष्ट तपस्वी और ज्ञानी थे। ये अपने समय के बड़े प्रभावक और प्रकृति से प्रशान्त एवं सौम्य मूर्ति थे। इनके तप और चारित्र का प्रभाव तोमर वंश के शासकों पर पड़ा, जिससे वे जैनधर्म के प्रति निष्ठावान हुए। उनके तपश्चरण के प्रभाव से राज्य में किसी तरह की कोई सक्रान्ति या विरोध उत्पन्न नहीं हुआ। राजा गण राज्य कार्य का स्वतन्त्रता और विवेक से संचालन करते रहे। और अपनी प्रजा का पुत्रवत पालन करते हुए धर्म-कर्म में निष्ठ रहकर राज्य वैभव की वृद्धि में सहायक हुए। कविवर रइधू और काष्ठासघ की पट्टावली आदि में इनका खुला यशोगान किया गया है[5]। वे काष्ठासंघ रूप उद-

---

१. वत्थु सरूप धम्म-धुरधारउ, दहविहधम्मु भुवणि वित्थारउ। वय-तव-सील गुणहिं जे सारउ, वज्झब्भतर संगणिवारउ, धम्मसेणु मुणि भवसर तारउ,—

सम्मइ जिणचरिउ प्रशस्ति।

काष्ठासघ गणनायकवीरः, धर्मसाधनविधानपटीरः।
राजते सकल संघसमेत, धर्मसेन गुणरेव चिदेतः॥
—काष्ठासघ मा० पट्टावली

२. संवत् १४४२ वैशाख सुदी ५ शनौ श्री काष्ठासघे माथुरान्वये आचार्य श्री धर्मसेनदेव. इन्द्रमीनाकः अग्रोतक वंशे सा० जाल्ह सहाय [भा०] जियतो।

३. भावसेणु पुण भाविय णियगुण।
सम्मइजिण चरिउ प्रशस्ति।

धर्मोद्धारविधिप्रवीणमतिकः सिद्धान्तपारंगामी।
शीलादि व्रतधारकः शम-दम-क्षान्तिप्रभा भासुरः।
वैभारादिक तीर्थराज रचित प्राज्यप्रतिष्ठोदय—
स्तत्पट्टाब्ज विकासनैकतरणिः श्री भावसेनो गुरुः॥
—काष्ठासंघ मा० पट्टावली

४. कर्म-ग्रंथ विचारसार सरणी रत्नत्रयस्याकरः,
श्रद्धाबन्धुरलोकलोकनलिनीनाथोपमः साम्प्रतम्।
तत्पट्टेऽचलचूलिकासुतरणिः कीर्तिऽपि विश्वंभरी।
नित्यं भाति सहस्रकीर्ति यतिपः क्षान्तोऽस्ति दैगम्बरः।
काष्ठासंघ मा० प०

५. तासुपट्टि उदयहि दिवायरु, बज्झब्भतरु-तव-कय-आयरु बुहयण-सत्थ-अत्थ-चितामणि, सिरिगुणकित्ति-सूरि मानव जणि।
—सम्मइ जिन चरिउ

(क) दीक्षा परीक्षा-निपुणः प्रभावान् प्रभावयुक्तो धमदादि मुक्तः।

यादि के लिये दिवाकर थे। बाह्य और आभ्यन्तर तप के आकर थे। बुध जनों में शास्त्र अर्थ के चिन्तामणि थे। दीक्षा परीक्षा में निपुण, प्रभावयुक्त, मदादि से रहित, माथुरान्वय के ललामभूत, राजाओं के द्वारा मान्य आचार्य थे। तपश्चरण से उनका शरीर क्षीण हो गया था। राद्धान्त के वेदी, पापरहित, विद्वानों के प्रिय, माया मान आदि पर्वतों के लिए वज्र, हेयोपादेय के विचार में अग्रणी, काम रूप हस्तिनियों के लिए कंठीरव (सिंह) थे। स्याद्वाद के द्वारा वादियों के विजेता, रत्नत्रय के धारक, माथुर-संघ रूप पुष्कर के लिये शशी थे। दम्भादि से रहित, वस्तु तत्त्व के विचारक और जगतजन के कल्याणकर्ता थे। सं० १४६० में वैशाख सुदि १३ के दिन खडेलवाल वंशी पंडित गणपति के पुत्र पंडित खेमल ने पुष्पदन्त के उत्तर-पुराण की एक प्रति भ० पद्मनन्दि के आदेश से भ० गुण-कीर्ति को प्रदान की थी[1]।

वीरमदेव के राज्य मे भ० गुणकीर्ति के आदेश से पद्मनाम कायस्थ ने यशोधर चरित्र की रचना की थी[2]। सं० १४६८ में आषाढ वदि २ शुक्रवार के दिन ग्वालियर मे उक्त वीरमदेव के राज्य काल मे काष्ठासघ माथुरान्वय पुष्कर गण के भट्टारक गुणकीर्ति की आम्नाय में साहू मर देव की पुत्री देवसिरी ने पंचास्तिकाय टीका की प्रति लिखवाई थी[1]।

सं० १४६९ में माघ सुदी ६ रविवार के दिन राज-कुमारसिंह की प्रेरणा से गुणकीर्ति ने एक धातु की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी।

सं० १४७३ में भ० गुणकीर्ति द्वारा एक मूर्ति की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इनका समय सं० १४६० से १५१० तक है। राजा डूगरसिंह के राज्य काल में जैन मूर्तियों के उत्खनन का जो महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ उस सब का श्रेय भ० गुणकीर्ति को ही है। इनके द्वारा अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा और निर्माण कार्य हुआ है। इन्होंने क्या-क्या ग्रथ रचना की यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

यशःकीर्ति—भ० गुणकीर्ति के लघु भ्राता और शिष्य थे। प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के विद्वान, कवि और सुलेखक थे। जैसा कि पार्श्वपुराण के निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

> **"सु तासु पट्टिभायरो वि आयमत्थ—सायरो,**
> **रिसि सु गच्छणायको जयत्तसिक्खदायको,**
> **जसक्खु कित्ति सुन्दरो अकंपुणायमंदिरो ॥**
>
> **पास पुराण प्रश०**
>
> **तहो बंधउ जसमुणि सीसु जाउ,**
> **आयरिय पणासिय दोसु राउ।**
>
> **—हरिवंश पुराण**
>
> **भव्व कमल संबोह पयंगो,**
> **तह पुणु सु-तव-ताव तवियंगो।**
> **णिच्चोब्भासि य पवयण अंगो,**

> श्रीमाथुरानूकलललामभूतो, भूनाथमान्यो गुण-कीर्ति सूरिः।
>
> —समयसार लिपि प्र० कारजाभंडार
>
> (ख) श्रीमान् तस्य सहस्रकीर्तियतिनः पट्टे विकृष्टेऽभवत्।
> क्षीणांगो गुणकीर्तिसाधुरनघां विद्वज्जनानां प्रियः।
> मायामानमदादिभूधरपवी राद्धान्तवेदी गणी,
> हेयादेय विचारचारुधिषणः कामेभकंठीरवः ३२
> यत्तेजोगुणबद्धबुद्धि मनसो मूलाभवन्तो नुताः।

1. संवत् १४६० वैशाख सुदी १३ खंडिल्लवाल वंशे पंडित गणपति पुत्र पं० खेमलेन एषा पुस्तिका भट्टारक पद्मनन्दिदेवादेशेन गुणकीर्तिये प्रदत्तं ॥

—उत्तरपुराण प्रशस्ति आमेरभंडार

2. उपदेशेन ग्रंथोऽयं गुणकीर्ति महामुनेः।
कायस्थ पद्मनाभेन रचितं पूर्व सूत्रतः ॥

—यशोधर रचित प्रश०

3. संवत्सरेस्मिन् विक्रमादित्य गताब्द १४६८ वर्षे आषाढ़ वदि २ शुक्रदिने श्री गोपाचले राजा वीरमदेव विजय राज्य प्रवर्तमान श्री काष्ठासघे माथुरान्वये पुष्कर-गणे आचार्य श्री भावसेनदेवाः तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्ति देवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणकीर्तिदेवास्तेषामाम्नाये संघइ महाराज वधू साधू मारदेव पुत्री देवसिरि तया इदं पचास्तिकाय सार ग्रथ लिखापितम।

—कारंजाभंडार

1. सं० १४८६ वर्षे आषाढ़ वदि ९ गुरुदिने गोपाचल दुर्गे राजा डूंगरसी (सि) ह राज्य प्रवर्तमाने श्री

वंदिवि सिरि जस कित्ति असंगो।

—सन्मति जिनच०

यशःकीर्ति असंग (परिग्रह रहित) भव्य रूप कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य के समान थे, वे यशःकीर्ति वन्दनीय हैं। काष्ठासंघ माथुर गच्छ की पट्टावली में भी उनकी अच्छी प्रशंसा की गई है। जिनकी गुणकीर्ति प्रसिद्ध थी। पुण्य मूर्ति और कामदेव के विनाशक अनेक शिष्यों से परिपूर्ण, निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक, जिनके चितग्रह में जिन चरण-कमल प्रतिष्ठित थे—जिन भक्त थे और स्याद्वाद के सत्प्रेक्षक थे। इनकी इस समय चार कृतियां उपलब्ध हैं। पाण्डव पुराण, हरिवंश पुराण, आदित्यवार कथा और जिन रात्रि कथा।

आपके द्वारा लिखवाए हुए दो ग्रंथ विबुध श्रीधरकृत भविष्यदत्त चरित्र और सुकमाल चरिउ स० १४८६ में लिखे गए थे। आपने अपने गुरु की अनुमति से महाकवि स्वयंभूदेव के खंडित एवं जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हरिवंश पुराण का ग्वालियर के समीप कुमार नगर मे पणियार के जिन चैत्यालय में श्रावक जनों के व्याख्यान करने के लिये उद्धार किया था। इनकी दोनों पुराण रचना स० १४९७ और १५०० की है। यह भ० पद पर कब प्रतिष्ठित हुए और कब उसका परित्याग कर अपने शिष्य मलयकीर्ति को उस पर प्रतिष्ठित किया, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। कवि रइधू ने भी इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। इनका समय सं० १४८० से १५१० तक तो है ही, उसके बाद वे कब तक इस भूभाग को अलंकृत करते रहे यह अन्वेषणीय है। आपके अनेक शिष्य थे। और आपने अनेक देशों में विहार करके जिन शासन को चमकाने का प्रयत्न किया था। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे। आपके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियां होंगी। किन्तु उनका मुझे दर्शन नहीं हुआ। ग्वालियर भट्टारकीय भंडार मे उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हो सकते हैं। और मूर्तिलेख भी, ग्वालियर का भट्टारकीय मन्दिर बन्द होने से मैं उनके लेखादि नहीं ले सका। इनके समय में कवि रइधू ने अनेकों ग्रन्थों की रचना की है।

मलयकीर्ति—यह यशःकीर्ति के पट्टधर थे। अच्छे विद्वान और प्रतिष्ठाचार्य थे। कवि रइधू ने आपका निम्न वाक्यों से उल्लेख किया है:—

उत्तम खम वासेण अमंदउ,
मलयकित्ति रिसिवरु चिरुणंदउ।

—सम्मइ जिन चरिउ

काष्ठासंघ स्थित माथुरगच्छ पट्टावली में भी, दीक्षा देने में सुदक्ष, सहृदय, सच्चरित, मुक्तिमार्गी, लोभ, क्रोध, और मायारूप मेघों को उड़ाने के लिये मारुति (वायु) देव थे। वे मलयकीर्ति जयवन्त हों[3]।

काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री सहस (स्र) कीर्ति देवास्तत्पट्टे आचार्य गुणकीर्तिदेवास्तच्छिष्य श्री यशःकीर्तिदेवास्तेन निजज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं इद भविष्यदत्त-पंचमी कथा लिखापितम्।
—जैन नया मन्दिर धर्मपुरा, दिल्ली

स० १४८६ वर्षे आश्वणि वदि १३ सोमादिने गोपाचलदुर्गे राजा डूगरेन्द्रसिंह देव राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री भावसेनदेवास्तत्पट्टे श्रीसहस्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे श्रीगुणकीर्तिदेवास्तत्शिष्येन श्रीयशःकीर्तिदेवेन निजज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थ इद सुकमालचरित लिखापितम् कायस्थ याजन पुत्र थलू लेखनीयं।
—सुकमालचरित प्रश०

२. तं जसकित्ति-मुणिह उद्धरियउ,
णिएवि सुत्तु हरिवसच्छचरिउ।
णिय-गुरु-सिरि-गुणकित्ति-पसाएं,
किउ परिपुण्णु पणहो आणुराए।
सरह सणेद (?) सेठि आएसं,
कुमर-णयरि आविउ सविसेसें।
गोवग्गिरिहे समीवे विसालए,
पणियारहे जिणवर-चेयालए।
सावयजणहो पुरउ वक्खाणिउ,
दिढु मिच्छत्तु मोहु अवमाणिउ।—हरिवंश पुराण प्र०

३. दीक्षादाने सुदक्षोवगतगुरु शिष्यवा क्षेत्रनाथ।
ध्यायतन्त श्रान्त शिष्टं चरित सहृदयो मुक्तिमार्गे॥
यो लोभक्रोध मायाजलद विलयने मारुतो माथुरेशः।
काष्ठासघे गरिष्ठो जयति स मलयाद्यस्तत: कीर्तिसूरिः।
—काष्ठासघ मा० प्र०

यह मलयकीर्ति वही जान पडते है जिन्होंने सं० १४९४ में मूलाचार की प्रशस्ति लिखी थी। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां मन्दिरों में अनेक मिलेंगी किन्तु मुझे तो केवल दो मूर्ति लेख ही प्राप्त हो सके है[1]। अन्वेषण करने पर और भी मिल सकते है। इनकी रचनाएँ अभी तक प्राप्त नही हुई। जिनका अन्वेषण करना आवश्यक है। या कोई भिन्न मलयकीर्ति है।

भट्टारक गुणभद्र—भ० मलयकीर्ति के पट्टधर एवं शिष्य थे। आप अपभ्रंश भाषा के विद्वान कवि और प्रतिष्ठाचार्य थे। आपने अपने जीवन को आत्म-साधना के साथ धर्म और समाज-सेवा में लगाया था। आपके द्वारा रची गई १५ कथाए खजूर मस्जिद दिल्ली के पंचायती मन्दिर के एक गुच्छक मे उपलब्ध है। जिन्हे उन्होंने ग्वालियर में रहकर भक्त श्रावको की प्रेरणा से बनाई थी, जिनके नाम इस प्रकार है—१. सवणवारसि कहा, २. पक्खवइ कहा, ३. आयास पंचमी कहा, ४. चदायणवय कहा, ५. चदण छट्ठी कहा, ६. दुग्धारस कहा, ७. णिद्दुह सत्तमी कहा, ८. मउड सत्तमी कहा, ९. पुप्फांजलि कहा, १०. रयणत्तय कहा, ११. दहलक्खणवयकहा, १२. अणतवय कहा, १३. लद्धिविहाण कहा, १४. सोलहकारणकहा रयणत्तय कहा, १५. सुगध दहमी कहा[2]।

कवि ने इन कथाओं मे, व्रत का स्वरूप, उनके आचरण की विधि और फल का प्रतिपादन करते हुए व्रत की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है। इनमे से सवण वारसि कहा और लब्धि विधान कहा, इन दो कथाओं को ग्वालियर के संघपति उद्धरण के जिन मन्दिर में बैठकर सारंगदेव के पुत्र देवदास की प्रेरणा से रचा गया है। पुष्पाजलि, दहलक्खणवय कहा और अनंतवय कहा इन तीनो को जयसवालवंसी लक्ष्मणसिंह चौधरी के पुत्र पंडित भीमसेन के अनुरोध से रचा है। और नरक उतारी दुद्धारस कहा, ग्वालियर निवासी साहू बीधा के पुत्र सहणपाल के अनुरोध से रची गई है। भ० गुणभद्र नाम के अनेक विद्वान हो गए है। परन्तु उनमे प्रस्तुत गुणभद्र सबसे भिन्न जान पड़ते है। इनका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी है। इनके समय में अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपि की गई, और मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी हुई है। उनमें से दो मूर्ति लेख यहाँ दिये जाते है।

१. स० १५२९ वैशाख सुदि ७ बुधे श्री काष्ठासंघे भ० श्री मलयकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोत्कान्वये मित्तल गोत्रे आदि लेख है। यह धातु की मूर्ति भ० आदिनाथ की यक्ष यक्षिणी सहित है।

२. सं० १५३१ फाल्गुण सुदि ५ शुक्रे काष्ठासंघे भ० गुणभद्राम्नाये जैसवाल सा० काल्हा भार्या [जयश्री] आदि। यह मूर्ति १८ इंच धातु की है।

इस सब विवेचन से पाठक भट्टारक गुणभद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

भानुकीर्ति—यह भट्टारक गुणभद्र के पट्टधर थे। अपने समय के अच्छे विद्वान, उपदेशक और प्रतिष्ठाचार्य थे। शब्द शास्त्र, तर्क, काव्य अलंकार एवं छन्दों मे निष्णात थे[3]। इनके द्वारा लिखी हुई एक रविव्रत कथा

---

१. स० १५०२ वर्षे कार्तिक सुदी ५ भौमदिने श्री काष्ठासंघे श्री गुणकीर्तिदेवाः तत्पट्टे श्री यशःकीर्ति देवाः तत्पटटे मलयकीर्तिदेवान्वये साहु नरदेव तस्य भार्या जैणी।

—अनेकान्त वर्ष १०, पृ० १५९

स० १५१० माघ सुदि १३ सोमे श्री काष्ठासघे आचार्य मलयकीर्ति देवाः तैः प्रतिष्ठितम्।
गुणगणमणिभूषो वीतकामादि शेषः,
कृत जिनमत तोषस्तत्पदेशान्त वेयः।
धनचरणविशेषः सत्यघोषे विरोधो,
जयति च गुणभद्र सूरिरानन्दभूरिः।

—काष्ठासं मा० प०

२. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० ११२।

३. यो जानातिसुशब्दशास्त्रमनघ काव्यानि तर्कादिद,
सालाकार गुणैर्युतानि नियत जानाति छन्दांसि च।
यो विज्ञानयुतो दयाशमगुणैर्भातीहि नित्योदय,
जीयाच्छ्री गुणभद्रसूरि...श्रीमानुकीर्ति गुरुः॥
कमलकित्ति उत्तमखम धारउ,
भव्वह भव-अम्भोणिहितारउ।
तस्स पट्ट कणयट्टि परिट्ठउ,
सिरि सुहचंद सु-तव उक्कंट्ठिउ॥

मेरे अवलोकन में आई है। परन्तु अन्य रचनाओं का अभी तक पता नहीं चला। इनका समय विक्रम की १६वीं और १७वीं शताब्दी है।

कमलकीर्ति—हेमकीर्ति के पट्टधर थे। यह सं० १५०६ में पट्टधर थे, उस समय चन्द्रवाड में राजा रामचन्द्रदेव और उनके पुत्र युवराज प्रतापचन्द्र के समय कविवर रइधू ने शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। तब हेमकीर्ति के पट्टधर कमलकीर्ति प्रतिष्ठित थे[1]। इनका समय भी विक्रम की १६वीं शताब्दी है।

इनके दो शिष्य थे शुभचन्द्र और कुमारसेन। उनमें शुभचन्द्र कमलकीर्ति के पट्ट पर सोनागिर में प्रतिष्ठित हुए थे[2]। और कुमारसेन भानुकीर्ति के पट्ट पर आसीन हुए थे। कुमारसेन के शिष्य हेमचन्द्र थे और हेमचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि। पद्मनन्दि के शिष्य यशःकीर्ति थे जिन्होंने सं० १५७२ मे केशरिया जी में सभा मण्डप बनवाया था। इन यशःकीर्ति के दो शिष्य थे गुणचन्द्र और क्षेमकीर्ति, गुणचन्द्रका सम्बन्ध दिल्ली पट्ट परम्परा से है।

माथुरगच्छ के एक अन्य कमलकीर्ति का उल्लेख मिलता है जिन्होने देवसेन के तत्त्वसार की एक संस्कृत टीका बनाई है, वे अमलकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने उस टीका की प्रशस्ति मे अपनी गुरु-परम्परा निम्न प्रकार बतलाई है। क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, संयमकीर्ति, अमलकीर्ति और कमलकीर्ति[1]। हो सकता है कि ये दोनों कमलकीर्ति एक हों। कारण कि सं० १५२५ के मूर्तिलेख मे जो कविवर रइधू द्वारा प्रतिष्ठित है। उसमें भ० अमलकीर्ति और उनके बाद शुभचन्द्र का उल्लेख है[2]। और यह भी हो सकता है कि दोनों कमलकीर्ति भिन्न ही हों, क्योंकि दोनों के गुरु भिन्न-भिन्न है और यह भी सम्भव है कि एक ही विद्वान के दीक्षा और शिक्षा गुरु के भेद से दो विद्वान गुरु रहे हों। कुछ भी हो, इस संबंध में अन्वेषण करना अत्यन्त आवश्यक है।

कुमारसेन[3]—भानुकीर्ति के शिष्य थे। स्याद्वाद रूप निर्दोष विद्या के द्वारा वादीरूपी गजों के कुम्भस्थल के विदारक थे। सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के धारक थे। कामदेव के जीतने वाले तथा महाव्रतों का आचरण करने वाले थे। अच्छे विद्वान तपस्वी और जनकल्याण करने मे सदा तत्पर रहते थे। इसीसे पांडे राजमल जी ने उनकी विजय कामना की है।

---

१. देखो जैन ग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह भा० २ पृ० १११ की टिप्पणी।

२. सिरि-कंजकित्ति-पट्टंबरेसु,
तच्चत्थ-सत्थ भासण दिणेसु।
उदइय-मिच्छत्त तमोह-णासु,
सुहचन्द भडारउ सुजस-वासु॥
—हरिवंश पुराण प्रशस्ति

तत्पट्टमुच्चमुदयाद्रि मिवानुभानुः,
श्रीभानुकीर्तिरिह भाति हतांधकारः।
उद्योतयन्निखिल सूक्ष्मपदार्थसार्थान्,
भट्टारको भुवनपालक पद्मबन्धुः॥६२॥
—जम्बूस्वामि चरित पृ० ८

हेमकीर्ति दिल्ली के भट्टारक प्रभाचन्द्र के प्रशिष्य और शुभचन्द्र के शिष्य थे। ये वही हेमकीर्ति ज्ञात होते है जिनका उल्लेख सं० १४६५ के विजोलिया में उत्कीर्ण शिलालेख में हुआ है। इससे इनका समय विक्रम की १५वीं शताब्दी है।
शिष्येऽय शुभचन्द्रस्य हेमकीर्ति महासुधीः।
देखो अनेकान्त वर्ष ११ कि० १०, पृ० ३६।

३. तत्पट्टमब्धिमभिवर्द्धनहेतुरिन्द्रः,
सौम्यः सदोदयमयोलसदंशुजालैः।
ब्रह्मव्रताचरणनिर्जितमारसेनो,
भट्टारकोविजयतेऽथकुमारसेनः॥६३॥
—जम्बूस्वामी चरित पृ० ८

चेतन चित परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ।
कण बिन तुष जिम फटकतै, कछु न आवै हत्थ।
चेतन चित परिचय बिना कहा भये व्रत धार।
शालि विहूने खेत की, वृथा बनावत वार॥　　**—रूपचन्द**

शहडोल जिले में जैन संस्कृति का एक अज्ञात केन्द्र

प्रो० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', एम. ए., शास्त्री

वर्तमान मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ सम्भाग में भारतीय इतिहास, कला और संस्कृति की अनेक अनुपम निधियां अब भी अछूती हैं। शहडोल जिला इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। शहडोल जिले में पर्यटन करने का अवसर मुझे गत माह मिला और इसी सन्दर्भ में, मैंने एक महत्वपूर्ण स्थान का पर्यवेक्षण किया।

शहडोल जिले में, दक्षिण-पूर्वी रेलवे के अनूपपुर जकशन से चिरमिरी जाने वाली ब्राञ्च लाइन पर कोतमा एक महत्वपूर्ण एवं समृद्ध व्यापारिक और राजनैतिक केन्द्र है। कोतमारेलवे स्टेशन से पांच मील पूर्व की ओर 'किवई' नामक रमणीय नदी बहती है। इस नदी के तट पर अनेक महत्वपूर्ण प्राचीन स्थान होने की सूचनाएं मुझे स्थानीय लोगों से मिली। उनमें से एक स्थान का सर्वेक्षण मैंने किया है, वह यहाँ प्रस्तुत है—

कोतमा से पांच मील पूर्व में 'किवई नदी' के तटवर्ती प्रदेश को अब रण्डही और गड़ई नामों से पुकारा जाता है। 'रण्डही' अरण्य का 'गड़ई' गढ़ी का अपभ्रंश हो सकता है। कदाचित् पहले इस स्थान पर कोई गढ़ी (छोटा किला) रही होगी, जो अब ध्वस्त हो गई है। वर्तमान में इस तटवर्ती प्रदेश को अरण्य संज्ञा सरलता से दी जा सकती है। यह स्थान निकटवर्ती ग्रामों—चन्दोरी से एक मील पूर्व में. ऊरा से एक मील उत्तर-पश्चिम में तथा कठकोना से एक मील दक्षिण-पश्चिम मे किवई नदी के पूर्वी तट पर है। इस स्थान का चारों ओर काफी दूर तक पर्यवेक्षण किया। लेखक का दृढ़ विश्वास है कि प्राचीन काल में यह एक समृद्ध केन्द्र था। प्राचीन नागरिक सभ्यता के अवशेष पर्याप्त मात्रा में अब भी यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। तांबे तथा लोहे की प्रचीन वस्तुए, पकी मिट्टी के खिलौने तथा गृहोपयोगी पत्थर आदि की वस्तुएं भूमि के अन्दर तथा ऊपर प्रचुरता से प्राप्त होती हैं। यदि इस स्थान पर उत्खनन कार्य कराया जाय तो निश्चित ही नई सामग्री उपलब्ध होगी। यहाँ उलब्ध कलाकृतियों और पुरातात्त्विक अवशेषों से यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि इस प्रदेश में शैव और जैन-धर्मों का अच्छा प्रभाव था।

यद्यपि शैव धर्म से सम्बन्धित शिवलिंग ही यहाँ उपलब्ध होते हैं जबकि जैन तीर्थंकर मूर्ति वहाँ विशेष कही जा सकती है। प्रस्तुत निबन्ध में इस प्रदेश में विशेष रूप से प्रसिद्ध और मान्यता प्राप्त एक जैन तीर्थंकर प्रतिमा का विश्लेषण उपस्थित किया जा रहा है।

प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभनाथ की यह अत्यन्त सुन्दर और प्राचीन प्रतिमा इस प्रदेश में "ठाकुर बाबा" के नाम से विख्यात है। वर्तमान में यह एक बेल के वृक्ष के निकट नवनिर्मित चबूतरा सम्प्रति दो फुट तीन इच ऊँचा, छह फुट नौ इंच लम्बा और आठ फुट तीन इच चौड़ा है। इसी चबूतरे के मध्य में कुछ पुराने मूर्ति खण्डों और अन्य शिलाखण्डों के सहारे उक्त तीर्थंकर प्रतिमा टिकी हुई है।

भगवान् ऋषभनाथ की यह प्रतिमा किंचित् हरित् वर्ण, चमकदार, काले पाषाण से निर्मित है। यह पत्थर वैसा ही है जैसा कि खजुराहो की मूर्तियों के निर्माण में प्रयुक्त हुआ है। मूर्तिफलक की ऊँचाई दो फुट तीन इंच, चौड़ाई एक फुट दो इंच तथा मोटाई छह इंच है। पद्मासनस्थ इस जिन प्रतिमा के छह इंच ऊंचे पादपीठ में (दोनों ओर) शार्दूलों के मध्य झूलती हुई मणिमाला के बीचोंबीच तीर्थंकर का लाञ्छन बृषभ बहुत सुन्दरता से अंकित है। इसके ऊपर बायें एक श्रावक और दायें एक श्राविका अपने हाथों में फल (कदाचित् नारियल) लिए हुए भक्तिविभोर और श्रद्धावनत हो उठे है। कदाचित् ये आकृतियाँ मूर्ति-समर्पकों या प्रतिष्ठापकों की होंगी। पादपीठ में ही दायें गोमुख यक्ष तथा बायें चक्रेश्वरी

यक्षी की लघु आकृतियां अकित है ।

पादपीठ पर से मुख्य मूर्ति एक फुट तीन इच ऊची एवं एक फुट दो इंच चौड़ी है । मूर्ति में श्रीवत्स का लघु आकार में अंकन, कन्धों तक लटकती हुई केश राशि तथा पृष्ठभाग में चक्राकार भामण्डल विशेष उल्लेखनीय है । मूर्ति के शिरोभाग पर क्रमशः तीन छत्र इस भव्यता और चारुता से उत्कीर्ण किये गये है कि उनमें गुथा हुआ एक प्रत्येक मणि साकार हो उठा है । छत्रत्रय के दोनों पार्श्वों मे भगवान का मानों अभिषेक करने हेतु अपने शुडादण्डो में कलश लिए हुए अत्यन्त सुसज्जित गजराजो का मनोरम निदर्शन दर्शको का मन सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है ।

मुख्य मूर्ति के उभय पार्श्वों में अशोक वृक्ष के नीचे तीन-तीन इंच की दो-दो (प्रत्येक ओर) तीर्थंकर मूर्तियाँ और भी अंकित है । इन सबके पृष्ठ भागो मे प्रभामण्डल तो है ही, कंधों पर केशराशि भी दिखाई गई है ।

यद्यपि इस मूर्ति पर कोई लेख नहीं है, तथापि सम-सामयिक कला और मूर्तिगत विशिष्ट लक्षणों के आधार पर इनका निर्माण काल ईसाकी सातवीं-आठवी शती प्रतीत होता है । इस समय महाकोशल में जैन धर्म एक शक्ति-शाली धर्म के रूप मे समादृत था और कलचुरि वश के शासको ने इसे पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया था । विंध्य प्रदेश कलचूरियों की राज्य सीमा में विद्यमान था ।

दुःख का विषय है कि कुछ वर्ष पूर्व किसी पागल ने इसे खण्डित कर दिया । किन्तु मूर्ति के तीनो खण्ड सुरक्षित हैं तथा अच्छी स्थिति मे है ।

यद्यपि इस मूर्ति के आस-पास के ग्रामों मे अब एक भी जैन नही है तथापि उस प्रदेश की जैनेतर जनता इसे बहुत श्रद्धा और भक्ति के साथ पूजती है । प्रत्येक मंगल कार्य मे वे बहुत आदर के साथ इसे स्मरण करते है तथा यथाशक्ति घी, दूध, नारियल, सुपाड़ी, फूल, फल तथा अगरबत्ती अर्पित करते हैं । नौदुर्गा के अवसर पर एक बडे मेले का आयोजन भी यहाँ होता है । इस मूर्ति के महत्त्व के सम्बन्ध मे निकटवर्ती ग्राम कठकोना के प्रमुख भूतपूर्व जमीदार का जबानी बयान सुनिए, जो अपने पूरे गाँव की ओर से इस मूर्ति की उपासना करने आया था । उसी के शब्दो मे प्रस्तुत है :—

"हमारा नाँव झुन्नू बलद काशीराम है । मोर उमर ६५ साल की है । हम ई गाँव के जमीदार आहन । ई मूरत की पूजन हमी करत हन । रोट, नरियल, दम कथा गाँव वारन की तरफ से टैम-टैम से होत रहत है । आस-पास के गाँवन के लोग हर सुम्वार को इकट्ठे होकर फल, फूल, दूध, घी चढाते है, भक्ते गावत है । ई देवता जीव नहीं माँगता । ए ही देव हमारे गाँव का रक्षक है ।"

इस बयान के समय उसकी श्रद्धा पद पद पर टपक रही थी । गाँव मे पहुँचने पर अन्य लोगों से वर्ता मे उक्त तथ्यों की पुष्टि पाई । इस मूर्ति से करीब १ फर्लांग दूर एक प्राचीन मन्दिर के अवशेष भी है ।

किवई नदी[1] के तट पर ही अन्यत्र, कोतमा से करीब दो मील एक शिलालेख उत्कीर्ण होने की सूचनाएँ भी प्राप्त हुई है । यदि किवई नदी के तटवर्ती प्राचीन स्थानो का सर्वेक्षण और आवश्यकतानुसार उत्खनन कराया जाता है तो प्राचीन कौशल, विशेष रूप से छत्तीसगढ के इतिहास पर नया प्रकाश पडेगा ।

---

१. मुझे इस स्थान का पर्यटन कराने का श्रेय श्रीविरतीलाल जैन कोतमा तथा उनके मित्रो को है । अत उन्हे धन्यवाद ।

युक्त्यनुशासन : एक अध्ययन

डा० दरबारीलाल जैन कोठिया

युक्त्यनुशासन के उल्लेख और मान्यता :

युक्त्यनुशासन समन्तभद्र की एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृति है। यों तो उनकी प्रायः सभी कृतियाँ अर्थ गम्भीर और दुरूह है। पर युक्त्यनुशासन उनमें भी अत्यन्त जटिल एव गम्भीर है। इसका एक-एक वाक्य सूत्रात्मक है और बहु-अर्थ का बोधक है। साधारण बुद्धि और आयाम से इसकी गहराई एवं अन्तस्तल में नही पहुँचा जा सकता है। इसे समझने के लिए दार्शनिक प्रतिभा, असाधारण मेघा' एकाग्र साधना और विशिष्ट परिश्रम की आवश्यकता है। युक्त्यनुशासन की इन्ही विशेषताओं के कारण हरिवश पुराणकार ने[1] समन्तभद्र-वाणी को वीर-वाणी की तरह प्रभावशालिनी बतलाया है। विद्यानन्द ने तो उससे प्रभावित होकर उस पर व्याख्या लिखी है और अपने ग्रन्थ मे उसके वाक्यों को प्रमाण रूप मे प्रस्तुत करके अपने कथन की सम्पुष्टि की है। आप्तपरीक्षा (पृ० ११८) मे वैशेषिक दर्शन की समीक्षा के सन्दर्भ में युक्त्यनुशासन (का० ७) के एक प्रमाण-वाक्य "संसर्गहानेः सकलार्थ हानिः" का विस्तृत अर्थोद्घाटन किया है। उसे भाष्य कहा जाय तो आश्चर्य नही है। वस्तुतः विद्यानन्द के इस अर्थोद्घाटन से उक्त वाक्य की गम्भीरता और दुरूहता की कुछ झाँकी मिल जाती है। यही बात समग्र युक्त्यनुशासन की है।

विद्यानन्द से दो शती पूर्व भट्ट अकलङ्कदेव (ईसा की ७वीं शती) ने भी युक्त्यनुशासन के वाक्यो और कारिकाओं को उद्धृत किया है। तत्त्वार्थवार्त्तिक (पृ० ३५) में आगत अनेकान्त लक्षण—"एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः"—पर युक्त्यनुशासन (का० ४८) के "युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।" इस वाक्य का प्रभाव लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त त० वा० १-१२ (पृ० ५७) मे 'प्रत्यक्ष बुद्धिः क्रमने न यत्र" (युक्त्य० का० २२) इत्यादि पूरी कारिका भी उद्धृत पाई जाती है और उसे "उक्तंच" के साथ प्रस्तुत करके उन्हें उससे अपने प्रतिवादन को प्रमाणित किया है।

अकलङ्कदेव से लगभग दो शताब्दी पहले आचार्य पूज्यपाद—(ई० ५वीं शती) ने भी युक्त्यनुशासन का उपयोग किया जान पड़ता है। युक्त्यनुशासन मे दो स्थलों (का० ३६, ३७) में शीर्षोपहार, दीक्षा आदि से देवों की आराधना कर सिद्ध बनने वालो की मीमांसा की गई है, जो सुख की तीव्र लालसा रखते हैं, पर अपने दोषों (राग-द्वेष-मोहादि) की निवृत्ति नही करते। यथा—

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः।
सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम्।

\+ \+ \+

स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम्।
निर्घुष्य दीक्षासम-मुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्यावत
विभ्रमन्ति ॥३७॥

पूज्यपाद ने भी लगभग इन्हीं शब्दों में अपनी सर्वार्थसिद्धि (९-२, पृ० ४१०) में संवर के गुप्त्यादि साधनों के विवेचन सन्दर्भ में यही कहा है—

'तेन तीर्थाभिषेक-दीक्षा-शीर्षोपहार-देवताराधनादयो निवर्तिता भवन्ति; राग-द्वेष-मोहोपात्तस्य कर्मणोऽन्यथा निवृत्त्यभावात्।'

इन दोनों स्थलों की तुलना से प्रतीत होता है कि पूज्यपाद युक्त्यनुशासन से परिचित एवं प्रभावित थे और उसकी उक्त कारिका का उनके उक्त वाक्यों पर प्रभाव है। युक्त्यनुशासन के "शीर्षोपहारादिभिः" और "दीक्षासममुक्तिमानाः" तथा सर्वार्थसिद्धि के "...दीक्षा-शीर्षो-

---

१. वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते।
—जिनसेन (द्वितीय), हरिवंश पुराण १-३०।

पह्नर-देवताराधनादयो" इन शब्दों के अतिरिक्त युक्त्य-नुशासन के "सिद्धयन्ति दोषापचयानपेक्षा" और सर्वार्थ-सिद्धि के "राग-द्वेष-मोहोपात्तस्य कर्मणोऽन्यथा निवृत्त्य-भावात्" पद विशेष ध्यातव्य हैं जो स्पष्टतः युक्त्यनु-शासन का सर्वार्थसिद्धि पर प्रभाव सूचित करते हैं।

नाम—

संस्कृत टीकाकार आ० विद्यानन्द ने टीका का आरम्भ मध्य और अन्त में 'युक्त्यनुशासन' नाम से उल्लेख किया है। आदिवाक्य[1], जो मंगलाचरण या जयकार पद्य के रूप में है, समन्तभद्र के इस स्तोत्र का जयकार करते हुए उन्होंने इसका नाम स्पष्ठतया 'युक्त्यनुशासन' प्रकट किया हैं। कारिका ३९ की टीका समाप्ति पर, जहाँ प्रथम प्रस्ताव पूर्ण हुआ है और जो प्रायः ग्रंथ का मध्य भाग है, एक पद्य[2] तथा पुष्पिका वाक्य में[3] भी विद्यानन्द ने प्रस्तुत स्तोत्र का नाम 'युक्त्यनुशासन' बतलाया है। इसके अतिरिक्त टीका के अन्त में दिये गये दो समाप्ति पद्यों में से दूसरे पद्य में[4] और टीका समाप्ति पुष्पिकावाक्य मे[5] स्वामी समन्तभद्र की कृति के रूप मे इसका 'युक्त्यनु-शासन' नाम स्पष्टतः निर्दिष्ट है।

हरिवंश पुराण के कर्ता जिनसेन[6] (वि० सं० ८४०) ने भी अपने इसी पुराण के आरम्भ में पूर्ववर्ती आचार्यों के गुण वर्णन सन्दर्भ में समन्तभद्र की एक कृति का नाम 'युक्त्यनुशासन' दिया है और उन्हें उसका कर्ता कहा है। आश्चर्य नही, उनकी वह 'युक्त्यनुशासन' नाम से उल्लि-खित कृति प्रस्तुत कृति ही हो।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि उक्त नाम स्वयं समन्त-भद्र के लिए भी इष्ट है या नहीं? यदि इष्ट है तो उन्होंने ग्रंथ के आदि अथवा अन्त में वह नाम निर्दिष्ट क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि उपर्युक्त नाम स्वयं समन्तभद्रोक्त है। यद्यपि उन्होंने वह नाम ग्रंथ के आरम्भ में या अन्त में नहीं दिया, तथापि उसके मध्य में वह नाम उपलब्ध है। कारिका ४८ में[7] समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन' पद का प्रयोग करके उसकी सार्थकता भी प्रदर्शित की है। उन्होंने बतलाया है कि 'युक्त्यनुशासन' वह शास्त्र है, जो प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थ का प्ररूपक है। अर्थात् युक्ति (हेतु), जो प्रत्यक्ष और आगम के विरुद्ध नही है, पूर्वक तत्त्व (वस्तु स्वरूप) की व्यवस्था करने वाले शास्त्र का नाम युक्त्यनुशासन है। जो अर्थ प्ररूपण प्रत्यक्ष विरुद्ध अथवा आगम विरुद्ध है वह युक्त्यनुशासन नहीं है। युक्त्यनुशासन की यह परिभाषा प्रस्तुत ग्रथ में पूर्णतया पाई जाती है। अपनी इस परिभाषा के समर्थन मे समन्तभद्र ने इसी कारिका (४८) मे एक उदाहरण भी उपस्थित किया है। वह इस प्रकार है—'अर्थरूप (वस्तुस्वरूप) स्थिति, उत्पत्ति और विनाश इन तीनों को प्रति समय लिए हुए ही तत्त्वतः व्यवस्थित होता है, क्योंकि वह सत् है' इस उदाहरण में जिस प्रकार वस्तु का स्वरूप उत्पादादित्रयात्मक (युक्ति हेतु) पुरस्सर सिद्ध किया गया है और वह प्रत्यक्ष अथवा आगम से विरुद्ध नहीं है उसी प्रकार वीर-शासन में समग्र अर्थसमूह प्रत्यक्ष और आगमा-विरोधी युक्तियों से सिद्ध है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष और आगम से अबाधित तथा प्रमाण और नय से निर्णीत अर्थ प्ररूपण वीर-शासन में ही उपलब्ध होता है और उसी प्रकार अर्थ प्ररूपण समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन ग्रन्थ में किया है। अतः प्रत्यक्ष और आगमाविरुद्ध अर्थ (तत्त्व) का प्ररूपक होने से वीर-शासन युक्त्यनुशासन है और वीर-शासन का ही इस ग्रन्थ में प्ररूपण होने से इसें 'युक्त्य-नुशासन' नाम दिया जाना सर्वथा उपयुक्त है। और वह

१. जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम्।
—युक्त्य० टी० पृ० १, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थ-माला, बम्बई।

२. स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः।
—वही पृ० ८६।

३. इति युक्त्यनुशासनं परमेष्ठिस्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः।
—वही पृ० ८६।

४. प्रोक्तं युक्त्यनुशासनु विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः।
—युक्त्य० टी० पृ० १८२।

५. इति श्रीमद्विद्यानन्द्याचार्यकृतो युक्त्यनुशासनालङ्कारः समाप्तः।
—वही पृ० १८२।

६. जीवसिद्धिविधायीह कृत युक्त्यनुशासनम्।
—हरि० पु० १–३०।

७. दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।

उक्त प्रकार से समन्तभद्र अभिहित ही है।

परवर्ती विद्यानन्द, जिनसेन (हरिवंश पुराणकार) जैसे मूर्धन्य ग्रंथकारों ने समन्तभद्र द्वारा दत्त नाम से ही इसका उल्लेख किया है। उन्होंने वह नाम स्वयं कल्पित नहीं किया।

एक प्रश्न और यहाँ उठ सकता है। वह यह कि यदि उक्त नाम स्वयं समन्तभद्रोक्त है तो उसे उन्होंने ग्रंथ के आदि अथवा अन्त में ही क्यों नहीं दिया, जैसा कि दूसरे ग्रंथकारों की भी परम्परा है? समन्तभद्र ने स्वयं अपने अन्य ग्रंथों के नाम या तो उनके आदि में दिये हैं और या अन्त में। देवागम (आप्तमीमांसा) में उसका नाम आदि में देवागम और अन्त में आप्तमीमांसा निर्दिष्ट है। स्वयम्भूस्तोत्र में उसका नाम आरम्भ में "स्वयम्भुवा" (स्वयम्भू) के रूप में पाया जाता है। इसी प्रकार रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में उसका नाम उसके अन्तिम पद्य में आये "...रत्नकरण्डभावं" पद के द्वारा प्रकट किया है। परन्तु प्रस्तुत युक्त्यनुशासन में ऐसा कुछ नहीं हैं?

इसका समाधान यह है कि ग्रन्थकार अपने ग्रंथ का नाम उसके आदि और अन्त की तरह मध्य में भी देते हुए मिलते हैं। उदाहरण के लिए विषापहारकार धनञ्जय को लिया जा सकता है। धनञ्जय ने अपने स्तोत्र 'विषापहार' का नाम न उसके आरम्भ मे किया और न अन्त में। किन्तु स्तोत्र के मध्य मे एक पद्य (१४) में[1] प्रकट किया है, जिसमें 'विषापहार' पद आया है और उसके द्वारा स्तोत्र का नाम 'विषापहार' सूचित किया है। इसी प्रकार समन्तभद्र ने इस ग्रन्थ के मध्य मे "दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं" (का० ४८) इस कारिका वाक्य में प्रयुक्त 'युक्त्यनुशासन ते' पद से इसका 'युक्त्यनुशासन' नाम अभिहित किया है। फलतः उत्तरवर्ती ग्रंथकारों में इसका यही नाम विश्रुत हुआ और उन्होंने उसी नाम से अपने ग्रंथों में निर्देश किया। अतः इसका मूल नाम 'युक्त्यनुशासन' (युक्ति शास्त्र) है।

मूल ग्रंथ और उसकी विद्यानंद-रचित संस्कृत-टीका-पर से इसके अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं। वे हैं—वीर-स्तुति, वीर-स्तोत्र, परमेष्ठि-स्तोत्र और परमात्मस्तोत्र। "...स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं" (का० १) इससे "वीर-स्तुति", 'न रागान्नः स्तोत्रं भवति भव पाशच्छिदि मुनौ" (का० ६३) और "स्तुतः शक्त्या...वीरो" (का० ६४) इन पदों से तथा "स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः" (टी० ८९) इस टीका पद्य से "वीर-स्तोत्र", "इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठिस्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः" (टी० पृ० ८९) इस मध्यवर्ती टीका-पुष्पिकावाक्य से "परमेष्ठिस्तोत्रे" और "श्रद्धागुणज्ञतयोरेव परमात्मस्तोत्रे युक्त्यनुशासने प्रयोजकत्वात्" (टी० पृ० १७८) इस टीका-वाक्य से "परमात्म-स्तोत्र" ये चार नाम फलित होते है। वस्तुतः समन्तभद्र ने इसमें भगवान् वीर और उनके शासन का गुणस्तवन किया है। अतः इनके ये नाम सार्थक होने से फलित हों तो कोई आश्चर्य नही है। ग्रंथ की प्रकृति उन्हें बतलाती है[1]।

नाम पर प्रभाव—

लगता है कि समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन की रचना नागार्जुन की 'युक्तिषष्ठिका' से प्रेरित होकर की है। 'युक्तिषष्ठिका' ६१ पद्यों की बौद्ध दार्शनिक कृति है। इसमें नागार्जुन ने, जो माध्यमिक (शून्याद्वैत) सम्प्रदाय के प्रभावशाली विद्वान् हैं, और जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द तथा गृद्धपिच्छ की समीक्षा की है[3], भाव, अभाव

१. 'विषापहारं मणिमौषधानि मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।' —विषपहारस्तोत्र श्लो० १४।

२. १० फरवरी १९४७ में शान्तिनिकेतन के शोधकर्त्ता श्रीरामसिंह तोमर द्वारा युक्तिषष्ठिका के १ से ४० संख्यक पद्यों मे से केवल विभिन्न सख्या वाले २३ पद्य प्राप्त हुए थे। उनसे ज्ञात हुआ था कि चीनी भाषा मे जो युक्तिषष्ठिका उपलब्ध है उस पर से ही उक्त पद्य संस्कृत में अनूदित हो सके हैं। शेष का अनुवाद नही हुआ। मालूम नहीं, उसके बाद शेष पद्यों का अनुवाद हो सका या नहीं। प्रकट है कि कम-बढ़ पद्य-संख्या होने पर भी युक्तिषष्ठिका 'षष्ठिका' कही जा सकती है। विंशतिका आदि नामों से रची जाने वाली रचनाओं से कम-बढ़ श्लोक होने पर भी उन्हें उन नामों से अभिहित किया जाता है।—लेखक।

३. 'नागार्जुन पर कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छका प्रभाव' शीर्षक मेरा प्रकाश्यमान लेख।

आदिरूप से तत्त्वका निरास करके शून्याद्वैत की सम्पुष्टि की है। युक्त्यनुशासन में ६४ पद्य हैं और उनमें भाव, अभाव आदि अनेकान्तात्मक वस्तु की स्याद्वाद द्वारा व्यवस्था की गयी है। अतएव युक्त्यनुशासन नागार्जुन की युक्तिषष्ठिका के अन्तर में लिखा गया प्रतीत होता है। इस प्रकार की परम्परा दार्शनिकों में रही है। उद्योतकरके न्यायवार्तिकका उत्तर धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक और कुमारिल ने मीमांसा श्लोकवार्तिक द्वारा तदनुरूप नामकरण पूर्वक दिया है। अकलंक का तत्त्वार्थवार्तिक और विद्यानन्द का तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक भी उक्त परम्परा की ही प्रदर्शक रचानाए हैं। युक्ति शब्द से आरम्भकर रचे जाने वाले ग्रन्थो के निर्माण की भी परम्परा उत्तर काल में दार्शनिको में रही है। फलतः 'युक्तिदीपिका' (सांख्यकारिका-व्याख्या) जैसे ग्रंथ रचे गये है।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि लंकावतार सूत्र पद्यकार ने[1] बुद्ध के सिद्धान्त (देशना) को "चतुर्विधो नयविधिः सिद्धान्तं युक्तिदेशना" (श्लो० २४६) शब्दों द्वारा 'युक्ति-देशना' प्रतिपादित किया है। समन्तभद्र ने वर्धमान वीर के सिद्धान्त (शासन) को 'युक्त्यनुशासन' कहा है। अतः असम्भव नहीं कि युक्त्यनुशासन युक्त देशना का भी जवाब हो; क्योंकि दोनों का अर्थ प्रायः एक ही है, जो 'युक्ति पुरस्सर उपदेश' के रूप में कहा जा सकता है। अन्तर यही है कि लंकावतार सूत्र पद्यकार बुद्ध के उपदेश को 'युक्ति पुरस्सर उपदेश' कहते हैं और समन्तभद वीर के उपदेश को समन्तभद्र इतना विशेष कहते है कि उस युक्ति पुरस्सर उपदेश को प्रत्यक्ष और आगम से अबाधित भी होना चाहिए, मात्र युक्ति बल पर ही उसे टिका नहीं होना चाहिए।

ग्रन्थ-परिचय—

युक्त्यनुशासन ६४ पद्यों की विशिष्ट दार्शनिक रचना है। देवागम[2] युक्तिपूर्वक आप्त और आप्त-शासन की मीमांसा करके वह आप्त वीर को और आप्त-शासन वीर-शासन को सिद्ध किया है तथा अन्यो को अनाप्त और उसके शासनों को अनाप्त शासन बतलाया है। इस मीमांसा (परीक्षा) की कसौटी पर कसे जाने और सत्य प्रमाणित होने के उपरान्त वीर और उनके स्याद्वाद-शासन की स्तुति (गुणाख्यान) करने के उद्देश्य से समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन की रचना की है। यह उन्होंने स्वय प्रथम कारिका[3] के द्वारा व्यक्त किया है। उसमें प्रयुक्त "अद्य" पद तो, जिसका विद्यानन्द[4] ने 'परीक्षा के अन्त मे' यह अर्थ किया है, सारी स्थिति को स्पष्ट कर देता है।

टीका के अनुसार यह ग्रंथ दो प्रस्तावों में विभक्त है। पहला प्रस्ताव कारिका १ से लेकर ३९ तक है और दूसरा कारिका ४० से ६४ तक है। यद्यपि ग्रंथ के अन्त मे पहले प्रस्ताव की तरह दूसरे प्रस्ताव का नाम-निर्देश नही है, व्याख्याकार ने "इति श्रीमद्विद्यानन्द्याचार्यकृतो युक्त्यनुशासनालङ्कारः समाप्तः।" इस समाप्ति-पुष्पिका-वाक्य के साथ ग्रन्थों को समाप्त किया है, तथापि ग्रन्थ के मध्य (का० ३९] में जब टीकाकार द्वारा स्पष्टतया प्रथम प्रस्ताव की समाप्ति का उल्लेख किया गया है तो शेषांक द्वितीय प्रस्ताव सुतरां सिद्ध हो जाता है। तथा शेषांशके बीच मे किसी अन्य प्रस्ताव की कल्पना है नही।

प्रश्न हो सकता है कि प्रस्तावों का यह विभाजन मूलकार कृत है या व्याख्याकारकृत? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ग्रंथकार ने उसका निर्देश नही किया, तथापि ग्रन्थ के अध्ययन से अवगत होता है कि उक्त प्रस्ताव-विभाजन ग्रन्थकार को अभिप्रेत है, क्योंकि जिस कारिका (३९) पर व्याख्याकार ने प्रथम प्रस्ताव का विराम माना है वहाँ ग्रन्थकार की विचार-धारा या प्रकरण पूर्वपक्ष (एकान्तवाद-निरूपण व समीक्षा) के रूप में समाप्त है और कारिका ४० से ६४ तक उत्तर पक्ष (अनेकान्त-निरूपण) है। यतः प्रथम प्रस्ताव में मुख्यतया एकान्तवादों

---

१. लंकावतार सूत्र पद्य भाग की एक दुर्लभ प्रति, जो खण्डित एवं अपूर्ण जान पड़ती है, ३० मार्च ४३ में श्रद्धेय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार से प्राप्त हुई थी, उसीसे इन पद्योंको हमने अपनी नोटबुकमें लिखा था।

२. देवागम का. ६, ७; वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट-प्रकाशन, वाराणसी।

३. कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं
त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम्।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं
विशीर्णदोषाशयपाशबन्धम्॥

४. अद्यास्मिन् काले परीक्षावसान समये।
—युक्त्य० टी० पृ० १।

की समीक्षा होने से उसे पूर्वपक्ष और द्वितीय प्रस्ताव मे अनेकान्तवाद का निरूपण होने से उत्तर पक्ष कहा जा सकता है। अतः विद्यानन्दने ग्रन्थकार के इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही दो प्रस्तावोंका स्पष्ट उल्लेख किया है।

ग्रन्थ की अन्तिम दो कारिकाएँ—

ग्रथकार ने अपने नाम का उल्लेख "भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः" इस ६२वी कारिका में किया है। उनके इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ यही (६२वीं कारिका पर) समाप्त है। स्वयम्भूस्तोत्र में भी "तव देव ! मतं समन्तभद्र सकलम्" (स्वयं० १४३) इस नामोल्लेख वाली कारिका पर ही उनकी समाप्ति है और वही कारिका उसकी अन्तिम कारिका है—उसके बाद उसमें और कोई कारिका उपलब्ध नही है। जिनस्तुति आप्त-मीमासा और रत्नकरण्डकश्रावकाचार मे ग्रन्थकार का नाम-निर्देश न होने से उनका कोई प्रश्न ही नही उठता। अतः युक्त्यनुशासन मे उक्त ६२वी कारिका के बाद जो ६३ व ६४ नम्बर वाली दो कारिकाए अन्त मे पायी जाती है वे ग्रंथकारोक्त नही ज्ञात होती।

प्रश्न है कि फिर आचार्य विद्यानन्द जैसे मूर्धन्य मनीषी ने उनकी व्याख्या क्यो की उससे तो उक्त दोनों कारिकाएँ मूल ग्रन्थ की ही ज्ञात होती है ?

इसका उत्तर यह दिया जाता है कि विद्यानन्द से पूर्व युक्त्यनुशासन पर किसी विद्वान् के द्वारा व्याख्या लिखी गयी हो और व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या के अन्त में उक्त पद्य दिये हों। कालान्तर में वह व्याख्या लुप्त हो गयी हो और व्याख्या के उक्त अन्तिम पद्य मूल के साथ किसी ने जोड़ दिये हों। या यह भी सम्भव है कि किसी पाठ करने वाले विद्वान् ने उक्त पद्य स्वयं रच-कर उसके साथ सम्बद्ध कर दिए हो और वही प्रति व्याख्या रहित विद्यानन्द को मिली हो तथा उन्होंने उक्त दोनों पद्यों को उनके साथ पाकर उनकी भी व्याख्या की हो। जो हो, ये दोनों अन्तिम पद्य यथास्थिति के अनुसार विचारणीय अवश्य हैं।

हाँ, एक बात यहाँ कही जा सकती है। वह यह कि ग्रंथकार ने ग्रन्थ के आरम्भ में प्रथम कारिका मे वीर-जिन की स्तुति की इच्छा व्यक्त की है। तथा दूसरी, तीसरी और चौथी कारिकाओं द्वारा प्रश्नोत्तर पूर्वक "तथापि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूप वाक्यः" (का० ३) जैसे वाक्यों को लिए हुए उनके प्रति असीम भक्ति का प्रकाशन हो तो आश्चर्य नही, और तब उक्त दोनो अन्तिम कारिकाएँ ग्रन्थकारोक्त कही जा सकती है।

युक्त्यनुशासन-टीका—

युक्त्यनुशासन पर विद्यानन्द की एक मध्यम परिमाण की संस्कृत-टीका प्राप्त है। यह टीका ग्रंथ के हार्द को स्पष्ट करने में पूर्णतः सक्षम है। टीकाकार ने अत्यन्त विशदता के साथ इसके पद-वाक्यादिका अर्थोद्घाटन किया है। व्याख्याकार की सूक्ष्म दृष्टि इसके प्रत्येक पद और उसके आशय के अन्तस्तल तक पहुँची है। वस्तुतः इस पर यह व्याख्या न होती तो युक्त्यनुशासन के अनेक स्थल दुरधिगम्य बने रहते। व्याख्याकार ने अपनी इस व्याख्या का नाम "युक्त्यनुशासनालङ्कार" दिया है, जो युक्त्यनुशासन का अलकरण करने के कारण सार्थक है। इसकी रचना आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षा के बाद हुई है, क्योंकि इस (पृ०१०, ११) मे उनके उल्लेख हैं। यह व्याख्या मूल ग्रथ के साथ वि० स० १९७७ मे मा० दि० जैन ग्रथमाला से एक बार प्रकाशित हो चुकी है, जो अब अप्राप्य है और पुनः प्रकाश्य है।

हिन्दी-अनुवाद—

युक्त्यनुशासन के मर्म को हिन्दी भाषा में प्रकट करने के उद्देश्य से स्वामी समन्तभद्र के अनन्य भक्त और उनके प्रायः सभी ग्रन्थों के हिन्दी अनुवादक, प्रसिद्ध साहित्य और इतिहासकार प० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने इस पर एक हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है, जो विशद, सुन्दर और ग्रन्थानुरूप है। यह अनुवाद उन्होने विद्यानन्द की उक्त संस्कृत-टीका के आधार से किया है। ग्रन्थ के दुरूह और क्लिष्ट पदों का अच्छा अर्थ एवं आशय व्यक्त किया है। मूल ग्रंथ का अनुगम करने के लिए यह अनुवाद बहुत उपयोगी और सहायक है। यह वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली से सन् १९५१ में प्रका-शित हो चुका है।

१४ जुलाई १९६९

काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

भगवान ऋषभदेव

परमानन्द शास्त्री

भारतीय वाङ्मय में जैनधर्म के आद्य प्रतिष्ठापक, आदि ब्रह्मा, प्रजापति, जातवेदस, विधाता, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, विश्ववेदिस, व्रात्य, स्वयंभू, कपर्दी और वातरशना आदि नामों से जिन ऋषभदेव का संस्तवन किया गया है। वे ऋषभदेव ऐतिहासिक महापुरुष हैं, जो आदि ब्रह्मा और आद्य योगी के नाम से प्रसिद्ध है। ऋग्वेदादि में इनकी स्तुति की गई है। ऋग्वेद में उन्हे 'केशी बतलाया है और वातरशना का जो उल्लेख है वह भी ऋषभदेव के लिए प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। महाभारत मे इन्हें आठवां अवतार माना गया है। और भागवत के पंचम स्कध में ऋषभावतार का वर्णन है। विष्णुपुराण में भी ऋषभावतार का कथन है। और उन्हीं के उपदेश से जैनधर्म की उत्पत्ति बतलाई है। इन सब प्रमाणों से ऋषभदेव की महत्ता का स्पष्ट भान होता है, वे उस काल के महान योगी थे।

भगवान ऋषभदेव सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्गसे अवधि समाप्त होने पर इस भूमण्डल के जम्बूद्वीपान्तर्गत भरत क्षेत्र के मध्य देशस्थ अयोध्या नगरी मे महाराज नाभिराज के घर मरुदेवी के गर्भ से चैत्र वदी नवमी के दिन अवतरित हुए थे। इनके गर्भ मे आने से षट् मास पूर्व ही नाभिराज का सदन इन्द्र द्वारा की हुई रत्न वृष्टि से भरपूर हो गया था। इस कारण वे लोक में 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध हुए[1]। ऋषभदेव जन्म से ही तीन ज्ञान के धारक थे। अतएव वे जातवेदस कहे जाते थे। स्वयं ज्ञानी होने के कारण स्वयंभू और महाव्रतों का अनुष्ठान करने के कारण व्रात्य नाम से, उल्लेखित किये जाते थे। ऋषभदेव जन्मकाल से ही विशिष्ट प्रतिभा के धनी थे। अतएव उन्होने जीने की इच्छा करने वाली प्रजा को असि, मषि, कृषि, सेवा, विविध शिल्प, पशुपालन और वाणिज्यादि का उपदेश दिया था[2]। उन्होने जनता को लोक शास्त्र और व्यवहार की शिक्षा दी थी। और उस धर्म की स्थापना की जिसका मूल अहिंसा है। इसी कारण वे आदि ब्रह्मा कहलाते थे[3]। उनकी दो पत्नियाँ थी। नन्दा और सुनन्दा। नन्दा से भरतादि निन्यानवे पुत्र और एक पुत्री ब्राह्मी का जन्म हुआ था[4]। सुनन्दा से बाहुबली

---

१ ऋग्वेद मं० १० सू० १२१ में—'हिरण्यगर्भः समपर्वताग्रे' रूप से उल्लेख किया है। 'हिरण्यगर्भयोगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।''

महाभारत शान्तिपर्व० अ० ३४६

"सैषा हिरण्मयी वृष्टिः धनेशेन निपातितः।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत्॥"

महापु० प० १२, ६५

"गब्भट्ठि अस्स जस्सउ हिरण्णवुट्ठी सकंचणा पडिया।
तेणं हिरणगब्भो जयम्मि उवगिज्जए उसभो॥"

पउमचरिउ, ३-६८

"दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशोनिरम्बरः।"

—महापुराण

२ प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषु सशास कृष्यादिषु कर्मसुप्रजाः। —वृहत्स्वयभू स्तोत्र

३ पुरगाम पट्टणादी लोलिय सत्थं च लोय व्यवहारो।
धम्मो वि दयामूलो विणिम्मियो आदि बम्हेण॥

—त्रिलोकसार ८२०

४ वायुपुराण में लिखा है कि भगवान ऋषभदेव से वीर भरत का जन्म हुआ, जो कि अन्य नव सै पुत्रों से बड़ा था। भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा—

ऋषभाद् भरतोजज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः।
तस्मात् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा॥

—५२, वायुपुराण

ग्रौर सुन्दरी नाम की कन्या का जन्म हुग्रा था। जिनका पालन-पोषण माता-पिता ने सम्यक् रीति से किया। ग्र.दर्श गृहस्थाश्रम का मूलाधार विवेक ग्रौर सयम है। सन्तान चाहे पुत्र हों या पुत्री, उनका ग्रात्मज्ञानी ग्रौर विवेकी होना ग्रावश्यक है। इसी कारण भगवान ऋषभदेव ने ग्रपने पुत्रो से पहले पुत्रियों को शिक्षित किया था। उन्होंने ब्राह्मी ग्रौर सुन्दरी को ग्रपने पास बैठा कर काष्ठ पट्टिका पर चित्राङ्कण करके उनका मन ललितकला के सौन्दर्य से मुग्ध कर लिया। सुन्दर विटपों ग्रौर मनोहर शावक शिशुग्रों के रूप को देखकर उन्हें बडा कौतूहल होता था। इस तरह उनका मन शिक्षा की ग्रोर ग्राकर्षित करते हुए ऋषभदेव ने ब्राह्मी को ग्रक्षर लिपिका बोध कराया, वह लिपि ब्राह्मी के कारण 'ब्राह्मीलिपि' के नाम से लोक में ख्यात हुई। भगवान ऋषभदेव ने दूसरी पुत्री सुन्दरी को ग्रक विद्या सिखलाई। उसी समय उन्होंने ग्रकों का ग्राधार निर्धारित किया ग्रौर गणित शास्त्र के बहुत से गुर बताये। सगीत ग्रौर ज्योतिष का भी परिज्ञान कराया। ग्राज भी ब्राह्मी लिपि ग्रौर ग्रङ्कगणित मिलते है। भरतादि सभी पुत्रों को भी शस्त्र ग्रौर शास्त्र विद्या मे निष्णात बनाया था। इस तरह ऋषभदेव ने ग्रपने पुत्र ग्रौर पुत्रियों को विद्याग्रों ग्रौर कलाग्रों मे निष्णात बना दिया ग्रौर उनके कर्ण छेदन मुडन ग्रादि सस्कार किए। इन पुत्रो मे भरत ग्राद्य चक्रवर्ती थे जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा[६]। ऋषभदेव ने चिरकाल तक प्रजा का हित साधन किया ग्रौर शासन द्वारा उनकी रक्षा की।

वैराग्य—

किसी एक दिन भगवान ऋषभदेव राजसिंहासन पर विराजमान थे। राजसभा लगी हुई थी ग्रौर नीलांजना नाम की ग्रप्सरा नृत्य कर रही थी। नृत्य करते करते यकायक नीलाजना का शरीर नष्ट हो गया, तभी दूसरी ग्रप्सरा नृत्य करने लगी। किन्तु इस ग्राकस्मिक घटना से भगवान का चित्त उद्विग्न हो उठा—इन्द्रिय भोगों से विरक्त हो गया। उन्होंने तुरन्त भरत को राज्य ग्रौर बाहुबली को युवराज ग्रौर ग्रन्य पुत्रों को यथायोग्य राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। उनकी देखादेखी ग्रौर भी ग्रनेक राजाग्रों ने दीक्षा ली; किन्तु वे सब भूख प्यास ग्रादि की बाधा को न सह सके ग्रौर तप से भ्रष्ट हो गए। छह मास के बाद जब उनकी समाधि भंग हुई, तब उन्होंने ग्राहार के लिए विहार किया। उनके प्रशान्त नग्न रूप को देखने के लिए प्रजा उमड़ पड़ी, कोई उन्हे वस्त्र भेट करता था, कोई ग्राभूषण ग्रौर कोई हाथी घोड़े लेकर उनकी सेवा मे उपस्थित होता था। किन्तु उन्हें भिक्षा देने की कोई विधि न जानता था, इस तरह से उन्हे विहार करते हुए छह महीने बीत गए।

एक दिन घूमते-घामते वे हस्तिनापुर में जा पहुँचे। वहां का सोमवंशी राजा श्रेयान्स बड़ा दानी था, उसने भगवान का बड़ा ग्रादर-सत्कार किया। ग्रौर ग्रादर पूर्वक उनका प्रतिग्रह करके उच्चासन पर बैठाया, श्रद्धा ग्रौर भक्ति से उनके चरण धोए, पूजन की ग्रौर फिर नमस्कार करके बोला—भगवन्! यह इक्षुरस निर्दोष ग्रौर प्रासुक है, इसे ग्राप स्वीकार करें। तब भगवान ने खड़े होकर ग्रपनी ग्रजली मे रस लेकर पिया। उस समय लोगों को जो ग्रानन्द हुग्रा वह वर्णनातीत है। चूंकि भगवान का यह ग्राहार वैशाख शुक्ला तीज के दिन हुग्रा था, इसी से यह तिथि 'ग्रक्षय तृतिया'—ग्रखती' कहलाती है। ग्राहार लेकर भगवान फिर वन को चले गए ग्रौर ग्रात्मध्यान में लीन हो गए। इस तरह ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक कठोर तपश्चरण द्वारा ग्रात्म-शोधन किया। तपश्चरण से उनका शरीर ग्रत्यन्त कृश हो गया था किन्तु ग्रात्मबल ग्रौर ग्रात्म तेज ग्रधिक बढ़ गया था।

---

६ पहले इस देश का नाम हिमवर्ष था, नाभि ग्रौर ऋषभदेव के समय ग्रजनाम। किन्तु ऋषभ के पुत्र भरत के समय इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। विष्णुपुराण में लिखा है—

ऋषभात् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्र शताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्षं मेतल्लोकेषु गीयते ॥

—विष्णुपुराण ग्रंश २, ग्र० १

भागवत में भी ऋषभ पुत्र महायोगी भरत से ही भारत नाम की ख्याति मानी गई है।

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठ गुणश्चासीत्।
येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति।"

एक समय भगवान 'पुरिमतालपुर' (प्रयाग) नामक नगर के उद्यान में ध्यानावस्थ थे। उस समय उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। इस तरह वे पूर्णज्ञानी बन गए। भगवान बड़े भारी जन समुदाय के साथ धार्मिक उपदेश देते हुए विचरण करने लगे। उनकी व्याख्यान सभा 'समवसरण' कहलाती थी। और उनकी वाणी 'दिव्य-ध्वनि' कहलाती थी, जिसका स्वभाव सब भाषा रूप परिणत होना है।

समवसरण सभा की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमे पशुओं को भी स्थान मिलता था, उसमे सिंह जैसे भयानक और हिरण जैसे भीरू तथा बिल्ली चूहा जैसे जाति विरोधी हिंसक जीव भी शान्ति से बैठकर धर्मोपदेश का पान करते थे। क्योकि भगवान ऋषभदेव अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा को पा चुके थे। जैसा कि पतजलि ऋषि के निम्न सूत्र से स्पष्ट है कि 'अहिंसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैर त्यागः।' आत्मा मे अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर वैर का परित्याग हो जाता है। यही कारण है कि समरसी भगवान ऋषभदेव की वाणी मनुष्य, तिर्यंच-(पशु-पक्षी वगैरह) देव देवाङ्गनाए आदि सभी जीव सुनते थे। जो उपदेश होता था उसे सभी जीव अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते थे, यही उस वाणी की महत्ता थी। इस तरह भगवान ने जीवन पर्यन्त विविध देशों—काशी, अवन्ति, कोशल, सुह्य, पुण्ड्र, चेदि, बङ्ग, मगध, आध्र, मद्र, कलिंग, पाचाल, मालव, दशार्ण और विदर्भ आदि में विहार कर जनता को कल्याणमार्ग का उपदेश दिया था[1]। और कैलाश पर्वत से माघ कृष्णा चतुर्दशी को निर्वाण पद प्राप्त किया। भगवान आदि नाथ ही श्रमण सस्कृति के आद्य प्रणेता बतलाए गए है। हिन्दू पुराणो मे भी कैलाश पर्वत से उनका मुक्ति प्राप्त करना लिखा है[2]।

---

१ काशी अवन्ति कोशलसुह्यपुण्ड्रान्।
चेद्यङ्ग वङ्गमगधान्ध्रकलिङ्गमहान्।
पञ्चालमालवदशार्णविदर्भदेशान्।
सन्मार्गदेशनपरो विजहार धीरः॥
—महापुराण २४-२८७

२ कैलाशे विमले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावधार च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः॥
—प्रभास पुराण

१५ जुलाई १९६९

हृदय की कठोरता

चिन्तन—सहकार! तेरा सौन्दर्य समग्र संसार को आकर्षित कर रहा है। तेरी आकृति का निरीक्षण करने के लिए जनता उत्सुक रहती है। जहाँ तेरा गमन होता है, सभी सोत्साह तेरे से हाथ मिलाना चाहते हैं। तेरे मधुर रस का आस्वादन करने के लिए रसना उतावली हो उठती है और उसकी अभिकांक्षा को शान्त करने के लिए तू अपना स्वत्व विसर्जित करने का प्रशंसनीय प्रयास भी करता है। तू अपनी अपरिमित परिमल के द्वारा दिग् मण्डल को सुरभित करता हुआ जन मानस का केन्द्र बिन्दु बन रहा है। इन सब विशेषताओं के साथ यदि तेरे में एक साधारणता नहीं होती तो क्या तेरा सुयश अनिल की भाँति इससे भी अधिक प्रसारित नहीं होता?

सहकार—विज्ञवर! जो कहा गया, क्या वह शतशः सत्य है?

चिन्तक—स्वयं की स्खलना स्वयं गम्य नही होती, इसी अमर सिद्धान्त के अनुसार मैं यह कह सकता हूँ कि स्वयं को अपना दोष ज्ञात नहीं होता। तू सजगता से अपना निरीक्षण कर। तेरा हृदय कैसा है? वह पाषाण की भाँति कठोर है या नवनीत की भाँति कोमल? ऊपर की अधिक कोमलता व सरसता क्या तेरी आन्तरिक कठोरता की प्रतीक नहीं है?

अपने अहं का अनुभव करते हुए सहकार के मुँह से सहसा ये शब्द निकल पड़—हाय! मेरा हृदय कठोर है। मेरे अन्तस्थल में यह गाँठ नहीं होती तो आज मैं जन-जन के दाँतों से क्यों पीसा जाता और क्यों मुझे अंगारों की शय्या पर सुला कर जलाया जाता। —मुनि कन्हैया लाल

कहानी—

मगध सम्राट् राजा बिम्बसार का जैनधर्म परिग्रहण

परमानन्द शास्त्री

एक समय राजा बिम्बसार (श्रेणिक) एक बड़ी सेना के साथ वन मे शिकार खेलने के लिए गया। वहाँ उन्होंने उस वन में यशोधर नाम के एक जैन तपस्वी महा मुनि को कायोत्सर्ग में स्थित ध्यानारूढ देखा। महामुनि यशोधर ध्यान अवस्था में निश्चल, निष्कप खड्गासन में स्थित थे। वे परमज्ञानी क्षमाशील और आत्मस्वरूप के सच्चे वेत्ता, उपसर्ग परीषह के जीतने में समर्थ मुनिपुंगव थे। उन्होने मन को सर्वथा वश में कर लिया था। शत्रु, मित्र, मणि और कंचन में समभाव रखने वाले तत्त्वज्ञ तपस्वी थे। वे परम दयालु, निष्कंचन इन्द्रियजयी तथा समतारस में निरत रहते थे। राजा बिम्बसार की दृष्टि उन पर पड़ी, उन्होने उससे पूर्व कभी कोई जैन श्रमण नहीं देखा था। अतएव उन्होंने पार्श्ववर्ती एक सैनिक से पूछा—

"देखो भाई! स्नान आदि के संस्कार से रहित एवं मुण्ड मुडाए नग्न यह कौन व्यक्ति खड़ा है? मुझे शीघ्र बतलाओ।"

पार्श्वचर चूंकि बौद्ध था। उसने महाराज से निवेदन किया कि—

"कृपानाथ! क्या आप इसे नहीं जानते? यही महाभिमानी महारानी चेलना का गुरु जैन मुनि है।"
बिम्बसार की तो यह इच्छा पहले ही थी कि महारानी के गुरु से बदला लिया जाय। पार्श्वचर की बात सुनकर उनकी प्रतिहिंसा की अग्नि भड़क उठी, उन्हें तुरंत रानी द्वारा किये गए अपमान का स्मरण हो आया अतएव उन्हों ने क्षण एक विचार कर अपने साथ आए हुए सभी शिकारी कुत्तों को मुनिराज के ऊपर छुड़वा दिया।

वे कुत्ते बड़े भयानक थे, उनकी दाढ़ें बड़ी लम्बी थीं, और डील-डौल में भी वे सिंह के समान ऊँचे थे। किन्तु मुनिराज के समीप पहुँचते ही उनकी सारी भयानकता दूर हो गई। उन्होंने ज्यों ही मुनिराज की परमशान्त मुद्रा देखी, तो वे मंत्र-कीलित सर्प के समान शान्त हो गए। और उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों के समीप शान्त होकर बैठ गए।

बिम्बसार इस दृश्य को दूर से देख ही रहे थे। उन्होंने कुत्तों को जब क्रोध रहित शान्त होकर मुनिराज की प्रदक्षिणा करते देखा, तो मारे क्रोध से उनके नेत्र लाल हो गए। वे सोचने लगे कि यह साधु नहीं, किन्तु कोई धूर्त, वंचक, मन्त्रकारी है। इस दुष्ट ने मेरे बलवान कुत्तों को भी मन्त्र द्वारा कीलित कर दिया है। मैं अभी इसे दण्ड देता हूँ। उनके रोष ने उन्हें विवेक रहित और अज्ञानी जो बना दिया था। इससे उस समय बिम्बसार की उस वक्र दृष्टि का सहज ही आभास हो जाता है।

बिम्बसार रोष के आवेश में गाफिल होकर म्यान से तलवार खींच कर मुनिराज को मारने के लिए चल दिया। जब वह मार्ग में जा रहा था तब एक भयानक काला सर्प फण ऊँचा किए हुए मार्ग में आया, राजा ने सर्प को देखते ही उसे जान से मार डाला। और उसको धनुष से उठा कर मुनिराज के गले में डाल दिया। मुनिराज गले में सर्प पड जाने पर भी, अपने आत्मध्यान से जरा भी विचलित नहीं हुए किन्तु संसार की स्थिति का यथार्थ परिज्ञान कर समभाव में स्थित हो गए। मुनिराज की सौम्यता और क्षमाशीलता देखते ही बनती थी।

बिम्बसार शिकार का कार्यक्रम स्थगित कर राजगृह वापिस आ गया, वहां अपने गुरुओं को उक्त सब समाचार सुनाया। बिम्बसार द्वारा जैन गुरु का अपमान किये जाने से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई।

एक प्रहर रात्रि बीती होगी। रानी चेलना अपनी सामायिक समाप्त कर उठ ही रही थी कि राजा बिम्बसार अत्यन्त प्रसन्न होते हुए उसके पास आकर बोले—

"रानी ! तूने जो मेरे गुरु का अपमान किया था उसका बदला लेने का मुझे आज अवसर मिला।"

राजा के यह वाक्य सुनते ही रानी सन्नाटे में आ गई, उसने एकदम घबरा कर पूछा—

आपने क्या किया महाराज ! मुझे शीघ्र बतलाइये। मेरे हृदय की बेचैनी बढ़ती जाती है।'

"बिम्बसार बोला कुछ भी नही रानी ! तेरे गुरु मुनिराज जंगल में खड़े ध्यान कर रहे थे कि मैने धनुष से उठाकर एक मरा हुआ सर्प उनके गले मे डाल दिया।'

राजा का वचन सुनते ही रानी का हृदय अत्यन्त व्याकुल हो उठा, मुनि पर घोर उपसर्ग जानकर उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी, उसकी हिचकिया बंध गई और वह फूट-फूट कर रोने लगी। वह रोते-रोते कहने लगी—

"राजन् ! तुमने यह महापाप कर डाला। अब आप का अगला जन्म कभी उत्तम नही बन सकता, अब मेरा जन्म निष्फल गया। यह इतना भयकर पाप है जिसका परिणाम भी अत्यन्त भयंकर है। राजमन्दिर मे मेरा भोग भोगना भी महापाप है, हाय ! मेरा यह सबध ऐसे कुमार्गी के साथ क्यो हुआ ? युवावस्था प्राप्त होते ही मैं मर क्यों न गई ? हाय ! अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कहाँ रहूँ ? हाय हाय ! मेरे प्राण पखेरू इस शरीर से क्यों नही विदा हो जाते ! प्रभो ! मै बड़ी अभागिन हूँ अब मेरा किस प्रकार हित होगा। छोटे से छोटे गांव, वन और पर्वतोंमें रहना अच्छा है, किन्तु जिनधर्म रहित एक क्षण राजप्रासाद मे भी जीवन बिताना दूभर है। जिनधर्म ही जीवन की सफलता का मापदण्ड है। उसके बिना वह निष्फल है।

हाय दुर्दैव ! तुझे क्या मुझ अभागिन पर ही वज्र प्रहार करना था। इस तरह रानी बड़ी देर तक विलख विलख कर रोती रही। रानी के इस रुदन से राजा का पाषाण जैसा कठोर हृदय भी द्रवित हो गया। अब बिम्बसार के मुख से वह प्रसन्नता बिलीन हो गई, वह एक दम किंकर्तव्य विमूढ होकर रानी को समझाने लगा।

'प्रिये ! तू इस बात के लिए तनिक भी शोक न कर, वे मुनि अपने गले से मरा हुआ सर्प फेंक कर वहाँ से चले गये होंगे। मरे हुए सर्प का गले से निकालना कोई कठिन काम नही है।"

महाराजा के वचन सुनकर रानी बोली—

"नाथ ! आपका यह कथन भ्रम पर आधारित है। यदि वे मुनिराज वास्तव में मेरे गुरु है तो उन्होंने अपने गले से मृत सर्प कभी नही निकाला होगा। वे योगीश्वर वहीं पर उसी रूप मे ध्यान में स्थित होगे। भले ही सुमेरु चलायमान हो जावे, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ दे, किन्तु जैन मुनि उपसर्ग और परीषह से अपना मुख कभी नही मोडते। वे ध्यान अवस्था मे उपसर्ग आने पर उसी रूप में सहन करते रहते है। उसका स्वयं निवारण नही करते। जैन मुनि पृथ्वी के समान सहनशील एव क्षमाभाव से अलंकृत होते है। वे समुद्र के समान गम्भीर, वायु के समान निष्परिग्रह, आकाश के समान निर्मल और अग्नि के समान कर्म को भस्म करने वाले और जल के समन स्वच्छ और मेघ के समान परोपकारी होते है। हे प्राणेश्वर ! आप विश्वास रखिए मेरे गुरु निश्चय से परमज्ञानी, ध्यानी और सुदृढ वैरागी होते है। वे कभी किसी का बुरा चिन्तन नही करते। सबके साथ सम दृष्टि रखते है। वे करुणानिधि होते है। अपकार करने वालों के प्रति भी उनका रोष नहीं होता और न पूजा करने वाले के प्रति राग ही होता है। इसके विपरीत, उपसर्ग परीषह से भय करने वाले व्रत एवं तपादि से शून्य मद्य मास और मधु के लोभी मेरे गुरु कदापि नहीं हो सकते। यही कारण है कि आपके अनेक प्रयत्न करने पर भी जैन साधुओं पर मेरी श्रद्धा कम नहीं हुई। मैं किसी के धर्म पर कोई आक्षेप भी नहीं करती, इतना अवश्य कहती हूँ कि जैन मुनि जैसा पवित्र आचरण अन्य किसी धर्म के साधुओ में नहीं होता।"

रानी के इन शब्दों को सुन कर बिम्बसार का हृदय भय के मारे कांप गया। वह और कुछ न कह कर केवल इतना ही कह सके—

"प्रिये ! तूने इस समय जो कुछ कहा है वह बहुत कुछ सत्य दिखलाई देता है। यदि तेरे गुरु इतने क्षमाशील हैं, तो हम दोनों उनको इसी समय रात्रि में जाकर देखेंगे और उनका उपसर्ग दूर करेंगे। मैं अभी तेज चलने वाली

सवारी का प्रबन्ध करता हूँ।"

रानी बोली—

"नाथ ! अब आपके मुख से फूल झड़े हैं। यदि आप स्वयं न भी जाते तो मैं स्वयं अवश्य जाती। आपने यह बात मेरे मन की कही, अब आप चलने की शीघ्र तय्यारी करें।"

यह कह कर रानी चलने की तैयारी करने लगी। राजा ने उसी समय एक तेज घोड़ो वाली गाड़ी तय्यार करा कर थोड़े से सैनिक साथ लेकर वन की ओर प्रयाण करना प्रारम्भ किया और थोड़ी देर मे ही वे मुनि यशोधर के समीप जा पहुँचे।

इधर तो बिम्बसार मुनिराज के गले मे सर्प डालकर वापिस गया, उधर मुनि महाराज ने अपना ध्यान और भी दृढ़ कर इस तरह चिन्तन करना प्रारम्भ किया।

इस व्यक्ति ने मेरे गले मे सर्प डाल कर बड़ा उपकार किया है, क्योंकि इससे मेरे अशुभ कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जावेगे। और पूर्व सचित कर्मों की उदीरणा करने के लिए मुझे परीषह सहने का अवसर बड़े भारी भाग्य से मिला है। यह सर्प डालने वाला व्यक्ति मेरा बड़ा उपकारी है जो इसने परीषह की सामग्री मेरे लिए एकत्रित कर दी। यह शरीर जड़ और नाशवान है, और मेरे चैतन्य स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। यह कर्मोदय से उत्पन्न हुआ है, किन्तु मेरा आत्मा कर्म बन्धन से रहित चिदानन्द है। यह शरीर अनित्य, अपावन, अस्थिर, मल-मूत्र का घर एवं घृणित है। लोग न जाने क्यो इसे अच्छा समझते है और इत्र-फुलेल आदि सुगधित पदार्थों से इसे संस्कारित करते है। शरीर से चैतन्यात्मा के चले जाने पर शरीर एक पग भी आगे नही चल सकता। इस शरीर को अपना समझना निरी अज्ञानता है। जो मनुष्य यह कहते है कि शरीर मे सुख दुःख आदि होने पर आत्मा सुखी-दुखी होता है, उनका यह भ्रम है। क्योंकि जिस तरह छप्पर मे आग लग जाने पर छप्पर ही जलता है तद्गत आकाश नहीं जलता, उसी प्रकार शारीरिक सुख-दुःख मेरी आत्मा को सुखी-दुखी नही बना सकते। मैं द्रव्य दृष्टि से अपने आत्मा को चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध, निष्कलंक समझता हूँ। शरीर तो पुदगल परमाणुओं का पिण्ड है।

वह विनाशीक है और आत्मा अविनाशी है। जीव अकेला ही जन्म मरण के दुःख सहता है। इसका कोई सगा साथी नहीं है। शरीर अपवित्र है। व्रत, तप, संयम आत्मा के कल्याणकर्ता है। इस तरह मुनिराज यशोधर अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तबन करते हुए गले मे पड़े सर्प के कारण परीषह सहन कर रहे थे। कि इतने मे राजा और रानी उनके दर्शन करने शीघ्रता पूर्वक चले आ रहे थे। उन्होंने जब मुनिराज के समीप आकर उन्हें ज्यों का त्यों ध्यानस्थ खड़ा देखा तो आनन्द और श्रद्धा के मारे उनके शरीर में रोमांच हो आया। राजा ने सबसे पहले मुनिराज के गले से सर्प निकाला, रानी ने खांड आदि मीठा डाला, जिसकी गंध से चीटियां मुनिराज के शरीर से उतर कर नीचे आ गई। उन्होंने मुनिराज के शरीर को काट काट कर खोखला कर दिया था। अतएव रानी ने उनके शरीर को उष्ण जल में भिगोये हुए कोमल वस्त्र से धोया। फिर रानी ने उनके शरीर की जलन दूर करने के लिए चन्दनादि शीतल पदार्थों का लेप किया। इस तरह दोनो मुनिराज के उपसर्ग को अपने हाथो से दूर कर और उनको नमस्कार कर आनन्दपूर्वक उनके सामने भूमि पर बैठ गए। राजा मुनिराज की ध्यान मुद्रा पर आश्चर्य कर रहा था, वह उनके दर्शन से सतुष्ट हुआ।

मुनिराज रात्रि भर उसी प्रकार ध्यान मे लीन हो खड़े रहे और राजा रानी जागरण करते हुए उनके सामने उसी प्रकार बैठे रहे। रात्रि समाप्त होने पर जब सूर्य का प्रकाश चारो ओर फैल गया तो रानी ने मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा दी और उनकी स्तुति इस प्रकार करने लगी—

"हे प्रभो ! आप समस्त ससार में पूज्य और अनुपम गुणों के भण्डार है। आपके गले में सर्प डालने वाले और फूलों का हार पहिनाने वाले दोनों ही आपकी दृष्टि मे समान हैं। भगवन् ! आप इस संसार रूपी समुद्र को पार कर चुके है तथा औरों को भी पार उतारने वाले हैं। आप सभी जीवों के कल्याणकर्त्ता हैं। हे करुणा सागर ! अज्ञानवश आपकी अवज्ञा करके हमसे जो अपराध हो

गया है उसे आप क्षमा करें। यद्यपि मैं जानती हूँ कि आप राग-द्वेष से रहित किसी का भी अहित करने वाले नहीं हैं, तथापि आपकी अवज्ञा-जनित अशुभ कर्म हमें सन्ताप दे रहा है। प्रभो आप मेघ के समान सभी जीवों का उपकार करने वाले, धीर-वीर परमोपकारी है। आपके प्रसाद से ही हमारा अशुभ कर्म दूर हो सकता है। हे मुनिपुंगव ! हमें आपकी ही शरण है, आप ही हमारे अकारण बन्धु हैं। आपसे बढकर ससार में हमारा कोई हितैषी नहीं हैं। दयानिधि ! आप हमें क्षमा करें, और कर्म बन्धन से छूटने का विमल उपाय बताएं।"

रानी द्वारा मुनिराज की स्तुति कर चुकने पर उनको राजा तथा रानी दोनों ने पुन: भक्तिभाव से प्रणाम किया। मुनिराज इस समय अपना ध्यान छोड़ कर बैठ गए थे। उन्होंने उन दोनों से कहा—"आप दोनों की धर्मवृद्धि हो।" मुनिराज के मुख से इन शब्दों को सुनकर राजा पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

वह मन ही मन इस प्रकार विचारने लगा—

अहो ! यह मुनिराज तो वास्तव में बड़े भारी महात्मा है। इनके लिए शत्रु और मित्र सब समान है। एक तो गले में सर्प डालने वाला मैं, तथा दूसरे उनकी परमभक्ता रानी, दोनों पर उनकी एक सी कृपा है। यह मुनिवर बड़े धन्य हैं, जो सर्प गले में पड़ने पर अनेक कष्ट सहन करते हुए भी उनका रचमात्र भी मेरे पर कोप नही है किन्तु क्षमाभाव को धारण किए हुए है। हाय ! हाय ! मैं बड़ा अधम, पापी और नीच व्यक्ति हूँ, जो मैने ऐसे परम योगी की अवज्ञा की। ससार मे मेरे समान और वज्रपापी कौन होगा ? अज्ञानवश मैने कितना महान् अनर्थ कर डाला। अब इस पाप से छुटकारा कैसे होगा ? अवश्य ही मुझे इस पाप से नरकादि दुर्गतियों में जाना होगा। अब मैं क्या करूँ और कहां जाऊं। इस कमाये हुए पापपुंज का प्रायश्चित्त कैसे करूं। इस पाप को धोने का केवल यही उपाय अब समझ में आता है कि अपना सिर शस्त्र से काट कर मुनि के चरणों में अर्पण कर मुक्त होऊ।

राजा बिम्बसार का सिर इस तरह विचार करते हुए लज्जा से झुक गया, और दु:ख के मारे उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी।

मुनिराज बड़े भारी ज्ञानी थे। उन्होने राजा के मन की संकल्प-विकल्प की बात जान ली अतएव राजा को सान्त्वना देते हुए बोले—

"राजन् तुमने अपने मन में जो आत्महत्या का विचार किया है, उससे पाप का प्रायश्चित्त न होकर और भीषण पाप होगा। आत्महत्या से बढ़ कर कोई दूसरा पाप नही है। पाप से अथवा कष्ट के कारण जो लोग परभव में सुख मिलने की आशा से आत्महत्या करते है, उनकी यह भारी भूल है। आत्मघात से कभी सुख नही मिल सकता। आत्मघात तो हिंसा है उससे पाप कैसे धुल सकते हैं ? हिंसा से तो पाप की अभिवृद्धि ही होगी। इससे आत्मपरिणामों मे संक्लेश होता है, और संक्लेश से अशुभ कर्मो का बन्ध होता है, उससे नर्कादि दुर्गतियो मे जन्म लेकर अनन्त दु:खों का पात्र होना पडता है। राजन् यदि तुम अपना भला चाहते हो और दुर्गतिके दु:खोसे बचना चाहते हो तो आत्महत्या का विचार छोड़ दो, अशुभ सकल्प दु:खों के जनक है यदि तुम्हे प्रायश्चित्त करना है, तो आत्म-निन्दा करो, शुभाचरण में प्रवृत्ति करो। आत्महत्या से पापों की शान्ति नहीं हो सकती।"

मुनिराज के वचनों को सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और महारानी से कहने लगे, सुन्दरी ! यह क्या बात हुई ? मुनिराज ने मेरे मन की बात कैसे जान ली। तब रानी ने कहा—नाथ ! मुनिराज मन:पर्ययज्ञानी है वे आपके मन की बात के अतिरिक्त आपके अगले-पिछले जन्मों का भी हाल बतला सकते है।

रानी के वचन सुनकर राजा ने मुनिराज के मुख से धर्म का वास्तविक स्वरूप सुना, और जैनधर्म को धारण किया। और रानी सहित मुनिराज के चरणों की वन्दना कर उनके गुणों का स्मरण करते हुए नगर में वापिस आ गया।

★

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व शान्ति किस प्रकार प्राप्त हो सकती है?

शान्तीलाल वनमाली शेठ

[झगोरस्क मास्को (रूस) में होने वाले सर्व धर्म सम्मेलन में जैनसमाज की ओर से शान्तीलाल वनमाली शेठ ने उसमें भाग लिया, वहाँ आपने जो भाषण दिया उसे यहाँ ज्यों का त्यों नीचे दिया जाता है। —सम्पादक]

सबसे पहले मै इस सम्मेलन के आयोजकों को हार्दिक बधाई देना चाहता हूँ कि जिन्होंने मानवतावादी मार्क्स टॉल्सटॉय, और लेनिन की कर्मभूमि—इस सोवियत सघ—में मानवता का मूल्यांकन करने का हमें मौका दिया है।

मुझे इस बात का गौरव है कि आज मै ऐसे महान् प्राचीन जैनधर्म का प्रतिनिधित्व करने जा रहा हूँ जिस धर्म के प्ररूपक भगवान महावीर का प्राणतत्त्व एवं जीवन-मंत्र ही 'समता सर्वभूतेषु,—सर्वभूतों के प्रति साम्यभाव रहा है और जिसने सह-अस्तित्व, परस्पर सहयोग द्वारा विश्व को शान्ति एवं मैत्री का जीवन-संदेश दिया है। भ० महावीर अहिंसा मूलक साम्यवाद-सिद्धान्त के प्रमुख उद्घोषक, प्रबल समर्थक, प्ररूपक एवं प्रहरी थे।

आज जिस सहअस्तित्व एवं शान्ति की पवित्र भावना से यह सम्मेलन आयोजित किया गया है वही विश्वशान्ति एव विश्वमैत्री स्थापित करने के महान् उद्देश्य से भारतीय समन्वय-संस्कृति के प्रखर स्वरवाहक, तेजस्वी जैन संत मुनिश्री सुशीलकुमारजी म० की प्रेरणा से भारत मे बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता आदि स्थानों पर तीन विश्व-धर्म-सम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पन्न हो चुके है जिसमे दिल्ली-सम्मेलन मे तो आपके यहाँ के तीन महानुभाव प्रतिनिधियो ने भी भाग लिया था, यह सतोष का विषय है। मुनिश्री सुशीलकुमारजी म० अपनी परम्परा की मर्यादानुसार यहाँ साक्षात् उपस्थित नही हो सके हैं लेकिन विश्वधर्म सम्मेलन द्वारा विश्व में शान्ति एवं मैत्री स्थापित हो सकती है ऐसा उनका विश्वास है। उन्होंने इस सम्मेलन की सफलता के लिए अपनी शुभ कामनाएं प्रेषित की हैं और आगामी फरवरी १९७० में दिल्ली में होने वाले चौथे विश्वधर्म सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए सप्रेम आमंत्रण भेजा है। आज उन्हीं के एक प्रतिनिधि के रूप में, इस पवित्र शान्ति-यज्ञ में सम्मिलित होने में मैं गौरव अनुभव करता हूँ।

यह बड़े ही सौभाग्य की बात है कि हम इस शान्ति-यज्ञ का मगलाचरण ऐसे शुभावसर पर कर रहे हैं जब कि अहिंसक समाज-क्रांति के अग्रदूत भ० महावीर की २५वी निर्वाण-शताब्दी, अहिंसाके महान् प्रयोगवीर महात्मा गांधी की जन्म-शताब्दी एवं मानवतावादी महान् नेता लेनिन की शताब्दी मनाने जा रहे है। विश्वशान्ति के पुरस्कर्त्ता इन महापुरुषों के जीवन में से पवित्र प्रेरणा पाकर मानव-समाज को एक विश्व-कुटुम्ब के रूप मे, अखण्ड बनाने का सत्संकल्प करें यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

विश्व के सभी राष्ट्र शान्ति एव मैत्री चाहते है। क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र, जाति एवं व्यक्ति हिंसा के दुष्परिणामों से भयाक्रांत हैं। हिंसक क्राति का युग समाप्त हो चुका है। हिंसा, वैमनस्य, विद्वेष के स्थान पर आज अहिंसा एवं विज्ञान के समन्वय का, समता तथा शान्ति का युग आ रहा है। इस आनेवाले अहिंसा-युग का यह आह्वान है कि—'विषमता एवं विसंवादिता से दूर रहकर, समता-शान्ति तथा श्रमता का आधार बनाकर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं पारस्परिक सहयोग-द्वारा समग्र विश्व मे शान्ति एवं मैत्री का मधुर वातावरण पैदा करें।'

वर्तमान युग में दो प्रयोग चल रहे है—एक अणु का, अस्त्र का एवं युद्ध का और दूसरा सह अस्तित्व, पारस्परिक सहयोग एवं शान्ति का। एक भौतिक, है दूसरा आध्यात्मिक, एक मारक है, दूसरा तारक, एक मृत्यु है, दूसरा जीवन, एक विष है, दूसरा अमृत।

सह-अस्तित्व एवं पारस्परिक सहयोग का यह नारा है—

"आओ, हम सब मिलकर चलें, मिलकर बैठें, मिलकर समस्याओं का हल करें, कन्धे से कन्धा मिलाकर सब कल्याण-पथ पर आगे बढ़ते चलें ताकि हम मानव मिलकर रहे। परस्पर विचारों मे भेद है, कोई भय नही, कार्य करने की पद्धति भिन्न है, कोई खतरा नहीं, सोचने का तरीका अलग है, कोई डर नहीं क्योंकि सबका तन भले ही भिन्न हों पर मन सबका एक ही है, हमारे सुख-दुख एक-से हैं। हमारी समस्याएं समान है। क्योंकि हम सब मानव हैं और मानव एक साथ ही रह सकते हैं, बिखर कर नहीं, बिगड़ कर नही।"

जो अणु-अस्त्र या युद्ध मे विश्वास करता है वह भौतिक शक्ति का पुजारी है, वह अपनी जीवन-यात्रा अणु-अस्त्र पर चला रहा है लेकिन जो सह-अस्तित्व एव पारस्परिक सहयोग मे विश्वास करता है वह अध्यात्मवादी है। पश्चिमी राष्ट्र अधिक भौतिकवादी है जब कि पूर्व अध्यात्मवादी है। एक देह पर शासन कर रहा है और दूसरा देही पर। एक तीर-तलवार मे विश्वास करता है और दूसरा मानव के अन्तर मन मे, मानव के सहज स्वाभाविक स्नेह-शीलता में। एक मुक्का तानकर सामने आता है और दूसरा मिलने के लिए प्यार का, शान्ति तथा मत्री का हाथ बढाता है।

आखिर जीवन-धम क्या है? सब के प्रति मगल भावना, शुभ कामना। सबके सुख मे सुखबुद्धि और दुःख मे दुःखबुद्धि। समता-योग की, सर्वोदय की इस विराट एव पवित्र भावना को 'धर्म' के नाम से सबोधित किया गया है। अहिंसा, सयम एव तपमूलक मंगलधर्म के पालन से ही विश्वकल्याण सभवित है।

सभी धर्म केवल मानव-मानव के बीच ही नही, समग्र विश्व प्राणियो के प्रति स्नेह-सद्भाव, मैत्रीभाव, गुणिजनों के प्रति प्रमोदभाव, दुःखी प्राणियों के प्रति करुणाभाव एवं दुश्मनों के प्रति माध्यस्थभाव स्थापित करने के लिए हैं। जो धर्म रगभेद, जातिभेद, वर्णभेद या क्षेत्रभेद को लेकर मानव-मानव के बीच दरार डालते हैं, तिरस्कार, नफरत पैदा करते है वे वास्तव मे धर्म ही नहीं हैं, ये तो केवल धर्मभ्रम है। मनुष्य धर्म का इसलिए पालन करता है कि वह सच्चे अर्थ मे 'मानव' बने। मानवता ही धर्म की आधारशिला है। जहाँ मानवता एवं सर्वोदय की भावना नहीं वहाँ 'धर्मत्व' नहीं। जब मानवता का जीवन में साक्षात्कार हो जाता है तब प्रत्येक मानव का यह ध्येय मन्त्र बन जाता है कि—'मैं सर्वप्रथम मानव हूँ। मै अपना मानव धर्म समझूं और मानव-समाज के कल्याण के लिए जीऊँ'—यह मेरा पहला कर्त्तव्य है क्योंकि सभी धर्म महान् है लेकिन मानवधर्म उससे भी महानतम है। जब मानवधर्म का जीवन मे साक्षात्कार हो जाता है तब अपने माने हुए राष्ट्र, समाज व धर्म के क्षुद्र सीमा-बधन टूट जाते है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की विराट भावना स्वतः पैदा हो जाती है। यह महान् मानवधर्म इतना सीधा-सादा है कि उसे एक ही वाक्य 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मे प्रकट कर सकत है।

भ० महावीर समता, शान्ति, श्रमशीलता को अपना जीवन ध्येय बनाकर 'श्रमण' बन थ और उनकी श्रमण-सस्कृति का मूलमन्त्र भी सह-अस्तित्व एव विश्व शांति था।

आज से करीबन ढाई हजार वर्ष पूर्व मानवता एव समानता क प्रखर स्वरवाहक, अहिंसक समाज-क्रान्ति के अग्रदूत महामानव महावीर ने आध्यात्मिकता के आधार पर अहिंसा, अनेकान्त एव अपरिग्रह द्वारा "जीओ और जीने दो" का जीवन-सन्देश दिया था। महामानव महावीर ने मानवधर्म का स्वरूप बतलाते हुए स्पष्ट उद्घोषणा की थी—'**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा, संजमो, तवो।**' जो धर्म अहिंसा, संयम एवं तपःप्रधान होता है वह विश्वकल्याणकारी-मगलमय ही होता है। उनके समग्र जीवन एव उपदेश का सार आचार मे सम्पूर्ण अहिंसा एवं विचार में अनेकान्तवाद था। अहिंसा द्वारा विश्वशान्ति और अनेकान्त द्वारा विश्वमैत्री का मूलमन्त्र दिया था। भ० महावीर ने जीवन की समता एवं शान्ति के लिए अहिंसा के तीन रूप बताये है:—समानता, प्रेम, और सेवा।

समानता

प्रत्येक प्राणी को आत्मतुल्य समझो यही सामाजिक भावना का मूलाधाम है। उनका यह उद्देश्य था कि—

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्ख-पडिकूला।
अप्पियवहा, पियजीवणो, जीविउं कामा।

सव्वेसिं जीवियं पियं, नाइवाएज्ज कंचणं।
—आचारांग १-२-३

तुमं सि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि।
तुमं सि नाम तं चेव जं अज्जावेदव्वं ति मन्नसि।
तुमं सि नाम तं चेव जं परियावेयव्व ति मन्नसि।
—आचारांग १-५-५

'सभी प्राणियो को अपनी जिन्दगी प्यारी है। सबको सुख अच्छा लगता है और दुःख बुरा। वध सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय। सब प्राणी जीना चाहते है। कुछ भी हो, सबको जीवन प्रिय है। सभी सुख-शान्ति चाहते हैं, अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।' क्योकि

'जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।'

प्रेम—

जो व्यक्ति निकट परिचय में आते है उसके साथ विग्रह और विरोध मत करो। प्रत्येक व्यक्ति को अपना बन्धु समझो और उसके प्रति मैत्रीभावना का—विश्व-वात्सल्य का विकास करो—**मित्ती मे सव्व भूएसु** सबके प्रति मेरा मैत्रीभाव है—यह प्रेम का सन्देश है।

सेवा—

सेवा का तीसरा उदघोष सामाजिक सम्बन्धों की मधुरता एव आनन्द का मूल स्रोत है। जहां दो व्यक्तियो में परस्पर सहयोग नही, वहा सामाजिक सम्बन्ध कितने दिन टिकेंगे ! सेवा के क्षेत्र में महावीर ने जो सबसे बड़ी बात कही वह यह थी कि—"मेरी उपासना से भी अधिक महान् है किसी वृद्ध, रुग्ण और असहाय मनुष्य एवं प्राणी की सेवा। सेवा से व्यक्ति साधना के उच्चतम पद-तीर्थंकरत्व को भी प्राप्त कर सकता है।"

—अहिंसा की यह त्रिवेणी अहंकार की कलुषता को धोती है, प्रेम और मैत्री की मधुरता सरसाती है और सेवा-सहयोग को उर्वर बनाकर सर्वतोमुखी विश्वकल्याण की भावना पैदा करती है। वास्तव मे 'अहिंसा' जीवन-संस्कृति का प्राण है। मानवीय चिन्तन का नवनीत पैदा करती है। समता और मानवता मूलाधार है। ज्ञानी के ज्ञान का सार है। वैर से वैर शान्त नहीं होता है अपितु वैरभाव का शमन करने से ही मैत्री भावना पैदा होती है। वास्तव में सर्वभूत हितकारी अहिंसा भगवती है। इसलिए अहिंसा परम 'ब्रह्म' रूप कही गई है।

यदि विश्व के नागरिक महावीर द्वारा प्ररूपित अहिंसा को जीवन में उतारें तो विषमता समता के रूप में परिवर्तित हो जाय और विश्वशांति स्थापित हो जाय।

महावीर की जो दूसरी मौलिक देन है वह 'अनेकांत-दृष्टि' है। अनेकान्त दृष्टि या स्याद्वाद कथनशैली भी वैचारिक अहिंसा की ही एक प्रणाली है। सहिष्णुता-समन्वय दर्शिता एवं उदारता अनेकान्त का प्रगट स्वरूप पारस्परिक विवादों को मिटाकर विश्वमैत्री स्थापित करने की एक व्यावहारिक प्रक्रिया है। "जो सत्य है वही मेरा है और दूसरे की सच्ची बात भी स्वीकार्य सही हो सकती है"—यदि इस अनेकान्त की जीवन-दृष्टि को अपनाई जाय तो विश्व के सभी वैचारिक द्वन्द्व ही समाप्त हो सकते हैं। अनाग्रहवृत्ति और मध्यस्थ बुद्धि का समन्वय ही 'अनेकांत या स्याद्वाद' है। यदि विचारों के समन्वय एवं पारस्परिक सहयोग द्वारा आपस के झगड़े को निपटाने के लिए अनेकान्त सिद्धान्त को अपनाया गया तो विश्वमैत्री स्थापित करने मे यह महामूल्यवान योगदान दे सकता है। वास्तव मे विचार वायु के रोग से पीडित मानव-समाज को आरोग्य प्रदान करने वाली यह एक अमोघ औषध है। यदि स्याद्वाद-अनेकान्त दृष्टि का सामाजिक एवं राजकीय उलझनों को सुलझाने में उपयोग किया जाय तो विश्व का तनावपूर्ण वातावरण ही समाप्त हो जाय और उसके स्थान पर मैत्री और शान्ति की स्थिति पैदा हो जाय।

भ० महावीर के जीवन का तीसरा प्रखर स्वर है—अपरिग्रह। आसक्ति ही जीवन की विडम्बना का मूल है। आज मानव-समाज स्वार्थ, आशा और तृष्णा के अन्दर इस प्रकार उलझ रहा है कि वह कर्तव्य का भान ही भूल गया है। यही कारण है कि एक ओर धन के अंबार लग रहे है और दूसरी ओर भूखमरी और गरीबी से मानव छटपटा रहा है।

समाज की दुख-दरिद्रता की जड़ सामाजिक विषमता (Disparity) ही है। इस विषमता को दूर करने के लिए समाज के धनाढ्य एवं श्रीमंत वर्ग को महावीर ने

सर्वप्रथम यही उपदेश दिया था कि—"अपनी इच्छाओं को नियन्त्रित करो। भोग की लालसाओं को सीमित करो। अपार सम्पत्ति और अगणित दास आदि जो भी तुम्हारे अधिकार में केन्द्रित हैं, उन्हें मुक्त करो, उनका विसर्जन करो अथवा उनका उचित परिमाण करो।"

गरीबी स्वयं में कोई समस्या नहीं, किन्तु अमीरी ने समस्या बना दिया है। गड्ढा स्वयं मे कोई बहुत बडी चीज नहीं किन्तु पहाडों की असीम ऊंचाईयों ने इस धरती पर जगह-जगह गड्ढे पैदा कर दिये हैं। पहाड़ टूटेंगे तो गड्ढे अपने आप भर जायेंगे, सम्पत्ति का विसर्जन होगा तो गरीबी अपने आप दूर हो जायेगी।

संग्रह की अग्नि भोगेच्छा के पवन से प्रज्ज्वलित होती है। भ० महावीर ने अपरिग्रह को दो रूपों मे अभिव्यक्ति दी—वस्तु का परिमाण और भोगेच्छा पर नियन्त्रण। व्यक्ति की भोगेच्छा जब सीमित हो जाती है तो वह विश्व के असीम साधनों को अपने पास बटोर कर रखने की चेष्टा नहीं करता। जितनी आवश्यकता उतना ही संग्रह। आवश्यकता रूप सयम की आस्था को सुदृढ करने के लिए महावीर ने एक बार कहा कि—जो आवश्यकता से अधिक सग्रह करता है—वह स्तेन-कर्म (चोरी) का दोष करता है। अर्थात् आवश्यकता से अधिक संग्रह करने वाला समाज की चोरी करता है। महावीर के इस अपरि-ग्रह-दर्शन ने समाज-शुद्धि की प्रक्रिया को बल प्रदान किया। समाज मे परिग्रह की जगह त्याग की प्रतिष्ठा हुई। जनता की निष्ठा भोग से हटी, त्याग की ओर बढ़ी। त्याग की निष्ठा एव तप की प्रतिष्ठा ही समाज की पवित्रता और श्रेष्ठता का प्रमाण है।

मर्क्स एवं लेनिन ने समाज के सशोधन की अपेक्षा ऐसे समाज की रचना पर बल दिया है जिसमें बुराइयाँ ही पैदा न हों। बुराई को जन्म लेने का अवसर ही न मिले। समाज-व्यवस्था के नाते मार्क्स एवं लेनिन की यह सैद्धान्तिक प्रक्रिया ठीक है परन्तु वह मानवसमाज पर ऊपर से बलात् नही थोपी जानी चाहिए, स्वयं उभरनी चाहिए। मानवता के विकास में मार्क्स, टोल्सटॉय, तथा लेनिन का महत्वपूर्ण योगदान इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित है।

यदि महावीर के अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह पर नवीन दृष्टि से चिंतन किया जाय, तो इस समस्या का भारत की ओर से सांस्कृतिक समाधान आज हमें मिल सकता है। महावीर ने समाज-रचना की अनेक तात्का-लिक एव चिरकालिक समस्याओं का समाधान जिस अहिंसा और अपरिग्रह की व्यापक प्रक्रिया के द्वारा किया उसके मूल मे मानव-चेतना की आन्तरिक शुद्धि एवं पवि-त्रता पर बल दिया गया था। अतः वह मानव के अन्त-र्द्वन्द्वों का क्षणिक समाधान नही, शाश्वत समाधान था। आज भी इसी प्रक्रिया के बल पर हम समाज को धन की गुलामी से मुक्त करके अपरिग्रह की प्रतिष्ठा कर सकते है।

इस प्रकार महामानव महावीर ने हिंसा-शक्ति का सशोधन अहिसा और मैत्री की प्रक्रिया से, धन की कलु-षता का परिमार्जन अपरिग्रह तथा संयम से एव बौद्धिक विग्रह का समाधान अनेकान्त एव स्याद्वाद दृष्टि से करने का स्पष्ट मार्गदर्शन किया। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की उपलब्धि महावीर के धर्म की महान् उप-लब्धि है।

भारतीय सस्कृति प्रारम्भ से ही विश्वशान्ति के लिए सह अस्तित्व एव पारस्परिक सहयोग की उद्घोषणा करती आई है। स्वतन्त्र भारत की राजनीति का आधार भी शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व एव पारस्परिक सहयोग रहा है। भारत के प्राचीन ऋषियों ने, भ० महावीर एव महात्मा बुद्ध ने इसी का जीवन संदेश दिया, हमारे राष्ट्र पिता महात्मा गाधी ने इसी सिद्धान्त को जीवन मे प्रगट कर विश्व को मार्गदर्शन किया। भारत के स्व० प्रधान मन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू, श्री लालबहादुर शास्त्री और वर्तमान प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने भी इसी सह अस्तित्व एव पारस्परिक सहयोग की राजनीति द्वारा विश्वशान्ति के मार्ग को प्रशस्त किया है और कर रहे हैं। भारत और रूस—इस विश्व की सबसे महान शक्तियाँ आज सह-अस्तित्व सिद्धान्त के आधार पर परस्पर अभिन्न मित्र बने हुए है। इतना ही नहीं समग्र विश्व में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं पारस्प-रिक सहयोग द्वारा शान्ति एवं मैत्री स्थापित करने के लिए उत्सुक एवं प्रयत्नशील हैं। आज का सम्मेलन भी

विश्वशांति व मैत्री को चिरस्थायी बनाने की ओर एक ठोस कदम है।

यदि हम वास्तव में राष्ट्र-राष्ट्र के बीच अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पारस्परिक सहयोग एव सहअस्तित्व द्वारा विश्व-शान्ति स्थापित करना चाहते हैं तो निम्नलिखित शान्ति-सूत्रों को मूर्त्तस्वरूप देना आवश्यक होगा :—

१. अखण्डता :

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सीमा का यथासंभव अतिक्रमण न करे। उसकी स्वतन्त्रता एव प्रभुसत्ता पर आक्रमण न करे। उस पर इस प्रकार का दबाव न डाले, जिससे उसकी अखण्डता पर संकट उपस्थित हो।

२. प्रभुसत्ता :

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी प्रभुसत्ता है। उसकी इच्छा के विरुद्ध स्वतन्त्रता मे किसी प्रकार की बाधा-बाहर से नहीं आनी चाहिए।

३. अहस्तक्षेप :

किसी देश के आन्तरिक या बाह्य सम्बन्धों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही होना चाहिए।

४. सह-अस्तित्व :

अपने से भिन्न सिद्धान्तों और मान्यताओं के कारण किसी देश का अस्तित्व समाप्त करके उस पर अपने सिद्धान्त और व्यवस्था लादने का प्रयत्न न किया जाय। सबको साथ जीने का, सम्मानपूर्वक जीवित रहने का अधिकार है।

५. पारस्परिक सहयोग :

एक दूसरे के राष्ट्र-विकास में सहयोग-सहकार की भावना रखें। एक के विकास मे सबका विकास और एक के विनाश में सबका विनाश है।

ये पांच शान्ति-सूत्र हैं जो आज से सहस्रों वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति, श्रमण-संस्कृति एवं गणतन्त्र प्रणाली के प्रयोग-व्यवहार में लाए गए हैं और शान्ति और मैत्री स्थापित करने में सफल सिद्ध हुए हैं।

यदि उक्त पांच शान्तिसूत्रों को सह-अस्तित्व में अग मान लिए जाते हैं तो विश्व की सभी उलझी हुई गुत्थियां सहज सुलझ सकती हैं।

आज इन पांच शान्ति-सूत्रों को पुनः प्रयोग व्यवहार में लाना जरूरी है। समय की भी यही मांग है।

समग्र विश्व में शान्ति एवं मैत्रीमय वातावरण पैदा करने के लिए निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किए जाएं :—

(१) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक सहयोग स्थापित करने के लिए एक 'विश्व-नागरिक-सघ' का निर्माण किया जाव जो विश्व की जनता को प्रेमसूत्र से बांध सके और विश्वात्मैक्य के आदर्श को मूर्त कर सके। विश्व के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को हर जगह जाने की स्वतन्त्रता हो। पार-पत्र का सीमा-बन्धन न हो।

(२) राजनैतिक एकता के लिए सयुक्त-राष्ट्र-संघ एवं सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक एकता लिए 'युनेस्को' जैसी महान् संस्थाएं स्थापित की गई है वैसे ही विश्व में शाति, मैत्री, सहृदयता, मानवता का विशुद्ध वातावरण पैदा करने के लिए एक विश्वधर्म-संसद्' जैसी आध्यात्मिक संस्था स्थापित हो। इस संस्था की विश्व भर में शाखाएं हों और उसका एक प्रमुख केन्द्र भारत में रहे। इस सस्था में सभी धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की व्यवस्था हो जिससे विश्व में सर्व धर्म-समन्वय स्थापित करने में प्रेरणाबल मिल सके।

(३) विश्व में 'अभय' का वातावरण पैदा करने के लिए निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त को मान्यता दी जाय एवं अणु-अस्त्र के निर्माण पर नियंत्रण करके आक्रमण प्रत्याक्रमण की भावना को ही समाप्त की जाय। आण्विक शक्तियों का रचनात्मक कार्यों में सदुपयोग किया जाय।

(४) अहिंसा की भावना को विश्व-व्यापक बनाने के लिए प्रमुख स्थानों पर 'अहिंसा-शोधपीठ' स्थापित किये जांय। जहां पर मांसाहार के स्थान पर सात्विक शाकाहार का प्रचार करने के लिए अहिंसा-भावना के विस्तार के साधनों पर अनुसंधान किया जाय। मानव-मानव के बीच जैसी सहृदयता है वैसी सहृदयता प्राणीमात्र—मूक पशु-पक्षी तक विस्तीर्ण हो।

साथियो !

प्रत्येक राष्ट्र, जाति एवं व्यक्ति सभी शान्ति तथा मैत्री चाहते हैं फिर भी क्यों हो नही पाती ? इसका मूल कारण यही है शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व एवं अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक सहयोग की भावना के प्रति बड़े बडे राष्ट्रों के अधिनायकों के हृदय मे दृढ श्रद्धा नहीं है।

यदि हम वास्तव में एक विश्वराष्ट्र, एक विश्वजाति एवं विश्वनागरिक की कल्पना को मूर्त स्वरूप देना चाहते है तो सर्वप्रथम सभी राष्ट्रों में सहअस्तित्व एवं पारस्परिक सहयोग की भावना मे दृढ श्रद्धा पैदा करनी होगी। सम्यग्दृष्टि—सच्ची श्रद्धा नहीं होने के कारण ही बड़े-बड़े राष्ट्रो के अधिनायक स्वीकृत सिद्धान्तों से भटक जाते है।

महामानव महावीर ने स्वीकृत सिद्धान्तो पर दृढ रहने के लिए चार अंतरंग साधन बताये है जो साध्य की सिद्धि में उपयोगी सिद्ध हो सकते है :—

(१) स्वीकृत सिद्धान्त में निःशकित रहे।
(२) स्वीकृत सिद्धान्त के अतिरिक्त प्रलोभन मे पड कर दूसरे सिद्धांतो की कांक्षा न करें।
(३) स्वीकृत सिद्धान्त मे फलाकांक्षा नही रखते हुए, दृढ़ता रखें।
(४) स्वीकृत सिद्धान्त के अनुपालन मे अमूढ दृष्टि रखे अर्थात् पूर्वाग्रहों को, परम्परागत रूढ़ि को एक बाजू रखकर सत्यदृष्टि एवं सत्याग्रह को ही बल दें।

यदि स्वीकृत सिद्धान्त के परिपालन मे निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा एव अमूढ़दृष्टि आ जाती है तो विश्वास रखें कि सहअस्तित्व एवं पारस्परिक सहयोग का शान्ति-पथ अवश्य प्रशस्त होकर ही रहेगा।

इसी प्रकार जो-जो राष्ट्र सह-अस्तित्व एवं सहयोग के शान्ति-प्रस्तावों को स्वीकार कर लेते हैं उन्हें निम्नानुसार सहयोग देकर सह-अस्तित्व का प्रत्यक्ष परिचय देना चहिए अर्थात् उन छोटे-बड़े राष्ट्रों को—

(१) प्रोत्साहन देना (उपबृंहण), सहयोग देना।
(२) स्थिरीकरण—जो राष्ट्र विचलित हो उठते है उन्हें सहकार देकर स्थिर करना।
(३) वात्सल्य—स्नेह-सद्भाव द्वारा राष्ट्र-विकास में सहयोग देना एव उनके प्रति विश्व-वात्सल्य का परिचय देना।
(४) प्रभावना—सह-अस्तित्व एव सहयोग के सिद्धान्तों को यशस्वी एवं प्रभावशाली बनाने के लिए सयुक्त प्रयत्न करना।

यदि आज इस सम्मेलन मे हम लोगों ने सह-अस्तित्व एव सहयोग की भावना को मूर्त स्वरूप देने का निष्ठापूर्वक निश्चय कर लिया तो विश्व मे 'सर्वोदय' का सूर्योदय अवश्य होगा। इस सर्वोदय की किरणे पाकर सारा विश्व धन्य धन्य और कृतकृत्य हो जायेगा।

युग दृष्टा भ० महावीर ने शोषण, दोहन और उत्पीड़न पर आधारित आपाधापी का, अपरिग्रह की मौलिक व्याख्या प्रस्तुत कर, अन्त कर दिया था। यदि आज महावीर का 'अ'-मूलाक्षर अर्थात्, अहिंसा, अनेकान्त, अभय, अपरिग्रह, अस्वाद, अद्रोह अदि अकारादि मूलाक्षर-सिद्धान्त मानवमात्र की आत्मा का संगीत बन जाए तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव सभी द्वन्द समाप्त हो सकते है। अहिंसा और अनेकान्त यही भगवान् महावीर के जीवन का भाष्य है और यही सर्वोदय के मूलमन्त्र है।

'सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।'

भगवान् महावीर के तीर्थ को 'सर्वोदयतीर्थ' ही कहा गया है—अर्थात् जहाँ सर्वोदय—सबका भला करने की भावना—अन्तर्निहित हो वही महावीर का 'शासनतीर्थ' है।

मुझे इस बात का गौरव है कि मेरा भारत देश और मेरा जैनधर्म सहअस्तित्व एव अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक सहयोग द्वारा विश्वशाति में विश्वास ही नही करता अपितु सहस्त्राब्दों से विश्वशांति एवं विश्वमैत्री का जीवन-संदेश देने में अग्रसर रहा है। आज हमारे मित्र राष्ट्र के धर्मनायकों ने सह अस्तित्व एवं सहयोग द्वारा विश्वशांति स्थापित करने की दिशा में जो ठोस कदम उठाकर धर्मनीति का परिचय दिया है इसके लिए हम सम्मेलन के आयोजक धन्यवादार्ह है।

अन्त में हम सबकी यही अन्तर्भावना हो कि—

सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥ ●

लश्कर में मेरे पांच दिन

परमानन्द शास्त्री

मैं लश्कर-ग्वालियर मे जून महीने के शुरू मे वहाँ की प्रगतिशील संस्था नवयुक मण्ड्ल के निमन्त्रण पर गया था। सेठ मिश्रीलाल जी पाटनी के पास ठहरा, वे बडे भद्र परिणामी है, और लगन से काम करते है। उनकी धार्मिक लगन सराहनीय है। वे नियम से नये मन्दिर मे प्रति दिन पूजन करते है। संस्था द्वारा निर्मापित 'ग्वालियर निर्देशिका भी देखी, जिसे उन्होंने बड़े भारी परिश्रम से तय्यार किया है, उसके लिए कुछ उपयोगी सामग्री बतलाई, और कुछ सुझाव दिये। नवयुवकों मे स्वाध्याय करने की प्रेरणा की। मुझे लगा कि नवयुवक यदि इस तरह से परिश्रम करते रहे तो वहाँ की समाज की अच्छी प्रगति हो सकती है। ग्वालियर निर्देशिका से ज्ञात होता है कि ग्वालियर मे इस समय जैनियों की जनसख्या सात हजार है। लश्कर मे २२-२३ जैनमन्दिर है।

ग्वालियर का भट्टारकीय शास्त्र भण्डार अर्से से बन्द पड़ा है। वहाँ की समाज को चाहिए कि शास्त्र भडार को सम्हालने का यत्न करे उसे खुलवाए और उसकी विधिवत सूची बनाकर प्रकाशित करें, जिससे जनता को अज्ञात कृतियों का पता चल सके।

मैने ग्वालियर और लश्कर के दो-तीन मन्दिरों के मूर्तिलेख लिए है और किले में अग्रवालों द्वारा उत्कीर्णित मूर्तियों का भी अवलोकन किया, वे विशाल मूर्तियाँ जो खडित की गई है उनकी मरम्मत होनी चाहिए। मूर्तियों की खुदाई का कार्य डूगरसिंह और कीर्तिसिंह के राज्य काल में ३३ वर्ष पर्यन्त चला। किले में छोटी-बड़ी एक सहस्र से अधिक मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई है। मूर्तियों का पाषाण झरने लगा है, कई लेख झर गए हैं, जो पढ़ने में नहीं आते। यदि उनकी मरम्रत न हुई तो इस महत्वपूर्ण सामग्री का विनाश अवश्यम्भावी है।

ग्वालियर का म्यूजियम भी देखा, उसमें दो लेख दिगम्बर सम्प्रदाय के है। एक लेख सं० १३१६ का भीमपुर (नरवर) का है, जो ६६ पद्यों मे उत्कीर्ण है और जिसमे यज्वपाल के सामन्त जैत्रसिंह द्वारा जैन मन्दिर बनवाने और पौरपट्टान्वयी नागदेव द्वारा प्रतिष्ठा कराने का उल्लेख है। वह लेख भी मूल शिला परसे नोट करके लाया हूँ उसे अनेकान्त के अगले अकमें दिया जावेगा। दूसरी एक प्रशस्ति है जो एक शिला पर उत्कीर्ण है उसे नोट करने का समय नही मिला। इस अंकमें कुछ मूर्ति लेख दिये जाते है। और शेष अगले अंक मे।

कुछ मूर्ति-यंत्र-लेख नयामन्दिर लश्कर

१. पार्श्वनाथ मूल नायक पाषाण पीला पद्मासन ढाई फुट, ऊंची-चौडाई सवा दो फुट। सं० १५४० वर्षे भट्टारक जिनचन्द्र राजाशिवसिंह जीवराज पापडीवाल प्रतिष्ठा कारापिता।

२ चौवीसी धातु ऊँ० १। फुट चौ. ६ इंच। प्रतिष्ठा सं० १४७६ वर्षे वैशाख सुदी ३ शुक्रवासरे श्रीगणपतिदेवराज्ये श्री मूलसघे...भट्टारक शुभचन्द्रदेवा मंडलाचार्य पं० भगवत तत्पुत्र संघवी खेमा भार्या खेमादे जिनबिम्ब प्रतिष्ठा कारापितम्।

३ चौबीसी धातु साइज १ फुट ऊँची ६ इंच चौड़ी।

सं० १६४७ आसाढ़ सुदी ५ प्रतिष्ठा गढ़ नरवर श्री काष्ठासघे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री यशःकीर्ति आम्नाये श्रीमालज्ञाति वसुदेव भार्या गोदेवी —तत्भार्या डरूको तथा पुत्र चतुरधा रविचन्द्र तत्भार्या रतोदेवी तत्पुत्र टोडरमल, महेशदास तत्र टोडरमल देवमती तत्पुत्रौ खड्गसेन ब्रह्म गाइ सेनऊ महेशदास भार्या कपूरदेवी एतेषा आम्नाये मध्ये चतुरधा हेमदासौ नित्यं प्रणमति।

चौंसठि ऋद्धि यन्त्र

सं० १७२२ वर्षे अगहन सुदी १ सोमे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये श्री भ०

जगत्भूषण देवास्त तत्पट्टे भ० श्री विश्वभूषण देवास्तदाम्नाए इक्ष्वाकुवंशे गोलसिंघारान्वये सं० पोर्षे भार्या केसरिदे पुत्र वैकुण्ठ भार्या विशो—देवसेन भा० धर्मावतारी प्रताप भा० श्यामा वलिराम भा० धरमदे एतेषां मध्ये सं० पोषे तेनेदं यन्त्र प्रतिष्ठा कारापितम् ।

सम्यक् चारित्र यन्त्र

सं० १६६४ वर्षे वैशाख...श्री मूलसंघे बलात्कारगणे भ० श्री ज्ञानभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० श्री जगत्भूषणदेवास्तदाम्नाये गोलाराडान्वये सोहान गोत्रे संघाधिप रामचंद्र स्तदभार्या जया तयोः पुत्रास्त्रयः श्री लाला खरगसेन, परशुराम, अगरमल तत्र खरगसेन भार्या परमलदेवी तयो पुत्राः ५ मकरन्द, कन्हरदास श्री चिन्तामणि पयग श्यामदास, मकरंद भार्या राममति पुत्र ३ नामसाहि, संमेदी विहारी, कन्हर भा० कंचुनदे तत्पुत्र प्रताप किशनदास भिखानी प्रताप भा० ससजादी पु० चन्द्रमणि भा० चंपा तत्पुत्र ३ भगवत, जीवन, सबलसिंधु पयागलता तद्भार्या कमल के पुत्र ३ गगाराम, भोगाजीत, श्मामदास भार्या नागा तत्पुत्र गगदेव जयनाम तत्र एतेषां मध्ये श्यामदास नित्यं प्रणमति ।

चौबीसी धातु, साइज ६ इंच ऊची ५ इंच चौड़ी

सं० १५५२ वर्षे ज्येष्ठ सुदि २ सोमे श्री मूलसंघे बलात्कार गणे सरस्वती गच्छे भ० श्री जिनचन्द्रदेवा भ० विद्यानन्दिदेवा श्री सा० अससार भा० संतसिरो पुत्र २ ज्येष्ठ पुत्र धरमू भा० सत्तुणा लघुभ्राता......।

अजितनाथ—पाषाण सफेद ऊँचाई सवाफुट, चौड़ाई १४ इंच ।

सं० १५२६ फाल्गुन सुदि १० मूलसंघे विद्यानन्दि देवा तद्दीक्षिता अर्जिका लग्न श्री......।

मन्दिर फालके का बाजार लश्कर

नेमिनाथ, सं० १५०५ वर्षे वैशाख सुदि ७ बुधे श्री मूलसघे भट्टारक श्री जिनचन्द्र देवाः लंबकुचुकान्वये साधु श्रीपति भार्या सुशीला तयोः पुत्राः [षट्] दामोदर कमलसिंह उदेसिंह, यतीपाल, दिवाजित, महाजित तेषां मध्ये सा० महीपाल भार्या चुंदो द्वितीया भार्या सपूता, तयोः पुत्रा कुडकाले......होला तयोपुत्र नेमिदास, लउक भार्या कोडो कमलसी सकला ते नित्यं प्रणमति सूत्रधारि जाखा ।

इस नए मन्दिरमें अनेक ग्रंथ है। जिन्हे मिश्रीलाल जी पाटनी प्रदर्शनी में दिखलाते है। कुछ सिक्कों का भी संकलन है, पर वे अधिक पुराने और महत्वपूर्ण नहीं हैं। शास्त्र भंडार में कुछ खडित और कुछ अखंडित शास्त्र हैं। कुछ गुच्छक भी है। इन सबकी सूची तो है किन्तु वह व्यवस्थित और प्रामाणिक नही है। उनमें कर्ता, टीकाकार, भाषा, रचना समय और लेखम काल, विषय, पत्र सख्या और भडार का नाम अवश्य रहना चाहिए। यदि अन्त मे ग्रथ लिपि की प्रशस्ति हो तो वह सकलित होनी आवश्यक है। पाटनीजी इस मन्दिर में रोज पूजा करते है और मन्दिर की सार-संभाल भी रखते ही हैं, उन्हें धर्मसे विशेष लगन है, सरलस्वभावी है। आशा है वर्धमान नवयुवक मण्डल लश्कर के तमाम मन्दिरो के मूर्ति लेखों और शास्त्र भंडारों को भी व्यवस्थित करने का यत्न करेगा।

साहित्य-समीक्षा

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास—भाग ४ लेखक डा० मोहनलालजी मेहता, प्रो० हीरा लालजी कापड़िया। प्रकाशक पार्श्वनाथ जैन शोध सस्थान जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी, आकार डिमाई पृष्ठ सस्था ४०० मूल्य १५ रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ मे छह अधिकार है, कर्म साहित्य, आगमिक प्रकरण, धर्मोपदेश, योग और अध्यात्म, अनगार और सागार का आचार, और बिधि-विधान, कल्प मंत्र-तत्र पर्व और तीर्थ।

प्रथम अधिकार मे कर्मसाहित्य का परिचय कराया गया है, जिससे जैन कर्मसिद्धान्त का परिचय सहज ही मिल जाता है दिगम्बरों के कर्मसाहित्य का और खट्-खण्डागम कसायपाहुड का परिचय ८० पृष्ठो मे संक्षिप्त रूप मे कराया गया है। डा० मेहता अच्छे सुलेखक हैं। उनकी लेखनी सद्भावपूर्ण, स्पष्ट और सरल होती है। विषय का थोड़े शब्दो मे परिचय कराना यह उनकी विशेषता है। कर्म साहित्य का परिचय कराते हुए दिगम्बरीय कर्मसाहित्य की तालिका भी दी है। दिगम्बरीय कर्मसाहित्य के गोम्मटसार की दो टीकाओं का परिचय सम्भवत: मेहता जी को ज्ञात नहीं हो सका। अन्यथा वे उसका उल्लेख अवश्य ही करते। यद्यपि गोम्मट सार की प्राकृत टीका का परिचय अनेकान्त के वर्ष १४ किरण १ पृ. २६ में मुख्तार साहबने कराया है, जो अजमेरके शास्त्र भंडार में सुरक्षित है।। यह टीका अपूर्ण है इसी से वे उनके कर्तृव्य के सम्बन्ध में विशेष विचार नहीं कर सके हैं। पर उसके देखने से स्पष्ट बोध होता है कि यह टीका शक सं० १०१६ वि० सं० ११५१ में रचित गिरी कीर्ति की गोम्मट पजिका से पूर्ववर्ती है; क्योंकि कुछ वाक्यों की दोनों में समानता भी देखी जाती है। पंजिका का उल्लेख आ० अभयचन्द की मन्दप्रबोधिका टीका में निम्न वाक्यों में पाया जाता है :—

"अथवा सम्मूर्च्छन गर्भोपादात्तानाश्रित्य जन्म भवतीति गोम्मट पंचिकाकारादीनामभिप्राय:। (गो० जी० म० प्र० टी० गा० ८३ पृ० २०५ बड़ी टीका)

अभयचन्द की मन्दप्रबोधिका टीका का रचना काल ईसा की १३वी शताब्दी का तीसरा चरण (सन् १२७९) है। क्योंकि अभयचन्द्र का स्वर्गवास इसी समय हुआ है। इससे स्पष्ट है कि पजिका इससे पूर्ववर्ती है। पंजिकाकार गिरिकीर्ति ने उसका रचनाकाल शक सवत् १०१६ (वि० सं० ११५१) बतलाया है, जैसा कि उसकी निम्न गाथा से स्पष्ट है :—

सोलह सहिय सहस्से गय सककाले पवड्ढमाणस्स।
भाव समस्स समत्ता कत्तियणंदीसरे एसा॥

मेहताजी ने डड्ढा के सस्कृत पंचसंग्रह का रचना काल वि० की १७वी शताब्दी लिख दिया है, जो ठीक नही है, डड्ढा का पंचसंग्रह तो आचार्य अमितगति से भी पूर्ववर्ती है। सभवत: उसका समय विक्रम की दशवीं शताब्दी है।

इसके अनन्तर श्वेताम्बर कर्मसाहित्य का परिचय कराया गया है उसके साहित्य की भी तालिका दी हुई है।

दूसरे आगमिक प्रकरण के प्रारम्भ में ग्रंथों का परिचय दिया है उसमे बोधपाहुड की अन्तिम गाथा के आधार पर विद्वान उन्हे भद्रबाहु का शिष्य मानते है। डा० सा० ने उस मान्यता को ठीक नहीं बतलाया, उस पर प्रामाणिक रूप से विचार करना आवश्यक था। डा० सा० ने उस वाक्य को चलती लेखनीसे ही लिख दिया जान पड़ता है। कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहुके साक्षात् शिष्य भले ही न हों किन्तु वे उनकी परम्परा के शिष्य थे। इससे कोई इंकार नहीं कर सकता। वे उनसे कुछ समय बाद हुए हों यह सम्भव है।

तीसरे धर्मोपदेश प्रकरण में 'उपदेशमाला' जैसे ग्रंथों का परिचय कराया गया है और योग तथा अध्यात्म के प्रकरण में दोनों विषयों का अच्छा विवेचन किया गया

है। अनगार और सागार प्रकरण में उभय धर्मों का कथन भी अच्छा दिया हैं। और अन्तिम प्रकरण विधि-विधान में पूजादिक के अनुष्ठान के साथ प्रतिष्ठा विधि मत्र-तत्र-विषयक साहित्य का परिचय कराते हुए उनकी कृतियों का सक्षिप्त विवरण दिया है। इस तरह यह ग्रंथ बहुत उपयोगी हो गया है, प्रकाशन साफ और सुथरा है। इसे मगाकर पढ़ना चाहिए। इस सब कार्य के लिए मेहताजी धन्यवाद के पात्र हैं। सचालक समितिका प्रयास भी समादरणीय है।

२. **ग्वालियर जैन निर्देशिका**—प्रधान सम्पादक प्रो. नरेन्द्रलाल जैन एम. कॉम, साहित्यरत्न, सहसम्पादक श्री कपूरचन्द जी वरैया। प्रकाशक वर्द्धमान दि० जैन नवयुवक संघ डीडवाना ओली लश्कर।

प्रस्तुत निर्देशिका २०×३० आटपेजी साइज के १६८ पृष्ठों मे मुद्रित है जिसमे ग्वालियर के ७००० हजार जैनियों का परिचय अकित किया गया है नवयुवक सघ के कार्यकर्ताओं ने इस रूक्ष विषय को सरस बनाने के लिए अनेक प्रयत्न किये है। यह निर्देशिका दि० श्वेताम्बर स्थानकवासी और तेरापंथी समाजो की है। जिसमे जैनियो द्वारा संस्थापित शिक्षा संस्थाएँ, औषधालय धर्मशालाए, पुस्तकालकय, वाचनालय, जैन छात्रावास और सभी सास्कृतिक सस्थाओ का परिचय दिया है। साथ ही ग्वालियर के अतीत के इतिहास पर भी कुछ पृष्ठ लिखे है। जिन पर मेरे लेख की स्पष्ट छाप है। जन गणना से यह भी प्रतीत होता है कि ग्वालियर मे वर्तमान मे खडेलवाल, अग्रवाल परवार, गोलापूर्व गोलालारे, गोलासिघारे, लेबकचुक, वरैया हूमड़ आदि विविध जातियो का निवास है। १४वी १५वी शताब्दी मे वहा अग्रवालो की सम्पन्नता थी। ग्वालियर किले मे उत्कीर्ण सभी मूर्तिया डूगर सिह और कीर्तिसिह के राज्यकाल मे अग्रवालो की प्रेरणा एव दानशीलता का परिणाम है। दुःख है कि आज वहा की समाज उनका जीर्णोद्धार कराने मे भी असमर्थ है। आशा है समाज के नवयुवक अपनी पुरातन सास्कृतिक वस्तुओ की रक्षा करेगी। निर्देशिका मे जाति परिचय और मूर्तिलखो का न होना खटकता है। इस सब कार्य के लिए वर्धमान नवयुवक सघ और प्रेरक मिश्रीलाल जी पाटनी और केशरीमल जी पाटनी (महामंत्री उक्त सघ) धन्यवाद के पात्र हैं।।

३. **आदि-मानव** (भगवान ऋषभदेव)—लेखक लाला महेन्द्रसेन जैन, प्रकाशक अग्रवाल दि० समाज दिल्ली।

लेखक ने भगवान ऋषभदेव का परिचय कराते हुए उनके सिद्धान्तों का सरल भाषा मे परिचय कराने का प्रयत्न किया है। पुस्तक की भाषा जहां सरल है वहाँ सुबोध भी है। आशा है लेखक महोदय आगे और भी कोई पुस्तक लिखने का कष्ट करेगे। समाज को आज सरल सुबोध भाषा वाली पुस्तको की जरूरत है, जिसमे जैन संस्कृति का परिचय निहित हो। लेखक का प्रयास सराहनीय है। पुस्तक लेखक से मगा कर पढना चाहिए।

—परमानन्द शास्त्री

४. **जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार**—(ऐतिहासिक एव समीक्षात्मक अध्ययन) ले० डॉ० दरबारीलाल जैन कोठिया, प्रकाशक—वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, पृष्ठसख्या २९६, डिमाई, मूल्य १८ रुपये।

प्रस्तुत ग्रथ श्री डॉ० दरबारीलाल जी के द्वारा 'पी० एच० डी०' उपाधि के प्राप्त्यर्थ शोध-प्रबन्ध के रूप मे लिखा गया था, जिसे काशी विश्वविद्यालय ने स्वीकार कर उन्हे उनकी विद्वत्ता के अनुरूप उक्त उपाधि प्रदान की है। डॉ० कोठिया जी न्यायशास्त्र के माने हुए विद्वान् है। उन्होने जैन न्याय के अतिरिक्त बौद्ध, मीमासक, साख्य, नैयायिक, वैशेषिक एव चार्वाक आदि इतर प्राचीन दर्शनों के भी विविध तर्क ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया है। उसी के बल पर वे ऐसे महत्त्वपूर्ण सुन्दर ग्रन्थ के लिखने मे पूर्णतया सफल हुए है।

प्रकृत ग्रन्थ पाँच अध्यायों और उनके अन्तर्गत अनेक परिच्छेदों मे विभक्त है। उनमे से प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि प्राचीन काल में बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, मीमासक, सांख्य और जैन परम्परा में इस अनुमान का क्या रूप रहा है और तत्पश्चात् उसमें फिर उत्तरोत्तर किस प्रकार से विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में अनुमान के स्वरूप, उसके भेद, अवयव और तद्गत दोषों की भी संक्षेप में चर्चा की गई

है। विस्तार से अवयवों और दोषो का विचार आगे चतुर्थ और पंचम अध्याय मे किया गया है।

जैसा कि प्रकृत ग्रंथ मे विवेचित है (पृ० २५-२६) जैन आगम ग्रंथों मे उक्त अनुमान का कुछ विकसित रूप अनुयोगद्वार सूत्र में उपलब्ध होता है। यहाँ प्रथमतः (सूत्र १३१) प्रमाण के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से चार भेद निर्दिष्ट किये गये है। इनमे से अन्तिम भाव प्रमाण का विचार करते हुए उसके भी ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये है—गुणप्रमाण, नयप्रमाण और संख्याप्रमाण। इनमें गुणप्रमाण जीवगुणप्रमाण और अजीवगुणप्रमाण के भेद से दो प्रकारका है। इनमे भी जीवगुणप्रमाण के तीन भेद कहे गये हैं—ज्ञानगुणप्रमाण, दर्शनगुणप्रमाण और चारित्रगुणप्रमाण, ज्ञानगुणप्रमाण भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम के भेद से चार प्रकारका है। इस प्रकार प्रसंग प्राप्त अनुमान के विवेचन में वहां उसके मूल में पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। इनके स्वरूप का विचार करते हुए वहाँ उनके यथासम्भव अन्यान्य भेदों का भी उदाहरणपूर्वक उल्लेख किया गया है।

मलधारीय हेमचन्द सूरि ने उसकी टीका मे इन पूर्ववत् आदि पदो को मतुप् प्रत्ययान्त माना है। यथा—पूर्ववत् अनुमान के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि पूर्व मे उपलब्ध विशिष्ट चिह्न—जैसे क्षत (फोडा आदि) व्रण (घाव) और लांछन (स्वस्तिक आदि) को पूर्व कहा जाता है। उससे युक्त, अर्थात् उसके आश्रय से उत्पन्न होने वाले, अनुमान का नाम पूर्ववत् है। इत्यादि।

इस प्रथम अध्याय के अन्त में भारतीय अनुमान की पाश्चात्य तर्कशास्त्र से भी कुछ तुलना की गई है।

द्वितीय अध्याय में विविध प्राचीन सम्प्रदायों के आधार से प्रमाण के स्वरूप और उसके प्रयोजन का विचार करते हुए समन्तभद्र आदि कितने ही जैन तार्किको के अभिमतानुसार प्रमाण के स्वरूप का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है। साथ ही यहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि कुछ प्रवादियों के द्वारा जो अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव और प्रातिभ ये पृथक् प्रमाण माने गये हैं वे उक्त अनुमान प्रमाण से भिन्न नहीं है—तदन्तर्गत ही है।

तृतीय अध्याय मे वैशेषिक, मीमासक, सांख्य और बौद्ध सम्प्रदायो में जो अनुमान के भेद स्वीकार किये गये हैं उनके विषय में अकलंक, विद्यानन्द, वादिराज और प्रभाचन्द्र इन जैन तार्किकों का क्या अभिमत रहा है; इसका विश्लेषण करते हुए उक्त भेदों की समीक्षा की गई है। तत्पश्चात् अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेदों की चर्चा करते हुए अनुमान की भित्तिभूत व्याप्ति के विषय मे सूक्ष्मता से विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन; इन अनुमानावयवों में से कितने किस सम्प्रदाय में स्वीकृत है, इसका निर्देश करते हुए उनकी तुलनात्मक रूप से समीक्षा की गई है। इस प्रसंग मे यहाँ सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र के अन्तर्गत दसवें अध्याय के "तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात्" आदि तीन (५-७) सूत्रों को उद्धृत करके उनके आधार से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यद्यपि तत्त्वार्थसूत्राकार ने अनुमान के अवयव और उनकी संख्या का स्पष्टतया कोई उल्लेख नही किया है, फिर भी उनकी रचना के क्रम को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अनुमान के अवयव अभीष्ट रहे है।

यहाँ यह विशेष स्मरणीय है कि उपर्युक्त तीन सूत्र दि० सूत्रपाठ का अनुसरण करते हैं, श्वे० सूत्रपाठ में उक्त तीन सूत्रों मे से दृष्टान्त का सूचक अन्तिम सूत्र "आविद्धकुलालचक्रवद्···" आदि नही है। इसी प्रकार दि० सूत्रपाठ के अनुसार आगे भी जो लोकान्त के ऊपर मुक्त जीव के गमनाभाव का साधक एक मात्र हेतु अवयव रूप "धर्मास्तिकायाभावात्" सूत्र उपलब्ध होता है वह भी श्वे० सूत्र पाठ में संगृहीत नही है। हाँ, लोकान्त के ऊपर मुक्त जीव की गति क्यों सम्भव नही है, इस शंका के समाधान में भाष्य में उन्हीं शब्दों (धर्मास्तिकायाभावात्) के द्वारा धर्मास्तिकाय का अभाव ही उसका कारण बतलाया गया है। इसी प्रकार भाष्य में कुलालचक्र, अग्नि, एरण्डबीज और अलाबु ये दि० सूत्रोक्त दृष्टान्त भी संगृहीत है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में यहाँ जैन तार्किकों में अनुमानावयवों

का उल्लेख करने वाले उन सिद्धसेन को प्रथम बतलाया गया है, जिन्होंने अपने न्यायावतार में प्रतिज्ञा (पक्ष), हेतु और दृष्टान्त इन तीन अनुमानावयवों का स्पष्टतया निर्देश किया है।

आगे चलकर लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जैन तार्किकों मे अधिकांश का यह स्पष्ट मत है कि विजिगीषु कथा (वाद) में तो प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान के अवयव पर्याप्त है, पर वीतराग कथा—तात्त्विक चर्चा—मे प्रतिपाद्य (श्रोता) के अभिप्रायानुसार तीन, चार और पांच भी वे माने जा सकते हैं—उनकी कोई नियत सख्या निर्धारित नही की जा सकती।

इसी अध्याय के द्वितीय परिच्छेद मे हेतु का विचार करते हुए उसके विविध तार्किकों द्वारा माने गये द्विलक्षण, षड्लक्षण और सप्तलक्षण; इन हेतुलक्षणों का उल्लेख करते हुए उनकी समीक्षा के साथ यह बतलाया गया है कि जैन तार्किकों ने अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति रूप एक लक्षण ही हेतु का निर्दोष स्वरूप स्वीकार किया है, अन्त में यहाँ हेतुभेदों की भी चर्चा की गई है व उनका स्पष्टीकरण तालिकाओं द्वारा किया गया है।

पांचवें अध्याय में अनुमानाभास का विचार करते हुए साध्याभास, साधनाभास और दृष्टान्ताभास आदि दोषों का भी अच्छा विचार किया गया है। अन्त में उपसंहार करते हुए जैन दृष्टिकोण के अनुसार सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो ही प्रमाण भेदों मे किया गया है।

इस प्रकार अनुमानविषयक सभी चर्चनीय विषयों से संकलित प्रस्तुत ग्रंथ अतिशय उपयोगी प्रमाणित होगा। अनुमानविषयक इतनी विशद और विस्तीर्ण चर्चा सम्भवतः अन्यत्र दृष्टिगोचर नही होगी। इसके लिए लेखक और प्रकाशक धन्यवादार्ह है। पुस्तक की छपाई और साज-सज्जा आदि भी आकर्षक है। ऐसे उपयोगी ग्रंथ का सार्वजनिक पुस्तकालयों और जिनमन्दिरों मे अवश्य ही संग्रह किया जाना चाहिये।

—बालचन्द सिद्धन्त शास्त्री

वीरसेवामन्दिर में वीरशासन जयन्ती सानन्द सम्पन्न

२९ जुलाई दिन मंगलवार को प्रातःकाल ८ बजे वीरशासन जयन्ती महोत्सव बाबू यशपाल जी की अध्यक्षता में सानन्द सम्पन्न हुया।

परमानन्द शास्त्री के मंगलाचरण के बाद दि० जैन महिलाश्रम की छात्राओं का मधुर भजन हुआ पश्चात् पं० बालचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री, ला० प्रेमचन्द जी जैनावाच, पं० मथरादास जी शास्त्री, प्रिन्सिपल समन्तभद्र महाविद्यालय और अध्यक्ष बा० यशपाल जी सम्पादक जीवन साहित्य के महत्वपूर्ण भाषण हुए।

भाषणों में भगवान महावीर के शासन की महत्ता ख्यापित करते हुए उनके सर्वोदयतीर्थ का प्रवर्तन सबके अभ्युदय के लिए हुआ। यह कम लोग ही जानते हैं, महावीर केवल जैनियों के नहीं थे। उनका उपदेश विश्व कल्याण की भावना से ओत-प्रोत था, उससे दानवता हटी और मानवता का स्वच्छ वातावरण लोक में प्रसारित हुआ। हिंसा पर रोक लगी, और पाप प्रवृत्तियों से बुद्धि हटी, संसार के सभी जीवों को सुख-शान्ति का मार्ग मिला। उनके शासन में ऊँच-नीच का भेद भाव नहीं था इसी से मानव के सिवाय पशुओं तक को आश्रय मिला। सभी ने उनकी वाणी का पान कर आत्मलाभ लिया। महावीर शासन के अहिंसा और अपरिग्रह विश्व कल्याण करने वाले सिद्धान्त हैं उनका जीवन में विकास आवश्यक है। अन्त में मत्री जी ने उपस्थिति की कमी को महसूस करते हुए कहा कि आगामी वीरशासन जयन्ती का उत्सव प्रातःकाल की वजाय सायंकाल मनाया जायगा, जिससे उत्सव में भाग लेने वाले सभी महानुभाव समय पर पधार सकें। दूसरे उत्सव को रोचक बनाने के लिए और भी सांस्कृतिक कार्य-क्रमों पर विचार किया जायगा। मंत्री जी ने समागत सभी सज्जनों को धन्यवाद दिया और भगवान महावीर की जयध्वनिपूर्वक उत्सव समाप्त हुआ।

प्रेमचन्द जैन
मंत्री वीरसेवा मन्दिर

समाज के तोन महानुभावों का निधन

१. बा० रघुबर दयालजी, वकील दिल्ली आप अच्छे धर्मात्मा और मुख्तार श्री जुगलकिशोर के मित्रों में से थे। वीरसेवामन्दिर के सदस्य थे। पहले प्रबन्धकारिणो के भो सदस्य रहे हैं। जैन साहित्य और संस्कृति के प्रेमी थे।

२. सेठ भागचन्द जी डोंगरगढ़—अच्छे सम्पन्न, धार्मिक कार्यों का अनुष्ठान करने वाले, संस्कृति के प्रेमी, जयधवला के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले सज्जन थे।

३. ला० कपूरचन्द जी कानपुर—धर्मनिष्ठ जिनवाणी भक्त उदार सज्जन थे, वीरसेवामन्दिर के सदस्य थे। बड़े सहृदय और सरल स्वभावी एवं मिलनसार थे।

ये तीनों ही समाज के मान्य धर्मनिष्ठ महानुभाव थे। ऐसे व्यक्तियों का असमय में वियोग हो जाने से समाज को बडी क्षति उठानी पड़ती है। पर काल के सामने किसी की नही चलती, वह बड़ा निष्ठुर और निर्दयी है।

हम उन सबके कुटुम्बियों के प्रति सम्वेदना प्रकट करते हैं। और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें परलोक में सुख-शान्ति की प्राप्ति हो। —**अनेकान्त परिवार**

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट
श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता
५०) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१ श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड़्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५·००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८·००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २·००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १·५०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १·५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १·२५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ··· ३·००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ··· ··· ४·००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४·००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १·००

(१५ महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१६ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका ·१६ पैसे, (१७) महावीर पूजा ·१६

(१८) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १·००

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प० परमान्द शास्त्री। सजिल्द १२·००

(२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० ७·००

(२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ५·००

(२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठो मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ··· ··· २०·००

(२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६·००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का द्वैमासिक मुखपत्र

★

अनेकान्त

★

साहित्य इतिहास अंक

★

नरवर से प्राप्त और शिवपुरी 'ग्वालियर' के म्यूजियम में स्थित तीर्थंकर की प्राचीन मूर्ति

(कुन्दनलाल प्रिन्सिपल के सौजन्य से प्राप्त)

सम्पादक मण्डल

जैनेन्द्रकुमार

यशपाल जैन

अक्षयकुमार जैन

परमानन्द शास्त्री

●

वर्ष २२]

वार्षिक मूल्य ६)

[अंक ३, ४, ५

इस अंक का मू० ४) रु०

विषय-सूची

★

★

अनेकन्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

प्रकाशकीय

जैनधर्म और जैन संस्कृति की यह पत्रिका अपने इतिहास और लेखों की वर्गीकृत सूची के साथ प्रस्तुत है; इसमें अनेकान्त के अब तक के प्रकाशित ११२ अंकों की उल्लेखनीय सामग्री का दिग्दर्शन भी कराया गया है। और वह अनेकान्त के जिस वर्ष के जिस अंक में प्रकाशित हुई है उसका भी उल्लेख अंकों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

इस सूची के निर्माण करने में काफी श्रम करना पड़ा है। पं० गोपीलाल जी 'अमर' ने हमारी प्रेरणा से अनेकान्त के इतिहास को तथा लेखकों के नाम और लेख सूची का वर्गीकरण किया है, इसके तैयार करने में उन्हें काफी समय लगा है। तैयार होकर आने के बाद उसके संशोधन में तथा छपने में भी बिलम्ब हुआ है। इस सहयोग के लिए गोपीलाल जी 'अमर' का जितना आभार माना जाय वह थोड़ा है। उन्होंने यह कार्य बिना किसी स्वार्थ के किया है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है भविष्य में उनका उचित सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

अनेकान्त के इस साहित्य इतिहास अंक के प्रकाशन में आशातीत विलम्ब हो गया है, पाठकगण उसकी उत्कंठा के साथ प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस विलम्ब के कई कारण हैं। रचनाओं को समय पर न मिलना, दूसरा कारण अनेकान्त की ऐतिहासिक साहित्यिक सामग्री का वर्गीकरण करने में अधिक समय लगना तीसरे प्रेसकी अव्यवस्था, उसमें छपाई का काम अधिक होने से हुआ है। इसके लिए हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं। यह अंक पाठकों को देर से अवश्य मिल रहा है, पर उसमें प्रकाशित सामग्री उनका अनुरंजन अवश्य करेगी।

भविष्य में अनेकान्त के प्रकाशन में विलम्ब न हो, वह समय पर प्रकाशित होता रहे, इसके लिए प्रयत्न किया है। आशा है आगे हम उसके समय पर प्रकाशन में समर्थ हो सकेंगे।

प्रेमचन्द जैन

प्रकाशक 'अनेकान्त'

अनेकान्त को प्राप्त सहायता

अनेकान्त को जिन सज्जनों ने सहायता भेजी या भिजवाई हैं वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है दूसरे महानुभाव भी इसका अनुकरण करेंगे। सहायता निम्न प्रकार है :—

१०१) सहायता अनेकान्त, बाबू निर्मलकुमार जी, कलकत्ता।

२२) बा० मानमल जी जैन, दो बार कलकत्ता।

२१) जगमोहन जी जैन धर्मपत्नी श्री सुमित्रा देवी, कलकत्ता।

११) ला० इन्द्रलाल जैन दरियागंज, विवाहोपलक्ष में निकाले हुए दान में से।

११) सेठ भंवरीलाल जी कासलीवाल।

सम्पादकीय

'अनेकान्त' जैन संस्कृति और साहित्य तथा ऐतिहासिक विषय की द्वैमासिक पत्रिका है। जैन वाङ्मय में उसे जो अप्रकाशित और अनुपलब्ध रचनाएं मिली हैं। अनेकान्तमें केवल उनका परिचय ही प्रस्तुत नहीं किया गया, प्रत्युत उनके अन्त: रहस्यका उद्घाटन करते हुए ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझानेका उपक्रम किया है। समाज को चाहिए कि वह ऐसे उपयोगी पत्रको अपना सहयोग प्रदान करे।

अनेकान्त के इस अंक से पाठक उसकी महत्ता को अवगत करेंगे। उससे उन्हें यह सहज ही ज्ञात हो सकेगा कि अनेकान्त में अब तक जो महत्व के लेख प्रकाशित हुए हैं। उनका परिचय पाठकों को तथा ऐतिहासिक विद्वानों को सहज ही मिल सकेगा। इसमें उनके लेखों और लेखकों की भी तालिका मिलेगी।

साथ ही, वीर-सेवा-मन्दिर द्वारा अब तक की शोध खोज का कार्य भी प्रस्तुत किया गया है। उसका भी दिग्दर्शन हो सकेगा। और यह ज्ञात हो सकेगा कि वीरसेवामन्दिर ने जैन साहित्य और इतिहास के बारे में कितनी सामग्री संकलित कर उसका परिचयादि अनेकान्त द्वारा दिया है।

वीरसेवामन्दिर इतिहास और साहित्य जैसे महत्वपूर्ण कार्य में तो अपनी शक्ति लगाता ही है, किन्तु जैन संस्कृति के पुरातात्त्विक अवशेषों, प्रशस्तियों, ताम्रपत्रों, शिलालेखों और हस्तलिखित ग्रन्थों का भी संकलन करने में तत्पर है। अनुपलब्ध और अप्रकाशित ग्रंथों के संरक्षण की यहां पूर्ण सुविधा है। जो महानुभाव अपने यहां के हस्तलिखित ग्रन्थोंको प्रदान करना चाहें वे वीर-सेवामन्दिर में भिजवा दें, या हमें उनकी सूचना दें। हम उनका संरक्षण सावधानी के साथ करेंगे।

अनेकान्त के इस अंक के प्रकाशन में बहुत अधिक बिलम्ब हो गया है। पाठकगण काफी समय से उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हमें इस बात का खेद है कि हम उनकी आशा समय पर पूरी न कर सके। किन्तु भविष्य में हम उसे समय पर प्रकाशित करने का प्रयत्न अवश्य करेंगे।

अनेकान्त के लेखक विद्वानों के हम बहुत आभारी हैं जिन्होंने अपनी रचनाए भेजकर हमें अनुगृहीत किया है। हम खास कर पं० गोपीलाल जी अमर के विशेष आभारी हैं, कि जिन्होंने हमें इस अंक में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है। आशा है भविष्य में उनसे और भी अधिक सहयोग मिलेगा।

—परमानन्द जैन

अनेकान्त पर अभिमत

'अनेकान्त' ने जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में जो सेवाएं की हैं वे भारतीय साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय होंगी। जैन समाज की जागृति एव विकास के साथ-साथ रूढ़िवादिता से समाज को मुक्ति दिलाने में 'अनेकान्त' के प्राण पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार की सबल लेखनी ने जो उत्क्रांति पैदा की थी वह सर्व विदित है।

मुख्तार सा० ने इसका जो बीजारोपण किया था उसे अपने ही समय में पल्लवित और पुष्पित होता हुआ देखा था। 'अनेकान्त' ने जैन समाज को प्रगति और उत्थान का पथ प्रदर्शन किया था। 'अनेकान्त' के विकास और निर्माण में जिन व्यक्तियों ने अपना सर्वस्व बलिदान किया उनमें पं. परमानन्द जी, पं. दरबारीलालजी कोठिया, बाबू छोटेलाल जी तथा बाबू जयभगवान जी के नाम सर्वथा उल्लेखनीय एवं चिरस्मरणीय हैं। वीर प्रभु से कामना है कि 'अनेकान्त' दिन प्रतिदिन प्रगति करता रहे।

—कुन्दनलाल जैन
प्रिन्सिपल

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २२ किरण ३-४
वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण सवत् २४९५, वि० सं० २०२६
अगस्त और अक्टूबर १९६९

श्री पार्श्वनाथ जिन-स्तुति

कविवर बनारसीदास

निरखत नयन भविक जल बरखत, हरखत अमित भविक जन सरसी ।
मदन-कदन-जित परम-धरम हित, सुमिरत भगत भगत सब डरसी ।
सजल-जलद-तन मुकुट सपत फन, कमठ दलन जिन नमत बनरसी ॥

सवैया ३१सा

जिन्ह के वचन उर धारत जुगल नाग भये धरनिंद पदमावती पलकमें ।
जाको नाम महिमा सों कुधातु कनक करे पारस पखान नामी भयो है खलकमें ।
जिन को जनमपुरी नाम के प्रभाव हम अपनों स्वरूप लख्यो भानुसौ भलकमें ।
तेई प्रभु पारस महारस के दाता अब, अब दीजे मोहि साता दृग लीलाकी ललकमें ॥

तीर्थङ्करों की प्राचीनता

कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन' एम. ए.

मध्यप्रदेश में प्राप्त जैन अभिलेखों में प्रथम जैन तीर्थङ्कर के दो नाम मिलते हैं। चन्देल शासन कालीन, खजुराहो से प्राप्त सं० ११४२ के एक अभिलेख में आदिनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है।[१] इससे प्रथम आदिनाथ नाम की जानकारी मिलती है। द्वितीय नाम ऋषभदेव था। दूबकुण्ड प्रशस्ति में मंगलाचरण के रूप में सर्व प्रथम ऋषभदेव का ही स्मरण किया गया है।[२] अहार(टीकमगढ़) से प्राप्त अभिलेख में भी यही नाम मिलता है।[३] पूर्वोल्लेख में दूबकुण्ड प्रशस्ति से यह प्रमाणित होता है कि आदिनाथ या ऋषभदेव ११ वीं शती के आरम्भ में सर्वप्रमुख तीर्थङ्कर स्वीकार किए गए थे। प्रशस्ति में आदिनाथ को सर्वप्रथम स्थान मिलने का अर्थ ही, उनका तीर्थङ्करों में सर्व प्रथम तीर्थङ्कर होना प्रमाणित होता है। इस प्रकार क्या जैन-जैनेतर साहित्य और क्या पुरातत्व सभी दृष्टियों से ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर ज्ञात होते हैं। अन्य तीर्थङ्करों की प्राचीनता सम्बन्धी उल्लेख भी म० प्र० से प्राप्त जैन अभिलेखों में दृष्टव्य हैं।

द्वितीय जैन तीर्थङ्कर अजितनाथ की प्रतिमा का उल्लेख खजुराहो के जैन अभिलेख में मिलता है।[४] यजुर्वेद में भी अजितनाथ का स्मरण किया गया है।[५] तृतीय तीर्थङ्कर सम्भवनाथ-प्रतिमा पर उत्कीर्ण खजुराहो से प्राप्त अभिलेख प्रतिमा की प्राचीनता स० १२१५ प्रगट करता है।[६] ऊन से प्राप्त सं०१२५८ का अभिलेख भी संभवनाथ प्रतिमा की प्राचीनता का बोध कराता है।[७] पाँचवे तीर्थङ्कर सुमतिनाथ की प्राचीनतम तिथि सं० १३३१ अजयगढ से प्राप्त-चक्रवाक चिन्ह युक्त चरण पर अङ्कित अभिलेख में मिली है।[८]

छठवे तीर्थङ्कर पद्मप्रभु का सकेतात्मक उल्लेख "ओं नम: पद्मनाथाय" रूप में स० ११५० के ग्वालियर अभिलेख मे मिला है।[९] अभिलेख का लेखक जैन होने के कारण पद्मनाथ-पद्मप्रभु तीर्थङ्कर ही ज्ञात होते है। आठवे तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभु सम्बन्धी उनके चरण-चिन्ह सहित दो अभिलेख-एक दूबकुण्ड से[१०] और द्वितीय होशगाबाद[११] से प्राप्त

१. कनिंघम रिपोर्ट जि. २ पृ० ४६१।
और
सं० ११४२ श्री आदिनाथ प्रतिष्ठाकारक श्रेष्ठी बीवनशाह भार्या सेठानी पद्मावती"
अनेकान्त, बाबू छोटेलाल स्मृति अङ्क पृ० ५७

२. एपि० इं० जि० २ पृ० २३२-२४०। अभि० पंक्ति २।

३. सं० १२३७ मार्ग सुदी ३ शुक्रे......श्री ऋषभनाथ प्रणमन्ति नित्यं अहार अभिलेख सं० १२३७, अनुक्रमाङ्क ६।

४. कनिंघम रिपोर्ट २१, पृ० ६६।

५. डॉ० राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी : जि०१, पृ० २८७।

६. एपि० इं० जि० १, पृ० १५३।

७. पं० परमानंद शास्त्री, अनेकान्त : वर्ष १२, पृ० १६२।

८. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, अनेकान्त : वर्ष १३ कि० ४, पृ० ६८-६६।

९. इण्डियन एन्टीक्वेरी जि० १५ पृ० ३३-४६। एवं पूर्णचन्द्रनाहर : जैन लेख संग्रह भाग २, पृ० ८५-६२ सख्या १४२६।

१०. जाड्यं सस्वदखंडितक्षयमपिक्षीणाखिलोपक्षयं
साक्षादीक्षितमक्षिभिर्दधदपि प्रौढं कलंक तथा
चिल्लत्वाद्यदुपांतमाप्यसततं (जातस्तथा) नंदकृत्
चन्द्रः सर्व्वजनस्य पातु विपदश्चन्द्रप्रभोर्हन्स नः॥
एपि० इं० जि० २ पृ० २३२-२४०, दूबकुण्ड अभिलेख पंक्ति० ४-६।

११. नागपुर संग्रहालय में संग्रहीत।

हुए हैं। जिनमें क्रमशः सं० ११४५ और सं० १२७८ तिथियाँ दी गई हैं। नववें तीर्थङ्कर पुष्पदन्त–जिन्हें सुविधनाथ भी कहा गया है[१२] ––की प्रतिमा के आसन पर सं० १२०८ का अभिलेख मिला है।[१३] इसी प्रकार पन्द्रहवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ प्रतिमा के आसन पर उत्कीर्णित सं० १२७१ का एक अभिलेख होसंगाबाद से भी प्राप्त हुआ है।[१४] सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ से सम्बन्धित म० प्र० से प्राप्त जैन अभिलेखों में बहोरीबन्द,[१५] खजुराहो,[१६] दूबकुण्ड[१७] और अहार[१८] से प्राप्त मूर्तिलेख मुख्य है। इनकी प्राचीनतम तिथि १० वी शती ज्ञात होती है। सत्रहवे तीर्थङ्कर कुन्थनाथ से सम्बन्धित सं० १२०३ का अहार[१९] से और स० १२६३ का ऊनसे[२०] प्राप्त अभिलेख मुख्य है।

अठारहवें तीर्थङ्कर अरनाथ या अरहनाथ का एक प्रतिमा लेख स० १२०६ का अहार से मिला है जिसमे उन्हें प्रणाम किए जाने का उल्लेख है।[२१] बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ जिनके उल्लेख मउ,[२२] और खजुराहो के अभिलेखोंमें मिलते हैं, राम-लक्ष्मणके समकालीन बताए गए हैं।[२३] योगवशिष्ट में रामचन्द्रजी ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं, कि "न मैं राम हूँ, न मेरी कोई इच्छाएँ है" और न मेरा मन विषयों की ओर ही आकर्षित है। मैं तो 'जिन' के समान अपनी आत्मा में ही शान्ति स्थापित करना चाहता हूँ।[२४] योगवशिष्ट के इस उल्लेख से प्रमाणित होता है कि रामचन्द्र के समय में कोई जैन मुनि थे जो आत्म-शान्ति के मार्ग में लवलीन थे। जिनकी आत्म बुद्धि से प्रभावित होकर रामचन्द्र जी के मन में भी 'जिन' के समान शान्ति प्राप्त करने की इच्छा प्रकट हुई। वे 'जिन' काल निर्धारण करने पर मुनिसुव्रतनाथ ही बताये गए हैं।[२५] बाइसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ थे जिन्हे मऊ से प्राप्त सं० ११९९ के अभिलेख में जगत का स्वामी, संसार के अन्तक और तीनो लोकोंकी शरण तथा जगतका मंगलकर्ता कहा गया है।[२६] डॉ० फ्यूरर ने नेमिनाथ को बाइसवाँ जैन तीर्थङ्कर ऐतिहासिक रूप से स्वीकार किया है।[२७]

---

१२. श्री सूत्रधारमण्डन, प्रतिमाशास्त्र : अध्याय ६ पृ० ३०३–२०४।

१३. मेमॉयर्स ऑफ दि आर्किलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पत्रिका ११, ई० १९२२, पृ० १४।

१४. नागपुर संग्रहालय में संग्रहीत

१५. तस्य पुत्र महाभोज धर्मदानाध्ययनरतः।
तेनेदं कारितं रम्यं शान्तिनाथस्य मन्दिरम्।
इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ दि कलचुरि चेदि एरा, जि. ४, भाग १ पृ० ३०९।

१६. सं० १०८५...श्री सिवि चनुयदेव : श्री शान्तिनाथस्य प्रतिमाकारी। कनिंघम रिपोर्ट, जि० २१ पृ ६१

१७. एपि० इ० जि० २ पृ० २३२–२४०। अभि० पंक्ति ८।

१८. ताभ्यामशेष दुरितौघशमैकहैतु निर्म्मापितं भुवनभूषणभूतमेतत् श्री शान्ति चैत्यमिति नित्य सुखप्रदानात् मुक्तिश्रियोवदनवीक्षणलोलुपाभ्याम्। अहार अभिलेख सं० १२३७।

१९. सं० १२०३ गोलापूर्वान्वये साहु सुपट तस्य पुत्र शान्ति तस्य पुत्र यशकर कुंथुनाथ प्रणमन्ति नित्यं" वही : सं० १२०३ अनुक्रमाङ्क ३।

२०. पं० परमानन्द शास्त्री, अनेकान्त वर्ष १२, पृ० १९२

२१. स० १२०९, गोलापूर्वान्वये साहु सुपट...अरहनाथं प्रणमन्ति नित्य" अहार अभिलेख सं० १२०९, अनुक्रमाङ्क ७।

२२. मुनिसुव्रतनाथस्य बिंबं त्रैलोक्य पूजितः।
कारितं सुतहवेनेदंमात्मश्रियोभिवृद्धये॥ स० ११९९ वैसाख सुदि २। धुवेला संग्रहालय में संग्रहीत, प्रविष्ट क्र० ४२।

२३. डॉ० मुस्टाफरोट, ट्रेक्ट सं० ६८, श्री अ० वि० जैन मिशन, अलीगंज, एटा, पृ० ७।

२४. नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः।
शान्ति मास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा।
—योगवशिष्ठ, अ० १५, श्लोक ८।

२५. क्षु० पार्श्वकीर्ति, विश्वधर्म की रूपरेखा, वही : पृ. ३१।

२६. कारितश्च जगन्नाथ (नेमि) नाथो भवान्तकः।
मे (लोकयश) रणं देवौ जगन्मंगल कारकः॥ सं० ११९९ वैसाख सुदि २। धुवेला संग्रहालय में संग्रहीत, प्रविष्टि क्र० ७।

२७. एपि० इं० जि० १, पृ० ३८९।

डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार ने तीर्थङ्कर नेमिनाथ को कृष्ण का समकालीन बताया है।[२८] जबकि जैन साहित्य में नेमिनाथ स्पष्ट रूप से कृष्ण के चचेरे भाई बताये गये हैं।[२९]

तीर्थङ्कर नेमिनाथ का दूसरा नाम अरिष्टनेमि था। ऋग्वेद में—जिसमें बड़े-बड़े घोड़े जुते हुए हैं, ऐसे रथ मे बैठे हुए आकाशपथगामी सूर्य के समान विद्यारथ मे बैठे हुए अरिष्टनेमि नाम का आह्वानन के रूप मे उल्लेख मिलता है[३०]। यजुर्वेद मे भी नेमिनाथ सम्बन्धी उल्लेख है[३१]। महाभारत में तो नेमिनाथ को रेवत पर्वत से मुक्ति प्राप्त करने का उल्लेख आया है[३२]। डा० गुस्टाफरोट ने नेमिनाथ के सम्बन्ध में विचार प्रगट किए है कि वे श्री कृष्ण के समकालीन थे और उनका निर्वाण वीर प्रभू से ८४००० वर्ष पूर्व अर्थात् ८४५०० ई० पू० मे हुआ[३३]। न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमार ने नेमिनाथ को श्रीकृष्ण का गुरू बताया है[३४]। तेबीसवे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे। उदयगिरि (विदिशा) के गुप्त सं० १०६ (ई० सं० ४२६) के गुड़ालेख मे पार्श्वनाथ का उल्लेख मिला है[३५]। डा० गुस्टाफरोट ने पार्श्वनाथ को १०२ वर्ष की आयु मे ही वीर प्रभु से २५० वर्ष पूर्व मुक्त होना बताया है[३६]। डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने भी लिखा है कि तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे, जो ऐतिहासिक पुरुष है और जिनका समय महावीर और बुद्ध, दोनों से कोई २५० वर्ष पहले पडता है[३७]। कुछ अन्य विद्वानो ने भी अनुसन्धान पूर्वक तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष तथा महान् धर्म-प्रचारक बताया है[३८]।

अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर थे जिनके विभिन्न नामों मे से वीर-वर्द्धमान[३९] एवं सन्मति[४०] नामों का उल्लेख म० प्र० के जैन अभिलेखों में किया गया है।

अभिलेखीय उल्लेखों से—जैन साहित्य मे वर्णित[४१], चौबीस तीर्थङ्करो की मान्यता सत्य प्रतीत होती है। अभिलेखों से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे प्रथम अर्हन् ऋषभ ही थे, जो अवसर्पिणी काल मे अवतरित हुए थे[४२]। अभिलेखो मे जिन कतिपय तीर्थङ्करो के उल्लेख मिले है, उनसे स्पष्ट है कि प्राचीन कालीन तीर्थङ्करो की

---

२८. टाइम्स ऑफ इडिया, १९ मार्च १९३५ ई० पृ० ९।

२९. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन धर्म : श्री. भा. दि. संघ, चौरासी, मथुरा; १९५५ ई. पृ० १५।

३०. तवा रथ वयद्याहु वेमस्तो मेरश्विना सविताय नव्य। अरिष्टनेमि परिद्यामियान विद्यामेष वृजन जीरदानम्॥
ऋग्वेद, मडल २, अ० ४, व २४।

३१. वाजस्यनु प्रसव आभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वत. स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजा पुष्टि वर्धयमानो अस्मै स्वाहा।" यजुर्वेद, अध्याय ९, मत्र २५।

३२. रेवताद्रौ जिनो नेमि र्युगादिर्विमलाचले। ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्। महाभारत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म वही, पृ० १६।

३३. ट्रैक्ट सं० ६८, अ० वि० जैन मिशन अलीगंज, एटा, वही, पृ० ७।

३४. रामधारीसिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय। चतुर्थ संस्करण, १९६६ ई० राजेन्द्रनगर, पटना ४, पृ० ७।

३५. राज्ये कुलस्याभिविवर्द्धमाने षड्भियुतैर्वर्षशतेऽथ-मासे सुकार्तिके बहुलदिनेथ पचमे गुहामुखे स्फुटविकटोत्कटामिमा जितद्विषो जिनवरपार्श्वसञ्ज्ञिकाम्।
इण्डियन एण्टीक्वेरी जि० ११, पृ० ३१०।

३६. ट्रैक्ट म० ६८ वही : पृ० ७।

३७. सस्कृति के चार अध्याय : पृ० १३०।

३८. (अ) डा० हेनरी, फिलासफी आफ इण्डिया पृ० १८२-१८३।
(ब) प्रो० आयङ्कर, स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, जि० १, पृ० २।

३९. स० १२०३······श्री वीर-वर्द्धमानस्वामि प्रतिष्ठापिक: ······" अहार अभिलेख . स० १२०३, अनुक्र० १।

४०. "सोऽय जिन: सन्मति:"
एपि० इ० जिल्द २ : पृ० २३२-२४० अभि० प० ८।

४१. श्री यतिवृषभ; तिलोयपण्णत्ति: भाग २; श्री जैन सस्कृति सरक्षक सघ शोलापुर, १९४३ ई० पृ० १०१३।

४२. सूत्रधार मण्डन; प्रतिमाशास्त्र : वही; पृ० २०३-२०४

मान्यता का अनुसरण ही परवर्ती काल में किया गया था।

जैन तीर्थङ्करों मे प्रथम अर्हन् आदिनाथ को योग विद्या का आरम्भकर्ता[४३] एव समस्त क्षत्रियों का पूर्वज बताया गया है[४४]। जैनदर्शन में भी स्पष्ट कथन मिलता है कि जिस समय आदिनाथ जन्मे थे उस समय कोई वर्ण व्यवस्था न थी किन्तु जब उन्होंने प्रजा की रक्षा द्वारा अपनी आजीविका करना निश्चित कर लिया तब वे स्वय को क्षत्रिय वर्ण का कहने लगे थे[४५]। आजीविका के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, तीन भागों मे मनुष्य को आप ने ही विभाजित किया था[४६]। इस प्रकार जैन साहित्य से भी आदिनाथ समस्त क्षत्रियों के पूर्वज ज्ञात होते है।

इसी प्रकार उनके योगी होने के प्रमाण भी पुरातात्विक सामग्री से उपलब्ध हो जाते है। मोहनजोदडो से साढ़े पाँच हजार वर्ष पुरानी वस्तुएं खुदाई से प्राप्त हुई हैं। उनमे प्लेट संख्या २ की ३ से ५ तक की सीलो पर अंकित योगी आकृतियों का अध्ययन कर प्रो॰ रामप्रसाद चन्दा ने लिखा है कि ये एक योगी के आसन की मुद्राएं है। उन्होने इन योगी—आकृतियो की तुलना जिन-मूर्तियो से करके, यह भी घोषित किया था कि ये आकृतिया ऋषभ मूर्ति के पूर्व रूप है[४७]। ये आकृतिया कायोत्सर्ग आसन मे हैं तथा यह आसन खास तौर से जैनों का होने के कारण भी यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है।

कतिपय अन्य शीलोका अध्ययन कर स्व. बा. कामताप्रसाद जी ने भी अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि इन मुद्राओं पर ऊपर की ओर जो छः नग्न योगी हैं। वे ऋषभ मत के योगी है जिन्होंने अहिंसा का उपदेश दिया है। जैन पुराणों मे छः चारण योगी प्रसिद्ध हैं, जो यादव राजर्षि थे[४८]।

डा॰ दिनकर ने भी लिखा है कि मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले है। उनका कथन है जैन-मार्ग के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव थे जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है, जैसी कालान्तर मे, वह शिव के साथ समन्वित हो गयी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति युक्त नहीं दीखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी, वेद पूर्व है[४९]।

इस प्रकार न केवल पुरातात्विक सामग्री से ही आदिनाथ प्रथम योगी ज्ञात होते है अपितु साहित्यिक उल्लेखों से भी यही प्रकट होता है कि नाभि पुत्र ऋषभ ने योगचर्या समादृष्टा के रूप मे धारण की थी[५०]। इस प्रकार सैन्धव-कालीन पुरातात्विक सामग्री से यह प्रमाणित हो जाता है कि आदिनाथ का अस्तित्व बहुत प्राचीन कालीन है। वे बहुतप्राचीन समय से जैनियो के आराध्य देव रहे है। एक प्राचीन-उदयगिरि (उड़ीसा) से प्राप्त, हाथी-

४३. "श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोग-विद्या" क्षु॰ पार्श्वकीर्ति वर्णी; विश्वधर्म की रूपरेखा : वीर सं॰ २४२५, जैन साहित्य सदन, चाँदनी चौक, दिल्ली, पृ॰ २३। एव देखिए :—(ब) सन्मति सन्देश, ५३५, गांधीनगर देहली-३१, जुलाई १९६९ पृ॰ ४-५।

४४. नाभिस्त्वजनयत्पुत्र मरुदेव्यां महाद्युतिम्।
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥
वायु-पुराण : अ॰ ३३, श्लोक ५०।

४५. प॰ फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; जैनधर्म और व्यवस्था : भारतवर्षीय दि॰ जैन परिषद् दरीबाकला, दिल्ली, पृ॰ ९।

४६. उत्पादितस्त्रयो वर्णस्तदातेनादिवेधसा क्षत्रिया : वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणै ॥१८३॥ आचार्य जिनसेन; आदिपुराण : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वि॰ सं॰ १९६३ ई॰, भाग—१; पर्व १६, पृ॰ ३६२।

४७. माडर्न-रिव्यु: प्रकाशन—अगस्त १९३२ ई॰।

४८. जैनधर्म और तीर्थंकरो की ऐतिहासिकता एव प्राचीनता ट्रेक्ट संख्या ६८, वही, पृ॰ ११-१२।

४९. डा॰ रामधारीसिह "दिनकर" सस्कृति के चार अध्याय : उदयाचल, राजेन्द्रनगर, पटना-४, चतुर्थ सस्करण १९६६ ई॰ पृ॰ ३९।

५०. नाभेरसौ ऋषभ आप्तसुदेवसूनु:।
यो वै चचार समदृग् योगचर्याम्॥
भागवत पुराण : स्कन्ध-द्वितीय, अध्याय ७, पृ॰ ३७२, श्लोक १०।

गुम्फा अभिलेख से भी यही ज्ञात होता है कि राजा खारवेल के आराध्य देव भी ऋषभ ही थे। वह जिन की प्रतिमा उसके द्वारा वृहस्पति मित्र से लायी गयी थी[५१]। जिसे मगध का राजा नन्द, विजयचिह्न स्वरूप कलिंग जीत कर, उसके शासन के ३०० वर्ष पूर्व मगध ले गया था[५२]।

इस उल्लेख से तथा मध्य प्रदेश के जैन अभिलेखों से यही प्रकट होता है कि जैनियों के चौबीस आराध्य-देवों की मान्यता बहुत प्राचीन कालीन है। जैन, परम्परा-नुसार उन्हें बहुत प्राचीनकाल से अपना आराध्य-देव स्वीकार करते चले आ रहे है।

ईसवी सन् की पहिली शती मे होने वाले—हुविष्क और कनिष्क के समय के जो अभिलेख मथुरा से प्राप्त हुए है, उनमें भी ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर का वर्णन आया है। कतिपय ऋषभदेव की मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई है[५४]। इन शिलालेखों से स्पष्ट विदित होता है कि ईसवी सन् की पहिली शती में ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर रूप में माने जाते थे। भागवत मे ऋषभदेव के सम्बन्ध में यह भी कथन मिलता है कि वे न केवल दिगम्बर थे अपितु जैनधर्म के चलाने वाले भी थे[५५]। एक आर्हत राजा से सम्बन्धित उल्लेखों से भी ऋषभदेव की जानकारी मिलती है[५६]।

भागवत-पुराण के आधार पर ही अन्य विद्वान् भी यही स्वीकार करते हैं कि एक "त्रिगुणातीत पुरुष विशेष परमेश्वर ने ऋषभावतार लिया था, जो जगत के लिए परमहंस चर्या का पथ दिखाने वाले थे, जिन्हें जैनधर्माव-लम्बी भाई आदिनाथ कहकर स्मरण करते हुए जैनधर्म का आदि प्रचारक मानते है[५७]।

बौद्ध साहित्य मे उपलब्ध जैनधर्म की प्राचीनता विषयक उद्धरणों से एक समय था जब वेबर जैसे विद्वानों ने जैनधर्म को बौद्धधर्म की एक शाखा बताया था[५८]। किन्तु इस भ्रान्ति को दूर करने में भी विद्वानों को देर न लगी। विद्वान् जैकोबी ने इस धारणा का खण्डन किया[५९]। तथा यह प्रमाणित कर दिया कि जैनधर्म बौद्धधर्म से न केवल स्वतन्त्र एवं पृथक् धर्म है अपितु वह उससे बहुत प्राचीन भी है।

कतिपय विद्वानों की यह भी धारणा है कि जैनधर्म के प्रवर्तक पार्श्वनाथ अथवा महावीर थे। परन्तु यह विचारणीय प्रश्न है यदि महावीर या पार्श्वनाथ ही जैन-धर्म के चलाने वाले होते तो उनकी मूर्ति भी जैनधर्म के प्रवर्तक इस उल्लेख सहित स्थापित की गयी होती। जैसी कि ईसवी सन् की प्रथम शती की ऋषभदेव की प्रतिमाएँ पूर्वोल्लेख सहित मथुरा से प्राप्त हुई हैं। जैनधर्म के प्रवर्तक के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों के विचार भी उल्लेखनीय हैं। डा० सतीशचन्द महोमहापाध्याय ने लिखा है कि "जैनधर्म तब से प्रचलित हुआ है, जब से संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ है। मुझे इसमें किसी प्रकार की उज्र नहीं है कि जैनधर्म वेदान्तादि दर्शनों से पूर्व का है[६०]।" डा० संकलिया ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं[६१]। डा० राधाकृष्णन् ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि "वर्द्धमान अपने को उन्हीं सिद्धान्तों का

५१. डा० वासुदेव उपाध्याय; प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन : प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९६१ ई० द्वि० भाग पृ० २७, अभि० प० १२।

५२. नन्दराजनीतानि अगस जिनस—नागनह रतन पडि-हारेहिं अंग मागध वसव नेयाति—खारवेल शिला-लेख जैन सि० भा० भा० १६ कि० २, पृ० १३४।

५३. पं० कैलाशचन्द शास्त्री; जैनधर्म : वही, पृ० ९।

५४. प्रो० त्र्यम्बक गुरुनाथ काले; महावीर स्वामी की पूर्व परम्परा: वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ; वी० नि० २४७३, पृ. २४०।

५५. वही २४०।

५६. श्रीमद्भागवत : अध्याय ६; श्लोक १–११।

५७. प्रो० माधवाचार्य एम. ए; जैन दर्शन : वर्णी अभि-नन्दन ग्रन्थ : वही पृ. ७९।

५८. Weber; Indische studian : XVI. P. 210

५९. The Dictionary of Chinese Budhist Terms P. 184.

६०. क्षु० पार्श्वकीर्ति; विश्वधर्म की रूपरेखा : जैन साहित्य सदन, चाँदनी चौक दिल्ली; वि. सं. २४८५ पृ. ९२।

६१. वही : पृ. ९१।

इच्छा नियंत्रण

यह मानव अनादिकाल से इच्छाओं की अनंत ज्वालाओं में झुलस रहा है। इच्छाओंका अन्तर्द्वन्द आत्म-शक्ति का शोषक है वह उसे कमजोर बनाता जा रहा है। इच्छाओं का परिणमन प्रति समय हो रहा है। साधक इनके जाल से उन्मुक्त होना चाहता है, वह छटपटा रहा है। पर वे असीम इच्छाएँ इसे एक समय भी चैन नहीं लेने देतीं। ऐसा मालूम होता है मानो इच्छाओं ने उसे खरीद लिया है—अपना दास बना लिया है—इसी से उन पर विजय प्राप्त करने में वह अपनेको असमर्थ पा रहा है। इच्छाओंका अनियन्त्रण इन्द्रिय-विषयों में धकेल रहा है। साधक की इस दयनीय दशा को देख कर गुरु बोले, वत्स ! तू इतना कायर और अधीर क्यों हो रहा है। इस दीन दशा से छुटकारा पाने का उपाय क्यों नहीं सोचता। तू अनन्त चैतन्य गुणों का भंडार है, तेरी शक्ति अपरिमित है, असीम है। अपनी ज्ञाता दृष्टा शक्ति की ओर देख, पर पदार्थों से स्नेह कम कर। उनमें अहंकार ममकार न कर। इन्द्रियों के अनियन्त्रण से मन चंचल होता है मन की चचलता से आत्मा बहिर्मुखी हो जाती है। और बाह्य जड़ पदार्थों की ओर झुकने लग जाती है।

पर साधक ! यदि तू इससे छुटकारा चाहता है और अपनी आत्म-निधि को पाना चाहता है। एव दुःख विनिवृत्ति से होने वाला सुख चाहता है, तो इन्द्रिय विषयों पर नियन्त्रण कर, इन्द्रियों की विषयों से विमुखता होने पर मन की चंचलता मिटेगी, आत्मबल जागेगा। और आत्मा अपने स्वरूप की ओर अग्रसर होने लगेगा। धीरे-धीरे आत्म-शक्ति का विकास बढ़ता जायगा, आशालता मुरझाने लगेगी। आत्मा और ज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठेगा, अभिलाषाओं का नियंत्रण आत्मा को कुमार्ग से रोकेगा, एक समय ऐसा प्राप्त होगा जब मोह के अभाव से आशा लता सूख जायगी। और साधक आत्मानन्द में मस्त हुआ आत्म-निधि का उपभोग करने वाला चैतन्य जिन बन जायगा। वह सुदिन मुझे कब प्राप्त होगा, उसी की अन्तर्भावना मुझे भव-भव मे प्राप्त हो यही कामना है।

—सम्पादक

प्रवर्तक बतलाते थे, जिन सिद्धान्तों को परम्परानुसार उनके पूर्ववर्ती २३ तीर्थङ्कर स्वीकार करते है।" डा० सा० के विचार से महावीर किसी नये मत के संस्थापक नहीं थे[६२]। भागवत पुराण के आधार पर उन्होंने ऋषभदेव को ही जैनधर्म का प्रवर्तक बताया है[६३]। डा० सकालिया ने भी लिखा है कि "ऋषभदेव का उस समय अस्तित्व था जब मनुष्य जंगली जानवर सा था।" तत्कालीन मनुष्यों का जीवन स्तर ऋषभदेव द्वारा ही उन्नत किया गया था। सम्भवतः इसीलिए वे प्रथम तीर्थङ्कर और उपदेष्टा कहे जाते हैं[६४]।

६२. इण्डियन फिलासफी : जिल्द १, पृ. २२७।

६३. "The Bhagavata Puran endorses the View that Rishabha was the founder as Jainism." वही : जिल्द १, पृ. २८७।

६४. वायस ऑव अहिंसा; ऋषभदेव विशेषांक : १९५२ ई.

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों के विचारों से यह धारणा भी अनुपयुक्त प्रतीत होती है कि जैनधर्म के प्रवर्तक महावीर या पार्श्वनाथ थे। पूर्वोल्लेखों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैनियों के आराध्य देव बहुत प्राचीन कालीन है। परम्परानुसार जैन युग-युगों से उन्हें पूजते चले आ रहे हैं। प्रत्येक निष्पक्ष विद्वान् तीर्थङ्करों की प्राचीनता के सम्बन्ध में उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर यही मत निरूपित करेगा कि तीर्थङ्करों की प्राचीनता न केवल पूर्व वैदिक कालीन है अपितु बहुत प्राचीन समय से ही उनका अस्तित्व चला आ रहा है।" इन सभी प्रमाणों के आधार पर यह भी स्वीकार करना होगा कि ब्राह्मण संस्कृति की अपेक्षा श्रमण संस्कृति प्राचीनतर है[६५]। ●

६५. डा. भगचन्द्र जैन; बौद्ध साहित्य में जैनधर्म : अनेकान्त—बाबू छोटेलाल स्मृति अंक : पृ. ९०।

पाण्डे लालचन्द का वरांगचरित

डॉ० भागचन्द्र भास्कर

इसी वर्ष के ग्रीष्मावकाश में जैन मन्दिर तेदूँखेड़ा (होशंगाबाद) मे सरक्षित हस्तलिखित ग्रथों को देखते समय पाण्डे लालचन्द का वरांगचरित हाथ आ गया। यकायक ध्यान आया कि यह वरांगचरित सम्भवत वही वरांगचरित हो जिसका उल्लेख श्रद्धेय डा० ए० एन० उपाध्ये ने अपने वरागचरित की प्रस्तावना (पृ. ५५) मे किया है। मिलान करने पर मेरा अनुमान सही निकला। इसकी एक प्रति पंचायती मन्दिर, दिल्ली मे भी होनी चाहिए।

प्रति परिचय —

तेदूँखेडा जैन मन्दिर की इस प्रति मे ५४ पत्र है। प्रत्येक पत्र के पृष्ठ में लगभग पन्द्रह पंक्तियाँ है और प्रत्येक पंक्ति में लगभग ५० अक्षर है। अक्षर सुपाठ्य है। छन्द नाम, सर्ग नाम, पद्य क्रमाक आदि लिखने मे लाल स्याही का भी उपयोग किया गया है। पत्र के चारों ओर हाँसिया छूटा है। जहाँ-तहाँ उसका उपयोग लेखन काल में छूटे हुए शब्दों को लिखने मे भी किया गया है। लिपि-काल का उल्लेख इस प्रति में दिखाई नहीं दिया। अत: प्रति कब की है, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना शक्य नहीं। असम्भव नहीं यदि यह प्रति स्वय कवि द्वारा लिखी गई हो। ग्रंथ की प्रशस्ति से भी यह अनुमान सही होता दिखाई देता है। वहाँ लिखा है कि शोभाचन्द के पुत्र नथमल आगरे से हीरापुर आये और ग्रन्थ उन्ही के सहयोग से हीरापुर में समाप्त हुआ। हीरापुर का भी जैन मन्दिर देखा मैंने। वहाँ इस ग्रंथ की कोई प्रति नहीं मिल सकी। हीरापुर और तेदूँखेड़ा के बीच कोई बहुत दूरी नहीं। हो सकता है, कभी किसी प्रकार यह प्रति हीरापुर से तेदूखेड़ा पहूँच गई हो। प्रशस्ति की कुछेक पक्तियां इस प्रकार है :—

नन्दन सोभाचन्द कौ नथमल अति गुणवान।
गोत विलालागगन मे उदयौ चन्द्र समान ॥
नगर आगरौ तजि रहे हीरापुर में आय।
करत देखि इस ग्रन्थ कौ कीनौ अधिक सहाय ॥

ग्रन्थ की समाप्ति संवत् १८२७ में माघ शुक्ल पंचमी शनिवार को हुई, डा० ए० एन० उपाध्ये की सूचनानुसार। पर इस प्रति में शायद भूल से शनिवार के स्थान पर शशिवार लिख दिया गया है।

रचयिता—

प्रस्तुत कृति के रचयिता पाण्डे लालचन्द के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती। वे हीरापुर (हिंडौन, जयपुर) के निवासी थे। बलात्कार गण की अटेर शाखा के भट्टारक विश्वभूषण (सं० १७२२-२७२४) के प्रशिष्य और अग्रवाल वंशीय ब्रह्मसागर के शिष्य थे।

सं० सु अष्टादस सत जान ऊपर सत्ताईस परवान।
माहु सुकल पावै ससिवार ग्रंथ समापति कीनौ सार ॥
देस भदावर सहर अटेर प्रमानियै।
तहाँ विश्वभूषण भट्टारक मानियै ॥
तिनके शिष्य प्रसिद्ध ब्रह्मसागर सही।
अग्रवाल वरवस विषै उत्पति लही ॥१३-८६॥
यात्रा कर गिरनार शिखर की अति सुखदायक।
पुनि आए हिंडौन जहां सब श्रावक लायक।
जिनमति कौ परभाव देखि जिन मन थिर कीनौ ॥
महावीर जिन चरन कमल कौ सरनौ लीनौ ॥
ब्रह्म उदधि कौ शिष्य पुनि पांडे लाल अयान।
छन्द शब्द व्याकरण कौ जामैं नाहीं ग्यान।१३९१।

कवि ने वरांगचरित में स्वयं के सन्दर्भ में प्राय: कुछ नही लिखा। वरागचरित के अतिरिक्त षट्कर्मोपदेशरत्नमाला, विमलनाथ पुराण, शिखरविलास, सम्यक्त्व कौमुदी, आगमशतक आदि अनेक हिन्दी काव्यों के भी वे रचयिता रहे है।

वरांगचरित का आधार—

जीवन्धर व यशोधर जैसे नृपति वरांग भी जैन लेखकों

और कवियों के अत्यन्त प्रिय नायक रहे है। उनके चरित का आधार लेकर संस्कृत, प्राकृत व हिन्दी में पुस्कल-सृजन हुआ हैं। उसमे जटासिंहनन्दि का (७वीं शती) वरांग-चरित अधिक प्रसिद्ध है। यह संस्कृत भाषा में ३१ सर्गो मे निबद्ध है। और माणिकचन्द ग्रंथमाला से प्रकाशित हो चुका है।

पाण्डे लालचन्द ने जिस वरांगचरित का आधार लिया है भट्टारक वर्धमान द्वारा सस्कृत में रचित वरांग-चरित है। यह ग्रन्थ मराठी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है परन्तु प्रयत्न करने के बावजूद उसे देखने का सुअवसर नहीं मिल सका। अतः कहा नही जा सकता कि पाण्डे जी ने इस ग्रंथ का अविकल हिन्दी पद्यानुवाद किया है अथवा उसका आधार लेकर नये ग्रंथ का निर्माण किया है। प्रथम विकल्प अधिक सम्भावित है। उन्होंने लिखा है—

जो वराग की कथा कही आगै गन नायक।
अति विस्तार समेत मनोहर सुमति विधायक।।
सोई काव्य अनूप काव्य रचना कर ठानी।
भट्टारक श्री वर्धमान पडित वर ज्ञानी।।
तिनही कौ पुनि अनुसार लै मैं भाषा रचना करू।
जिन पर हित सुविचार कै,,
कछु अभिमान निजि प्रघरू ।।१-१२।।
कहां श्री वरांग नाम भूपति की कथा,
यह अति ही कठिन वर सस्कृत वानी हैं।
कहां पुन निहचै मु अल्प मात्र मेरी मति,
ताकै कहिवे कौ निज मनसा में ठानी है।।
जैसै कल्पतरू साखा फल नभ पर,
सत वामन नर तीरो चाहै मूढता सुजानी है।
तैसै बाल ख्याल सम ग्रथ मै आरम्भ कीनौ,
वुधजन हासीकर कहैगो अज्ञानी हैं।।१-३१।।

ग्रन्थ के अन्त में भी कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि यह रचना भट्टारक वर्धमान द्वारा वरांगचरित के आधार पर प्रसूत हुई है—

मूल ग्रंथ अनुसार सब कथन आदि अवसान।
निज कपोल कल्पित कही वरनौ नाही सुजान।।
समस्त शास्त्र अर्थ कौ वियोज्ञ मौ विषै नहीं।
तउग्रहीन के सुपुष्य हेत मैं कियो सही।।
वरांग भूप के बड़े चरित्र को प्रबन्ध है।
सुधीन के सुचित कूं हरै सदीव ग्रंथ है ।।१३-९७।।
भट्टारक श्री वर्धमान अत ही विसाल मति।
कियौ संस्कृत पाठ ताहि समझै न तुच्छ मति।।
ताही के अनुसार अरथ जो मन मैं आयौ।
निज पर हित सुविचार लाल भाषा कर गायौ।।
जो छन्द अर्थ अनमिल कहूं वरन्यौ सुजान कै।
लीजो संवार वुधजन सकल यह विनती उर आनि कै।

ग्रंथ संक्षेप—

समूचा ग्रन्थ १३ सर्गों में विभक्त है। सक्षिप्त कथा इस प्रकार है—

प्रथम सर्ग—मंगलाचरण तथा ग्रंथ के आधार आदि के विषय में लिखने के बाद कवि कथा प्रारम्भ करता है। जम्बू द्वीप में भरत क्षेत्रवर्ती सौम्याचल पर्वत के पास रम्या नामक नदी है। उसके किनारे कोतपुर नामक नगर बसा है। जैन मन्दिर व मुनियों से शोभित उस ग्राम का अनोखा सौन्दर्य है। महिलायें भी रूप की निधान है। कोतपुर नगर (जटासिंहनन्दि के अनुसार उत्तमपुर) का राजा हरिवंशोत्पन्न धर्मसेन था। उसकी ३०० पत्नियाँ थीं। उनमें मृगसेना और गुणदेवि मुख्य थी। महिषी गुणदेवि को पुत्र हुआ जिसका नाम वरांग रखा गया। वरांग की बाल्यावस्था और युवावस्था का मुन्दर वर्णन है। इस सर्ग का नाम वंशोत्पत्ति है।

द्वितीय सर्ग—युवक वरांग बिवाह के योग्य हुआ। सभा में एक दिन भूपति के पास एक वणिक आया। उसने समृद्धपुर नरेश धृतसेन और महाराज्ञी अतुला की राजकुमारी अनूपमा का उल्लेख किया। वणिक को विदाकर धर्मसेन ने मन्त्रियों से विचार-विमर्श किया फलतः ललितपुर नरेश देवसेन, वरांग के मामा विद्धपुर नरेश महेन्द्रदत्त, सिन्धुपुर नृपति तप, अरिष्टपुर नृपति सनतकुमार, मलय देशाधिपति मकरध्वज, चक्रतुर नृपति सुरेन्द्रदत्त, गिरिव्रजपुर वज्रायुध, कौसलेश सिघमित्र एवं अंगदेशाधिपति विनयवरत के पास निमन्त्रण भेजे। उक्त सभी राजा क्रमशः सुनन्दा, वपुष्मती, यशोमति, वसुन्धरा, अनन्तसेना, प्रियव्रता, सुकेसी और विश्वसेना नाम की अपनी-अपनी सुपुत्री

ले आये। सभी के साथ वरांग का पाणिग्रहण सम्पन्न हो गया। इस सर्ग का नाम वरांग पाणिग्रहण रखा गया है।

तृतीय सर्ग—सभागार में एक दिन धर्मसेन के पास वनपाल आया और उसने वरदत्त मुनि के आगमन का शुभ सन्देश दिया। धर्मसेन सपरिकर उनकी वन्दना करने गये। उत्तर में वरदत्त ने धर्मोपदेश दिया। वरांग पर उस धर्मोपदेश का अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा। यहाँ बारह व्रतों का सुन्दर वर्णन है। इस सर्ग का नाम धर्मोपदेश है।

चतुर्थ सर्ग—मन्त्रियों द्वारा वरांग के गुणों का वर्णन। धर्मसेन ने वरांग को राज्याभिषिक्त किया। इस अवसर पर गुणदेवी को प्रसन्नता होना स्वाभाविक ही था। परंतु वरांग की सौतेली माता मृगसेना को ईर्ष्या भाव जागृत हो गया। उसने अपने पुत्र सुषेण को उकसाया। सुषेण वरांग से युद्ध करने को तैयार हो गया, परन्तु वरांग के पक्ष में जनमत होने के कारण यह उसे अनुकूल प्रतीत नहीं हुआ। अतः उसने भेदक नीति का अवलम्बन लिया और अपनी कार्य सिद्धि के लिए सुबुद्धि नामक मन्त्री को अपनी ओर करने में सफल हो गया। इधर वरांग ने कौशल देश में कुशलतापूर्वक राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। भृगुलीपुराधिपति ने वरांग को दो सुन्दर घोड़े भेंट किये। मन्त्री सुबुद्धि ने उन्हें शिक्षित करने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले लिया, सुषेण को राज्यासीन कराने के उद्देश्य से। उसने एक घोड़े को अच्छी शिक्षा दी और दूसरे को बुरी। इस सर्ग का नाम 'राज्यलाभ' है।

पंचम सर्ग—दोनों घोड़ों की परीक्षा ली गई। मन्त्री सुबुद्धि ने दो सवारों को उन पर बैठाकर नृत्य वगैरह वरांग के समक्ष प्रस्तुत किया और स्वयं ने परीक्षा करने के लिए उनको प्रेरित किया। वरांग जैसे ही दूसरे (कुशिक्षित) अश्व पर बैठा, वह राजा को लेकर वन की ओर तेज दौड़ा। इसी बीच दोनों एक अन्ध कूप में जाकर गिर पड़े। अश्व तत्काल ही काल-कलवित हो गया पर वरांग पूर्व कर्म के प्रभाव से बच गया। इस घटना से उसे संसार से विरक्ति हो गई। आभूषणादि उसी कूप में फेंके और चल पड़ा आगे। तृषातुर हो मूर्छित हुआ। शीतल मन्द पवन के झकोरों से मूर्छा दूर हुई। पुनः सांसारिक अवस्था-का चिन्तन किया। इसी समय गज द्वारा सिंह का मर्दन करते हुए उसने देखा। इस सघर्ष से बचने के लिए वरांग तरु पर चढ़ गये। उतर कर बाद में उन्होंने सरोवर में नहाया। नहाते समय मगर ने पैर जकड़ लिया। धर्मध्यान किया। पैर छुड़ाने मे यक्ष ने सहायता की। वरांग की परीक्षा लेने एक देवी आई। उसने स्वयं को स्वीकार करने की राजा से प्रार्थना की। परन्तु वरांग अपने एकपत्नी व्रत से डिगे नहीं।

पुन. विपत्ति आई। वरांग को भीलों ने बाँध लिया। बलि निमित्त उसे ले जाते समय भीलों को समाचार मिला कि भील राजा के पुत्र को सर्प ने काट लिया है। उसके कोई बचने का उपाय न देखकर वराग ने णमोकार मन्त्र पढ़कर विष दूर किया। प्रसन्न होकर भीलराज ने उसे छोड़ा और अर्थ-सम्पदा देनी चाही। पर वरांग ने अपने घर जाने की कामना व्यक्त की। भीलराज ने सुरक्षा पूर्वक उसके लौटाने का प्रबन्ध किया। मार्ग में सार्थवाह मिले। उन्होने कोई विशेष व्यक्ति मानकर उसे सार्थवाहपति सागरवृद्ध के पास ले गये। वरांग को कोई महापुरुष समझकर सागरवृद्ध ने छोड़ दिया। उसे भोजन कराया।

षष्ठ सर्ग—सागरवृद्ध सार्थवाहपति के साथ १२ हजार भीलों का युद्ध हुआ। पराजयोन्मुख सागरवृद्ध को वरांग ने विजय का हार पहनाया। सारी भील सेना मारी गई। वरांग भी घायल हुए। पर वे सागरवृद्ध की सेवा से शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। इस उपलक्ष्य में ललितपुर में एक बहुत बड़ा उत्सव मनाया गया। सागरवृद्ध और उनकी पत्नी ने वरांग को अपना धर्म पुत्र स्वीकार किया। वहां उसे नगर सेठ बना दिया गया। इस सर्ग का नाम ललितपुर प्रवेश रखा है।

सप्तम सर्ग—इधर धर्मसेन से सेवकों ने समूची कहानी सुनाई कि किस प्रकार अश्व वराग को लेकर भाग गया। यह हृदय विदारक वृत्तान्त सुनकर भूपति मूर्छित हो गया। सचेत होने पर चारों ओर सेना भेजी उसे खोजने। वारांग के आभूषण तथा अवश्व के तो अस्थि-पंजर मिले पर वरांग नही मिल सके। संसार की यह विचित्र अवस्था देखकर भूपाल को संसार से वैराग्य होने लगा। मुनि का धर्मोपदेश पाया। तथा सुषेण को

युवराज बना दिया। इस सर्ग का नाम अपूप रखा।

अष्टम सर्ग—मथुरापुरी में राजा इन्द्रसेन व उसका पुत्र उपेन्द्रसेन राज्य करते थे। इन्द्रसेन ने देवसेन के पास उसका हाथी लेने के लिए दूत को ललितपुर भेजा। देवसेन ने इसे अपना अपमान समझा। फलतः दोनों में युद्ध हुआ। इन्द्रसेन की ओर से अंग, वंग, कलिंग, कसमीर, केरल आदि के राजा रण में उतरे। देवसेन के नगर को भरपूर लूटा गया। देवसेन भागना चाहता था परन्तु नहीं भाग सका। अभेद्य कोट के भीतर बैठकर इन्द्रसेन को पराजित करने के लिए मन्त्रियों से विचार-विमर्श किया। किसी एक मन्त्री ने सागरवृद्ध के धर्मपुत्र भट (वरांग) की वीरता की प्रशंसा की और उसे युद्ध में अपनी ओर से लड़ने के लिए आमन्त्रित करने की सलाह दी। वरांग देवसेन का भानजा निकला। इन्द्रसेन को विजित करने पर राजा ने उसे आधा राज्य व सुन्दरी सुता देने को कहा। इस प्रसंग में प्रस्तुत वरांगचरित मे सस्कृत ग्रंथों की तरह सेना प्रयाण तथा युद्ध का सुन्दर वर्णन मिलता है। कृषक समाज ने भी इस युद्ध में भाग लिया। उपेन्द्र व विजयकुमार तथा उपेन्द्र और वरांग के युद्ध का जीवन्त वर्णन यहाँ उपस्थित किया गया है। इसी प्रसंग मे जैनधर्म के अनुसार जातिवाद पर भी विचार किया गया है। उपेन्द्र द्वारा वरांग पर चक्रचालन हुआ। वरांग ने उसका खण्डन किया। उपेन्द्र का युद्ध में मरण हुआ। इन्द्रसेन को भी वरांग ने पराजित किया। यहाँ वरांग को 'कश्चिद् भट' कहा गया है। इस सर्ग को इन्द्रसेन पराजय नाम दिया गया है।

नवम् सर्ग—वरांग के साथ देवसेन ने अपनी पुत्री सुनन्दा को विवाहा। आधा राज्य भेंट दिया। सागरवृद्ध के घर दम्पति सुख पूर्वक रहें। नृप सुता मनोरमा वरांग पर असक्त हो गई। परम्परानुसार चित्र निर्माण, रुदन व वियोगावस्था का चित्रण किया गया। वरांग के पास दूती पहुँची। वरांग ने अपने एकपत्नी व्रत का स्मरण करा दिया। इस सर्ग को 'सुनन्दा लाल मनोरमा दुःख-विरहावस्था' नाम दिया है।

दशम् सर्ग—धर्मसेन के पुत्र सुषेण को शत्रुओं ने पराजित किया। धर्मसेन ने देवसेन के पास पहुँचने की इच्छा व्यक्त की। संयोगवश यह लेख वरांग को मिल गया। देवसेन और वरांग का गाढ़ परिचय हुआ। मनोरमा के साथ वरांग का विवाह हुआ। सभी लोग वरांग के साथ धर्मसेन के पास पहुँचे। धर्मसेन और वरांग का पिता-पुत्र के रूप में भेंट हुआ। इस सर्ग का नाम वरांग प्रत्यागम नृपसंगम नाम दिया है।

एकादश सर्ग—वरांग ने विविध भोग भोगे। देवसेन ने अपनी पुत्रियों को वरांग की माता और अपनी बहन गुणदेवी के लिए सौंपा। सुषेण व माता मृगसेना को सम्पदादिदान देकर सम्मानपूर्वक विदा किया। विजय प्राप्ति के लिए वरांग का ससैन्य गमन। इन्द्रसेन ने भयभीत होकर अपनी मनोहरा नामक पुत्री का वरांग के साथ विवाह किया। यहाँ वरांग की विजयों का उल्लेख तो नहीं किया गया पर इतना तो अवश्य लिखा गया—"उदधि अन्त लौ अवनी सबै जीती नृप वरांग ने तबै।" राज्य भेंट करते समय यह बात कुछ अधिक स्पष्ट हो जाती है। विदर्भ का राज्य उदधिवृद्ध को, कलिंग का राज्य उदधिवृद्ध के कनिष्ठ-पुत्र को, पल्लव का राज्य अनन्त सचिव को, बनारस का राज्य चित्रसेन मन्त्री को, विसालापुरी का राज्य अजित मन्त्री को, व मालव देश का राज्य देवसेन मन्त्री को भेंट किया। बाद में सरस्वती नदी के किनारे अनन्तपुर की स्थापना व उस पर स्वयं वरांग राज्य करने लगे।

द्वादश सर्ग[1]—वरांग एक दिन अनूपमा के घर गये। अनूपमा ने वरांग से धर्मस्वरूप पूछा। इस प्रसंग में कवि ने त्रिरत्न, बारह व्रत, जिन मन्दिर निर्माण, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, पंचामृताभिषेक आदि का वर्णन किया है। धर्मस्वरूप सुनकर अनूपमा ने नगर के बीच एक चन्द्रप्रभ जिन मन्दिर का निर्माण कराया। बड़े उत्साह से बिम्ब-प्रतिष्ठा हुई।

कालान्तर में वरांग का एकान्तवादियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ। स्याद्वाद के आधार पर उन्होंने सभी को पराजित किया। कुछ समय बाद अनूपमा को पुत्र लाभ

---

१. प्रस्तुत प्रति में एकादश व द्वादश शर्ग के बीच कोई सीमा रेखा नहीं।

हुआ। उसका नाम सुगात्र रखा गया। विवाह भी हुआ। इस सर्ग का नाम सिद्धायतन निर्माण जिन बिम्ब-प्रतिष्ठा प्रतिपादक रखा है।

त्रयोदश सर्ग—वरांग ने एक दिन प्रात:काल स्नेहा-भाव से दीपक को बुझते हुए देखा। इसका असर उसके मन पर अधिक पड़ा। फलतः संसार से उद्विग्न हो गया। धर्मसेन से जिनमुद्रा धारण करने की अनुमति माँगी पर पिता के आग्रह से वे कुछ समय और गृहस्थावस्था में रहे। बाद में सुगात्र को अभिषिक्त कर वरदत्त मुनि से मुनि दीक्षा ग्रहण की। उदधिवृद्ध आदि लोग भी साथ हो लिए। वरांग मुनि सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए। वहाँ से च्युत होकर नर जन्म ग्रहण कर मुनिव्रत धारण कर मोक्ष जावेंगे।[1]

ग्रन्थ का प्रारम्भ भाग—

कवि ने ग्रंथ के प्रारम्भ में जिनेन्द्र भगवान को प्रणाम किया है। उसका आदि भाग इस प्रकार है—

कनक वरन तन आदि जिन हरन अखिल दुख वन्द।
नाभराय मरुदेवि श्रुत बंदो रिषभ जिनंद ॥१॥
श्री जिन कौ सुभज्ञान मुकर अति निर्मल राजत।
जामै जगत समस्त हस्त रेखावत भासत ॥
मोह सहित संसार विषै मन जिन चिन्तन कौ।
पावन करहु सदीव चित्त सो जिन वर तन कौ।२।
अति विशुद्ध वर सुकुल ध्यान चलकर सुखदायक।
निर्मल केवल ज्ञान पाय तिष्टे जग नायक॥
वसुविधि कर्म प्रचण्ड नास करि एक क्षिनक मे।
अजरामर सिव सुख लह्यो जिन एक समय मे॥
अैसे जे सिद्ध अनंत गुण सहित वसत शिव लोक मे।
तो परम सुद्ध ता हेत मुझ होऊ देत नित धोक मैं।३।

इसके बाद सवैया इकतीसा लिखा गया है। उसका भाव व भाषा सौन्दर्य बहुत अच्छा है—

हय गज रथ राज भारी सुत धन साज,
विनाशीक चित चाह न धरत है।
अव्यय अचिंत ज्ञान मई महातेज धाम,
अैसे शुद्ध आतमा कौ चिंतन चहत है॥
ताही के प्रभाव सेती केवल सु ज्ञान पाय,
वसुविधि कर्म नाश शिव जे लहत हैं।
अैसे जे महान गुणथान सूर सदा हमें,
ज्ञान लाल भी नमो नमो करत है॥४॥
श्री जिन आगम सागर विचार समेत,
पढै नित जे चित लाई।
शिष्यन कौ पुनि आप पढावत,
प्रीत समेत क्रिया सिखलाई॥
पंच प्रकार मिथ्यात महातम,
नासन कू उमगे मुनिराई।
ते उवझाय सदा सुखदाय,
हरौ अघपुंज नमौ सिर नाई॥५॥
समदमधारी क्षमा सेज के अधिकारी,
निज रस लीन अपहारी कर्म रोग के।
दोय विध तप धार तत्त्व कौ करै विचार,
तजिकै सकल आस ज्ञाता उपजोन के॥
भो जल तरौ या राग दोस के हरैया,
सिव तिय के चहैया भोगी जिन रस भोग के।
अैसे मुनि निरग्रंथ देहु मोहि मोक्ष,
पन्थ अविचल अगधारी तीन काल जोग के॥६॥
मूलसंघ सरसुती गछ बलात्कार गण,
धारक विसालमति विदित भुवन मे।
भट्टारक वर्धमान गण गुण कौ निधान,
वादीभइव पचानन गाढौ निजपन मे॥
कर्ता पुरानन कौ वक्ता जिन ग्रंथन को,
अक्षण कौ जेता जाकै माया नहि मन में।
भूपति वरांग कौ चरित्र यह कीनौ सार,
रहौ जयवन्त ससि रवि लौ गगन मे॥७॥

देश भदावर शहर अटेर प्रमानियै।
तहां विश्वभूषण भट्टारक मानियै॥
तिनके सिष्य प्रसिद्ध ब्रह्म सागर सही।
अग्रवाल वर वंस विषै उतपति लही॥

---

1. सर्ग की यहाँ समाप्ति होनी चाहिए पर आलोच्य प्रति में प्रशस्ति लिखने के बाद यह समाप्ति दिखाई गई है।

ब्रह्म उदधि कौ शिष्य पुनि पांडे लाल अयान।
छन्द शब्द व्याकर्ण कौ जामै नाहीं ग्यान ।।

संवत सु अष्टादस शत जान।
ऊपर सत्ताईस परवान ।।
माहु सुकल पावै शशिवार।
ग्रन्थ समापत कीनौ सार ।।

छन्द विधान—

आलोच्य वरांगचरित मे दोहा, काव्य, छन्द, छप्पय, सवैया, इकतीसा, अडिल्ल, चौपाई, नाराच, हरिगीत, रोला, भुजंगप्रयात सवैया, तेईसा, तोटक, कुण्डलिया, पद्धड़ी, सोरठा, कुसुमलता, वरवीर आदि छन्दों का उपयोग किया गया है। कुल छन्द १,२३४ है। सर्ग-क्रम से ५५, ७८, ५४, ६५, १३२, ७३, १०१, १६५, ८४, ६४, १७२ और १०१ पद्य है। कवि को अनुष्ठुप्, सवैया इकतीसा, चौपाई और अडिल्ल अधिक प्रिय लगते हैं। प्रायः सभी छन्द निर्दोष है। छन्दों का उपयोग भावानुसार किया गया है।

भाषा शैली—

कवि की भाषा में लय व प्रवाह है। सरलता के कारण पाठक का मन ऊबता नहीं। पद्यों मे जहाँ एकता, मुदा, कश्चित् जैसे संस्कृत शब्द मिलते है वही धौंस (३-३४), मौसों जौलौ (८-८५), फंट (८-६३), कित जायगौ (८-६५), लरै (८-२७८) आदि जैसे शुद्ध बुन्देलखण्डी शब्द भी देखने को मिलते हैं। सच तो यह है कि बुन्देलखण्डी का प्रभाव ग्रंथ पर अधिक है। होनाभी चाहिए। कवि व उसकी कृति, दोनों राजस्थान मे प्रसूत है।

कवि के प्रायः प्रत्येक चित्रण में स्वाभाविकता झलकती है। प्रकृति चित्रण की मनोहारिता देखिये—

मद जल करत कपोल लोल अलिकुल झंकारत।
तिनकौ सबद प्रचंड दसौ दिसमें विसतारत।
अंजन अंचल समान श्याम उन्नत तन भाषत।
फेरत सुंड दण्ड देत दीरघ सुप्रकाशत ।।
अतिक्षुधित निरख गज उछरिकै,
तिहि सन्मुख धायौ जबै।
निज दतनि सौं मातंग नै हरि,
कौ उर भेद्यो तबै ।।५-३७।।

युद्ध का जीवन्त चित्रण—

खैंच कान परजंत वीर कौ दंड कौ।
छोरत तीछन सायक धरत उमंग कौ ।।
भेदत है छाती अरीन की जाय कै।
पीवत भये रुधिर तें वान अघाय कै ।।
कवच धरैं तन माहि शूर या जेह जू।
छाती तिन की भेद तिस्य सर तेह जू ।।
सुभट नरन कौ प्रथम डार निरधार जू।
पाछै परत भये ते भूम मझार जू ।।८-१०५।।

इसी प्रकार अन्य वर्णनों में भी कवि ने विषय के अनुरूप भाव और भाषा का आधान किया—पत्नी विलय ७, ३६-४३, नृपविलाप ७. ६५-६८, नृप सुता का वियोगकालीन विलाप ६-४६, ससार अवस्था का चित्रण, ७, ८१-६१, १३, १-११, तप वर्णन, १३, ७४-७८, पुण्य-पाप का चित्रण ४, ६४, ५, ३२ आदि। इन वर्णनों को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत कृति मे प्रायः सभी रसो का उपयोग किया गया है।

पाण्डे लालचन्द की यह कृति 'वरागचरित' भाव और भाषा दोनों दृष्टियो से निःसन्देह उच्चकोटि की है। उसे आद्योपान्त पढ़ने पर कर्ता को महाकवि और कृति को महाकाव्य कहे बिना जी नहीं मानता। महाकाव्य के आवश्यक लक्षण इसमें मौजूद हैं। अत कृति प्रकाशनीय है। ●

धन सम्पदा से ममता हटाने का उपदेश

जासों तू कहत यह सम्पदा हमारी, सो तो, साधनि अडारी जैसे नाक सिनकी।
जासों तूं कहत हम पुण्य जोग पाई सो तो, नरक की साई बड़ाई डेढ़ दिनकी।
घेरा मांहि परयो तू विचारै सुख आखिन को, माखन के चूटत मिठाई जैसें भिनकी।
एते पर उदासी होय न जगवासी जीव, जग में असाता है न साता एक छिनकी।

विश्व मैत्री का प्रतीक : पर्यूषण पर्व

प्रो० भागचन्द्र 'भागेन्दु' एम. ए. शास्त्री

'पर्व' शब्द अनेक अर्थों का ज्ञापन है। इसे बांस आदि की गांठ (ग्रन्थि) वाचक तो कहा ही गया है[1] तिथि-भेद (अमावस्या-पूर्णिमा आदि, प्रतिपद् और पंचदशी अर्थात् अमावस्या-पूर्णिमा की सन्धि[2]), उत्सव तथा ग्रन्थ के अंश (जैसे आदि पर्व, वन पर्व, शान्ति पर्व आदि) का सूचक भी निरूपित किया है।[3]

साहित्य में उपर्युक्त सभी अर्थों में इसका प्रयोग प्राप्त होता है, किन्तु समाज में सामान्य रूप मे 'पर्व' का अभिप्राय किसी त्यौहार, उत्सव या विशिष्ट अवसर से ही समझा जाता है। इस अर्थ में प्रचलित 'पर्व' धर्म और समाज की सामूहिक अभिव्यक्ति है। मानव जीवन में जिस निष्ठा, लगन, मान्यता, साधना आदि को प्रतिष्ठित करने के माध्यम से उपलब्ध होती हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'पर्व' शब्द उत्सव का वाची भी है। पर्व और उत्सव—दोनों ही समाज में आस्था और नवीन चेतना का संचार करते हैं। इनके माध्यम से समाज में अच्छे संस्कारों का निर्माण होता है। किसी भी धर्म, समय तथा राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति की अभिव्यक्ति पर्वों के द्वारा सहज ही हुआ करती है।

भारतवर्ष में समाज को स्वस्थ, संयमी, सन्तुष्ट तथा सुखी बनाने के लिए अनेक प्रकार के पर्व समय-समय पर मनाये जाते हैं। संयमप्रधान जैनधर्म में भी इसी प्रकार के अनेक पर्वों का प्रावधान है। वे पर्व केवल खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, या हर्ष-विषाद तक ही सीमित न होकर मानव में परोपकार, अहिंसा, सत्य, प्रेम, उदारता, आत्म-सयम, आत्म-मन्थन, मैत्रीभाव और विश्व-बन्धुत्व आदि उच्चकोटि की भावनात्मक प्रवृत्तियों का संचार करते हैं।

जैन-पर्वों में **'पर्यूषण पर्व'** या **'दशलक्षण पर्व'** का बहुत अधिक महत्त्व और प्रचलन है। 'पर्यूषण' का शाब्दिक अर्थ—पूर्ण रूप से निवास करना, आत्म-रमण करना अथवा आत्म-साधना में तन्मय होना। जैन-आगमों में इस अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक प्रकार के शब्द प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ पज्जुषणा, पज्जूषणा, पज्जोसवणा इत्यादि। 'पर्यूषण' उक्त प्राकृत शब्दों का संस्कृतीकरण है। इस पर्व में आत्मिक विकारों (क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या आदि) पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

दिगम्बर परम्परा में वह पर्व भाद्रपद शुक्ल पंचमी से भाद्रपद (अनन्त) चतुर्दशी तक बड़े उत्साह के साथ सम्पन्न होता है जबकि श्वेताम्बर परम्परा मे भाद्रपद कृष्ण १२ से भाद्रपद शुक्ल ४ तक सोत्साह मनाया जाता है। सम्पूर्ण जैन-संघ[4] धार्मिक आराधना और आत्म-चिंतन में पूर्ण रूप से लीन हो जाता है। आबाल-वृद्ध सभी मे विशेष उत्साह दिखाई पड़ता है।

पर्व के अन्त में 'क्षमा वाणी महोत्सव'[5] होता है। इस अवसर पर सभी एक दूसरे से सस्नेह मिलते हैं तथा अपनी

---

१. 'ग्रन्थि र्ना पर्व परुषी।'
—'अमरकोष' : (चौखम्बा संस्करण, १९५७ ई०), २-४-१६२।
हिन्दी में इसे पोर या पोरा नाम से जाना जाता है।

२. 'स पर्व सन्धिः प्रतिपत्यं च दश्यो र्यदन्तरम्।'
—उपर्युक्त : १-४-७।

३. 'तिथिभेदे क्षणे पर्व।'
—उपर्युक्त : ३-३-१२१।

४. इसमें श्रावक, श्राविका, मुनि तथा आर्यिका—सभी सम्मिलित हैं।

५. इसकी मूल भावना प्रस्तुत गाथा में देखी जा सकती है :—
खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि॥

विगत भूलों-गलतियों-अपराधों आदि के लिए क्षमा-याचना करते हैं। वस्तुतः पर्यूषण पर्व के मूल-आधार विश्व वात्सल्य और विश्व-मैत्री ही हैं। इस पर्व के दश दिनों में एक-एक धर्म का मनन किया जाता है। प्रस्तुत निबन्ध मे सक्षेपतः उन्ही दश अगो[६] का विवेचन किया जा रहा है :

उत्तम क्षमा :—इस विश्व में क्रोधाग्नि अत्यन्त प्रबल है। वही सब कुछ नष्ट कर डालती है। इस अग्नि को शान्त करने के लिए अहिंसा, दयाभाव आदि धारण करना आवश्यक है। "क्षमावीरस्य भूषणम्" अर्थात् वीर पुरुष का अलंकरण क्षमा ही है। क्रोधादि भावों से अशुभगति का बन्ध होता है।

किन्तु क्षमाभाव से शुभ शारीरादि प्राप्त होते है। आत्मा का स्वभाव उत्तम क्षमा है। क्रोध इसे नष्ट कर देता है। क्षमा मोक्षमार्ग में अत्यन्त सहायक है।

उत्तम मार्दव :—अभिमान का त्याग करना उत्तम मार्दव है। मान कषाय के वशीभूत होकर ही जीव आत्मा के मार्दव गुण को दूषित करता है। संस्कृत मे इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि "मृदोर्भावः मार्दवम्" मृदुता कोमल जगती के सदृश है। जो जीव कोमलता युक्त है, समझिए कि वह आत्मधर्म का बीजारोपण कर रहा है। इस मार्दव धर्म के धारण करने से परिणाम विशुद्ध होते हैं। इसमें जीव पापों से बचकर पुण्य में प्रवेश करता है। "स्वभावमार्दवम् च"[७] इस सूत्र में बतलाया है कि स्वतः स्वभाव से कोमल परिणाम होने से मनुष्यायु का आस्रव होता है।

उत्तम आर्जव :—कपट कषाय के त्याग करने को आर्जव कहते हैं। सरल भाव से ही धर्म पालन करना चाहिए। कपट भाव से पाला गया धर्म कभी भी सफल नहीं होता। आर्जव धर्म पर चलने से अपने त्रियोग भी पवित्र होते हैं तथा दूसरे अपने व्यवहार से सुखी होते है। मुनिजन सदा मायाकों जीतते हैं। प्रत्येक धर्मावलम्बी को "पर विश्वासघात नहीं कीजे" इस भावना का अनुकरण करना आवश्यक हैं। अतः मायाचार को त्याग सीधा सरल व्यवहार करने से आर्जव धर्म पलता है।

उत्तम सत्य :—जहाँ आर्जव धर्म पलेगा वहाँ सत्य भी अवश्य पाला जावेगा। क्योंकि कपट के वशीभूत होकर ही जीव असत्य बोलते है। सत्य के द्वारा अपना आत्मा पवित्र होता है। दूसरों को भी कष्ट नहीं होता। आधुनिक समय में जितने धर्म प्रचलित हैं सभी में सत्य प्रमुख स्थान रखता है। हमारे राष्ट्र पिता महात्मा गांधीजी ने सत्य एवं अहिंसा का सूक्ष्म आधार लेकर ही स्वराज्य प्राप्त किया था। व्यापार में तो सत्य परमावश्यक है। सत्य आत्मस्वरूप हैं, उसी से प्राप्त होता है। इसलिए "उत्तम सत्य वरत पालीजे, पर विश्वासघात नहीं कीजे।[८]

उत्तम शौच :—प्रिय तथा अप्रिय वस्तुओं में समानता का व्यवहार करना तथा लोभ रूपी मल को धोना ही वास्तविक शौच धर्म है। इस धर्म को धारण करने से परिणाम शुद्धि होती है ठीक ही कहा है—"लोभ पाप का बाप बखानो"[९] अत. वह हेय है। साधुजन उत्तम शौच धर्म को धारण करते है, परिणाम विशुद्धि तथा इन्द्रिय दमन करते हैं। उनकी पवित्रता आंतरिक होती है।

उत्तम संयम :—जीवों की रक्षा करना, तथा इंद्रियो और मन पर विजय पाना संयम है। छह कायके प्राणियो की दया पालना प्राणी संयम है। मुनिगण दोनों को पालते हैं। वर्तमान में इन्द्रियो के आधीन होकर समस्त समाज विषयवासना का शिकार हो रहा है। मानवता तो इसी में है कि इंद्रियों को स्वाधीन किया जाय। हर तरह से सुखी एवं निर्द्वन्द्व, जीवन यापन के लिए संयम की अत्यन्त आवश्यकता है। संयम के प्रत्यक्ष उदाहरण त्यागमूर्ति अनेक आचार्य और मुनिगण अब भी विद्यमान हैं। इनके जीवन से प्रत्येक को शिक्षा लेना चाहिए।

उत्तम तप :—जीवन को उच्च स्तर पर पहुंचाने के लिए तथा आत्मा की स्वच्छता प्रगट करने के लिए तप

---

६. धर्म के दश अग इस प्रकार हैं—
"उत्तमक्षमा, मार्दवार्जव, सत्य, शौच, संयम, तपस्त्या, गाऽकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्याणि धर्मः।"
—आचार्य उमास्वामी : 'तत्त्वार्थ सूत्र', ९-६।

७. आचार्य उमास्वामी : 'तत्त्वार्थ सूत्र', ६-१८

८. कविवर द्यानतराय : 'दश लक्षण धर्म पूजा', बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृ० ४४७

९. वही, पृ० ४४८

धर्म आवश्यक है। व्रतोपवास करना, एकासन से सामायिक करना, दुःखी पुरुष की सेवा शुश्रूषा करना, पूजा के प्रति आदरभाव, शास्त्र स्वाध्याय आदि तपस्या के कई भेद प्रभेद हैं। सिर्फ भूखे रहना, धूप में बैठना आदि तप नही कहे जा सकते है।किन्तु कषाय[10] को शात करके आत्मा-शुद्धि करना ही श्रेष्टतप है। कर्मों की अविपाक-निर्जरा[11]तप से ही होती है। त्रिकाल सामायिक करना भी एक प्रकार का तप है।

उत्तम त्याग :—परद्रव्य से ममत्व भाव दूर करना त्याग धर्म है त्याग धर्म में चार प्रकार का दान वर्णित है।

दान से महान पुण्यबन्ध होता है। मुनिगण हमेशा प्राणी मात्र की रक्षा से ज्ञानदान देते है। धन की तीन अवस्थाएँ वर्णित है १-भोग, २-दान, ३-क्षय। भोग तो सभी भोगते हैं किन्तु बुद्धिमान मनुष्य उपभोग करते हुए दान मार्ग में प्रवृत्त होते है। कुछ जन ऐसे रहते है कि वे न तो भोग में और न दान मे ही देते है। ऐसों के धन की तीसरी गति क्षय ही निश्चित है।

उत्तम आकिन्चन्य :—संसार के समस्त पदार्थो से मोह छोडना आकिन्चन्य धर्म कहते है। अपनी आत्मा के सिवाय संसार में कोई भी पदार्थ अपना नही है। मित्र, पिता, पुत्र, माता, स्त्री, धन आदि जिन वस्तुओ को मोह से हमने अपनाया है, वे सब अपनी नहीं है। यहाँ तक कि यह शरीर भी अपना साथ नहीं देता। तीर्थकरों ने वस्तु के स्वभाव को धर्म बतलाया है, और धर्म वही है, जो आत्मानुकूल हो। यह धर्म आत्मस्वभाव का द्योतक है।

उत्तम ब्रह्मचर्य :—आत्मा में रमण करने को ब्रह्मचर्य कहते है। आत्मा में आत्मा का रमण तभी हो सकता है, जब उचित्त वृत्ति निर्लिप्त हो। संस्कृत मे इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है :—

ब्राह्मणि-आत्मनि, चरण-रमण इति ब्रह्मचर्यम्।

ब्रह्मचर्य का लक्षण निम्न प्रकार कहा गया है है:—

कायेन, मनसा, वाचा, सर्वावस्थासु सर्वथा।
सर्वत्र मैथुनं त्यागो, ब्रह्मचर्य प्रचक्षते॥

त्रियोग से सर्वदा और सर्वत्र मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। तथा ब्रह्मचर्य परं तीर्थं, पालनीयं प्रयत्नतः"—ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट तप है, इसे अवश्य पालना चाहिए।

मनुष्य की काम-भोग की लालसा को पहले सीमित करने तथा क्रमशः पूर्ण परित्याग करने का वैज्ञानिक प्रावधान जैनधर्म में उपलब्ध होता है।

मैथुन का अभिप्राय केवल शारीरिक भोग से ही नही है, प्रत्युत उस प्रकार की चर्चाएँ करना और मन मे उस प्रकार के विचारों का आना भी "मैथुन" में शामिल है।

सयम को मन से सरलतापूर्वक नियंत्रित किया जा सकता है। यही मानसिक संयम ब्रह्मचर्य की ओर अग्रसर कराता है। वस्तुतः पांचों इन्द्रियों के विषयों से निवृति का नाम ही 'ब्रह्मचर्य' है।

भारत वर्ष में पर्व प्रेरणा स्रोत तो होते ही है, चित्त-शुद्धि के भी अनुपम साधन होते है। क्योंकि जब तक चित्त शुद्ध न होगा, तब तक विकास और उत्कर्ष असभव होगा।

इस सन्दर्भ में आचार्य योगीद्र देव के विचार बहुत महत्वपूर्ण तो हैं ही, प्रेरणा स्रोत भी है :

"जहि भावइ तहिं जाहि, जिन जं भावइ करि त जि!
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तइ सुद्धि ण ज जि॥"

[हे प्राणिन्! जहाँ तुम्हारी इच्छा हो जाओ और जो इच्छा हो वह कार्य करो, किन्तु चित्त-शुद्धि पर ध्यान दो। क्योंकि जब तक चित्त शुद्ध न होगा तब तक किसी भी प्रकार अपना चरम उत्कर्ष (मोक्ष) नही प्राप्त कर सकते हो।]

इस प्रकार संक्षेप में कह सकते है कि विश्व वात्सल्य और विश्व बन्धुत्व का यह महापर्व हिंसा के विरुद्ध सम्पूर्ण जैन समाज का सामूहिक अभियान है। इस प्रकार के अभियानों से विश्व-मैत्री और विश्व-शान्ति सहज ही सम्भव है।

---

१०. कषन्ति=घ्नन्ति इति कषायाः। जो आत्मा के शुद्ध भावो की हिसा करे, उनको मैला कर दे। मूलतः वे चार है : क्रोध, मान, माया, लोभ। इनमें से प्रत्येक के भी चार-चार भेद होते हैं।

११. कर्मों का अपने नियत विपाक समय के पूर्व तप आदि के द्वारा व अन्य कारणों से उदय की आवलि में लाकर बिना फल भोगे या फल भोगकर खिरा देना। विस्तार के लिए देखिए—
आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थ सिद्धि, ८-३।

गुणस्थान, एक परिचय

मुनि श्री सुमेरमल जी

जैन दर्शन आध्यात्मवाद पर टिका हुआ है। वह आत्म-सत्ता को ही परम सत्य मान कर चला है। आत्म-शक्ति का विकास ही जैन साधना पद्धति का फलित है। आत्म शक्ति की विकसित तथा अल्प विकसित रूप अवस्था को ही जैन दर्शन ने गुणस्थान के रूप मे बतलाया है। क्रमशः आत्म विकास की ओर बढ़ना ही गुणस्थान रोहण कहलाता है। विश्व में ऐसा कोई प्राणी नही जो सर्वथा अविकसित हो, कुछ न कुछ विकास की किरण हर आत्मा में विद्यमान है। फिर चाहे वह एकेन्द्रिय है या अभव्य है। इन्द्रिय सत्ता सब संसारी मे है। गुणस्थान का प्रारम्भ भी वही से होता है। शरीरधारी जीवो मे ऐसा कोई भी नही है जो गुणस्थान से बाहर हो। अव्यवहार राशि के जीव भी प्रथम गुणस्थानवर्ती है। अल्प नही अत्यल्प ही सही क्षयोपशम की मात्रा तो उनमे भी है। वह क्षयोपशम ही गुणस्थान है गुणस्थान की परिभाषा भी हमे यही बतलाती है—गुणनामस्थान—गुणस्थानम्। गुणो के स्थान को गुणस्थान कहा जाता है। निष्कर्ष की भाषा मे गुणो को ही गुणस्थान कहा जाता है। आत्म-विकास की भूमिका का ही पर्यायवाची नाम गुणस्थान है।

आत्म[1] विकास की भूमिकाएं चौदह है। कुछ भूमिकाएं दर्शन से सम्बन्धित है, कुछ चारित्र से और कुछ भूमिकाएँ भी निर्जरण तथा योग निरोध सापेक्ष है। इस प्रकार अत्यल्प विकास की प्रगति करता हुआ प्राणी पूर्ण विकास की अवस्था को प्राप्त करता है। आत्मस्वरूप के पूर्ण विकास का नाम ही निर्वाण है। बन्धन विमुक्ति है। यह गुणस्थान से ऊपर की अवस्था है। गुणस्थानो मे कुछ न कुछ बन्धन जरूर है। चाहे समाप्त प्राय भी क्यों न हो? चौदहवे गुणस्थान में अवशिष्ट चारकर्म विलीन प्रायः हैं फिर भी चौदहवां गुणस्थान सकर्मा है। अकर्मावस्था एक मात्र निर्वाण ही है। निर्वाण को हम मंजिल का रूप दें तो गुणस्थान को उस तक पहुँचने के लिए पगोडियाँ कह सकते है। जो जितनी पगोडियाँ चढा वह निर्वाण (मंजिल) के उतना ही नजदीक पहुँच गया। प्रस्तुत निबन्ध में चौदह गुणस्थानो की सक्षिप्त मीमांसा की गई है।

चौदह गुणस्थानों के नाम—

१. मिथ्यात्वीगुणस्थान।
२. सास्वादन सम्यक्दृष्टि गुणस्थान।
३. मिश्र गुणस्थान।
४. अविरति सम्यक दृष्टि गुणस्थान।
५. देशव्रती श्रावक गुणस्थान।
६. प्रमत्त संयति गुणस्थान।
७. अप्रमतसंयति गुणस्थान।
८. निवृत्तबादर गुणस्थान।
९. अनिवृत्त बादर गुणस्थान।
१०. सूक्ष्म संपराय चारित्र गुणस्थान।
११. उपशांत मोह गुणस्थान।
१२. क्षीण मोह गुणस्थान।
१३. सयोगी केवली गुणस्थान।
१४. अयोगी केवली गुणस्थान।

प्रथम गुणस्थान —

आत्मा के न्यूनतम विकास मे रहने वाले प्राणी प्रथम गुण स्थानवर्ती हुआ करते हैं। यह गुणस्थान वैसे दर्शन से सम्बन्धित है, जब तक मिथ्या दर्शन के दश बोलों में से एक भी बोल यदि विपरीत समझता है, तब तक उसमें पहला गुणस्थान है।

यह तो व्यवहारकी बात हुई, निश्चयमें जब तक अनन्तानुबंधी क्रोध मान, माया-लोभ, मिथ्यात्व मोहनीय मिश्रमोहनीय सम्यक्त्व मोहनीय, इन सात प्रकृत्तियों का उपशम, क्षयोप-

१. विसोहिमग्गणपडउच्च चउद्दसगुण ट्ठाणापन्नतास० १४।

शम या क्षायिक नहीं हो जाता तब तक कोई जीव पहला गुणस्थान नहीं छोड़ सकता। इन प्रकृतियों के उदय भाव में अन्य प्रकृतियों की क्षयोपशमावस्था प्रथम गुणस्थान है। काल की अपेक्षा से इसमें चार में से तीन विकल्प पाते हैं —अनादि[२] अनन्त अभव्य की अपेक्षा से अनादिशांत भव्य की अपेक्षा से सादि शान्त प्रति पाति सम्यक्त्वी की अपेक्षा से सादि अनन्त यह विकल्प इसमें नहीं पाता है। पहले गुणस्थान की आदि तभी होती है, जब सम्यक्त्व से कोई गिर कर पहले गुणस्थान में आए। और सम्यक्त्व प्राप्ति जिसे होती है वह निश्चित मोक्षगामी हुआ करता है। अतः पहले गुणस्थान में आकर वह पुनः गुणस्थानारूढ़ होता है। इसलिए पहले गुणस्थान की जहां आदि हो गई वहां उसका अन्त अवश्यम्भावी है।

कर्म प्रकृतियों का बन्धन —

बन्धनार्हकर्म प्रकृतियों का बन्धन सिर्फ तीन प्रकृतियों को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों का बन्धन पहले गुणस्थान में होता है, जिन तीन प्रकृतियों का बन्धन पहले गुणस्थान में नहीं होता उसके नाम हैं? तीर्थंकर नाम कर्म, आहारक शरीर आहारक अंगोपांग नाम कर्म। उदय प्रायोग्य कर्म प्रकृतियों में पाँच को छोड़कर शेष सभी पहले गुणस्थान में उदय आती हैं। अनुदयशील पांच प्रकृतियों के नाम हैं—(१) मिश्रमोहनीय, (२) सम्यक्त्व मोहनीय, (३) आहारक शरीर, (४) आहारक अंगोपांग नामकर्म, (५) तीर्थंकर नामकर्म इन पाँचों में से मिश्रमोहनीय का उदय सिर्फ तीसरे गुणस्थान में होता है, अन्य किसी गुणस्थान में नहीं होता। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय क्षयोपशम सम्यक्त्व में रहता है। आहारक द्विक का उदय छठे और सातवें गुणस्थानवर्ती आहारक लब्धिवाले संयति में ही हो सकता है। अन्यत्र नहीं। तीर्थंकर नाम कर्म का उदय तीर्थंकर के जन्म काल में होता है। द्रव्य तीर्थंकरों में भी गुणस्थान कम से कम चौथा पाता है।

दूसरा सास्वादन सम्यक् दृष्टि गुणस्थान

यह प्रतिपाती सम्यक्त्व की एक अवस्था है। अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क में से एक[३] का भी अनन्तानुबन्धी उदय हो गया तो प्राणी सम्यक्त्व से निश्चित गिरेगा। सम्यक्त्व के मूल गुणस्थान से तो वह गिर चुका, मिथ्यात्वतक पहुँचा नहीं, उस बीच की अवस्था का नाम है सास्वादन सम्यक्त्व[४] गुणस्थान। इसका उत्कृष्ट कालमान है छः आवलिका मात्र, उदाहरणतः जैसे—किसी ने खीर का भोजन किया और तत्काल किसी कारणवश उसे वमन हो गई, उसमें खीर तो वापिस निकल गई, किन्तु कुछ आस्वादन अवशिष्ट कुछ समय के लिए जरूर रहता है, बाद में वह भी समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का तो वमन हो गया है। किन्तु उज्ज्वलता अब भी शेष है, अतः द्वितीय गुणस्थानवर्ती बताया गया। प्रश्न —सास्वादन सम्यक्त्वी से आत्मा को क्या लाभ? अगर कोई लाभ नहीं है तो फिर प्रथम गुणस्थानवर्ती ही क्यों नहीं मान लिया गया? उत्तर—गुणस्थानों का क्रम आत्म अवस्था के साथ जुड़ा हुआ है। लाभ या नुकसान यह उसका गौण पक्ष है। सास्वादन सम्यक्त्व से तो कई लाभ हैं। किन्तु अगर लाभ न भी हो फिर भी यह एक सच्चाई है, इसे कैसे नकारा जा सकता है। आत्मस्वरूप मिथ्यात्व में परिणत नहीं हुआ तब तक उसे मिथ्यात्वी कैसे कह सकते हैं। उसे सम्यक्त्वी ही मानना पड़ेगा, चाहे दो क्षण के लिए भी क्यों न हो।

लाभ—

कर्म बन्धन के बारे में जब हम सोचते हैं तो इस गुणस्थान से लाभ निश्चित नजर आता है। प्रथम गुणस्थान में बन्धने वाली कर्म प्रकृतियों में से सोलह कर्म प्रकृतियों का बन्ध इस गुणस्थान में नहीं होता। वे प्रकृतियां हैं—(१) नर्कगति, (२) नरकायु, (३) नरकानुपूर्वी, (४) एकेन्द्रिय, (५) द्वीन्द्रिय, (६) त्रिइन्द्रिय, (७) चतुरिंद्रिय, (८) स्थावर नाम कर्म, (९) सूक्ष्मनाम कर्म, (१०) अपर्याप्त नाम कर्म, (११) साधारण नाम कर्म, (१२) आताप नाम कर्म, (१३) अन्तिम संस्थान नाम

२. अभव्याश्रित मिथ्यात्वे, अनाद्यनन्ता स्थितिर्भवेत्। साभव्याश्रितामिथ्यात्वेऽनादिसांता पुनर्मता—९ गु० क्रमारोह।

३. एक स्मिन्नु दिते मध्याच्छान्तानन्तानुबंधिनाम् गुण०।

४. समयादावली षट्कं, यन्निथ्यात्व भूतलम्। नासादयति जीवोयं, तावत्सास्वादनो भवेत्—१२गुण०

कर्म, (१४) अन्तिम संहनननामकर्म, (१५) स्त्री वेद, (१६) नपुंसक वेद। कुछ आचार्य इससे भी ज्यादा कर्म प्रकृतियों के बन्धन का अभाव मानते हैं। क्या यह लाभ कम है? इसके अलावा प्रथम गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में क्षयोपशम के बोल चार नये पाते हैं। कुल मिलाकर दूसरे गुणस्थान की स्थिति लाभप्रद है, किन्तु है स्वल्पकाल स्थायी।

तीसरा मिश्रगुणस्थान—

इसे नाम से ही पहिचाना जा सकता है। जिस अवस्था में न सम्यक्त्व के भावपूर्ण हैं, और न मिथ्यात्व का पूरा अन्धकार है उस आत्म अवस्था को मिश्र गुणस्थान कहते हैं। आचार्य रत्नशेखरसूरी ने गुणस्थान क्रमारोह नामक ग्रन्थ में इस गुणस्थान के लिए बतलाया[5] है, जैसे घोड़ी और गधे के संयोग से एक तीसरी जाति पैदा हो जाती है खच्चर की। दही और गुड़ मिलाने से एक अन्य स्वभाव वाली रसायन बन जाती है, इसी प्रकार मिथ्यात्व[6] और सम्यक्त्व के मिल जाने से एक तीसरा ही रूप निखर आता है, इसे मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

यह गुणस्थान अमर है—

पूर्ण संदिग्ध अवस्था में होने के कारण यह गुणस्थान है। इस गुणस्थान में न आयुष्य[7] का बन्धन होता है, और न आयुष्य पूर्ण। इसीलिए यह गुणस्थान अमर कहलाता है इस गुणस्थान का कालमान अन्तर मुहूर्त मात्र माना जाता है। इस अन्तरमुहूर्त में आत्मा सम्यक्त्व के काफी नजदीक पहुँच कर भी सम्यक्त्व दर्शन अवस्था को नहीं पा सकता। मिथ्यात्व के दस बोलों में से नौ को सम्यक् समझ लिया। सिर्फ एक में सन्देह है, जब तक संशय है तब तक मिश्रगुणस्थान है, आत्मा बहुत जल्दी उसका निर्णय कर लेती है, निर्णय के साथ ही चतुर्थ गुणस्थान आ जाता है यह फिर पहले गुणस्थान में पहुँच जाता है। इस गुणस्थान में संस्थान सहनन चारों गतियों का आयुष्य अनुवर्ती आदि कई प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। कई आचार्य इसमें चुहत्तर कर्म प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं। कई इससे भी कम प्रकृतियों का बन्ध होना स्वीकार करते हैं।

चौथा अविरति सम्यक्दृष्टि गुणस्थान—

यह गुणस्थान आत्माकी सम्यक्त्वावस्था का है। जब आत्मा कर्मों से कुछ हल्की होती है, कुछ न्यून अर्ध पुद्गल परावर्तन में मोक्ष जाने की स्थिति बन जाती है। जैन दर्शन में सम्यक्त्व का बहुत बड़ा महत्व है। क्रिया की पूर्ण सफलता सम्यक् दर्शन युक्त ही मानी गई है। सम्यक् दर्शन के अभाव में की जाने वाली धार्मिक क्रिया न्यून फल देने वाली ही सिद्ध होती है। तामली तापस के प्रकरण में टीकाकारों ने कहा[8] है—इतनी तपस्या इन परिणामों से अगर सम्यक्त्वी करता है तो एक नहीं सात प्राणी मोक्ष चले जाते। किन्तु तामली तापस एकाभवतारी (एक भववाद मोक्षगामी) ही बन सके। सम्यक्त्व का महत्व इस घटना से स्वतः सिद्ध हो जाता है। अध्यात्म में सम्यक् दर्शन की उपादेयता असंदिग्ध है। क्रिया चाहे कितनी ही शुभ है शरीर के साथ अवश्य ही छूटने वाली है, किन्तु सम्यक्त्व मुक्त अवस्था में भी विद्यमान है। क्रिया आत्मस्वरूप प्राप्त करने में साधन मात्र बन सकती है, किन्तु आत्म स्वरूप नहीं है। सम्यक्त्व स्वयं आत्मावस्था है।

परिभाषा—

देव[9] गुरु और धर्म पर यथार्थ श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। तत्त्व के प्रति यथार्थ श्रद्धा का होना सम्यक्त्व का ही फलित है। सम्यक्त्व के अभाव में यथार्थ श्रद्धा का भी अभाव रहता है। नौ[10] तत्त्व और षट् द्रव्य की यथार्थ

---

५. जात्यान्तर समुद्भूति र्वडवाखरयोर्यथा। गुड़दध्नोः समायोगे, रसभेदान्तरयथा—१४। गुण०

६. मिश्रकर्मोदयाज्जीवे, सम्यग्मिथ्यात्वमिश्रितः। यो भावोन्त—र्मुहूर्त्तं स्यातन्मिश्रस्थानमुच्यते—१३। गुण०

७. आयुर्बध्नाति नो जीवो, मिश्रस्थोम्रियतेन वा। सदृष्टिर्वा कुदृष्टिर्वा, भूत्वामंरणमश्नुते—१६। गुण०

८. भगवती टीका।

९. अरिहंतो महादेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो। जिणपणत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मयेगहियं। अ०

१०. तत्त सद्दहाणं सम्मत्तं। पंचा०। १
ओं० प्र० कोशिक

जानकारी करने वाले को व्यवहार मे सम्यक्त्वी कहा जाता है, व्यवहार शब्द का प्रयोग यहाँ इसलिए किया है, कि देव गुरु और धर्म को अलग-अलग समझ लेना या जीव-अजीव आदि नौ तत्वो की जानकारी कर लेना ही सम्यक्त्व हो तो मरुदेवा जी को सम्यक्त्व प्राप्ति कैसे हुई होगी ? उन्होंने जीव-अजीव के बारे है या गुरु देव के बारे में कभी कुछ सुना ही नही था, इधर मिथ्यात्वी भी नौ पूर्वो का ज्ञान कर लेता है। फिर भी वह सम्यक्त्वी नहीं बनता। अतः सम्यक्त्व प्राप्ति के उपादान करण कुछ और होने चाहिए। अमुक सीमा तक जानकारी करना तो सम्यक्त्व की व्यावहारिक कसौटी ही बन सकती है।

सम्यक्त्व का नैश्चयिक रूप—

सम्यक्त्व की नैश्चयिक व्याख्या हुए शास्त्रकारो ने कहा—अनतानुबन्धी क्रोध मान, माया, लोभ मिथ्यात्व मोहनीय मिश्र मोहनीय; सम्यक्त्व मोहनीय, इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षायक होने से आत्मा की जो अवस्था होती है, उस अवस्था[11] को सम्यक्त्व अवस्था कही जाती है। उस अवस्था मे अगर कुछ तात्त्विक जानकारी भी करता है तो वह सम्यक् होगी, यथार्थ होगी। इन सात प्रकृतियो के उपशम, क्षयोपशम या क्षायक होने से पहले प्रत्येक आत्मा को ग्रथीभेद करना पड़ता है। बिना ग्रंथी भेद किए कोई आत्मा सम्यक्त्व पा नहीं सकती। ग्रंथी भेद के साथ ही इन प्रकृतियो का उपशम आदि होता है।

ग्रंथी भेद का क्रम—

आयुष्य छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति कुछ न्यून एक कोटा कोटी सागर की स्वाभाविक रूप मे हो जाती है, उसे यथा प्रवृत्ति करण कहते हैं। यह स्थिति क्रिया विशेष से नहीं आती, स्वभावतः आती है, एक बार नहीं अनेकों बार इस स्थिति को व्यक्ति पा लेता है। किन्तु अपूर्व करण के अभाव में वह आगे नहीं बढ़ सकता। यथा प्रवृत्ति करण में आकर आत्मा विशेष प्रयत्न करता है तभी ग्रन्थी भेदन होता है। अपूर्व करण से ग्रंथी भेद हो जाने के बाद ही अनिवृत्ति करण आ जाता है, जो विशुद्ध सम्यक्त्वावस्था है। ग्रंथी भेदन के साथ मिथ्यात्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियों का यदि क्षय हो जाता है तो क्षायक सम्यक्त्व क्षयोपशम होता है तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उपशम होने से औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। तीनों कारणों को समझने के लिए आचार्यों ने पीपीलिका का उदाहरण दिया है—जैसे पीपीलिका[12] निर्लक्ष्य घूमती किसी स्तंभविशेष को पाती है, फिर प्रयत्न करके ऊपर चढती है, और पखों से आकाश की ओर उड़ जाती है। उसी प्रकार स्तभविशेष पाने को यथा प्रवृत्ति करण ऊपर चढने की क्रिया विशेष को अपूर्वकरण और ऊपर उड़ने की क्रिया अनिवृत्ति करण कहते है।

अविरति—

ग्रथी भेदन के साथ सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु संवर की उपलब्धि नहीं होती। जब तक अप्रत्याख्यानी क्रोध मान, माया, लोभ का उदय रहता है, तब तक सम्यक्, श्रद्धा होने पर भी सवर का लाभ नही मिल सकता। जिस प्रकार किसी कारणवश कारावास भुगतने वाला धनाढ्य सेठ अपने धन का अपने लिए कोई उपयोग नहीं कर सकता, अपना कमाया हुआ धन अपना होते हुए भी अपने काम नही आता यह कारावास की करतूत है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानी कषाय के कटघरे मे रहता हुआ सम्यक् दर्शन वाला व्यक्ति भी सवर के लाभ से लाभान्वित नही हो सकता। अतः इस गुणस्थान को अवरति सम्यक् दृष्टि गुणस्थान कहते है। इस गुणस्थान मे सम्यक् दृष्टि देवता, कुछ नारक जीवन, कुछ मनुष्य और तिर्यच भी ऐसे होते है जो केवल सम्यक्त्वी ही है।

सम्यक्त्व के भेद—

सम्यक्त्व के विकल्प दो प्रकार से किये जाते हैं, १. कर्म निर्जरा की अपेक्षा से, २. प्राप्ति के लक्षणो से। कर्म निर्जरा की अपेक्षा से सम्यक्त्व के पांच[13] विकल्प होते है, अनतानुबधी कषाय चतुष्क के उपशम से होने वाला

११. सेय सम्मत्ते पसत्थसंमत्त मोहनीय कम्मांणु वेयणो व समक्खय समुत्वोपसम संवेगाइलिगे सुहे आयपरिणामे।
प्र० ४

१२. गुणस्थान क्रमारोह।

१३. उपसामग सासायण, खओवसमियं चवेदगं खइयं। सम्मत्तं पंच विहं, जह लब्भइ तं तहा वोच्छं।
९४ अभि०

सम्यक्त्व उपशम सम्यक्त्व है। इनके क्षमोपशम से होने वाला सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक है। इसका भेद और है, जिसका नाम है सास्वादन सम्यक्त्व क्षयोपशम से क्षायक सम्यक्त्व भी होता है उस स्थिति मे क्षयोपशमिक सम्यक्त्व के अतिम[१४] समय को वेदन सम्यक्त्व कहा जाता है। अर्थात्—वह इन प्रकृतियों के प्रदेशोदय मे वेदन होने वाला अतिम क्षण है, उसके बाद क्षायक होना है। वेदक सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य उत्कृष्टतः एक समय की है। इन प्रकृतियो के क्षय होने से होने वाली दर्शन सम्बन्धी उज्ज्वलता को क्षायक सम्यक्त्व कहते है। इस प्रकार १. उपशम सम्यक्त्व २. क्षयोपशम सम्यक्त्व ३. सास्वादन सम्यक्त्व ४. वेदक सम्यक्त्व ५. क्षायक सम्यक्त्व ये पाच प्रकार कर्म निर्जरा की अपेक्षा से हुए है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के लक्षणो की अपेक्षा से रुचि की अपेक्षा से सम्यक्त्व के अनेक विकल्प है। किसी को उपदेश से सम्यक्त्व के प्राप्ति हुई किसी को नैसर्गिक सम्यक्त्व प्राप्ति हुई। किसी को सक्षेप मे तत्व की जानकारी है, किसी को विस्तार से तत्वज्ञता[१५] प्राप्त है। उत्तराध्ययन प्रज्ञापना आदि आगमो मे ऐसे सम्यक्त्व के दश विकल्प बतलाये हैं। १. निसर्ग रुचि, २. उपदेश रुचि, ४. सूत्र रुचि, ५. बीज ६. अभिगम रुचि, ७. विस्तार रुचि ८ क्रिया रुचि ६ सक्षेप रुचि १० धर्म रुचि।

सम्यक्त्व से लाभ—

सम्यक्त्व से क्या लाभ है? इस सदर्भ मे अगर चौथे गुणस्थान को देखे तो अनुभव होगा कि चौथा गुणस्णान ही चौदहवे गुणस्थान की भूमिका है–निर्वाण की भूमिका है। आगमों मे कहा है—अन्तर[१६] मुहुर्त मात्र भी अगर सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाये तो कुछ न्यून अर्ध पुद्गल परावर्तन में वह निश्चित् मोक्ष जायेगा। चाहे क्रिया नही हो पाती सम्यक्[१७] दर्शन है तो उसका आयुष्य विमान वासी देवों का ही बंधता है। अर्थात् चौथे गुणस्थान में आयुष्य सिर्फ वैमानिक या मनुष्य का ही बधता है अन्य किसी का नही पहले का बधा हुआ हो तो वहां तो जाना ही पड़ेगा।

सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद ही व्यक्ति श्रावक या साधुत्व की भूमिका पा सकता है। अध्यात्म में सम्यक् दर्शन को मूल बतलाया है। यही से आत्म ज्ञान का प्रारम्भ होता चिन्तन मे विशुद्धि करण आता है। सम्यक्त्व के श्रोत से निकलने वाला हर उपक्रम अध्यात्म को परिपुष्ट करने वाला सिद्ध होता है। इसीलिए आप्त पुरुषो ने कहा—"सम्मत्त दसी न करेई पाव" सम्यक् दर्शन मे रहा हुआ प्राणी सब से बडा पाप जो मिथ्यात्व का है, उसे वह कभी नही करता। यह है सम्यक्त्व का फल। इसे मोक्ष का द्वार कह सकते है, साधना की आधार शिला मान सकते है।

पांचवां व्रताव्रती श्रावक गुणस्थान—

अप्रत्याख्यानी[१८] कषायचतुष्क का क्षयोपशम होने से आत्मा सवर की ओर प्रयत्नशील होती है। प्रवृत्ति प्रधान जीवन मे निवृत्ति को स्थान देती है। पुर्णतः चारित्रशील न होने पर भी आशिक चारित्र (व्रत) को ग्रहण कर उपासना युक्त जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति श्रावक कहलाता है। कुछ व्रत और कुछ अव्रत इस मिश्रित आत्म अवस्था को व्रताव्रती गुणस्थान कहते हैं। चौथा गुणस्थान जहाँ सर्वथा अविरति था। वहा पाचवां गुणस्थान व्रताव्रती अवस्था मे पहुँचा। उपासना के क्रम में इस गुणस्थान वाले व्यक्तियो को श्रावक कहा जाता है। आगमों में एक प्राणातिपात का त्याग करने वाले से लेकर एक प्राणातिपात जिसके बाकी है, उन सबको पचम गुणस्थानवर्ती बतलाया है। श्रावक के बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमा

---

१४. तच्च वेदगसम्यक्त्वं सम्यक्त्वपुंजस्य बहुतरक्षपितस्य चरमपुद्गलाना वेदनकाल ग्रास समये भवति। अभि०

१५. निसग्गुवएसरुई आणारुइ सुत्त-बीयइमेव।
अहिगमविरथाररुई, किरियासखेवधम्मरुई।
१६ उ० २८

१६. अंतोमुहूर्तमित्तं, विफासिय हुज्जे हिसम्मत्त।
ते सिं अवड्ढ पुग्गल-परियट्टोचेवसंसारो॥
१। स्थान० टी०

१७. सम्मद्दिट्ठी जीवो गच्छइ नियमा विमाणावासीसु।
जइ न विगयसम्मत्तो अहवा न बद्धाउओ पुव्विं।
स्थान० टी०

१८. प्रत्याख्यानोदयात्देश विरती यत्र जायते तत्, श्रद्धत्वं देशोन पूर्व कोटिगुरुस्थिति : २४ गुणस्थान क्रमारोह

इसी गुणस्थान की उपासना पद्धति में आ जाती है। यहाँ तत्त्वनिष्ठा के साथ संयम और सम्यक्क्रिया का योग भी हो जाता है। श्रावक के बारह व्रतों में से आठ व्रत तो यावज्जीवन के लिए किया जाता है। और चार व्रत अल्पकालिक हैं। ग्यारह[१९] प्रतिमा का कालमान पांच वर्ष छः महीने का व्रत है, वैसे पहली प्रतिमा एक मास की दूसरी प्रतिमा दो मास की इसी प्रकार तीसरी, चौथी आदि सभी प्रतिमाओं में एक-एक मास की वृद्धि हो जाती है। ग्यारह प्रतिमा एक साथ तो करते ही हैं। किन्तु कोई ग्यारहवीं पडिमा (प्रतिमा) न कर सके तो पीछे की पांचवी छठी या सातवीं तक भी कर सकता है। एक ही प्रतिमा कई बार भी कर कर सकता है। आगमोत्तर साहित्य में आता है कार्तिक सेठ पांचवी प्रतिमा तक सौ बार की थी। आनन्द श्रावक आदि दसों श्रावकों ने अपने जीवन के अंतिम समय में प्रतिमा ग्रहण की थी, और प्रतिमा समाप्ति के बाद अंतिम संलेखना की थी। पांचवे गुणस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम एक कोटि पूर्व की है। नौ साल की उम्र में श्रावक व्रत किसी ने ले लिए और करोड़ पूर्व का आयुष्य हो तब यह उत्कृष्ट स्थिति होती है।

लाभ—

आत्मा पांचवें गुणस्थान तक पहुँच कर आंशिक संयम की साधना का लाभ प्राप्त कर लेती है। प्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क के उदय से संयमी नहीं बन सकती, फिर भी संयमा संयमी तो हो ही जाती है।

श्रद्धा विवेक और क्रिया युक्त जीवन निश्चित ही उन्नति कारक होता है। इस गुणस्थान मे आने वाले मनुष्य और तिर्यच निकट भविष्य मे ही मोक्षगामी होते हैं। वैसे भव तो श्रावक के काफी है, आनन्दआदि[२०] दसों श्रावक एका भवतारी हुए थे। आवश्यकता सजकता के साथ आगे बढ़ने की है, फिर एका भवतारी होते देर नहीं लगती। सचमुच श्रावक अवस्था साधुत्व की पूर्व भूमिका है। अभ्यास और क्षयोपशम का योग पाकर श्रावक कभी न कभी साधुत्व को ग्रहण कर ही लेता है। इसके अलावा श्रावक अवस्था में (पांचवें गुणस्थान में) नर्क तिर्यच तथा मनुष्य का आयुष्य नहीं बंधता, न नपुंसक तथा स्त्री वेद का बंधन नहीं होता। एक मात्र वैमानिक देव और पुरुष वेद का बंध पड़ता है। इस प्रकार अध्यात्म व व्यवहार दोनों में श्रावक की भूमिका महत्वपूर्ण है।

प्रमत्त संयति गुणस्थान—

प्रत्याख्यानी क्रोध मान माया और लोभ का क्षयोपशम होने से आत्मा संयम की ओर विशेष प्रयत्नशील होती है। सावद्य योगों का सर्वथा त्याग करके संयमी बन जाती है। किन्तु अन्तर प्रदेशों में प्रमाद फिर भी बना रहता है। प्रमत्त युक्त संयमावस्था का नाम ही व छठा गुणस्थान है। इस गुणस्थान में आने के बाद साधक पारिवारिक परिस्थितियों के ऊपर उठ जाता है। व्यवसायिक प्रक्रिया उसके लिए त्याज्य होती है। वह जीवन भर अनुदृष्टि भिक्षा जीवी बन जाता है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति साधक भिक्षा वृत्ति से ही प्राप्त करता है। सब प्रकार की भौतिक चिन्ताओं से मुक्त सब प्रकार की वासनाओं से ऊपर उठकर की जाने वाली साधना का प्रारम्भ छठे गुणस्थान में ही होता है।

संयम—

पापकारी प्रवृत्तियों से उपरम (विरती) होने का नाम ही संयम है। चारित्र ग्रहण के संयम में सामायक पाठ के द्वारा सावद्य[२१] योगों का त्याग किया जाता है। संयम चर्या में रहता हुआ साधक बावन[२२] अनाचारों का वर्जन करता है। बाईस परीषहों को समता के साथ सहन करता है।

आहार आदि की एषणा (अन्वेषण) में बयांलीस दोषों का परिहार करना होता है। मंडल पांच दोषो का परित्याग कर के भोजन करता है।

आजीवन[२३] अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का सम्यक् पालन करना ही साधना का मौलिक रुप है। पांच समति[२६]

१९. दसाश्रुतस्कंध।
२०. उपासक दसांग,

२१. सव्वं सावज्ज जोगं पच्चक्खामि।
२२. दशवैकालिक अ० ३
२३. उत्तराध्ययन न अ० २
२५. उत्तराध्यय अं० ७२१
२६. आवश्यक उत्तराध्यन।

तथा तीन गुप्तियों की सम्यक् आराधना करने वाला ही मुनि कहलाता है। ध्यान[27] स्वाध्याय मुनिचर्या का प्रमुख अंग है। साधना में निखार इन्ही से आता है।

लाभ—

छठे गुणस्थान की भूमिका तक आत्मा को ले जाना साधक के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद साधक की छलांग संयम की ओर हुआ करती है। संयमावस्था अध्यात्म का महत्वपूर्ण पक्ष है। यहां पहुँचने के साथ ही पिछली सारी अव्रत[28] समाप्त हो जाती है। अर्थात्—पांच आश्रव में से दो आश्रव बिलकुल रुक जाते हैं—मिथ्यात्व और अव्रत। छठे गुणस्थान में मृत्यु प्राप्त करने वाला मुनि जघन्यतः एक भव बाद मोक्षगामी उत्कृष्टतः[29] पन्द्रह भववाद मोक्षगामी होता है। अर्थात्—छठे गुणस्थान में आयुष्य पूरा करने वाले साधक के भव ज्यादा से ज्यादा पन्द्रह ही होते है। पन्द्रहवें भव में तो निश्चित रूप से मोक्ष चले ही जाते हैं। छठे गुणस्थान में आयुष्य पूरा करने के बाद जब तक मोक्षमें नही जाता तब तक देव और मनुष्य इन दो गतियों में ही जाते हैं। नरक और तिर्यंच गति में वे नहीं जाते हैं।

कालमान—

छठे गुणस्थान का कालमान जघन्यतः अन्तर मुहूर्त और उत्कृष्टतः नौ वर्ष कम करोड़ पूर्व की छद्मस्थ अवस्था में संयति की सबसे अधिक लम्बी अवधि वाला यही गुणस्थान है। भिक्षु की बारह प्रतिमा व अन्यान्य अभिग्रह इसी गुणस्थान में किये जाते हैं। सामायिक पाठ से लेकर चौदह पूर्व तक का ज्ञान इसी गुणस्थान में सीखा जाता है। छठे गुणस्थान में पांच ज्ञान में से मति श्रुत अवधि मनः पर्यय ये चार ज्ञान हो सकते हैं। छः निर्ग्रन्थों में पुलाक वकुश पड़ि सेवणा, कसाय कुशील, ये चार निर्ग्रन्थ होते है। पांच चारित्र में, सामायिक, छेदोपस्थापना, पडिहार-विशुद्धि ये तीन चारित्र हो सकते हैं।

---

२७. सज्झायसज्जाणरयस्सताइणो, अपावभावस्स तवेरयस्स।
विसुज्झइ जं सिमलं पुरे कडं, समीरियरुप्पमलंवजोइणो
दस का० ७

२८.

सातवां अप्रमत्त संयति गुणस्थान—

आत्मा की सर्वथा अप्रमत्त अवस्था इस गुणस्थान में आती है। यहां प्रमाद का भी निरोध हो जाता है अध्यात्म के प्रति यहां पूर्ण उत्साह रहता है। यहां नियमतः धर्म या शुक्ल ध्यान मे से एक जरूर होता है। असंयम से जब सयम की ओर आत्मा गति करती है, तो पहले सातवें गुणस्थान में जाती है, अन्तर मुहूर्त के बाद या तो आठवे गुणस्थान में चली जाती है। या छठे गुणस्थान मे आ जाती है। सातवें गुणस्थान का कालमान अन्तर मुहूर्त मात्र का ही है, छदमस्थ साधक अनेकों बार इस गुणस्थान मे आता और जाता है अगले भव का आयुष्य बन्ध इस गुणस्थान मे नही होता, छठे गुणस्थान मे आरम्भ किया हुआ आयुष्य सातवें गुणस्थान मे पूर्ण अवश्य होता है। आयुष्य बन्ध का प्रारम्भ सातवे मे नही होता। इसमे प्रमाद निरोध के साथ-साथ अशुभ योग का भी निरोध हो जाता है। लेश्या भी यहां तीन शुभ ही रह जाती है।

आठवें निवृत्त बादर गुणस्थान मे आत्मा स्थूलकषायों से निवृत्त हो जाती है। यह अवस्था प्रमाद निरोध के बाद आती है। आठवां गुणस्थान साधक विशेष प्रयत्न करके ही पाता है। यहाँ क्षयोपशम सम्यक्त्व समाप्त हो जाता है। आठवें गुणस्थान मे सम्यक्त्व या तो उपशम या क्षायिक हो जाता है। इसी गुणस्थान से साधक उपशम क्षपक इन दो श्रेणियों में से एक पर आरूढ़ होता है। इसका भी कालमान अन्तर मुहूर्त मात्र का है।

नौवां अनिवृत्त बादर गुणस्थान श्रेण्यारूढ़ आत्मा ही प्राप्त करता है। उपशम श्रेणियों में कर्म प्रकृतियों का उपशमन होता है और क्षपक श्रेणी में प्रकृतियों का क्षय होता रहता है। नौवें गुणस्थान में दशवे गुणस्थान की अपेक्षा तो कुछ अनिवृत्ति रह जाती है, वैसे अधिकांश अशुभ प्रतिकृयों की निवृत्ति होती जाती है। अन्तर मुहूर्त की स्थिति वाले इस गुणस्थान मे संज्वलन, क्रोध, मान, माया, नपुंसक वेद, स्त्री वेद, पुरुष वेद आदि अनेक प्रवृत्तियों का उपशम क्षय हो जाता है।

दसवें सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में चारित्र मोहनीय की सिर्फ एक प्रकृति संज्वलन लोभ ही शेष रह जाती है। दसवें गुणस्थान का कालमान आठवें, नवें गुणस्थान

से भी कम है। इसीलिए यहाँ ज्ञान का उपयोग लिया है, दर्शन का उपयोग होने से पहले ग्यारहवे मे या नवे गुणस्थान मे साधक आ जाता है। यहाँ की चारित्रावस्था भी पिछले गुणस्थान से भिन्न है। नौवें गुणस्थान तक सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र रहता है। दशवें गुणस्थान में सूक्ष्म साम्पराय चारित्र है। साधक यहाँ आ कर विशुद्धि के एक महत्वपूर्ण मोड तक पहुँच जाता है। इससे आगे की स्थिति सर्वथा मोहाभाव की है।

ग्यारहवें में उपशान्त मोह गुणस्थान मे मोह की सर्वथा उपशान्त दशा रहती है। मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का विपाकोदय या प्रदेशोदय यहाँ नही रहता। अन्तर मुहूर्त के लिए आत्मा की वीतराग अवस्था हो जाती है। उपशम श्रेणी का यह अन्तिम स्थान है। यहाँ से वापिस मुड़ना ही पड़ता है। कई बार तो यहाँ आयुष्य पूर्ण हो जाता है। तो साधक को ग्यारहवें से सीधा चौथे में आना पडता है। ग्यारहवे मे आयुष्य पूरा करने वाला जीव देव लोक मे सर्वोच्च देवालय को पाता है। वहा गुणस्थान चौथा है। कई साधक अन्तर मुहूर्त के बाद पुनः मोहोदय के कारण दसवे, आठवें, सातवे गुणस्थान मे उतर आते हैं। उपशम श्रेणी मे ऐसा होना अनिवार्य है।

बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान मे आत्मा को मोह की सत्ता से भी छुटकारा मिल जाता है। क्षपक श्रेणीरूढ मुनि यहाँ आकर मोह का सर्वथा क्षय कर देता है। अनादि काल से आत्मा के साथ चला आ रहा मोह यहाँ आकर छूटता है। अन्तर मुहूर्त की स्थिति वाले इस गुणस्थान मे सात कर्म शेष रहते है। किन्तु मोह की सत्ता छूट जाने पर शेष घातिक त्रिक भी अन्तिम स्थिति मे पहुँच जाते है। बारहवे गुणस्थानमे पहुँच कर पहली बार क्षायकि चारित्र को प्राप्त करता है। यह छद्मस्थ अवस्था की अन्तिम भूमिका है। इस गुणस्थान से साधक न तो वापिस गिरता है, और न आयुष्य पूरा करता है। यहाँ से तो आगे संपूर्ण विकास की ओर गति करने का अवसर प्राप्त है।

तेरहवां सयोगी केवली गुणस्थान—

तेरहवां सयोगी केवली गुणस्थान घातिक त्रिक ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय अतराय के क्षय होने पर प्राप्त होता है। यह आत्मा की सर्वज्ञावस्था है। उपशम ग्यारहवें गुणस्थान तक है। क्षयोपशम बारहवे गुणस्थान तक होता है। यहाँ इन दोनों का अभाव है, यहां कर्म प्रकृतियों का या तो उदय है, या फिर क्षायक ही होता है। चार अघातिक कर्म की उदयावस्था है, और चार घातिक की क्षयावस्था है जो आत्मा अणु से पूर्ण विकास की भावना लिए पहले गुणस्थान से ऊर्ध्वगमन प्रारम्भ करती है, वह यहाँ आकर पूर्णता की स्वानुभूति करने लग जाती है। यहाँ ज्ञान पूर्ण है, दर्शन पूर्ण है, सम्यक्त्व पूर्ण है, अंतराय मुक्तापूर्ण है, अर्थात् चौदहवें गुणस्थान में और सिद्धावस्था मे भी गुण ऐसे ही रहेगे।

अपूर्णता—

यह गुणस्थान कुछ बातों मे पूर्ण होने पर कुछ अपूर्ण भी है। तभी गुणस्थान है, वरना सिद्ध हो जाते है चार अघातिक कर्मो से सबधित आत्मगुण तेरहवे गुणस्थान मे नही होते। वेदनीय कर्म के कारण अनन्त आत्मिक सुख की अनुभूति इस गुणस्थान मे नही होती, आयुष्य कर्म के कारण सर्वथा, आत्मिक स्थैर्य का अनुभव नही होता। नाम कर्म के कारण अगुरु लघुत्व नही पा सकते। ये गुण अकर्मा अवस्था मे ही होते है। इस गुणस्थान मे ये चार कर्म विद्यमान है।

मुनि और तीर्थंकर—

तेरहवे गुणस्थान मे आत्म विकास दृष्टि से सब साधक समान है। सबको ज्ञान दर्शन, चारित्र, आत्मबल, आदि गुण सदृश है, किन्तु विद्यमान चार कर्मो के शुभाशुभ उदय के कारण कुछ भेद रहता है। मुख्यतः इनमे दो विकल्प है मुनि और तीर्थंकर मुनि अवस्था साधक की सामान्य अवस्था है। तीर्थंकर अवस्था नाम और गोत्र कर्म की विशिष्ट परिणति से प्राप्त होती है। किसी-किसी साधक की विशिष्ट साधना से कभी-कभी नाम कर्म की विशेष उत्तर प्रकृति तीर्थंकर नाम कर्म का बध हो जाता है। उसके साथ अन्य शुभ प्रकृतियो का भी बध हो जाता है। उच्च गोत्र का भी प्रबल बंध पड जाता है। उन प्रकृतियों के उदय से व्यक्ति तीर्थंकर पद प्राप्त करता है। तीर्थंकर मे शारीरिक विशेषताओं के साथ कुछ अतिशय और भी हुआ करता है, जिससे साधारण जनता को भी औरो से विशेष होने का पता लगता रहता है।

ईर्यापथिक क्रिया—

तेरहवें गुणस्थान मे अवस्थित साधक से जो कुछ भी

क्रिया होती है। वह निर्जरा प्रधान हुआ करती है। पाप का बन्ध तो पिछले गुणस्थानों मे ही रुक गया, यहाँ तो पुण्य भी स्वल्प मात्रा में लगता है। केवल दो समय स्थिति वाले पुण्य ही सर्वज्ञ के चिपकते है। इस क्रिया का नाम इर्यापथिक क्रिया है। इससे लगे पुण्य मोक्ष प्राप्ति में बाधक नहीं बनते, दो समय मात्र की स्थिति के होने के कारण बंधने के साथ ही उदय और निर्जरण की प्रक्रिया चालू हो जाती है। इसलिए आत्मा पर इसका कोई अलग प्रभाव नही होता।

केवली समुद् घात—

तेरहवें गुणस्थान में समुद्घात भी होता है, इसे केवली समुद् घात कहते है। जब आयुष्य कर्म कम हो और नाम गोत्र आदि कर्म ज्यादा हो तब केवली समुद्घात होता है। केवली समुद् घात करने से नही होता, यह स्वभावतः होता है। प्रयत्न से की जाने वाली क्रिया मे असख्य समय लगते है। केवली समुद्घात में केवल आठ समय ही लगते है। अतः यह कृत प्रक्रिया नही है, कर्मो की असमान अवधि को समान बनाने की स्वतः भूत प्रकृतिया है। केवली समुद् घात मे पहले समय मे दड के रूप मे आत्म प्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं। दूसरे समय मे कपाट के रूप में आत्म प्रदेश फैलते है। तीसरे समय मे मथान (मथानी) के रूप मे आत्म प्रदेश फैल जाते है। चौथे समय मे बीच का अन्तर आत्म प्रदेशो से भर जाता है। पांचवें समय में फैले हुए आत्म प्रदेश पुनः संकुचित होने लग जाते है, और मथानी के आकार मे आ जाते है। छठे समय में कपाट के रूप में, सातवें समय में दंड के रूप में तथा आठवे समय में शरीरस्थ हो जाते है। इन आठ समय की स्थिति वाली समुद् घातिक क्रिया से कर्मों की अवधि समान हो जाती है। यह समुद्घात तीर्थंकरों के नही होता। मुनियों में भी केवल ज्ञान पाए, छः महीने बीतने पर ही यह समुद् घात हो सकता है।

चौदहवां अयोग केवली गुणस्थान—

वह शरीरधारी आत्मा की अंतिम विकास अवस्था है। इस गुणस्थान का आयुष्य जब पांच ह्रस्वाक्षर उच्चारण मात्र शेष रहता है, तब प्राप्त होता है। प्राप्त होने से पहले योग निरोध की प्रक्रिया चालू होती है। योग निरोध की प्रक्रिया में साधक पहले मनोयोग का निरोध करता है, फिर वचन योग का निरोध होता है। बादमे काययोग का निरोध किया जाता है। काययोग का निरोध होते ही तेरहवां गुणस्थान छूट कर चौदहवां अयोगी केवल गुणस्थान की अवस्था आ जाती है। इसे शैलेषी अवस्था भी कहते है। शैलेश अर्थात्—पर्वतों में सर्वोच्च पर्वत मेरू उस जैसी निष्प्रकप अवस्था यहाँ हो जाती है। इस गुणस्थान मे अवशिष्ट चार कर्म भी क्षय हो जाते हैं। इन चारों कर्मों के क्षय के साथ कार्मण शरीर तैजस शरीर (जो आत्मा के साथ अनादि काल से लगे हुए है) छूट जाते है। औदारिक शरीर की क्रिया तेरहवे के अंत में छूटती है। शरीर चौदहवे मे छटता है। बस उसी क्षण आत्मा लोकाग्र भाग मे जा टिकती है। फिर न जन्म है न मृत्यु है। यह अवस्था गुणस्थान से ऊपर की है।

उपहंसार—

आत्म विकास की दृष्टि से चौदह गुणस्थानों का क्रम बहुत ही युक्ति सगत है। आत्मा जैसे-जैसे ऊपर उठती है वैसे-वैसे गुणस्थान बदलता रहता है, और बिजाती तत्त्व छूटते रहते हैं। आत्मगुणों का आविर्भाव होता रहता है। चौदह गुणस्थानो मे सम्यक् दर्शन युक्त बारह गुणस्थान है, मिथ्या दर्शन सम दर्शन वाले एक-एक है। संयमी नौ गुणस्थान है। असयमी चार गुणस्थान है, संयमा-संयमी एक गुणस्थान है। प्रमादी छः गुणस्थान है, अप्रमादी आठ गुणस्थान है। सवेदी आठ गुणस्थान है, अवेदी पाच गुणस्थान है, सवेदी अवेदी एक गुणस्थान है। सकषायी दस गुणस्थान है, अकषायी चार गुणस्थान है। छद्मस्थ बारह गुणस्थान है, और सर्वज्ञ दो गुणस्थान है। सयोगी तेरह गुणस्थान है, और अयोगी एक गुणस्थान है। आयुष्य कर्म के अबंधक आठ गुणस्थान है। सबधक छः गुणस्थान है। अमर जिसमे आयुष्य पूरा नही होता, तीन गुणस्थान है। शेष ग्यारह मे आयुष्य पूरा होता है। अन्तर मुहूर्त की स्थिति वाले नौ गुणस्थान है, इससे अधिक स्थिति वाले पाच गुणस्थान है।

व्याख्याओं मे कहीं-कही ग्रथकारों में मतभेद भी मिलता है। किन्तु गुणस्थान की मौलिकता में किसी को मतभेद नहीं है। जिन बातों मे मतभेद है तटस्थतया अध्ययन पूर्वक उसे भी मिटाया जा सकता है। जैन दर्शन समन्वय दर्शन है, इससे मतभेद मिटते हैं, मतभेद होने की बात आश्चर्यजनक लगती है।

ग्वालियर के कुछ मूर्ति यंत्र लेख

परमानन्द शास्त्री

दि० जैन मन्दिर गोकुलचन्द ग्वालियर

१ **चौबीसी पीतल**—सं० १४३०·········· ··।

२ **पीतल**—सं० १४८६ वैशाख सुदि ६·—लेख घिस गया पढ़ने में नहीं आता।

३ **चौबीसी धातु**—सं० १५२० वैशाख सुदि ११।

४ **धातु मूर्ति**—(घिसी हुई) सं० १५२४।

५ **पार्श्वनाथ मूर्ति धातु**—स० १५४४ वर्षे वैशाख सुदि ···सोमे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वति गच्छे नन्दीसंघे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेव तत्पट्टे भ० विद्यानंदि मण्डलाचार्य श्री त्रिभुवनकीर्ति उपदेशात् सहेलवालान्वये साह ऊधा भार्या उदयसिरि तस्य पुत्र राम भार्या मनसिरि।

६ **चौबीसी धातु**—१ फुट लम्बी ६ इंच चौड़ी—सं० १५२८ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ८ सोमे काष्ठासंघे भ० मलै-(मलय) कीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये जैसवाल पं० पदमसी भार्या रवीरा तत्पुत्र ५ सोनिग, दिनु, डालव, पदर्थ, मैणघल प्रणमति प्रतिष्ठितं पदमसीह।

७ **पार्श्वनाथ मूर्ति धातु**—साइज ६ इंच ऊंची ३ इंच चौड़ी सं० १३४३ वर्षे श्री शुभकीर्तिदेव, भार्या जदु पुत्र नरपति प्रणमति।

८ **धातु मूर्ति**—२ इंच ऊंची डेढ़ इंच चौड़ी—स० १५२५।

९ **पार्श्वनाथ मूर्ति धातु**—५ इंच ऊंची, ३ इंच चौड़ी—स० १४१० माघ सुदि १२ श्री मूलसंघे श्री पद्मनन्दि देवा: श्री पौरपाटान्वये साहो गिल भार्या लखमसी तस्य पुत्र खिउपति······नित्यं प्रणमति।

१० **पार्श्वनाथ**—२ इंच ऊंची, १ इंच चौड़ी—सं० ६२५

११ **धातु मूर्ति**—२ इंच-१ इंच—सं० १३५२ वैशाख सुदि १२।

१२ **धातु मूर्ति पार्श्वनाथ**—३ इंच ऊंची, २ इंच चौड़ी सं० १४०३ माघसुदि ५ भ० देवसेन अग्रोतकसाह जसोजा पुत्र पाणि भा० परसाला·········।

पार्श्वनाथ—२ इंच ऊंची चौड़ाई १ इंच धातु सं० १५०८।

धातु—२ इंच ऊंची १ इंच चौड़ी सं० ११०८

सुपार्श्वनाथ—२ इंच १ इंच सं० ११२५·········।

चौबीसी मूर्ति धातु—१

सं० ११२० वैशाखसुदि २ गोपालरूओ गोल्ह प्रौष पूना·········।

काले पाषाण की पार्श्वनाथ की मूर्ति—

सं० ११२४ मिति ज्येष्ठ सुदी ५

पार्श्वनाथ काले पाषाण—

सं० १४६० फाल्गुण सुदी ५ श्री काष्ठासंघे श्री गुणकीर्ति शिष्य यश: कीर्ति अग्रोतकान्वये·········पुत्र ववीजा भार्या थनो·········।

चन्द्रप्रभ मुख्यमूर्ति—

सं० १८२४ मिति फाल्गुण शुक्ला २ रविवासरे मूल संघे बलात्कारगणे सरस्वतिगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये गोपाचल दुर्गे महाराज सुरेन्द्रभूषण विद्यमाने श्रमणाचल भ० विजयकीर्ति जित्काय परमशिष्य पं० परमसुख भगीरथ उपदेशानुसार प्रणमति नित्यम्।

इस मन्दिर में शास्त्र भण्डार भी है। परन्तु उसकी व्यवस्था अच्छी नही है। कुछ ग्रथ दीमक ने खा लिए हैं। वेठन भी अच्छे नहीं हैं और यदि वेठन है तो उन पर गत्ते नही है, जिससे उनका बन्धन ठीक हो सके। स्थिति से यह स्पष्ट पता चलता है कि समाज की अत्यन्त उपेक्षा है। जनता को धर्म से वह प्रेम नहीं है, जैसा पहले था। आशा है ग्वालियर समाज शास्त्र भण्डार की उचित व्यवस्था करेगी। यदि व्यवस्था नही हो सकती तो वहाँ का शास्त्र भण्डार के ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर को भिजवा दें। यहाँ उस की समुचित व्यवस्था हो जायगी।

वासुपूज्य पंचायतीमन्दिर ग्वालियर

इस मन्दिर में तीन वेदिका हैं, जिनमें प्रथम वेदी में २८ मूर्तियां विराजमान हैं जिनमें १२ मूर्ति पाषाण की हैं, और १६ धातु की। कुल २८ मूर्तियां विद्यमान हैं। उनमें कुछ मूर्तियों के लेख निम्न प्रकार हैं:—

सं० १५३७ वैशाख सुदी १० काष्ठासंघे भ० गुणभद्र जैसवाल सा० वीधू स्त्री वघती, पुत्री द्वौ लखनसी वेणुसिरि पुत्र जी महेश बल्लसाह पुत्र सरूपा गुपाल,

गोपालसहाय स्त्री·········पुत्र हेमचन्द रामचन्द चौधरी सहणू प्रतिष्ठा कारापिता।

पाषाणमूर्ति—१।। फुट ऊंचाई चौड़ाई १५ इंच।

सं० १४७० वर्षे उद्दण्डधारा श्रीउदय राज्य देवराज्ये चौहानवंशे श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कार गणे सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेव तत्पट्टे ·········(पढ़ा नही जाता)

चन्द्रप्रभु मूर्ति—१।। फुट ऊंचाई १। फुट चौड़ाई।

सं० १५३० माघ सुदि १० गुरौ श्री गोपाचले महाराजाधिराजकीर्तिदेव विजयराज्य प्रवर्तमाने भ० श्री मलय कीर्ति तत्पट्टे भ० गुणभद्र··················जिनदास मल्लिदास उपदेशात्·········।

यंत्र—

सं० १६०० फाल्गुन वदि १ मूल संघे भ० ललित कीर्ति देवास्तत्पट्टे भ० रत्नकीर्तिदेवोपदेशात् जैसवालान्वये कणपुरिया गोत्रे हासू भा० खरगादे तत्पुत्रास्त्रयाः आसकरण, हरिमलजाणी मथुरा ऐते नित्य प्रणयति।

वेदी नं० २—इसमें पाषाणमूर्ति २३, चरण १ धातु मूर्ति छोटी-बडी ६५ हैं, जिसमें से कुछ मुख्य मूर्तियों के लेख नीचे दिए जाते है :—

शान्तिनाथ—२ फूट ऊँची १।। फूट चौड़ाई

१ संवत् १५१४ वैशाख सुदि १० काष्ठा संघे श्री भट्टारक मलयकीर्ति श्री भ० गुणभद्राम्नाये...... (शेष पढ़ा नहीं जाता)

२ **बाहुबली धातु**—४ इंच ऊँची खड्गासन २ इंच चौड़ी

सं० १५२२ माघ सुदि १३ मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे भ० जिनचन्द्र देवा, भ० सिंहकीर्तिदेवाः श्री खेमचन्द्र तत्शिष्यती······।

३ **सहस्रकूट चैत्यालय**—६ इंच ऊँची ४ इंच चौड़ाई

सं० १५०६ चैत्रसुदि ११ शुक्रवारे मूलसंघे भ० जिनचन्द्राम्नाये......।

४ **पंचमेरु**—१५ इंच ऊँची ३ इंच चौड़ी

सं० १७२५ मार्ग शीर्ष पंचमी शुक्रे श्री माथुर संघ पुष्करगणे लोहाचार्यन्वये श्री कुमारसेनदेवा श्रुतकीर्ति मेघकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्रे हेममल्ल भार्या रामदेवी......।

५ **चतुर्विशति धातु**—१ फूट ऊँचाई ६ इंच विस्तार

सं० १५३० वैशाखसुदि १३

वेदी नं० ३—

इस वेदी में कुल ६८ मूर्तियां हैं जिसमें पाषाण मूर्ति पद्मासन २८ धातु की ४० और १ सिद्ध परमेष्ठी खड्गासन

धातुमूर्ति संभवनाथ—६ इंच ऊँचाई ३ इंच चौड़ाई

१ स० १५४६ [वर्षे] फागुनसुदि ११ भौमे भ० त्रिभुवनकीर्ति सा० माघो भार्या करमा पुत्र रतन...।

धातु चौबीसी—६ इंच ऊँचाई ४ इंच चौड़ी

२ सं० १५२२ वर्षे......सुदि १३ मूलसंघे श्री जिनचन्द्रदेवा तत्पट्टे सिंहकीर्तिदेवा पोरवाडान्वये सा० ऊदा भार्या छेमा पुत्र सा० सन्तोष भा० खोम्हदे पुत्र हल्यू......।

चौबीसी मूर्ति धातु—६ इंच ऊँचाई १।। चौड़ाई

३ सं० १६६० वर्षे फाल्गुणमासे......।

चौबीसी धातु—६ इंच ऊंची, १।। चौड़ाई

४ सं० १५२७ वर्षे माह वदि ५ शुक्ले मूलसंघे भ० सिंहकीर्ति देवा जैसवालान्वये......।

पार्श्वनाथ धातु—१० इंच ऊँचाई, ५ इंच चौड़ी

५ स० १५२६ वैशाख सुदि ७ बुधवासरे मूलसंघे भ० सिंह कीर्तिदेवा सा० जोगिन्दु भा० खाम्हदे पुत्र राम [चन्द] भा० गुणसिरि पुत्र करमू भार्या छोमा पुत्र...... भा. पृथिवी।

धातु पंचबालयति—९ इंच ऊँची, ६ इंच चौड़ी

६ सं० १०३२ वैशाख सुदि ३ गुरुवासरे शुभे......।

इस मन्दिर में एक शास्त्रभंडार भी है, जिसमें डेढ़सौ दो सौ के लगभग ग्रंथ हैं। उन्हें देखने का अवसर नहीं मिल सका। कारण कि शास्त्र भंडार दिखाने की व्यवस्था करने वाले मक्सीजी पार्श्वनाथ के मेले में चले गए थे। ग्वालियर के आस-पास के स्थानों में महत्वपूर्ण सामग्री पड़ी है, परन्तु जैन समाज को उसके संकलित करने या विद्वानों को दिखाने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता। और न वे स्वयं ही उसका उपयोग कर सकते हैं।

समाज के हितैषियों और जैनधर्म के प्रेमियों से निवेदन है कि वे इस ओर अपना लक्ष्य देकर महत्वपूर्ण सामग्री को नष्ट होने से बचाने का यत्न करें। और हस्तलिखित ग्रंथों को वीर-सेवा-मन्दिर में भिजवाने का कष्ट करें, जिससे उनका संरक्षण हो सके। ★

अनेकान्त

मुनि श्री उदयचन्द जी म० सिद्धान्तशास्त्री

अनेकान्त में भी अनेकान्त :—

अनेकान्त में विविध और निषेध रूप सप्तभंगी की प्रवृत्ति होती है या नही ? अगर प्रवृत्ति होती है तो अनेकात का निषेध करने पर एकान्त की प्राप्ति होगी और एकान्त में कहे हुए समस्त दोष आजाएँगे। यदि अनेकान्त में सप्तभगी की प्रवृत्ति नही होती तो आपके सिद्धान्त मे बाधा आएगी।

प्रमाण और नय की अपेक्षा से अनेकन्त मे भी सप्तभगी की प्रवृत्ति होती है। एकान्त दो प्रकार का है— सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। इसी प्रकार अनेकान्त के भी दो भेद है।

प्रमाण से अनेक धर्म वाली वस्तु में से एक धर्म को ग्रहण करने वाला किन्तु दूसरे धर्मों का निषेध न करने वाला सम्यक् एकान्त कहलाता है। एक धर्म को ग्रहण दूसरे धर्म का निषेध करने वाला मिथ्या-एकान्त कहलाता है।

एक वस्तु में अस्तित्व-नास्तित्व आदि अनेक धर्मों को जो स्वीकार करे और प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से अविरुद्ध, वह सम्यग्-अनेकान्त है। जो प्रत्यक्षादि प्रमाणो से विरुद्ध अनेकान्त धर्मों को एक वस्तु में स्वीकार करता है, वह मिथ्या अनेकान्त है।

नय सम्यक् एकान्त है, नयाभास मिथ्या एकान्त है। प्रमाण अनेकान्त है और प्रमाणभास मिथ्या-अनेकान्त है।

इस प्रकार हम सम्यक्एकान्त और सम्यक्अनेकान्त को स्वीकार करते हैं, अत: इसमें भी सप्तभंगी की प्रवृत्ति होती है। यथा (१) स्यात् एकान्त, (२) स्यात्-अनेकान्त (३) स्यात्-एकान्तानेकान्त, (४) स्यात्-अवक्तव्य, (५) स्यात्-एकान्तवक्तव्य, (६) स्यात्-अनेकान्त वक्तव्य और (७) स्यात्-एकान्तानेकान्त अवक्तव्य।

अनेकान्त छल नहीं है—

शंका :—अनेकान्त वाक्य में जिस वस्तु को सत् कहा जाता है, उसी को असत् भी कहा जाता है अतएव अनेकान्त वाद छलमात्र है।

समाधान :—नहीं, अनेकान्त में छल का लक्षण घटित नहीं होता। किसी दूसरे अभिप्राय से बोले हुए शब्द का दूसरा ही कोई अभिप्राय कल्पित करके उस कथन का खडन करना छल कहलाता है। जैसे देवदत्त के पास नया कम्बल देख कर किसी ने कहा—**देवदत्त नव कम्बलवान्** है। दूसरे ने "नव" शब्द का "नौ" अर्थ मान कर कहा—बेचारे दरिद्र देवदत्त के पास नौ कबल कहाँ पड़े है!

इस प्रकार अर्थान्तर की कल्पना करने पर छल होता है। अनेकान्तवाद मे इस तरह अर्थान्तर की कल्पना नही की जाती, इस कारण अनेकान्त वाद छल नही है।

अनेकान्त संशय का कारण नहीं :

शंका—एक वस्तु मे परस्पर विरोधी अस्तित्व तथा नास्तित्व आदि धर्मों का होना सभव नही, अत: अनेकान्तवाद संशय का कारण है। एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का ज्ञान होना सशय है। एक ही घट में परस्पर विरुद्ध धर्मों का अनेकान्तवाद ज्ञान कराता है, अतएव वह सशय का कारण है ?

समाधान :—जब सामान्य का प्रत्यक्ष हो, विशेष का प्रत्यक्ष न हो किन्तु विशेष का स्मरण हो, सशय उत्पन्न होता है। अनेकान्त वाद मे तो विशेष का ज्ञान होता है, अतएव वह संशय का कारण नही है। वस्तु में स्वरूप से सत्ता है, पर रूप से असत्ता है। इस प्रकार के विशेष की उपलब्धि होने के कारण अनेकान्तवाद को संशय का कारण कहना उचित नहीं है।

शंका :—घटादि में अस्तित्व आदि धर्मों के साथ हेतु विद्यमान है अथवा नहीं ? अगर विद्यमान नहीं है तो उन धर्मों का प्रतिपादन नहीं करना चाहिए। यदि साधक

हेतु विद्यमान है तो परस्पर विरुद्ध धर्मों के साधक हेतु होने से संशय अवश्य उत्पन्न होगा।

समाधान :—भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से यदि अस्तित्व और नास्तित्व की विवक्षा की जाती है तो उनमे विरोध रहता ही नही है। जैसे एक ही देवदत्त को पिता की अपेक्षा पुत्र और पुत्र की अपेक्षा से पिता मानने मे कोई विरोध नही, उसी प्रकार घट मे स्वरूप से अस्तित्व और पररूप से नास्तित्व मानने मे भी कोई विरोध नही है। अथवा जैसे एक हेतु मे सपक्षसत्व और विपक्षसत्व दोनों धर्म माने गए है, वैसे ही घटादि मे भी ये दोनो धर्म रहते है।

अनेकान्त में आठ दोष :—

अनेकान्त मे आठ दोष आते है। वे इस प्रकार है—

१. एक ही वस्तु मे अस्तित्व और नास्तित्व धर्म सम्भव नही, क्योंकि वे परस्पर विरोधी है। जहाँ अस्तित्व है वहाँ नास्तित्व का विरोध है, जहाँ नास्तित्व है वहाँ अस्तित्व का "**विरोध दोष**" है।

२. अस्तित्व का अधिकार (आधार) अलग और नास्तित्व का अधिकरण अलग होता है, अतएव "**वैयधिकरणदोष**" है।

३. जिस रूप से अस्तित्व है और जिस रूप से नास्तित्व है, वे रूप भी अस्तित्व-नास्तित्व रूप है। उन्हें भी स्वरूप से सत् और पररूप से असत् मानना होगा। इस प्रकार स्वरूप और पररूप की कल्पना करते-करते कही विराम नही होगा, अतः "**अनवस्था दोष**" आता है।

४. जिस रूप से सत्ता है उस रूप से असत्ता भी मानी जाएगी। जिस रूप से असत्ता है उस रूप से सत्ता भी माननी पड़ेगी। अतः "**संकर दोष**" आता है।

५. जिस रूप से सत्त्व है उस रूप से असत्त्व ही होगा, सत्त्व नही और जिस रूप से असत्व है उस रूप से सत्व ही होगा, असत्व नहीं होगा। इस प्रकार "**व्यतिकर दोष**" की प्राप्ति होगी।

६. वस्तु को सत्त्व और असत्वरूप मानने से यह निश्चय नही हो सकता कि यह वस्तु ऐसे ही है। अतः स्याद्वाद में "**संशय दोष**" भी आता है।

७. संशय होने से अनिश्चय रूप "**अप्रतिपत्ति दोष**" भी आता है।

८. अप्रतिपत्ति के कारण सत्व-असत्त्व रूप वस्तु का अभाव हो जाएगा, अतः "**अभाव दोष**" आता है।

इन दोषों का परिहार इस प्रकार है :—

विरोध की सिद्धि अनुपलम्भ से होती है, अर्थात् जो दो पदार्थ एक साथ न रह सकते हो उनमें विरोध माना जाता है। यहाँ विरोध नही है, क्योकि प्रत्येक पदार्थ मे स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता प्रतीत होती है। प्रतीय मान वस्तु मे विरोध माना जाता।

अकेला सत्त्व ही वस्तु का स्वरूप नहीं है, ऐसा मानने पर पररूप से भी उसमे सत्त्व मानना पड़गा। तब प्रत्येक पदार्थ सर्वात्मक हो जाएगा। इसी प्रकार यदि एकान्त रूप से असत्त्व को पदार्थ का स्वरूप माना जाय तो सभी पदार्थ असत् हो जाएँगे। ऐसी स्थिति मे सर्व शून्यता का प्रसग होगा। अर्थात् किसी भी पदार्थ की सत्ता नही होगी। अतएव प्रत्येक पदार्थ को सत्-असत् स्वरूप ही मानना युक्ति संगत है।

विरोध के तीन भेद :—

विरोध तीन प्रकार का होता है—(१) बध्यघातक भाव, (२) सहानवस्थान और (३) प्रतिबद्धय-प्रतिबधकभाव।

(१) **बध्यघातक भाव**—विरोध सर्प और नकुल में तथा आग और पानी मे होता है। एक ही काल मे दोनों मौजूद हो और उनका सयोग हो तभी यह विरोध होता है। आपके मतानुसार सत्त्व और असत्व क्षण भर के लिए भी एक पदार्थ मे नही रहते। फिर उनका विरोध है, यह कल्पना कैसे की जा सकती है?

(२) **सहानवस्थान**—विरोध भी सत्व और असत्व में नही कहा जा सकता। यह विरोध भिन्न-भिन्न कालों मे रहने वाले पदार्थों मे होता है। जैसे—आम मे हरितता होती है तब पीतता नहीं होती, जब पीतता उत्पन्न होती है। तो हरितता को वह नष्ट कर देती है। अस्तित्व और नास्तित्व इस प्रकार पूर्वोत्तरकाल भावी नहीं है।

(३) **प्रतिबद्धय-प्रतिबन्धकभाव**—विरोध भी सत्व और सत्व और असत्व में नहीं है। चन्द्रकान्तमणि की

निकटता में अग्नि दाह नहीं करती, इस कारण चन्द्र-कान्तमणि और दाह में यह विरोध माना जाता है। किन्तु अस्तित्व के समय नास्तित्व में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता और नास्तित्व के समय अस्तित्व में कोई रुकावट नहीं आती, अतएव उनमें प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव विरोध भी नहीं कहा जा सकता। पदार्थ में जब स्वरूप से अस्तित्व होता है तभी पररूप से नास्तित्व भी रहता है यह बात प्रतीति से सिद्ध है।

सत्व और असत्व में वैयधिकरण्य दोष भी नही है, क्योंकि ये दोनों एक ही अधिकरण में रहते हैं, यह बात अनुभव सिद्ध है।

अनवस्था दोष के लिए भी गुंजाइश नहीं, क्योंकि जैन अनन्त धर्मात्मक वस्तु को प्रमाण से सिद्ध स्वीकार करते हैं। वहां अनवस्था दोष नही होता है जहाँ अप्रमाणिक पदार्थों की कल्पना करते-करते विश्रान्ति न हो वहां होता है।

संकर और व्यतिकर दोषों को भी अनेकान्तवाद मे कोई स्थान नही है, क्योंकि जो वस्तु प्रतीति से जैसे सिद्ध होती है, उसमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं आ सकता।

सशय आदि का परिहार पहले किया जा चुका है। अतएव पूर्वोक्त आठ दोषों में से कोई भी दोष अनेकान्त में नहीं आता है।

कुछ शंका-समाधान :—

शंका :—पर रूप से असत्व का अर्थ है—पररूपा-सत्व। घट यदि पराभाव रूप है तो यों कहना चाहिए—घट है, पट नहीं है।

समाधान—घटादि में जो पट रूपा सत्व है वह असत्व पटादि का धर्म है अथवा घट का धर्म है ? पटरूपा सत्व पट का धर्म तो हो नहीं सकता, अन्यथा पट में पट स्वरूप का अभाव हो जाएगा। यदि घट का धर्म है तो हमारा कथन (कथंचित् घट नहीं है) उचित ही है।

घट भाव-अभाव रूप सिद्ध हो गया तो हमारा अभीष्ट सिद्ध हो गया। हम घट को कथंचित् अभावरूप सिद्ध करना चाहते हैं। अब रही शास्त्रों के प्रयोग की बात कि कैसा बोलना चाहिए ? सो यह तो परम्परा पर निर्भर है। जैसा पहले वाले शब्द प्रयोग करते आ रहे हैं, वैसा ही हम भी करते है इसमें प्रश्न के लिए अवकाश नहीं है।

शंका—किसी भी वस्तु में स्वरूप से जो सत्व है, वही पररूप से असत्व है। इस प्रकार एक वस्तु में सत्व और असत्व का भेद नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक वस्तु को भाव-अभाव रूप कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान :—सत्व और असत्व दोनों एक नहीं है, क्योंकि उनके अपेक्षणीय है निमित्त अलग-अलग है। स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अभाव प्रत्यय को उत्पन्न करता है। इस प्रकार भाव और अभाव में भेद है।

जैसे एक ही वस्तु में अपनी अपेक्षा से एकत्व संख्या रहती है और दूसरी वस्तु की अपेक्षा से द्वित्व सख्या रहती है। ये दोनों संख्याएँ परस्पर भिन्न है, उसी प्रकार सत्व और असत्व को भी भिन्न ही समझना चाहिए।

शंका:—एक ही वस्तु में सत्व और असत्व की प्रतीति मिथ्या है।

समाधान :—नहीं, उनकी प्रतीति मे कोई बाधा नहीं है। अत: उस प्रतीति को मिथ्या नही कह सकते। कदा-चित् कहो कि विरोध बाधक है तो यह कथन पर पराश्रय दोष से दूषित है। विरोध हो तो वह प्रतीति मिथ्या सिद्ध हो और जब प्रतीति मिथ्या सिद्ध हो जाय तब विरोध की सिद्धि हो।

इसके अतिरिक्त विरोध दोष का परिहार अन्यत्र किया जा चुका है।

अनेकान्त सर्वमान्य :—

वास्तव में अनेकान्त वाद को सभी वादियों ने स्वी-कार किया है, क्योंकि सभी वादी वस्तु को एक रूप और अनेक रूप मानते है।

सांख्य—लोग सत्व, रज, और तम इन तीन गुणों की साम्य-अवस्था को प्रकृति मानते हैं। ये तीनों गुण भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं। ये तीन मिलकर एक प्रकृति हैं। इस प्रकार इनके मत में वस्तु एक-अनेक स्वरूप वाली सिद्ध होती है। समुदाय और समुदायि में अभेद होता है। यहाँ समुदायी तीन हैं और उनका समुदाय एक है। इस प्रकार एक ही वस्तु में एकत्व और अनेकत्व सिद्ध है।

नैयायिक—द्रव्यत्व, गुणत्व आदि को सामान्य विशेष्य अर्थात् अपर सामान्य स्वीकार करते हैं, क्योंकि वह अनु-

वृति प्रत्यय और व्यावृत्ति प्रत्यय-दोनों का विषय है। इस तरह इन्होंने भी एक ही परार्थ को सामान्य विशेषात्मक स्वीकार किया है।

बौद्ध—एक मेचक ज्ञान को अनेक आकारों (नीलाकार, पीताकार, रक्ताकार आदि आकारों) वाला स्वीकार करते है। इस प्रकार इन्होंने भी एक ही ज्ञान को एक-अनेक रूप माना है।

चार्वाक—पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चार भूतों से एक चैतन्य की उत्पत्ति होना मानते है। इस प्रकार चैतन्य, पृथ्वी आदि चार भूतों से अभिन्न है। यह भी एक ही वस्तु को अनेक रूप मानना है।

मीमांसक—मत के अनुसार एक ही ज्ञान के तीन आकार होते है—प्रमातृ-आकार, प्रमिति-आकार, और प्रमेय-आकार,। इस प्रकार इनकी मान्यता के अनुसार एक ज्ञान अनेक आकारों वाला है। ज्ञान के ये अनेक आकार ज्ञान से भिन्न है। अतः यह एक को अनेक रूप मानना कहलाया।

इस प्रकार अनेकान्त वाद की प्रक्रिया सभी दर्शनों को स्वीकार करनी ही पड़ती है। उसे स्वीकार किए बिना काम नहीं चल सकता।

बारह प्रकार के संभोग पारस्परिक व्यवहार

मुनि श्री नथमल जी

संभोग बारह प्रकार का है—

१. उपधि	७. अभ्युत्थान
२. श्रुत	८. कृतिकर्मकरण (वन्दना)
३. भक्त-पान	९. वैयावृत्यकरण (सहयोग-दान)
४. अंजलिप्रग्रह (प्रणाम)	१०. समवसरण (सम्मिलन)
५. दान	११. सनिषद्या (आसन-विशेष)
६. निकाचन (निमंत्रण)	१२. कथा-प्रबन्ध।

संभोग का अर्थ है पारस्परिक व्यवहार—

इस शब्द में श्रमण परम्परा में होने वाले अनेक परिवर्तनों का इतिहास है। भोजन, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—इन उत्तरगुणों के सम्बन्ध में 'संभोग' और 'विसंभोग' की व्यवस्था निष्पन्न हुई थी[1]। निशीथ चूर्णिकार ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि 'विसंभोग' उत्तरगुण में होता है या मूल गुण में? इसके उत्तर में आचार्य ने कहा—"वह उत्तर गुण में होता है[2]।" मूलगुण का भेद होने पर साधु ही नहीं रहता, फिर संभोगिक और विसंभोगिक का प्रश्न ही क्या?

सभोग और विसंभोग की व्यवस्था का प्रारम्भ कब से हुआ, सहज ही यह जिज्ञासा उभरती है। निशीथ के चूर्णिकार ने इस जिज्ञासा पर विमर्श किया है। उनके अनुसार पहले अर्द्ध—भरत (उत्तर भारत) में सब सविग्न साधुओं का एक ही संभोग था, फिर कालक्रम से संभोग और असंभोग की व्यवस्था हुई और उसके आधार पर साधुओं की भी दो कक्षाएं, साभोगिक और असांगभोगिक बन गई[3]।

चूर्णिकार ने फिर एक प्रश्न उपस्थित किया है कि कितने आचार्यों तक एक संभोग रहा और किस आचार्य के काल मे असंभोग की व्यवस्था का प्रवर्तन हुआ?

इसके उत्तर में भाष्यकार का अभिमत प्रस्तुत करते

---

१. निशीथ भाष्य गाथा २०६९ (निशीथ सूत्र, द्वितीय विभाग) पृ० ४३१।
सभोगपरूवणता सिरिघर-सिवपाहुडे य संभुत्ते।
दंसणणाणचरित्ते, तवहेउं उत्तर गुणेसु॥

२. निशीथ चूर्णि (निशीथ सूत्र, द्वितीय विभाग), पृ० ३६३।
विसभोगो किं उत्तरगुणे मूलगुणे?
आयरिओ भणति—'उत्तरगुणे।'

३. निशीथ चूर्णि (निशीथ सूत्र, द्वितीय भाग), पृ. ३५९ : एस य पुव्वं सव्वसं विग्गाणं अड्ढभरहे एक्क सभोगो आसी, पच्छा जाया इमे सभोइया इमे असंभोइया।

हुए उन्होंने लिखा है—"भगवान महावीर के प्रथम पट्ट-धर सुधर्मा थे। उनके उत्तरवर्ती क्रमशः जम्बू, प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र, सभूत और स्थूलभद्र—ये आचार्य हुए हैं। इनके शासनकाल में एक ही सभोग रहा है[1]।"

स्थूलभद्र के दो प्रधान शिष्य थे, आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती। इनमें आर्य महागिरि ज्येष्ठ थे और आर्य सुहस्ती कनिष्ठ। आर्य महागिरि गच्छ-प्रतिबद्ध-जिन कल्प-प्रतिमा वहन कर रहे थे और आर्य सुहस्ती गण का नेतृत्व सभाल रहे थे। सम्राट् संप्रति ने कार्य सुहस्ती के लिए आहार, वस्त्र आदि की व्यवस्था कर दी। सम्राट् ने जनता में यह प्रस्तावित कर दिया कि आर्य सुहस्ती ने शिष्यों को आहार वस्त्र, आदि दिया जाय और जो व्यक्ति उनका मूल्य चाहे, वह राज्य से प्राप्त करे। आर्य सुहस्ती ने इस प्रकार का आहार लेते हुए अपने शिष्यो को नहीं रोका। आर्य महागिरि को जब यह विदित हुआ तब उन्होंने आर्य सुहस्ती से कहा—आर्य! तुम इस राजपिंड का सेवन कैसे कर रहे हो? आर्य सुहस्ती ने उसके उत्तर में कहा—यह राजपिण्ड नही है। इस चर्चा में दोनों युग-पुरुषों मे कुछ तनाव उत्पन्न हो गया। आर्य महागिरि ने कहा—"आज से तुम्हारा और मेरा संभोग नही होगा—परस्पर भोजन आदि का सम्बन्ध नहीं रहेगा। इसलिए तुम मेरे लिए असांभोगिक हो।" इस घटना के घटित होने पर आर्य सुहस्ती ने अपने प्रमाद को स्वीकार किया, तब फिर दोनों का संभोग एक हो गया। यह संभोग और विसंभोग की व्यवस्था का पहला निमित्त है। आर्य महा-गिरि ने आने वाले युग का चिन्तन कर सभोग और विसं-भोग की व्यवस्था को स्थायी रूप प्रदान कर दिया[1]।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—इनसे सम्बन्धित सभोग और असभोग का विकास कब हुआ, इसका उल्लेख प्राप्त नही है। आर्य महागिरि ने सभुक्त-सभोग की व्यवस्था के साथ ही इनकी व्यवस्था की या इनका विकास उनके उत्तरवर्ती काल मे हुआ यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। निर्युक्तिकाल मे सभोग के ये विभाग स्थिर हो चुके थे, यह निर्युक्ति की गाथा (२०६९) से स्पष्ट है।

स्थानाग सूत्र के निर्देशानुसार पाँच कारणो से साभो-गिक को विसाभोगिक किया जा सकता है[2]। यदि संभोग की व्यवस्था आर्य महागिरि से मानी जाए तो यह स्वीकार करना होगा कि स्थानाग का प्रस्तुत सूत्र आर्य महागिरि के पश्चात् हुई आगम-वाचना मे संदृब्ध है। इसी प्रकार समवायाग का प्रस्तुत सूत्र भी (१२-१) आर्य महागिरि के उत्तरकाल में सदृब्ध है। निशीथ भाष्यकार ने सभोग विधि के छः प्रकार बतलाए है—ओघ, अभिग्रह, दान-ग्रहण, अनुपालना, उपपात और सवास[3]। इनमे से ओघ सभोग-विधि के बारह प्रकार बतलाए गए है। समवायांग के प्रस्तुत दो श्लोको मे उन्ही बारह प्रकारो का निर्देश है। निशीथ भाष्य में भी ये दो श्लोक लगभग उसी रूप में मिलते है—

१. निशीथ चूर्णि (निशीथ सूत्र, द्वितीय विभाग), पृ० ३६०।
सीसो पुच्छति—कति पुरिसजुगे एक्को सभोगो आसीत्? कम्मि वा पुरिसे असभोगो पयट्टो? केण वा कारणेण?
ततो भणति—संपतिरण्णुप्पत्ती सिरिघर उज्जाणि हेट्ठ बोधव्वा।
अज्जमहागिरि इत्थिप्पमिती जाणह विसंभोगो ॥ २१५४॥
वद्धमाणसामिस्स सीसो सोहम्मो। तस्स जंबुणामा। तस्स वि पभवो। तस्स सेज्जभवो। तस्स वि सीसो जस्सभद्दो। जस्सभद्दसीसो संभूतो। संभूयस्स थूल-भद्दो। थूलभद्दं जाव सव्वेसिं एक्कसभोगो आसी।

१. निशीथ चूर्णि (निशीथ सूत्र, द्वितीय भाग), ततो अज्जमहागिरि अज्जसुहत्थि भणति—अज्जप्प-भिति तुम मम असंभोतिओ। एव पाहुड-कलह इत्यर्थः। ततो अज्जसुहत्थी पच्चाउट्टो मिच्छादुक्कड करेति, ण पुणो गेण्हामो। एवं भणिए सभुत्तो। एत्थ पुरिसे विसंभोगो उप्पण्णो। कारण च भणियं। ततो अज्जमहागिरी उवउत्तो. पाएण मायाबहुलाभणुयत्ति काउं विसंभोगं ठवेति।

२. स्थानांग ५-४००।

३. निशीथ भाष्य, गाथा २०७०।
ओह अभिग्गह दाणग्गहणे अणुपालणा य उववातो।
संवासम्मि य छट्ठो, संभोगविधी मुणेयव्वो॥

उवहि सुत भत्तपाणो, अंजलीपग्गहेति य।
दावणा य णिकाएव, अब्भुट्ठाणेति यावरे।२०७१।
किंतिकम्मस्स य करणे, वेयावच्चकरणेति य।
समोसरण सणिसेज्जा, कथाए य पबंधणे।२०७२।

निशीथ भाष्य के अनुसार स्थितिकल्प, स्थापनाकल्प और उत्तरगुणकल्प—ये कल्प (आचार-मर्यादा) जिनके समान होते हैं, वे मुनि सांभोगिक कहलाते है और जिन मुनियों के ये कल्प समान नही होते वे असांभोगिक या विसांभोगिक कहलाते है[१]।

उपधि-संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं के साथ उपधि-ग्रहण की मर्यादा के अनुसार उपधि का संग्रह किया जाता है। निशीथ भाष्य के अनुसार सांभोगिक साध्वी के साथ निष्कारण अवस्था मे उपधि-याचना का संभोग वर्जित है[२]।

श्रुत-संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं को याचना दी जाती है। वाचनाक्षम प्रवर्तिनी के न होने पर आचार्य साध्वी को वाचना देते है[३]।

भक्त-पान-संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओ के साथ एक मण्डली भोजन किया जाता है। समान कल्प वाली साध्वी के साथ एक मण्डली में भोजन नही किया जाता[४]।

अंजलि-प्रग्रह संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार सांभोगिक या अन्य सांभोगिक साधुओं की वन्दना की जाती है। साध्वी को साधु वन्दना नहीं करते। साध्वियाँ पाक्षिक क्षमा-याचना आदि कार्य के लिए साधुओं के उपाश्रय मे जाती हैं, तब साधुओं को वन्दना करती हैं। जब वे भिक्षा आदि के लिए जाती हैं तब मार्ग में साधुओं के मिलने पर उन्हें वन्दना नहीं करती है[५]।

दान-संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं को शय्या, उपधि, आहार, शिष्य आदि दिये जाते है। सामान्य स्थिति मे साध्वी को शय्या, उपधि, आहार आदि नहीं देते[६]।

निकाचना-संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं को उपधि, आहार आदि के लिए निमन्त्रित किया जाता है[७]।

अभ्युत्थान-संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं को अभ्युत्थान का सम्मान किया जाता है[८]।

कृतिकर्मकरण-संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं का कृतिकर्म किया जाता है। इसमें खड़ा होना, हाथों से आवर्त्त देना, सूत्रोच्चारण करना आदि अनेक विधियों का पालन किया जाता है[९]।

वैयावृत्यकरण-संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं को सहयोग दिया जाता है। शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार की समस्याओं के समाधान में योग देना वैयावृत्यकरण है। जैसे आहार, वस्त्र आदि देना शारीरिक उपष्टंभ है, वैसे ही कलह आदि के निवारण में योग देना मानसिक उपष्टंभ है। सांभोगिक साध्वियों को यात्रा-पथ

१. वही, गाथा २१४९।
ठितिकप्पम्मि दसविहे, ठवणाकप्पे य दुविवमण्णयरे।
उत्तरगुणकप्पम्मि य, जो सरिकप्पो स सभोगो॥
२. निशीथ भाष्य, गाथा २०७८।
३. निशीथ चूर्णि (निशीथ सूत्र, द्वितीय विभाग), पृ० ३४७।
संजतीण जइ आयरिय मोत्तु अण्णा पवत्तिणीमाती वायंत्ति णत्थि, आयरिओ वायणातीणि सव्वाणि एताणि देति न दोसः।
४. वही, पृ० ३४८।
५. वही, पृ० ३४९।
६. वही, पृ० ३४९।
७. नशीथ चूर्णि (निशीथसूत्र, द्वतीय विभाग), पृ० ३५०:
८. वही, पृ० ३५०।
९. वही, पृ० ३५१।

आदि विशेष स्थिति में सहयोग दिया जाता है[1]।

समवसरण-संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधु एक साथ मिलते हैं। अवग्रह की व्यवस्था भी इसी से अनुस्यूत है। अवग्रह (अधिकृत स्थान) तीन प्रकार के होते हैं—वर्षा-अवग्रह, ऋतुबद्ध-अवग्रह और वृद्धवास-अवग्रह। अपने सांभोगिक साधुओं के अवग्रह में कोई साधु जाकर शिष्य, वस्त्र आदि का जान-बूझकर ग्रहण करता है तथा अनजान में गृहीत शिष्य, वस्त्र आदि अवग्रहस्थ साधुओं को नहीं सौंपता तो उसे असांभोगिक कर दिया जाता। पार्श्वस्थ आदि का अवग्रह शुद्ध साधुओं को मान्य नहीं होता, फिर भी उनका क्षेत्र छोटा हो और क्षुब्ध साधुओं का अन्यत्र निर्वाह होता हो तो साधु उस क्षेत्र को छोड़ देते हैं। यदि पार्श्वस्थों आदि का क्षेत्र विस्तीर्ण हो और शुद्ध साधुओं का अन्यत्र निर्वाह कठिन हो तो उस क्षेत्र में साधु जा सकते है और शिष्य, वस्त्र आदि का ग्रहण कर सकते हैं[2]।

संनिषद्या-संभोग—

इस व्यवस्था के अनुसार दो सांभोगिक आचार्य निषद्या पर बैठकर श्रुत-परिवर्तना आदि करते है[3]।

कथा-प्रबन्ध-संभोग—

इसके द्वारा कथा सम्बन्धी व्यवस्था दी गई है। कथा के पांच प्रकार हैं—वाद, जल्प वितण्डा, प्रकीर्णकथा और निश्चयकथा प्रकीर्णकथा के दो प्रकार हैं—उत्सर्ग कथा और द्रव्यास्तिकनय कथा। इसी प्रकार निश्चय कथा के भी दो प्रकार हैं—अपवाद कथा और पर्यायास्तिकनय कथा। प्रथम तीन कथाएं साध्वियों के साथ नहीं की जातीं किंतु अन्य—असांभोगिक, अन्यतीर्थिक व गृहस्थ सभी के साथ की जा सकती है[4]।

इस प्रकार इन बारह संभोगों के द्वारा समानकल्पी साधु-साध्वियों तथा असमानकल्पी साधुओं के साथ व्यवहार की मर्यादा निश्चित की गई है। इन व्यवस्थाओं का अतिक्रमण करने पर समानकल्पी साधु का सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाता। उदाहरण के लिए उपधि-संभोग की व्यवस्था प्रस्तुत की जा रही है—

कोई साधु उपधि की मर्यादा का अतिक्रमण कर उपधि ग्रहण करता है। उस समय दूसरे साधुओं द्वारा सावधान करने पर वह प्रायश्चित् स्वीकार करता है तो उसे विसांभोगिक नही किया जाता। इस प्रकार दूसरी और तीसरी बार भी सावधान करने पर वह प्रायश्चित स्वीकार करता है तो उसे विसाभोगिक नही किया जाता। किन्तु चौथी बार यदि वह वैसा करता है तो उसे विसांभोगिक कर दिया जाता है। जो मुनि अन्य सांभोगिक साधुओं के साथ शुद्ध या अशुद्ध—किसी भी प्रकार से उपधि ग्रहण करता है और सावधान करने पर वह प्रायश्चित स्वीकार नही करता तो उसे प्रथम बार ही विसांभोगिक किया जा सकता है और यदि वह प्रायश्चित स्वीकार कर लेता है तो उसे विसाभोगिक नहीं किया जा सकता। चौथी बार वैसा कार्य करने पर पूर्वोक्त की भाँति उसे विसांभोगिक कर दिया जाता है। यह उपधि के आधार पर संभोगिक और विसभोग की व्यवस्था है[5]। ●

१. वही, पृ० ३५१; समवायांग वृत्ति, पत्र २२।
२. निशीथ चूर्णि (निशीथ सूत्र, द्वितीय विभाग), पृ० ३५३; समवायांग वृत्ति, पत्र २२।
३. वही, पृ० ३५४; समवायांग वृत्ति, पत्र २३।
४. वही, पृ० ३५४, ३५५।
५. वही, पृ० ३४२।

हरिवंशपुराण की प्रशस्ति एवं वत्सराज

श्री रामवल्लभ सोमाणी

हरिवंशपुराण को पुन्नाट गच्छ के जिनसेनाचार्य ने शक सं० ७०५ मे पूर्ण किया था। इसकी बहुचर्चित प्रशस्ति में तत्कालीन भारत के राजाओं का वर्णन है। इसको लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। इसका सामान्यत: यह अर्थ लेते हैं कि उस समय पूर्व में अवन्ति क्षेत्र में वत्सराज शासक था। पश्चिम में सौराष्ट्र में जयवराह शासक था। दक्षिण में श्री वल्लभ (ध्रुव निरुपम) एवं उत्तर में इन्द्रायुध। "पूर्व्वां श्री मदवन्ति भूभृतिनृपे वत्सादिराजेऽपरां" पद का अर्थ यह भी लेते है कि पूर्व में अवन्ति का शासक एवं वत्सराज। प्रश्न यह है कि वत्सराज अवन्ति का शासक था अथवा नही ! कई विद्वान गुर्जर प्रतिहारों की इस शाखा कि राजधानी अवन्ति मानते है किन्तु मैं समझता हूँ कि यह मत गलत है। नागभट्ट प्रथम गुर्जर प्रतिहार शासक ने इस शाखा की स्थापना की थी। पुरातन[1] प्रबन्ध सग्रह के एक वर्णन के अनुसार इसकी राजधानी जालोर ही थी। इसके उत्तराधिकारी कन्नौज राजधानी स्थिर होने तक यही से शासन कर रहे थे। संजान के ताम्रपत्र में यह वर्णन है कि दन्तिदुर्ग ने जब अवन्ति में हिरण्य महायज्ञ किया था तब गुर्जरेश्वर को द्वारपाल बनाया था इसी प्रकार वहाँ गुर्जरेश्वर के महलों का भी उल्लेख मिलता है। गुर्जरेश्वर को जो द्वारपाल के रूप में प्रतिष्ठापित किया वह केवल मूर्ति के रूप में रहा होगा। जयचंद ने भी इसी प्रकार पृथ्वीराज की मूर्ति द्वारपाल के रूप में बना[2] रखी थी। अरब आक्रमणकारी जुनैद के आक्रमण के बाद वस्तुत: नागभट्ट को राज्य विस्तार का मौका मिला था। लाट के शासक अवनि जनाश्रय ने भी जुनैद से युद्ध किया था। उस समय कुछ समय के लिए अवन्ति प्रदेश नागभट्ट प्रथम के अधिकार में रहा था जिसे राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग ने हस्तगत कर लिया था और इसके बाद कुछ समय तक वहाँ वापस प्रतिहारों का अधिकार नहीं हो सका था।

वत्सराज के समय बड़ी राजनैतिक उथल पुथल हो रही थी। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा गोविन्द द्वितीय को अपदस्थ करके उसका छोटा भाई ध्रुव निरुपम राज्य का अधिकारी हो गया था। भोर म्युजियम के शक सं० ७०२ (७८० ई०) के दानपत्र में वणित है कि ध्रुवराज ने मालवे के उस शासक को हराया जो उसके भाई के पक्ष में था। यह वत्सराज से भिन्न था। गोविन्द तृतीय के राघनपुर[3] ७३० शकसं० (८०८ ई०) एवं मन्ने के शकसं० ७२४ (८०२ ई०) के दानपत्रों में उसके पिता ध्रुवराज के लिए लिखा है कि उसने वत्सराज को हराया नहीं किन्तु राजस्थान के रेगिस्तान की ओर बढ़ने को बाध्य कर दिया। इसके पश्चात् उसने आगे बढ़कर धर्मपाल को हराया और उसके छत्र और चवर छीन लिये। मालवे के शासक का उल्लेख गोविन्द तृतीय के उक्त दानपत्रों में स्पष्टत: आता है जो प्रतिहार शासकों से भिन्न था। गोविन्द तृतीय के सामने उसने बिना युद्ध किये ही आत्म-समर्पण किया था। लेखों मे "नय प्रिय कह कर व्यग किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि उस समय प्रतिहारों का वहां अधिकार नही रहा था। अगर वत्सराज ने इसे कुछ समय के लिए जीत भी लिया हो तो उसकी यह विजय अस्थायी थी। वहाँ वत्सराज के अलावा कोई अन्य शासक था।

---

१. अर्बुदाद्रौ नाहडतटाक कारयित्वा गर्जनप्रतोल्या: कपाटमादाय तत्र प्रचिक्षिपे। तथा जाबालिपुरे राजधानि: कृता।" (पुरातनप्रबंध संग्रह भूमिका पृ० १५

२. डा० दशरथ शर्मा—राजस्थान थ्रू दी ऐजज भाग १ में प्रतिहारों का वर्णन।

३. इंडियन एंटिक्वेरी Vol. 5 एवं जैन लेख संग्रह भाग २ में प्रकाशित।

इस मत की पुष्टि के लिए कई सबल प्रमाण उपलब्ध हैं। (१) राष्ट्रकूट राजा ध्रुवनिरुपम के आक्रमण के शीघ्र बाद धर्मपाल ने वत्सराज द्वारा जीते हुए कन्नौज के आसपास के प्रदेश को हस्तगत कर इन्द्रायुध के स्थान पर चक्रायुद्ध को वहाँ का अधिकारी बनाया। उस समय वहाँ एक बडा दरबार किया जिसमें कई प्रदेशों के शासक विद्यमान थे इनमें अवन्ति का शासक भी था जो वत्सराज से भिन्न था।[3A]

(२) ग्वालियर के राजा भोज के शिलालेख में वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय के वर्णन में उसे आनर्त्त मालव आदि प्रदेशों को जीतने वाला वर्णित किया है। इससे स्पष्ट है कि अवन्ति मालव प्रदेश उस समय तक प्रतिहार साम्राज्य का भू भाग नहीं बना था।[४]

(३) कुवलय माला की शकसं० ६९९ (७७८ ई०) की प्रशस्ति मे लिखा है कि अष्टापद जैसे ऊँचे जालोर दुर्ग मे एक ऊंचे धवल मनोहर रत्नों से युक्त भगवान ऋषभदेव का मन्दिर है वह कई ध्वजाओं से युक्त है। इस मन्दिर में चैत्रवदि ३० के दिन उक्त ग्रंथ सम्पूर्ण किया। उस समय शत्रुओं के सैनिकों का मान भंग करने वाला और स्नेही वर्ग रूपी रोहणी पति सम्पूर्ण कलावान् चन्द्रमा के सदृश वत्सराज शासक था।[५] यद्यपि इस ग्रथ प्रशस्ति से राज्य की सीमाओं का पता नही चलता है किन्तु पुरातन प्रबन्ध सग्रह के प्रसग से प्रतीत होता है कि उस समय तक इन प्रतिहार राजाओं की राजधानी जालोर ही थी।

(४) कुवलय माला मे प्रारम्भ में एक प्रसंग वर्णित है। यद्यपि यह कथा प्रसंग है किन्तु इससे यह कहा जा सकता है कि उस समय अवन्ति प्रदेश के लिए संघर्ष चल रहा था। इसकी काल्पनिक कथा मे राजा दृढवर्मा और उसकी रानी प्रियंगुश्यामा का उल्लेख है। इसके दरबार मे इसके सेनापति का पुत्र सुषेण ने जो शबर जाति का था अपने मालवा विजय का प्रसग उल्लेखित करते हुए कहा "मैं आपकी आज्ञानुसार मालवे पर आक्रमण करने गया। मेरे पास विशाल सेना विद्यमान थी। इस सेना के पराक्रम से दुश्मन की हार हुई और उसकी सेना भाग खडी हुई। इसके पश्चात् उसकी सेना ने नगर में प्रवेश करके उत्तम वस्तुओं को लूटा।" कथा सूत्र में वस्तुतः इस प्रसंग का कोई महत्व नही है। किन्तु राजनैतिक घटनाओं मे कहा जा सकता है कि वत्सराज का सघर्ष मालवे के लिए चल रहा हो। इस प्रकार अवन्ति का राजा वत्सराज से भिन्न था।

इन सब प्रसंगो से स्पष्ट है कि प्रतिहारों की इस शाखा की राजधानी अवन्ति नही थी। कई विद्वान इन प्रतिहार राजाओं को अवन्ति के प्रतिहार कहते है किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक आधार नही है। हरिवंश पुराण की प्रशस्ति का अतएव यही अर्थ लेना चाहिए कि "वत्सराज एवं अवन्ति का शासक"। अर्थात् वत्सराज से अवन्ति का शासक भिन्न था। ●

3A. ए लिस्ट आफ दी इन्स्क्रे. आफ नोर्दन इंडिया Page 223-224

४. आनर्त्तमालव किरात तुरुष्क वत्स—
मत्स्यादि राजगिरिदुर्गदृथापहारैः।
Epigraphia-India Vol. XVIII पृ. ११२

५. तुगमलघं जिण भवण-मणहर सावयाउल विसम
जाबालिउरं अट्ठावय व अह अत्थि पुहईए।
तुग धवल मणहारि-रयण-पसरंत-धयवडाडोय।
उसभ-जिणंदाययण करावियं वीरभद्दे ण।
सिरि वच्छराय-णामो रणहत्थी पत्थिवो जइया॥
कुवलयमाला पृ. २८२-८३

६. पुच्छिओ राइणा "मालव णरिदेणसह तुम्हाणं को वुत्तंतो' त्ति। भणिय सुसेणेण" जयउ देवो। इओ देव समाएसेणं तेहिं चेय दिवसे दरिय महा-करि-तुरह-रह-णर-सय-सहस्सुच्छलत कलयला राव-सघट्ट-घुट्टमाण-णहयल गुरुभर-दलत-महियल जणसय-संबाह-रुभमाण दिसावह उद्द ड पोडरीय-संकुल संफ्तं देवस्स सतियं बलं। जुज्भ च समाढत्तं।......ताव य देव अम्ह बलेणं बिवडेंत-छत्तयं णिवडंत-चिंधयं पडंत-रडंत-जोहयं खलंत-आसयं फुरंत-कोंतयं सरत-सरवरं कुजर दलंत-रह-वरं भग्गं रिउ बलंति......।"
(उपरोक्त पृष्ठ १० और ३०)

वायुपुराण और जैन कथाएं

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

१. प्रास्ताविक—भगवान महावीर के पूर्व के भारत के इतिहास के कोई निश्चित साधन उपलब्ध नही है। उस प्राचीन युग के बारे मे जैन, वैदिक और बौद्ध साहित्य मे प्राप्त कथाओं से ही कुछ अनुमान किये जाते है। इनमे बौद्ध साहित्य मे विविध प्रकीर्ण उल्लेख ही मिलते है—कोई सुसंगत व्यवस्थित वर्णन नही मिलता। जैन और वैदिक पुराणों मे उस प्राचीन युग की कथाओं को व्यवस्थित करने का प्रयास देखा जाता है। इनमे वैदिक पुराणों के आधार पर इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास का वर्णन करने का प्रयत्न किया है (जिसका उत्तम उदाहरण भारतीय विद्याभवन बम्बई द्वारा प्रकाशित 'दि वेदिक एज' ग्रंथ मे मिलता है)। किन्तु जैन कथाओ का ऐसा समुचित उपयोग नहीं किया है। प्रस्तुत लेखमाला मे हम जैन और वैदिक कथा ग्रन्थों की कुछ समानताओं और भिन्नताओं का अध्ययन कर रहे है।

२ आधार भूत साहित्य—वैदिक पुराणो मे मुख्य-मुख्य ग्रथों मे गुप्तवश तक के भारतीय राजाओ का उल्लेख मिलता है अत. उनका वर्तमान स्वरूप चौथी-पाचवी शताब्दी का है यद्यपि उनमें प्रथम पुराण-वर्णन का समय महाभारत युद्ध के बाद की पाचवी पीढी के राजा अधिसीमकृष्ण का राज्यकाल बताया है। प्रस्तुत लेख मे जिस वायुपुराण का अध्ययन किया गया है उसमें भी यही वर्णन है। दूसरी ओर जैन कथाओ का प्रथम विस्तृत ग्रथ विमलसूरि का पउमचरिय प्रथम शताब्दी का है (यद्यपि कुछ विद्वान उसे तीसरी शताब्दी का मानते है) तथापि उनमे भी कहा गया है कि भगवान महावीर से चली आई श्रुतपरम्परा उसका आधार है। इस लेख में पउमचरिय के प्राकृत टेक्स्ट सीरीज द्वारा प्रकाशित सस्करण का तथा वायुपुराण के श्री रामप्रताप त्रिपाठी द्वारा किये गए हिन्दी अनुवाद का उपयोग किया है (यह अनुवाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ है।

कालचक्र कल्पना—पउमचरिय (अध्याय ३ व २०) में बताया गया है कि भरत व ऐरावत क्षेत्रों मे काल का चक्रवत परिवर्तन होता है। अवसर्पिणी मे प्रथम सुषमा सुषमा काल होता है, दूसरा सुषमा, तीसरा सुषमा दुषमा, चौथा दुषमा सुषमा, पाचवां दुषमा तथा छठा दुषमा दुषमा होता है। तदनन्तर उत्सर्पिणी मे पहला दुषमा दुषमा, दूसरा दुषमा इस प्रकार से छह काल होते है। वायुपुराण में काल का परिवर्तन कुछ भिन्न प्रकार से बताया है (अध्याय ४८)। सुखपूर्ण कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा दु:खपूर्ण कलियुग ऐसा क्रम यहाँ बताया है तथा कलियुग के बाद पुन: कृतयुग का प्रारम्भ कहा है। अर्थात् जहाँ जैन कथाओ मे समय परिवर्तन क्रमिक है। वहाँ वायु-पुराण मे कलि के बाद आकस्मिक परिवर्तन से कृत के प्रारम्भ का वर्णन है। इनमे चारो युगो का सम्मिलित समय १२ हजार दिव्य वर्ष (एक दिव्य वर्ष मनुष्यों के ३६० वर्षों के बराबर) माना है। जैन परम्परा मे उत्सर्पिणी के तथा अवसर्पिणी के समय के लिए दस कोटाकोटी सागर शब्द का प्रयोग किया है (एक योजन व्यास के एक योजन गहरे वृत्ताकार खड्ड मे नवजात बकरो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म जितने रोमखड समाते है उसके सौगुना वर्षों को पल्य कहा जाता है तथा दस कोटाकोटी पल्यों का एक सागर होता है)।

४ चौदह मनु—पउमचरिय (अ० ३) में तीसरे सुषमा दुषमा काल के अन्त मे चौदह कुलकर हुए ऐसा वर्णन है जिन्हे अन्य जैन ग्रंथों मे मनु भी कहा गया है (जैसे वरांग चरित्र स० २७ श्लो० ३६)। वायुपुराण (अ० १००) मे भी चौदह मनुओ का वर्णन है। किन्तु एक मनु से दूसरे मनु तक का समय यहाँ इकहत्तर चतुर्युग बताया है। अर्थात् दो मनुओं के बीच कृत आदि चार

चार युगों का परिवर्तन इकहत्तर बार होता है ऐसा कहा है। दोनों में चौदह मनुओं के नाम और कार्यों के बारे में कोई समानता नहीं हैं। वायुपुराण के अनुसार सात मनु हो चुके है और सात आगे होंगे जब कि जैन वर्णन के अनुसार चौदह मनु हो चुके हैं।

५. ऋषभदेव—पउमचरिय (अ० ३) में चौदहवें कुलकर नाभिराज के पुत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्णन है। उन्होंने प्रजा को कृषि आदि कर्मों का उपदेश दिया तथा कर्मानुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का विभाजन किया। उनके भरत आदि सौ पुत्र हुए। भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। वायुपुराण (अ० ३३) में भी नाभिपुत्र ऋषभ तथा उनके भरतादि सौ पुत्रों का वर्णन है। ब्राह्मणादि वर्णों का विभाजन इनमें ब्रह्मा द्वारा त्रेतायुग के प्रारम्भ मे बताया है (अ० ८)। ऋषभ देव के पहले के समय में सब लोग सुखी थे, धर्म-अधर्म का विचार नहीं था, माता-पिता केवल एक बार आयु के अन्त में युगल पुत्र-कन्या को जन्म देते थे, ऋतुपरिवर्तन नहीं होता था यह जैन कथाओं का वर्णन वायुपुराण (अ० ८) मे कृतयुग के संबंध मे पाया जाता है। त्रेतायुग के प्रारम्भ में मेघवृष्टि, कृषि, कल्पवृक्षो का अभाव, घर आदि का वर्णन भी यहाँ मिलता है जो जैन कथाओं के अनुसार ऋषभदेव के समय की (चौथे दुषमासुषमा काल के प्रारम्भ की) घटनाएं थी। वायुपुराण (अ० २३) मे शिव के नवम योगावतार के रूप में भी ऋषभदेव का वर्णन है किन्तु यह नवम द्वापर युग की बात कही गई है। अन्य कोई वर्णन न होने से यह तीर्थंकर ऋषभ का वर्णन है या नही यह सन्दिग्ध है। वायुपुराण (अ० ३३) में ऋषभदेव प्रथम मनु स्वायंभुव के प्रपौत्र नाभि के पुत्र कहे गए है।

६ सगर चक्रवर्ती—पउमचरिय (अ० ५) में दूसरे चक्रवर्ती सगर तथा उनके साठ हजार पुत्रों की कथा है। वे दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के समकालीन बताए गए है। वायुपुराण (अ० ८८) में वैवस्वत मनु के बाद अड़तीसवीं पीढ़ी में सगर व उनके साठ हजार पुत्रों का वर्णन आता है। दोनों कथाओं में सगर माता-पिता के नाम व उनके पुत्रों के मृत्यु के कारण भिन्न-भिन्न हैं। सगर के उत्तराधिकारी के रूप में भगीरथ का नाम दोनों में आता है यद्यपि सगर से भगीरथ का सम्बन्ध दोनों में भिन्न है।

७ प्रतिनारायण—पउमचरिय (अ० ४ व २०) में चतुर्थ दुषमासुषमा काल में हुए नौ प्रतिनारायणों का वर्णन है जिनको विनष्ट करने वाले नौ नारायण बताए गए है। ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांस के समय में प्रथम नारायण त्रिपृष्ट ने प्रतिनारायण अश्वग्रीव को मारा था। बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य के समय में द्विपृष्ट ने तारक को मारा था। तेरहवे तीर्थंकर विमल के समय में स्वयभू ने मेरक को मारा था। चौदहवें तीर्थंकर अनन्त के समय में पुरुषोत्तम ने मधुकैटभ को मारा था। पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्म के समय में पुरुषसिंह ने निशुंभ को मारा था। अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ के बाद पुरुषपुण्डरीक ने बलि को तथा दत्त प्रल्हाद को मारा था। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समय लक्ष्मण नारायण ने रावण को तथा बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय मे श्रीकृष्ण ने जरासन्ध को मारा था। वायुपुराण में इन नारायण-प्रतिनारायणों में से बहुतों के नाम आते हैं यद्यपि विस्तृत कथाएं नहीं हैं। इसमें (अ० ४० में) अधोलोक निवासी दैत्यों के हयग्रीव (जो प्रथम प्रतिनारायण अश्वग्रीव का पर्याय प्रतीत होता है), तारक, निशुम्भ, बलि और प्रल्हाद के नाम आते है। असुरराज के रूप में तारक का वर्णन भी है (अ० ७२) किन्तु यहाँ उनके विनाश का श्रेय शिवपुत्र स्कन्द को दिया है। मधु और कैटभ इन दो दैत्यों के त्रिष्णु और जिष्णु द्वारा मारे जाने की कथा है (अ० २४)। विष्णु के अवतार वामन द्वारा बलि को पराजित कर पाताल में भेजे जाने की कथा है (अ० ९७) (जैन पुराणकथाओ में इस से मिलतीजुलती बिष्णुकुमार मुनि की कथा हरिवंशपुराण मे है)। जैन कथाओं मे वलि के बाद प्रल्हाद का वर्णन है जबकि वायुपुराण (अ० ९८) में प्रल्हाद के पौत्र रूप में बलि का वर्णन है। किन्तु इसी के अन्य प्रसंग में (अ० ९७ में) वाराह कल्प के बारह युद्धों की गणना में बलि का उल्लेख दूसरे और प्रल्हाद का उल्लेख चौथे युद्ध में किया है। रावण का रामचन्द्र द्वारा विनाश होने की कथा है। (अ० ७०) यहां रावण का राज्यकाल ५ करोड़ इकसठ नियुत वर्ष

बताया है। यहां तक प्रतिनारायणों के उल्लेख बताए। पांचवे नारायण पुरुषसिंह का नामातर यहां नरसिंह के रूप में आया है (अ० ९७) किन्तु उनके द्वारा मारे गए दैत्य का नाम हिरण्यकशिपु बताया है। सातवें नारायण दत्त का विष्णु के अवतार के रूप मे वर्णन है (अ० ९८) किन्तु उनके किसी शत्रु का नाम नहीं है, दत्त (पूरा रूप दत्तात्रेय) अवतार दसवें त्रेतायुग का बताया है। आठवें नारायण लक्ष्मण को इसमें महत्त्व नही मिला है, उनके बन्धु रामचन्द्र चौबीसवे त्रेतायुग मे हुए बताए गए है (अ० ९८)। यही पर अट्ठाइसवे द्वापर युग मे हुए नवें नारायण श्रीकृष्ण का विस्तार से वर्णन है।

८. **अन्य कथाएं**—जैन कथाओ मे शलाका पुरुषों के रूप में गिने गए कथानायकों के उल्लेख अब तक बताए। अब अन्य कुछ कथासाम्यों का निर्देश करते है। पउमचरिय (अ० २०) मे आठवे चक्रवर्ती सुभौम के पिता कार्तवीर्य बताए है। कार्तवीर्य का विनाश परशुराम द्वारा तथा परशुराम का विनाश सुभौम द्वारा बताया है। वायुपुराण में (अ० ९४) राजा यदु के वशजों की दसवीं पीढ़ी में कार्तवीर्य अर्जुन का वर्णन है जिसे परशुराम ने मारा था, यहाँ सुभौम की कोई चर्चा नही है। एक अन्य प्रसग मे (अ० ९८) परशुराम उन्नीसवें त्रेतायुग के अवतार बताए है। कार्तवीर्य के सहस्र बन्धुओं द्वारा समुद्र को क्षुभित करने तथा रावण को पराजय करने की कथा है (अ० ९४)। पउमचरिय (अ० १०) में इससे मिलती-जुलती कथा मे राजा का नाम सहस्रकिरण बताया है। तथा उसकी जलक्रीड़ा में नर्मदा के जल के रोके जाने का वर्णन है, रुके हुए नर्मदाजल के पुन: प्रवाहित होने पर रावण की पूजा में विघ्न आने की तथा फलस्वरूप रावण और सहस्रकिरण के युद्ध होने की भी चर्चा है। किन्तु इसमें सहस्रकिरण की पराजय व तदनन्तर प्रव्रजित होने की घटना वायुपुराण से भिन्न है। दूसरा महत्त्वपूर्ण कथा-साम्य राजा वसु की कथा का है। पउमचरिय (अ० ११) में अयोध्या के राजा अजित के पुत्र वसु के बारे में कहा गया है कि यज्ञ में अज अर्पन करना चाहिए इस वाक्य में अज शब्द का अर्थ बकरा बता कर पशु बलि की प्रथा का उसने समर्थन किया था, फलस्वरूप वह अधोगति को प्राप्त हुआ था। अज शब्द का वास्तविक अर्थ तीन वर्ष से अधिक पुराने (अकुरित न होने योग्य) धान्यबीज बताया गया है। यही कथा वायुपुराण (अ० ४७) में है, यहाँ वसु के त्रेतायुग के आरम्भ के राजा उत्तानपाद का पुत्र बताया है, शेष कथा वैसी ही है, यद्यपि पशुहिंसा के स्पष्ट निषेध को यहां टाला गया है। इतना अवश्य कहा गया है कि यज्ञ की अपेक्षा तपस्या विशेष फलदायिनी है।

९. **उपसंहार**—ऊपर पउमचरिय वायुपुराण के मुख्य-मुख्य कथासाम्यों का विवरण दिया है। इससे स्पष्ट होगा कि इन दोनों में कौनसी परम्परा पूर्ववर्ती है यह कहना सरल नही है। ऋषभदेव तथा वसु की कथाएं स्पष्टत: जैन परम्परा से ली गई हैं। अन्य कथाओं में वायुपुराण में अद्भुत वर्णनों का बाहुल्य है कि जबकि पउमचरिय तथा उसके बाद के जैन पुराणों में अधिकांश वर्णन मानवीय धरातल के है। वायुपुराण मे कथाओं के कालानुक्रम में कई स्थानों पर उलझनें प्रतीत होती हैं जबकि पउमचरिय तथा उसके अनुवर्ती साहित्य की कथाओं का क्रम अपेक्षाकृत सुलझा हुआ है।

यह स्पष्ट ही है कि इन दोनों परम्पराओं की मूलभूत भूमिका मे बहुत अन्तर है—वायुपुराण ईश्वर की प्रेरणा से जगत की सृष्टि और प्रलय को आधारभूत मानता है, देवों और ऋषियों के कार्यकलापों के वर्णन मे भी जैन परम्परा से वह बहुत अधिक भिन्न है। तथापि उपर्युक्त विववरण से स्पष्ट होगा कि उनमें समानता के स्थल भी है।

सभव हुआ तो वैदिक परम्परा के अन्य पुराणों की कथाओं की समानता का विवरण देने का भी हम प्रयत्न करेंगे। ●

सुभाषित—**सुख स्वाधीन जु परिहरयौ, विषयनि पर अनुरागु।**
कमल सरोवर छांडि ज्यों, घट जल पीवै कागु।
सेये विषय अनादि तें, तृप्ति न कहूं सिराय।
ज्यों जल के सरितापति, ईंधन सिखि न अघाय। —**कविवर रूपचन्द**

अनेकान्त का दिव्य आलोक

पन्नालाल साहित्याचार्य

पदार्थ मे अनेक अन्त—धर्म रहते है। यहाँ अनेक का अर्थ ऐसा नही है कि जैसे जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व व अगुरुलघुत्व आदि गुण रहते है अथवा पुद्गल मे रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि। यहां अनेक का अर्थ विवक्षित और अविवक्षित परस्पर विरोधी दो धर्म है। जैसे—नित्य से विरोधी अनित्य, एक से विरोधी अनेक, भेद से विरोधी अभेद आदि। इन्हीं धर्मों को जो विषय करता है वह अनेकान्त कहलाता है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। 'स्यात्' इस निपात का अर्थ कथचित्—किसी प्रकार से होता है। एक पदार्थ में दो विरोधी धर्म किसी खास विवक्षा से ही रह सकते है एक विवक्षा से नही। 'देवदत्त पुत्र है' यह अपने पिता की अपेक्षा कथन है और देवदत्त पुत्र नही किन्तु पिता है यह अपने पुत्र की अपेक्षा कथन है। 'पदार्थ नित्य है' यह द्रव्य दृष्टि की अपेक्षा कथन है और 'पदार्थ अनित्य है' यह पर्याय दृष्टि की अपेक्षा कथन है। एक ही दृष्टि से पदार्थ नित्य और अनित्य नही हो सकता। वक्ता जिस समय द्रव्य दृष्टि को विवक्षित कर कथन करता है उस समय पर्याय दृष्टि अविवक्षित होने से गौण हो जाती है और जिस समय पर्याय दृष्टि को विवक्षित कर कथन करता है उस समय द्रव्य दृष्टि अविवक्षित होने से गौण हो जाती है। पदार्थ का निरूण करते समय उपर्युक्त दो दृष्टियो में से एक को मुख्य और दूसरी को गौण तो किया जा सकता है पर सर्वथा छोडा नही जा सकता। मनुष्य दो पैर से चलता है परन्तु आगे तो एक पैर ही बढ़ता है कभी दांया और कभी बाया। इससे यह फलित नहीं किया जा सकता कि एक ही पैर से चला जाय अथवा दोनो पैरो को साथ मिलाकर मेढक के समान उछलते हुए चला जाय। चलना तभी बनता है जब दोनों पैरों की अपेक्षा रक्खी जावे और एक को आगे तथा दूसरे को पीछे किया जावे।

समस्त संसार विरोधी बातों से भरा पडा है। उनके विरोध का निराकरण स्याद्वाद की पद्धति से ही हो सकता है। किसी एक पक्ष को खींचने से नहीं। अमृतचन्द्राचार्य ने अनेकान्त की महिमा का उद्घोष करते हुए पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में लिखा है :—

'परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥'

जो परमागम का प्राण है, जिसने जन्मान्ध मनुष्यो के हस्ति सम्बन्धी विधान को निषिद्ध कर दिया है तथा जो समस्त नय विकल्पों के विरोध को नष्ट करने वाला है उस अनेकान्त को नमस्कार करता हूँ।

इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ की रचना अमृतचन्द्र सूरि ने समयसारादि ग्रन्थों की आत्मख्याति टीका लिखने के बाद की है। समयसार की निश्चय प्रधान कथनी से कोई अपरिपक्व बुद्धि वाला श्रोता दिग्भ्रान्त न हो जावे इसलिए वे अनेकान्त का जयोद्घोष करते हुए कहते है कि :—

'व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥'

जो पदार्थ रूप से व्यवहार और निश्चय के स्वरूप को अच्छी तरह जानकर मध्यस्थ होता है वही शिष्य जिनेन्द्र भगवान् की देशना के पूर्ण फल को प्राप्त होता है।

ससार का प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्याय रूप है। द्रव्य के बिना पर्याय और पर्याय के बिना द्रव्य एक क्षण भी नही रह सकते। यह ठीक है कि द्रव्य एक है और पर्याय अनेक हैं, द्रव्य अविनाशी है और पर्याय विनाशी है। पर्याय एक के बाद एक आती है परन्तु द्रव्य उन समस्त पर्यायों में अनुस्यूत रहता है। द्रव्य को सामान्य और पर्याय को विशेष कहते है। यही सामान्य विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय होता है। द्रव्य का कथन

करते समय पर्याय की ओर भी दृष्टि रखनी पड़ती है। जब मनुष्य एकान्त रूप से द्रव्य दृष्टि या पर्याय दृष्टि बन जाता है तब उसके सामने अनेक समस्यायें खड़ी हो जाती हैं। जब यह प्राणी, मनुष्यादि पर्यायों को ही सर्वस्व समझ उनमे राग-द्वेष करने लगता है तो उसे द्रव्यदृष्टि से उपदेश दिया जाता है और जब द्रव्य को निर्विकार या शुद्ध मानकर स्वच्छन्द होता हैं तब उसे पर्याय दृष्टि का आलम्बन लेकर उपदेश दिया जाता है। नय परार्थश्रुतज्ञान के विकल्प है। जिससे दूसरे के अज्ञान निवृत्तिरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है उसे परार्थश्रुत ज्ञान कहते हैं। और जिससे अपना अज्ञान दूर होता है उसे स्वार्थश्रुतज्ञान कहते है। श्रुत ज्ञान स्वार्थ के सिवाय चारों ज्ञान स्वार्थ रूप है परन्तु श्रुत ज्ञान स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है। किस समय किसके लिए किस नय से उदेश देना चाहिए इसका उल्लेख कुन्दकुन्द स्वामी समयसार के प्रारम्भ मे ही कर देते है। वे आगे बढ़ने के पहले ही सूचनापट्ट लगा देते है कि शुद्धनय से किसे और व्यवहारनय से किसे उपदेश देना चाहिए :—

सुद्धो सुद्धादेशो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जेदु अपरमेट्ठिदा भावे॥

अर्थात् परमभाव—आत्मा को निर्विकार दशा का अवलोकन करने वाले महानुभावों के द्वारा—पर पदार्थ के सम्बन्ध से अनुत्पन्न वस्तु स्वभाव को कथन करने वाला निश्चय नय ज्ञातव्य है परन्तु जो अपरमभावहीन दशा में विद्यमान हैं वे व्यवहार नयके द्वारा उपदेश देने के योग्य है।

कुन्दकुन्द स्वामी के इस सूचना पट्ट को पढ़े बिना जो आगे बढते हैं उन्हें पद-पद पर विरोध मालूम होता है। समयसार में एक जगह लिखा है कि रागादिक पुद्गल के हैं और एक जगह लिखा है कि रागादिक आत्मा के हैं। एक जगह लिखा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता और एक जगह स्फटिक का दृष्टान्त देते हुए लिखा है कि आत्मा रागादि रूप परिणमन स्वयं नहीं करता है परन्तु अन्य कर्मों के द्वारा करता है।

इत्यादि विरोधी बातों का समन्वय नय विवक्षा को समझे बिना नहीं हो सकता। जहां निमित्त की मुख्यता से कथन है वहां रागादिक को पुद्गल के कहा है और जहां उपादान की मुख्यता से कथन है वहां आत्मा के कहा है। जहां द्रव्य की स्वकीय योग्यता को प्रधानता देकर कथन है वहा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है, ऐसा कहा है परन्तु जहां निमित्त नैमित्तिक भाव की अपेक्षा कथन है वहां आत्मा की रागादि रूप परिणति में परद्रव्य कर्म को कारण कहा है। द्रव्यादिक नय की अपेक्षा पदार्थ नित्य, एक तथा अभेद रूप है परन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य अनित्य अनेक और भेद रूप है।

स्याद्वाद न केवल जैन शास्त्रों में किन्तु लोक में सर्वत्र बिखरा हुआ है। जो स्याद्वाद का विरोध करते हैं वे भी स्याद्वाद के द्वारा ही अपनी लोक यात्रा सचालित करते है। इन्दुमोहन के पुत्र हुआ। वह इष्टजनों को समाचार देते सयय पिता को लिखता है—आपके पोता हुआ है, साले को लिखता है—आपके भानेज हुआ है, भाई को लिखता है—आपके भतीजा हुआ है। अरे! हुआ तो एक ही बच्चा है पर वह इन सब रूप कैसे हो गया? अनेक सम्बन्धियो की अपेक्षा ही तो अनेक रूप है।

गीता के दो प्रकरण मनन करने योग्य है :—

महाभारत की तैयारी थी। श्रीकृष्ण चाहते थे कि किसी प्रकार युद्ध टल जावे। इसी उद्देश्य से वे सन्धिकारक रूप मे दुर्योधन के पास गये। उन्होने दुर्योधन को अनेक प्रकार से समझाया। देख, ससार में किसी के दिन एक से रहने वाले नही है। आज राज्य तेरे हाथ मे है और युधिष्ठिरादि वनवासी हैं पर समय परिवर्तित हो हो सकता है। युधिष्ठिरादि कोई दूसरे नहीं हैं, तेरे ही हैं। इनसे द्वेष रखना तुझे लाभदायक नहीं है। श्रीकृष्ण की इस हितावह देशना को सुनकर दुर्योधन शान्त तो नहीं हुआ किन्तु उन्हें पाण्डवों का पक्षपाती समझ उनके साथ दुर्व्यवहार करने लगा। इधर देखिये—श्रीकृष्ण कह रहे थे—संसार में सबके दिन एक सदृश नहीं बीतते, परिवर्तित होते रहते हैं।

दूसरा प्रकरण देखिये—श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथि बनकर युद्धभूमि मे पहुँच चुके है। अर्जुन उनसे कहते हैं—भगवन्! सामने खडे हुए लोगों का परिचय कराइये। श्रीकृष्ण परिचय देते हुए कहते हैं-ये सामने भीष्मपितामह हैं, ये बगल में द्रोणाचार्य हैं और ये उनके बाजू में अमुक

(शेष पृ० ४१ पर)

संस्कृति की सीमा

प्रो० उदयचन्द्र जैन एम. ए. दर्शनाचार्य

व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र सभी की एक सीमा होती है। किसी एक पहलू उद्देश्य को लेकर होती है, किसी की जनहित के लिए। मनुष्य ने मनुष्यत्व पाने की सीमा पाई है उसमें जितने गुण-औगुण होते है वे इसी से सम्बध्य होते हैं, खीचा-तानी भी इसी के अन्दर मौजूद रहती है। रही संस्कृति, वह भी किसी के साथ जुड़ी हुई होती हैं। संस्कृति, संस्कार है और सस्कार सस्कृति है।

संस्कृति परम्परागत उस सुन्दर सरिता के समान है जो निरन्तर कोलाहल करती हुई प्रवाहित होती रहती है। संस्कृति को राष्ट्र की सीमा में नही बाधा जा सकता है। उसका सम्बन्ध इस प्रकार है, जैसा कि :—मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है :—"Culture is to know the best that has been said and thought in the world." अर्थात् विश्व के सर्वोच्च कथनो और विचारों का ज्ञान ही सच्ची सस्कृति है। मनुष्य के विकास का उत्कृष्ट साधन संस्कृति हैं। संस्कृति सरलता और सयम को प्रवाहित करने वाली है।

व्यक्ति का जन्म लेना मात्र ही या उसका विलीन होना ही नहीं, वह सब है उसकी एक नवीन जागृति ज्ञान की कुञ्जी, जिसे हम चाबी के नाम से सम्बोधन करते हैं। वास्तविकता क्या है? यह तभी जान या समझ सकते हैं जब हमें उसकी उपयोगिता का सही पता चले। यद्यपि वह किंचित् मात्र के लिए जानता और अनुभव करता है; फिर भी सही रूप से नही। यह गलती हमारी कहो या समाज की, राष्ट्र की या देश की। सभी अपने-अपने स्थान पर हैं। जिसने अपने आप उस लक्ष्य को विचारा तक नहीं, उसका समझना तो रहा दूर, मनन-चिन्तन कैसा; क्योंकि चिन्तन की कुछ कणिकायें होती हैं जो उसे संस्कृति के विकास की ओर बन्धन से मुक्त कराकर ले जाती हैं। एक दिन ऐसा आता है कि वह संगठित रूप से कानूनी दायरे आदि को जान-पहचान जाता है। और सहारा लेकर पथ का वास्तविक प्रदर्शन करता है। स्वयं अवलोकन का ढंग रीति-रिवाज उस ओर करके सीमा का खिचाव अर्थात् निर्माण कर देता है।

भौतिकता का आधुनिक रूप चित्रित करके विचारों-कथनों को एक सूत्र में पिरो देता और घोड़े की लगाम की तरह कसकर बांध देता। हां; पर बन्धन से यह तात्पर्य कदापि नही है कि वह व्यक्ति को जकड़कर रखे या केन्द्रित करे। यद्यपि केन्द्र एक बिन्दु की तरह माना गया है, वह छोटी घिरी हुई होती है इसलिए कहा जा सकता है कि इसका संतुलन ठीक नही है, यदि इसी पर-ज्यामिति तौरतरीके से विचार-विमर्श किया जाय तो निश्चित ही सूक्ष्मता, दीर्घता की ओर बढ़ती हुइ दिखलाई पडेगी। यही सस्कृति का हिसाब है। विषय छोटा होता हुए भी विचार की दृष्टि से इतना लम्बा है कि उसे समझना टेढी खीर है, फिर उसका विचार-विमर्श तो रहा कोसों दूर। जिस प्रकार दूरी का समानुपात लगाना पड़ता है उसी प्रकार विषय का भी।

अभी व्यक्ति को चलना मात्र आया है और वह चलता जाता है, पर उसे पता नहीं कि इस चलने मात्र से क्या हम, हमारी संस्कृति, राष्ट्र-देश, समाज उस पथ को पा सकता है जब तक व्यक्ति में मनन-चिन्तन की वास्तविकता मौजूद रहती है। वही सच्ची, सही और जग की अनोखी तथा अनुभव करने के योग्य रह सकती है। एक क्रिया का लोप होता है और दूसरी क्रिया का उसी ओर फिर से प्रयोग होता है, वह तभी जब हम विषय से विषयान्तर नहीं होते हैं। जब तक सांस है तब तक क्रियाओं का मौजूद होना स्वाभाविक है, अन्यथा उसकी गति में अवरोध हो जायगा, हलन-चलन की क्रिया पूर्ण रूप से समाप्त हो जायगीं; सिर्फ रह जायगा शरीर वह भी मिट्टी का ढेला है, उसकी कीमत कुछ भी नही है। संस्कारों की क्रिया बनी हुई है, सच्चाई स्रोत बह रहा है उसे रोकने वाला कोई नहीं है; फिर भी ऐसा कहना अपने आपको धोखे में डालना है, गलत रास्ते की ओर ले जाना है। जब ऐसा होगा तो हमारे पास कुछ नहीं रह जायगा, सिर्फ कपोल-कल्पनाओं के सिवा।

संयम की धारा कुछ ऐसी विचित्र अजीब-सी है कि

उस ओर छोटे-मोटे व्यक्ति का आना मुश्किल हो जाता है, उसका ध्यान तो रहा दूर। परम्परायें जिस प्रकार चलती हैं उसी प्रकार धारायें भी चलती है; चलन क्रिया यद्यपि दोनों में मौजूद-व्याप्त है, पर वैसी नहीं जैसी चाहिए। नदियों की धारा रुक सकती है, रोकी जा सकती है; पर समयरूपी धारा का प्रवाह चलता रहता है यदि किसी ने पकड लिया तो निश्चय ही संस्कृति एव संस्कृत की अनुभूति हो सकती है वरना कूप-मण्डूक की तरह बने रहेगे। उसी प्रकार क्रियायें उत्पन्न हो जाती है वे ससार को बिन्दु की तरह मानकर चलने लगती है, पर उसकी गहराई मे उतरने की कोशिश किसी ने नही की, उन्हे मालूम कहाँ है कि बिन्दु मे भी सिन्धु है, उसकी अपार सीमा है उसे मापा जाना हँसी खेल नही है। जिसे मालूम भी है तो वह मापने की कोशिश नहीं करता है। जानते हुए भी उसी मार्ग पर गमन करता है जहां दलदल है।

सामाजिकता संस्कृति का आधार है: वह उससे अछूती नही है, न उससे अलग है उसका सम्बन्ध कडी की तरह जुड़ा हुआ है। इसके शिथिल होने पर सस्कार टूट-बिखर एव छूट जाते है। छिन्न-भिन्न की क्रिया होने से समाज मे स्थिरता, राग-द्वेष जैसी भावनायें उत्पन्न हो जाती है जिससे समाज संस्कृति से अलग हो जाता है, समाज मे औगुण उत्पन्न हो जाते है; पर सामाजिकता उसी प्रकार ज्यो की त्यों बनी रहती है, व्यक्ति समाप्त हो जाता; व्यक्तित्व नही। संस्कृति का लोप याने समाज की सामाजिकता, मनुष्य की मनुष्यता एवं राष्ट्र की राष्ट्रीयता का भी। दोनों का रहना ही आधार की कोटि में आ सकता है। संस्कृति की परम्परा कई शताब्दी से चली आ रही है, यह समाज की क्रियाओं पर ही।

परम्परागत कुछ अनुभव होते है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को सचेष्ट करते हैं। पथ सूना नही है उसे बनाया जाता है, व्यक्तित्व गलत नही, गलत है व्यक्ति उसका आचरण आदि। हम सूक्ष्म दृष्टि डालकर देखें तो जरूर ही इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे।

संस्कृति को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं:—
(१) भद्र संस्कृति और (२) सन्त संस्कृति।

(१) भद्र संस्कृतिः—इसका रूप ऐश्वर्यता और विभूति का प्रतीक समझा जाता है; क्योंकि दुनिया का ज्ञान-विज्ञान, पराक्रम, वैभव इसी से सम्बन्धित हैं जो स्वयं दूसरे लोगों को पथ-प्रदर्शन एवं संकेत से सही धारा को प्राप्त कराते है; वह मनुष्य को मनुष्यत्व सिखलाती है, न कि समूचे अधिकार को प्रदान कर स्वीकार कराती है; वह चाहती है ऊँच-नीच वीर-धीर, योगी-सन्त, साधारण-असाधारण आदि। और:—

(२) सन्त संस्कृति:—जिसे योगी संस्कृति भी कह सकते है। ज्ञान की उत्कृष्ट दिशा, श्रद्धा, विश्वास और समन्वय को फैलाना इसका जन्मसिद्ध अधिकार है। यह मानव को स्वार्थ-भावना, ऊंच-नीच और बाह्य आडम्बर से बिलकुल विरक्त होने को कहती है।

संस्कृति की विभिन्न दिशायें होने के बावजूद भी अलग-अलग दिशाओं में नहीं बहती, यह एक-दूसरे की सीमा में किसी न किसी रूप में अवश्य मौजूद रहती हैं; फिर भी इसकी सीमा इतनी विशाल एवं विस्तीर्ण है कि उसे शीघ्रता से परखना मुश्किल हो जाता है। यह सब कमी मेरी आपकी है।

एक योगी को अपनी साधना का प्रदर्शन जीवन की सही अनुभूति सुख-दुख को जानने के बाद होती है। योग-तम साधना तब तक करता रहता है जब तक यम-नियम का प्रतिक्रमण. संचरण एवं प्रवाह मौजूद रहता है। वैसे तो निरक्षर सत्-असत् का अविचारक भी उस पर विच-रण करता है, आगे की ओर बढ़ता है; पर इसका बढ़ना मात्र कहा जायेगा और दूसरे का उसकी अनुभूति से कठो-रतम साधना की मौजूदी द्वारा विकास की ओर जाना। रहे तो एक ही, पर दोनों मे पृथकता है। सिर्फ यही ही नहीं है; अपितु एक जीवन को बाह्य क्रियाओं से हराकर उच्चतम विकास की ओर ले जाती है और समय-समय पर सच्चा पथ-प्रदर्शन भी करती है। और दूसरी इससे भिन्न क्रियाओं को प्रदर्शित करती है।

व्यापक अर्थ में संस्कृति को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है भौतिक और आध्यात्मिक। भौतिक संस्कृति में रहन-सहन एवं यन्त्र आदि कलायें आती है और आध्या-त्मिक संस्कृति में आचार-विचार और विज्ञान का समा-वेश रहता है जो सहज और सरल नहीं है।

संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का निर्माण करती है जीने की कला सिखलाती है। वह कल्पना मात्र नहीं है, जीवन का प्राणभूत तत्व है। नानाविध रूपों का समुदाय है। "सत्यं शिवं सुन्दरम्" का प्रतीक है। यह कभी रुकता नही है, पीढी-दर-पीढ़ी आगे बढ़कर धर्म; दर्शन, साहित्य और कला को प्राप्त कर लेता है; क्योकि सस्कृति मे निष्टा होने से मन की परिधि विशाल-विस्तीर्ण हो जाती है, उदारता की भावना झलकने लगती है अतः इसकी उपयोगिता परमावश्यक है, संस्कृति एक वृक्ष है, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र उसकी शाखायें है और सभ्यता पल्लवित पत्ते है। राजनीति, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र आधार है।

सस्कृति समाज, देश की विकृति को हटाने का एक सर्वश्रेष्ठ साधन है; मानव-जीवन का उत्कृष्ट तत्त्व है। नानाप्रकार के धर्म साधनों मे सामजस्य, कलात्मक प्रयत्न, योगमूलक अनुभूति और परिपूर्ण कल्पना शक्ति से पवित्रता की ओर ले जाने वाली है। जो मनुष्य की विजय पताका बनकर लहराने लगती है। इसी की साधना के बल पर विकृति से सस्कृति और सस्कृति से विकास की ओर निरन्तर गतिशील रहता है। इसकी आवश्यकता मनुष्य में मनुष्यत्व लाने, राग द्वेष आदि विकृतियां हटाने के लिए एवं आत्म-शोधन के लिये है।

भारतीय संस्कृति विश्वास, विचार, आचार की जीती-जागती महिमा है। जो संसार में मधुरता और सरसता को फैलाने वाली है, स्नेह, सहानुभूति, सहयोग और सह-अस्तित्व को जागृत करने वाली है, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाली है, आपसी भेद-भावरूपी कीचड़ से निकालकर स्वच्छ जल से भिन्न कमल की ओर ले जाने वाली है, विवेक की ओर ले जाने वाली है। ऐसे हितकारी अहिंसा के पुजारी, सत्य के आगार, समन्वय के आधार, मधुरता, करुणा और वैराग्य के प्रतीक राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गांधी हैं। जीते-जागते ज्वलन्त उदाहरण हैं। जो इस सिद्धान्त की कोटि में आ सकते है।

संस्कृति का मूल आधार आत्मा है जिसे "दयतां-दीयतां, दम्यताम्" इस एक सूत्र मे बांधकर दूसरे शब्दों में दया, दान, दमन कह सकते हैं। ये जन-जीवन के कण-कण में समाये हुए हैं जिसे आगमों, वेदों और उपनिषदों ने घ्याया है। क्रूरता से सुख न मिलने पर दया का प्रादुर्भाव हुआ है। सघर्ष शान्ति का कारण न होने से दान। भोग में सुख प्राप्त न होने से दमन की क्रिया।। ये मूल से एक होकर भी अनेक धाराओ की प्रतीक समझी जाती है। शरीर एक होते हुए भी विभिन्न ज्ञानों का अवयवों का प्रतीक समझा जाता है। इसे धरोहर की सम्पत्ति कहा जा सकता है जो स्थिर होते हुए भी चलायमान है। सस्कृति अनेक धाराओं मे बहने वाली है एक स्थिर होने पर भी। वेद मार्ग वैदिक सम्कृति है, पिटक मार्ग बौद्ध-सम्कृति है और आगम मार्ग जैन संस्कृति है। ये एक होकर भी वैदिक बौद्ध और आगम के रूप से अनेक धाराओं मे प्रवाहित है जो अपनी-अपनी विशेषता रखती है। वेद दान की, बौद्ध दया की और आगम दमन की।

भारत की संस्कृति का मूल तत्त्व अहिंसा और अनेकान्त, समता और समन्वय है जो हजारों वर्षों से चले आ रहे है, साथ ही मनुष्य को समय-समय पर जागरण कराते रहे है। ऋषभदेव से लेकर राम तक और राम से लेकर वर्तमान मे गाँधी युग तक। यह ठीक है कि बीच-बीच में रुकावटें भी आयी, परन्तु वे सही मार्ग को बदल न सकी। महावीर ने जन-चेतना के समक्ष अहिंसा और अनेकान्त को प्रस्तुत किया, समन्वयात्मक धारा को बहाया, उदारता और सहिष्णुता को दर्शाया, जो सत्य सिद्ध कहे जा सकते हैं। दूसरों के मतों को आदर से देखना और समझना अनेकान्तवादी कहा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर सम्राट् अशोक और हर्षवर्धन; जिन्होंने समान रूप से सभी धर्मों की सेवा की। मध्य युग में सम्राट् अकबर ने और नवयुग में गाँधी जी साक्षात् सिद्ध, सफल अभिनेता रहे। जो दृढ़ निश्चय विचारवादी थे, जन-जन को पावन-पवित्र बनाने वाले थे। स्नेह, सहानुभूति और सद्भाव आदि समता के सिद्धान्त इन्ही लोगों ने चित्रित किये और परस्पर की कटुता को बाहर निकाला।

संस्कृति का सम्बन्ध सभ्यता के साथ जुड़ा हुआ है। दोनों एक होते हुए भी विचार-प्रधान और आचार-प्रधान की दृष्टि से अलग है। संस्कृति का सही तात्पर्य मोह के आवरण को हटाना है और सभ्यता का—सुसंस्कृत विचारों

को आचार रूप देना, उन्हें जीवन के व्यवहार में लाना एवं कला आदि के द्वारा अभिव्यक्त करना। एक शरीर है और दूसरा आत्मा है। एक जीवन की चेतना है और दूसरी जीवन की अभिव्यक्ति है। दोनो भिन्न होते हुए भी आत्मा और शरीरवत् एक-दूसरे से सम्बद्ध है। ससार में स्थित आत्मा शरीर के बिना नहीं रह सकता। जहाँ आत्मा का अस्तित्व होता है, चेतना का स्रोत बहता है, वहां शरीर अवश्य होता है। परन्तु शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध नही है, कभी रहता है, कभी नही भी। शव के रूप में शरीर रहता है, आत्मा नहीं। शरीर का प्रत्येक अग, प्रत्येक पहलू किसी न किसी रूप मे अवश्य जुड़े रहते हैं।

जीवन मे जितनी आवश्यकता संस्कृति की हो सकती है, उससे कही अधिक सभ्यता की भी है। परन्तु केवल सभ्य कहा जाने वाला सस्कृत होगा यह नियामक नियम नही है। असंस्कृत व्यक्ति भी सभ्य हो सकता है। अतः सस्कृति के साथ सभ्यता का होना अनिवार्य है।

सभ्यता जीवन-व्यवहार को चलाने की एक कला है इसके बिना व्यक्ति का जीवन पख से रहित पक्षी के अपूर्ण जीवन की तरह है; क्योकि वह गन्तव्य मार्ग को प्राप्त नही हो सकता है। इसी प्रकार व्यक्ति, समाज और राष्ट्र भी।

संस्कृति जीवन की ज्योति है, प्रकाश है। इसे हम "Divine light." आत्मज्योति कहते है। सभ्यता जीवन की गति है। इन दोनों का वास्तविक कार्य निर्दिष्ट पथ पर चलना, सही मार्ग का प्रदर्शन करना है। ये ललित, सुन्दर, सुहावने, सुकोमल और सुगन्धित पुष्प हैं जो जन-जन के मन-मस्तिष्क को ताजगी प्रदान करते हैं। अतः संस्कृति और सभ्यता एक ही वस्तु के दो पहलू हैं जो एक सीमा के घातक हैं। वह मानव के विकास की ओर नही, विनाशकी ओर ले जाती है। सभ्यतासे रहित संस्कृति केवल दिमागी कसरत है उसके जीवन का विकास सम्भव नही।

भारतीय संस्कृति की एक अन्तरात्मा है, जो विरोध विनोद विवधता में समन्वय तथा सामंजस्य। जीवन मे सरसता और मधुरता को बरसाने वाली योग-साधना, उदार भावना और शान्त एवं शुद्ध हृदय। यह युद्ध जैसे दारुण अवसर पर भी वैर के बदले प्रेम, क्रूरता के बदले मृदुता और हिंसा के बदले अहिंसा। जैसा कि कहा है—"संस्कृति, शारीरिक, मानसिक, शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढीकरण, प्रकटीकरण एवं विकास करना है।" यह एक ऐसी सस्कृति है, जिसमें अधिक से अधिक विभिन्न जातियों की मानसिक एवं आध्यात्मिक एकताका प्रतिनिधित्व है।●

(पृ० १३७ का शेष)

तमुक है। इस तरह परिचय पाने पर अर्जुन कहते है—भगवन् मेरा रथ वापिस ले चलिये मुझे राज्य नहीं चाहिए। जिन भीष्मपितामह की गोद मे मैं खेला हूँ और जिन द्रोणाचार्य से धनुर्विद्या सीखी है उन्ही के प्रति शस्त्र उठाना पड़े जिस राज्य के लिए, उस राज्य की मुझे चाह नहीं है, मैं जंगल मे ही रहना पसन्द करता हूँ। अर्जुन की मनोदशा को पहचान कर श्रीकृष्ण कहते हैं—देख अर्जुन! इन सबकी आत्मा अजर-अमर, अविनाशी है। है। आत्मा को शस्त्र नही छेद सकते, अग्नि नहीं जला सकती, पानी नहीं गला ककता, हवा नहीं सुखा सकती। जिस प्रकार वस्त्र बदलने से शरीर नहीं बदला जाता उसी प्रकार शरीर बदलने से आत्मा नही बदलती।

श्रीकृष्ण का यह सब उपदेश नित्यता को लेकर हैं। गीता में हम अनित्य और नित्य दोनों प्रकार का उपदेश नही पाते हैं। पर क्या यह परस्पर विरुद्ध उपदेश एक ही प्रकरण में? एक ही उद्देश्य से? नहीं, प्रकरण पृथक् है, उद्देश्य पृथक् है। दोनों उपदेशों का समन्वय बिना अनेकान्त या स्याद्वाद का आश्रय लिए नहीं हो सकता। सांख्यदर्शन पदार्थ को सर्वथा नित्य मानता है और बौद्ध दर्शन सर्वथा अनित्य मानता है। न सर्वथा नित्य मानने में पदार्थ की व्यवस्था बनती है और न सर्वथा अनित्य मानने में। अतः अपेक्षाकृत नित्यानित्य मानना आवश्यक है। अनेकान्त ही समस्त द्वन्द्वों का शमन करने वाला है, इसी लिए उसे परमागम का प्राण तथा समस्त नय विलासों के विरोध को नष्ट करने बाला कहा गया है।

यह स्मर्तव्य है कि अनेकान्त का व्याख्यान विरोध को दूर करने वाला नहीं है किन्तु अनेकान्त का उपयोगी-करण ही विरोध को दूर करने वाला है। जब तक इस अनेकान्त सिद्धान्त को जीवन मे नही उतारेंगे तब तक विरोध शान्त होने वाला नहीं है।

अनेकान्त का दिव्य आलोक ही शाश्वत सुखदायक है।

●

सानोली ग्राम में उपलब्ध प्राचीन मूर्तियां

महेशकुमार जैन

राजस्थान के अलवर जिले में अरावली पर्वत की शाखा सानोली पहाड़ी की घाटी में स्थित सानोली ग्राम आज जनजन के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। इसी ग्राम के एक निवासी श्री बहराम को पिछले दिनों अपने खेत में खुदाई करते समय अष्ठ धातु की भव्य एवं मनोहारी सात दिगंबर जैन प्रतिमाएं, पद्मावती की दो मूर्तियां तथा पूजा के तीन बर्तन प्राप्त हुए थे। सभी मूर्तिया सुरक्षित है।

रेतीले, ऊबड़-खाबड़ रास्ते को पार कर जब मै दिल्ली से ७३ मील दूर सानोली गाव पहुँचा, तो ग्रामीणो ने मुझे घेर लिया और पूछा आप जैनी है ?

मैंने 'हां' कहकर जब उनसे यह पूछा कि क्या इस गांव में कोई जैन रहते है, तो सभी ग्रामीणों ने एक स्वर से कहा, 'यह अहीरो गांव अवश्य है, पर यहां तो सभी जैनी ही जैनो है ? यहा के एक शिक्षित प्रौढ़ श्री प्रताप सिंह यादव ने कहा, 'इस गाव का कोई भी वृद्ध, युवक और बालक सदियो से मांस, शराब, तंबाकू और हुक्का व बीड़ी छूता तक नहीं, फिर आप बताएं हम अहीरो और जैनो मे क्या फर्क रहा, हम जैन नही है तो और क्या है ? इन सब चीजो के खाने-पीने वाले को हमारे यहां समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

भोले-भाले ५० वर्षीय बाबा बहराम की खुशियों का आजकल पारावार ही नही। उनके पास अपनी २२ बीघा जमीन है तथा उनके एक पुत्र और पुत्री है। जो भी व्यक्ति उनके पास जाता है, वह उससे प्रेम से मिलते है, उसे पूरी घटना सुनाते है, उनकी यही कोशिश रहती है कि मूर्तियों के दर्शन के लिए गांव मे आये किसी व्यक्ति को कोई तकलीफ न हो, बार-बार कहने पर भी वह बिना चाय पिलाये उठने नही देते।

बाबा बहराम से जब मैंने मूर्तिया मिलने की घटना के बारे मे पूछा तो वह जमीन पर मेरे बराबर बैठ गये और बोले, उस दिन की घटना तो मैं जीवन मे कभी न भूला सकूंगा। परमात्मा ने मेरे तो सभी कष्ट दूर कर दिये। गत २१ जूलाई की बात है, सुबह नौ बजे के लगभग अपने खेत में खड़े जांट (शमी) के पेड़ को मैं काट रहा था, क्योंकि मुझे अपने मकान में छप्पर के लिए लकड़ी की जरूरत थी। मैंने पेड़ काट दिया और जमीन खोदकर जड़ें निकालने लगा।

मैंने तीन चार फुट ही खोदा था कि मुझे एक बर्तन (गंधोदक पात्र दिखाई दिया, बर्तन को देखकर मुझे कुछ दहशत सी हुई मैंने बर्तन उठाकर बाहर निकाला, तो उसके नीचे गोलाकार में मूर्तियां रखी दिखाई दी, जब मेरी हिम्मत जवाब दे गयी और मैंने तुरंत ही बराबर के खेतो मे ऊंट चरा रहे लोगों को आवाज दी। उनके पहुँचने पर मैंने मिट्टी मे दबी सभी नौ मूर्तियां तथा दो और बर्तन निकाले। चार दिन तक तो हमने मूर्तियों को घटनास्थल पर ही रखे रहने दिया तथा उनकी दिन-रात चौकसी की।

कुछ लोगों ने मुझे इन मूर्तियों को सरकार को सौपने की सलाह दी, पर मैने इन्हे गांव वालों को ही सौप देना ठीक समझा, खेत से हम मूर्तियों को जलूस मे लाये और गाव के बीच इस देवालय मे प्रतिष्ठित कर दिया।

सानोली के निवासियो ने अपने गांव मे जैन मंदिर बनवाने के लिए दस बीघा जमीन देने का निश्चय किया है। बाबा बहराम ने कहा—मेरे खेत मे जिस स्थान से मूर्तिया निकाली है, वहा 'चरण' स्थापित हो चुके है, मैने उक्त स्थान के इर्द-गिर्द का चार बीघा का अपना खेत इस काम के लिए देने का सकल्प किया है, मंदिर के लिए गांव वालों ने एक समिति बना ली है।

गांव के एक वृद्ध बाबा बुधराम ने कहा, बाबू शाम यही ठहरिये और 'आरती' लेकर जाइए। उन्होंने कहा कि प्रातः और सायं गांव का प्रत्येक नर-नारी और बालक इस मंदिर मे इकट्ठा होता है तथा आरती उतारी जाती है। यह ठीक है कि गांव में कोई धर्मशाला नहीं, संभव है आपको रात में ठहरने में कठिनाई हो, पर जहां तक हो सकेगा, हम आपको कोई तकलीफ न होने देंगे।

गांव वालों ने बताया कि सानोली ग्राम देश रक्षा कार्यों में भी सदैव आगे रहा है गांव के कई जवान चीनी और पाकिस्तानी दुश्मन से जूझते हुए शहीद हो गए।

गाँव के अनेक युवक आज भी फौज में सीमा पर तैनात हैं।

मेरे यह पूछने पर कि इन मूर्तियों के निकालने पर क्या गाँव में कोई विशेष बात हुई, तो वहाँ एक के बाद एक चर्चा चल पड़ी। वहीं बैठे ७० वर्षीय श्री शिव-नारायण यादव ने कहा, "मैं वायु के दर्द के मारे अपने जीवन से परेशान आ गया था। मैंने आरती के बाद भगवान से प्रार्थना की और एक रु. का प्रसाद बोला। मेरा वर्षों पुराना वायु का दर्द दूर हो गया।"

भूतपूर्व फौजी जुगलाल ने कहा, "मेरी भैंस का पड़ा मर गया था तथा वह दूध नही देती थी। मैंने प्रसाद बोला और उसी वक्त से मेरी भैंस दूध देने लगी ?

झम्मन नाई ने कहा कि भगवान के प्रताप से महीनों पूर्व खोयी मेरी अंगूठी मिल गयी। एक अन्य ग्रामीण ने कहा कि पिछले वर्ष हमारे एक आदमी की, जो कि दिल्ली से यहाँ आया था, अंगूठी खो गयी थी। मूर्तियाँ निकली सुनकर एक वर्ष बाद जब वह पुनः पिछले दिनों गाँव आए, तो उन्हे वही अंगूठी रास्ते में मिट्टी पर सामने ही ऊपर रखी मिली। गाँव के इस रास्ते पर हर रोज प्रातः से साय तक सैकड़ों लोग गुजरते है।

आपको शायद यह जान कर आश्चर्य हो कि सानोली ग्राम के ठीक बीच में आज भी एक ऐसा नगाड़ा रखा है, जिसके बजाते ही मिनटों मे गाँव का हर निवासी अपने सभी काम-काज छोड़ कर नगाड़ा स्थल पर पहुँच जाता है।

नगाड़े का उपयोग गाँव पर संकट अथवा किसी विशेष अवसर पर किया जाता है। यह नगाड़ा जैन देवा-लय के निकट ही रखा है।

कुछ ग्रामीणों ने कहा—हम लोग अपने गाँव सानोली का नाम बदल कर देव भूमि रखना चाहते है। इस गाँव की भूमि पर देवताओं का वास है। ७० वर्ष पूर्व भी यहाँ पहाडी के निकट भगवान विष्णु की एक विशाल पत्थर की मूर्ति जमीन में दबी मिली थी। उक्त मूर्ति यहाँ एक मंदिर में प्रतिष्ठित है।

पिछले दिनों गाव के पाँच वृद्धों—बाबा बहराम, बाबा किशनलाल, बाबा हरपाल, बाबा रामचन्द्र और बाबा बुधराम ने जैन आचार्य श्री विमल सागर जी के पास पहुँच कर नियम लिए।

खुदाई में प्राप्त लगभग सभी मूर्तियां एक हजार वर्ष प्राचीन है। मूर्तियाँ भगवान पार्श्वनाथ, श्री श्रेयांस नाथ तथा पदमावती देवी की है। पूजा के तीन वर्तन—सागर, धूपदान, गधोदक पात्र है।

सानोली गाँव मे खुदाई में जिस ढंग से मूर्तियाँ मिली उससे स्पष्ट है कि उक्त मूर्तियों को खंडित होने से बचाने के लिए जमीन में गाड दिया गया। गाँव के कुछ पढे-लिखे लोगों ने बताया कि जिस जगह ये मूर्तियाँ निकली हैं, वह सम्पूर्ण क्षेत्र सनोदखेडा कहलाता था। कुछ लोग उक्त क्षेत्र का नाम बिलासपुर तथा कांतिगढ भी बताते है।

कहते है जब मेवों ने हमला कर इस क्षेत्र को जीत लिया, तो लोगों ने इन मूर्तियों को खंडित न होने देने के लिए इन्हें जमीन में गाड दिया। कालातर मे अहीरों ने मेवों को मार भगाया और सनोदखेड़ा क्षेत्र वीरान हो गया। अहीरों ने सनोदखेडा के निकट ही यह सालोनी गाँव बसाया।

सालोनी गाँव की आबादी लगभग एक हजार है तथा यहाँ लड़के-लड़कियो का एक स्कूल भी है। गाँव तक पहुँचने के लिए कोई पक्का रास्ता भी नही है। रेतीले, ऊबड-खाबड मार्ग को पार कर गांव पहुँचना होता है। इस गांव में यात्रियों की भीड़ को देखते हुए आशा है। सरकार इस गांव के लिए पक्की सड़क बनाने की ओर शीघ्र ध्यान देगी।

रेल और सडक दोनों ही मार्गों से सानोली गांव पहुँचा जा सकता है। सानोली गांव हरियाणा के बावल रेलवे स्टेशन से १० मील दूर है। बावल से सानोली के लिए सवारी मिल जाती है। राजस्थान मे अजरका रेलवे स्टेशन सानोली से आठ मील दूर स्थित है। अजरका से ऊँटों पर सानोली पहुँचा जा सकता है। सानोली से १८ मील दूर खैरतल रेलवे स्टेशन है। जहां से सानोली के के लिए सवारियां मिल जाती हैं। सानोली दिल्ली से ७३ मील दूर है। तथा मोटर-कार व जीप द्वारा भी पहुँचा जा सकता है।

अब मुखरित विनाश के पथ पर नूतन अनुसन्धान है ।

कल्याणकुमार जैन 'शशि'

मानव के चरित्र का, दिन दिन होता जाता ह्रास है ।
सात्विकता की निधियों पर अब रहा नहीं विश्वास है ।
विश्व हड़प लेने की प्रतिदिन बढ़ती जाती प्यास है ।
कथनी और करनी में दिखता, घोर विरोधाभास है ।
रोम रोम में व्याप्त हो रहा अर्न्तहाहाकार है ।
भौतिकता का भूत, हमारे सिर पर आज सवार है ।

आज चन्द्रमा को ग्रसने की लगी भयंकर होड़ है ।
पत्थर ही पा सके वहाँ भी, किन्तु अभी तक दौड़ है ।
अध्यात्मिकता इन्हें न छूती, भौतिकता के भक्त हैं ।
भू-पर इनको कुछ न मिल रहा, ये नभ पर आसक्त हैं ।
इनके लिए व्योम, वैभव है, मातृ भूमि निःसार है ।
भौतिकता का भूत, मनुज के सिर पर हुआ सवार है ।

कितनी धरती का स्वामी हो, पर न जरा सन्तोष है ।
छल प्रपंच लम्पटता पर अधिकारों का जयघोष है ।
अब मानवता के विरुद्ध ही उमड़ रहा अति-रोष है ।
अन्तरङ्ग में भरा दीखता, घोर घृणा का कोष है ।
रण-विभीषिकाओं में सारा रँगा हुआ संसार है ।
भौतिकता का भूत मनुज के सिर पर हुआ सवार है ।

अणु की उन्नति पर रीझा है, फल का रन्च न ध्यान है ।
मानवता का क्षय करने में, बना हुआ पाषाण है ।
रही न मानवता की इसको आज तनिक पहचान है,
अब मुखरित विनाश के पथ पर, नूतन अनुसंधान है ।
शान्ति नाम की बँधी हुई, 'रण-गृह' पर बन्दनवार है ।
भौतिकता का भूत मनुज के सिर पर आज सवार है ।

शास्त्रीयचर्चा—

अलब्धपर्याप्तक और निगोद

पं० मिलापचन्द्र रतनलाल जैन कटारिया

संसारी जीव पर्याप्तक, निवृत्य पर्याप्तक और अलब्धपर्याप्तक ऐसे तीन प्रकार के होते है। अलब्धपर्याप्तक का पर्याय नाम लब्ध्यपर्याप्तक भी होता है[1]। जिस भव मे जितनी पर्याप्तियें होती हैं उतनी को जो पूर्ण कर लेते है वे जीव पर्याप्तक कहलाते हैं। अगर उनके कम से कम शरीरपर्याप्ति भी पूर्ण हो जाये तब भी वे पर्याप्तक कहला सकते है। और जो पर्याप्तियों को पूर्ण करने मे लगे हुए हैं किन्तु अभी शरीर पर्याप्ति को भी पूरी नही की है आगे पूरी करने वाले हैं वे जीव निवृत्यपर्याप्तक कहलाते है। तथा जो जीव एक उच्छ्वास के १८वे भाग प्रमाण आयु को लेकर किसी पर्याय मे जन्म लेते है और वहां की पर्याप्तियों का सिर्फ प्रारंभ ही करते है। अत्यल्प आयु होने के कारण किसी एक भी पर्याप्ति को पूर्ण न करके मर जाते है वे जीव अलब्धपर्याप्तक कहलाते हैं। ऐसे जीवो के भव क्षुद्रभव कहलाते है। वे जीव १ उच्छ्वास मे १८ बार जन्मते है और १८ बार मरते है। इस प्रकार के क्षुद्रभवों के धारी अलब्धपर्याप्यक जीव ही होते है, अन्य नही। सभी सम्मूर्छन जन्म वाले जीव पर्याप्तक, निवृत्य-पर्याप्तक और अलब्धपर्याप्तक होते है। शेष गर्भ और उपवाद जन्म वाले जीव पर्याप्तक-निवृत्यपर्याप्तक ही होते है, अलब्ध पर्याप्तक नहीं होते। विशेष यह है कि—सिर्फ सम्मूर्च्छिम मनुष्य अलब्धपर्याप्तक ही होते है। वे पर्याप्तक-निवृत्यपर्याप्तक नही होते है। सभी एकेंद्रिय-विकलेन्द्रिय जीवों का एकमात्र सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है। संज्ञीअसंज्ञी पंचेंद्रिय नरतिर्यंच सम्मूर्च्छन जन्म वालेभी होते हैं और गर्भज भी होते हैं। भोगभूमि में सम्मूर्च्छम त्रस जीव नहीं होते है। अतः वहां अलब्धपर्याप्तक त्रस जीव भी नहीं होते हैं। दिगंबर मत में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों को भी संज्ञी माना है। परन्तु श्वेताम्बर मत में उन्हें असंज्ञी माना है और उनकी उत्पत्ति भोगभूमि में भी लिखी है। जो जीव अलब्ध पर्याप्तक होते हैं उनकी जघन्य और उत्कृष्ट आयु एक उच्छ्वास के १८ वें भाग मात्र होती है। अर्थात् न इससे कम होती और न इससे अधिक होती है।

दिगबर मतमें मनुष्यों के ९ भेद इस प्रकार बताये हैं—

आर्यखंड, म्लेच्छखंड, भोगभूमि और कुभोगभूमि (अन्तर्द्वीप) इन ४ क्षेत्रों की अपेक्षा गर्भज मनुष्यो के ४ भेद होते हैं। ये चारों ही पर्याप्त-निर्वृत्य पर्याप्त होनेसे ८ भेद होते हैं। सम्मूर्च्छन मनुष्य आर्यखंड में ही होते है और वे नियम से अलब्धपर्याप्तक ही होते है। अतः उसका एक ही भेद हुआ। इस १ को उक्त ८ में मिलाने से कुल ९ भेद मनुष्यों के होते है।

अलब्धपर्याप्तक जीव एकेन्द्रिय को आदि लेकर पांचों ही इंद्रियों के धारी होते हैं। एकेन्द्रियों में पृथ्वीकायिक आदि अलब्धपर्याप्त-स्थावर जीव अपनी २ स्थावरकाय में पैदा होते हैं। इसी तरह विकलत्रय अलब्धपर्याप्तकों के उत्पत्तिस्थान भी पर्याप्त विकलत्रयों की तरह ही समझने चाहिये। तथा सम्मूर्च्छिम पर्याप्त तिर्यंचों के भी जो-जो उत्पत्तिस्थान होते हैं, उन्ही में सम्मूर्च्छिम अलब्धपर्याप्तक पंचेंद्रिय तिर्यंचों की उत्पत्ति समझ लेनी चाहिये। क्योंकि ये अलब्धपर्याप्तक जीव गर्भज तो होते नही, ये तो सब सम्मूर्च्छिम होते है। अतः जैसे अन्य पर्याप्त सम्मूर्च्छिम त्रसजीव इधर-उधर के पुद्गल परमाणुओं को अपनी कायें बनाकर उनमे उत्पन्न हो जाते हैं। उसी तरह ये अलब्धपर्याप्तक त्रस जीव भी उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु अलब्धपर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति स्थान के विषय मे स्पष्ट आगम निर्देश इस प्रकार है। —"कर्म भूमि मे चक्रवर्ति-बलभद्र—नारायण की सेनाओं में जहां मल मूत्रों का क्षेपण होता है उन स्थानों में, तथा वीर्य, नाक का मल, कान का मल दंतमल, कफ इत्यादि अपवित्र पदार्थों में सम्मूर्च्छिम

---

१. शास्त्रों में सिर्फ 'अपर्याप्तक' शब्द से भी इसका उल्लेख किया है।

मनुष्य उत्पन्न होते हैं। वे अलब्धपर्याप्तक होते है और उनका शरीर अगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है।

"मूलाराधना पृष्ठ ६३८"

गोम्मटसार जीवकांड की गाथा ६३ में लिखा है कि —सम्मूर्च्छिम मनुष्य नपुसक लिंगी होते है। इसी प्रसंग में इस गाथा की संस्कृत टीका में लिखा है कि— "स्त्रियो की योनि, कांख, स्तन मूल और स्तनों के अतराल में तथा चक्रवर्ती की पटराणी बिना अन्य के मल-मूत्रादि अशुचि स्थानों में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते है।

श्री कुंदकुंदाचार्य सूत्रपाहुड में लिखते हैं कि—

लिंगम्मिय इत्थीणं थणतरे णाहिकक्खदेसेसु।

भणिओ सुहुमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥

अर्थ—स्त्रियों की योनि मे, स्तनों के बीच में, नाभि मे और कांख में सूक्ष्म शरीर के धारक जीव (सम्मूर्च्छिम-मनुष्य) कहे गयेहै। अतः उनकी महाव्रती दीक्षा कैसे हो सकती है?

इस विषय में कवि द्यानतराय जी का निम्न पद्य देखिये—

नारि जोनि थन नाभि कांख मे पाइये।

नर नारिन के मलमूत्तर में गाइये॥

मुरदे में सम्मूर्च्छिम सैनी जीयरा।

अलबधपरयापती दयाधरि हीयरा॥

—"धर्मविलास"

लोकप्रकाश (श्वेतांबर ग्रन्थ) के ७वें सर्ग के श्लोक ३ से २ में लिखा है कि—

"मल, मूत्र, कफ, नासिकामल, वमन, पित्त, रक्त, राध, शुक्र, मृतक्लेवर, दंपत्ति के मैथुनकर्म में गिरने वाला वीर्य [२]पुरनिर्द्धमन (खाल-चर्म, गंदी नाली), गर्भज मनुष्य संबंधी सब अपवित्र स्थान, इतनी जगह सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होती है[१]।

ऐसा झलकता है कि—जैनधर्म के जिन फिरकों मे स्त्री मुक्ति मानी है उनके यहां स्त्रियों के नाभि, कांख, स्तन आदि अवयवों में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति का कथन नहीं किया है।

इनकी उत्पत्ति अढाई द्वीप से बाहर नहीं है। क्योंकि जिन पदार्थों मे इनकी उत्पत्ति होती है वे सब गर्भज मनुष्यों मे सबंधित होते है।

लोक मे भोगभूमि-कर्मभूमि के जितने भी मनुष्य होते हैं उनसे असंख्यात गुणी संख्या इन सम्मूर्च्छिम मनुष्यो की

---

२. जैनागम शब्दसंग्रह (अर्धमागधी—गुजराती कोश) में पृ० ३६८ पर इसी का पर्यायवाची "णगरनिद्धमण" (नगरनिर्धमन) का अर्थ इस प्रकार दिया है—शहर का गंदा पानी निकालने का मार्ग, खाण। यहां दोनों अर्थ उपयोगी है, दोनों में सम्मूर्च्छिम मनुष्योत्पत्ति होती है।

३. (i) जीवसमास की मलधारी हेमचन्द्र कृत संस्कृत वृत्ति (श्वे०) में लिखा है—सम्मूर्च्छनं—गर्भनिरपेक्षं वात पित्तादिष्वेवमेव भवनं संमूर्च्छस्तस्माज्जाताः संमूर्च्छजा मनुष्याः एते च **मनुष्यक्षेत्र एव गर्भजमनुष्यामेवोच्चारादिषूत्पद्यंते नान्यत्र,** यत उक्तं प्रज्ञापनायाम्—"कहि णं भंते! सम्मुच्छिम मणुस्सा समुच्छति? गोयमा! अंतो मणुस्स खेत्ते पणया लीसाए जोयणसय सहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पण्णाए अतर दीवेसु गब्भवक्कतिय **मणस्साणं** चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्क पोग्गल-परिसाडेसु वा थीपुरिस सजोएसु वा **नगरनिद्धमणेसु** वा सव्वेसु चेव अणुइएसु ठाणेसु संमूच्छिम मणुस्सा समुच्छंति, अंगुलस्स असखेज्जइभागमित्ताए ओगाहणाए **असण्णी** मिच्छादिट्ठी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्ताउया चेव कालं करेंति, सेत्त सम्मुच्छिम मणुस्सा।"

(ii) कह भयवं उववज्जेपणिदि मणुया सम्मुच्छिमाजीवा।
गोयम! मणुस्सखित्ते णायव्वा इत्थ ठाणेसु॥
उच्चारे पासवणे खेले सिंघाणवंत पित्तेसु।
सुक्के सोणिय गयजीवकलेवरे नगर णिद्धमणे॥
महुमज्जमंस मंखण थी संगे सव्व असुइठाणेसु।
उप्पज्जंति चयंति च समुच्छिमा मणुय पंचिंदी॥
(ब्लेक टाइप में छपे शब्द अन्यत्र नहीं मिलते)
—विचारसार प्रकरण (प्रद्युम्न सूरि) जीवाभिगमे

रहती है। ऐसा मूलाचार पर्याप्ति अधिकार की गाथा १७५–१७८ और त्रिलोकप्रज्ञप्ति अधिकार ४ गाथा २९३४ मे कहा है।

जिस प्रकार सभी सम्मूर्च्छिम मनुष्य अलब्ध पर्याप्तक होते है और उनकी काय एक अंगुल के असंख्यातवें भाग-प्रमाण की होती है, उस प्रकार से न तो सभी सम्मूर्च्छिम पचेद्रियतिर्यच अलब्धपर्याप्तक होते है और न उन सबकी काय एक अंगुल के असख्यातवें भाग की ही होती है। बल्कि सम्मूर्च्छिम पचेद्रियतिर्यच मत्स्य की काय तो एक हजार योजन की लिखी है। जबकि गर्भज तिर्यचो में किसी भी तिर्यच की काय पाच सौ योजन से अधिक नही लिखी है। तथा न केवल सम्मूर्च्छिम पचेद्रिय तिर्यच ही कि-तु एकेद्रिय से चौइद्रिय तक के तिर्यच भी सब ही अलब्धपर्याप्तक नही होते है। हा जो तिर्यच अलब्धपर्याप्तक होते है उन सबकी काय अलबत्ता एक अगुल के असख्यातवे भाग की होती है। किन्तु इसमे भी तरतमता रहती है; क्योकि असख्यातवे भाग के भी हीनाधिक भाग होते है। इसलिए तो आगम मे लिखा है कि—सबसे छोटा शरीर सूक्ष्म निगोदिया अलब्धपर्याप्तक का होता है। अगर सभी अलब्धपर्याप्तकों के शरीरो का प्रमाण एक समान होता तो केवल सूक्ष्मनिगोदिया का ही नाम नहीं लिखा जाता। (देखो त्रि० प्रज्ञप्तिद्वि० भाग पृ० ६१८)।

अलब्धपर्याप्तक जीव सूक्ष्म और बादर दोनो तरह के होते हैं। तथा ये प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति कायिक ही नहीं किन्तु सभी स्थावरकाय और सम्मूर्च्छिम-त्रसकाय के धारी होते है। तथा ये एक श्वास मे १८ बार जन्म-मरण करते है।

कितने ही शास्त्रसभा मे भाग लेने वाले जैनी भाई यह समझे हुए है कि—जो १ श्वास मे १८ बार जन्म-मरण करते है वे निगोदिया जीव होते हैं। यह उनकी भ्रांत धारणा है। एक श्वास मे १८ बार जन्म-मरण करना यह निगोदिया जीव का लक्षण नही है। यह तो अलब्धपर्याप्तक जीव का लक्षण है[४]। ऐसे अलब्धपर्याप्तक जीव तो केवल निगोद मे ही नही, अन्य स्थावरों और त्रसों में भी होते है। जहां वे एक उच्छवास में १८ बार जन्म-मरण करते है। इसलिए एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करना यह निगोदिया का कतई लक्षण नहीं है। किन्तु एक शरीरमे अनत जीवों का रहना यह निगोद का निर्बाध लक्षण है। निगोद का ही दूसरा नाम साधारण वनस्पति है जिन्हें अनंतकाय भी कहते है। एक शरीर में रहने वाले वे अनत जीव सब साथ-साथ ही जन्मते है साथ-साथ ही मरते हैं और साथ-साथ ही श्वास लेते है। एक श्वास में १८ बार जन्म मरण करने वाले अलब्धपर्याप्तक जीव तो न तो साथ-साथ जन्मते-मरते है, न साथ-साथ श्वास लेते हैं और न उन बहुतसो का कोई एक शरीर ही होता है। हां अगर ये जीव साधारण-निगोद में पैदा होते है तो बेशक वहा वे सब साथ-साथ ही जन्मते-मरते और श्वास लेते है। ये ही अलब्धपर्याप्तक जीव वहां एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करते है। इनसे अतिरिक्त अन्य जीव निगोद में एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण नहीं करते है। तात्पर्य यह है कि समस्त निगोद मे पर्याप्तक जीव भी होते है। उनमे से अलब्ध पर्याप्तक जीव ही सिर्फ एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करते हैं, पर्याप्तक नही। पर्याप्तक जीव भी वहां अनतानत हैं जिनकी संख्या हमेशह अलब्धपर्याप्तकों से अधिक रहती है। निगोद ही नहीं अन्यत्र त्रसादिकों में भी जो अलब्धपर्याप्तक जीव होते है वे ही एक श्वास मे १८ बार जन्म-मरण करते है, सब नही। सिद्धांत-ग्रंथों मे इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी लोगों में भ्रांत धारणा क्यों हुई? इसका कारण निम्नांकित उल्लेख ज्ञात होते हैं :—

(१) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका (शुभचन्द्रकृत) पृ० २०५ गाथा २८४ में—निगोदेषु जीवो अनंतकालं बसति। ननु निगोदेषुएतावत्कालपर्यन्त स्थितिमान् जीवः एतावत्कालपरिमाणायुः किं वा अन्यदायुः इत्युक्ते प्राह—"आउपरिहीणो" इति आयुः परिहीनः **उच्छ्वासाष्टादशैकभागलक्षणान्तमुहूर्त्तः स्वल्पायुर्विशिष्टः** प्राणी। इसका हिन्दी अनुवादक जी ने कोई अनुवाद नहीं किया है, इसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है:—निगोद में जीव अनंतकाल तक रहता है इससे क्या निगोद की इतनी

४. **देखो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—उस्सासट्ठारसमे, भागे-जो मरदि ण समाणेदिं। एक्को विय पज्जत्ती, लद्धि अपुण्णो हवे सो दु ॥१३७॥**

आयु होती है ? इसका उत्तर है कि—यहां आयु 'परिहीन' पाठ का अर्थ है—**एक उच्छ्वास के १८वें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त्त की स्वल्पायु निगोद की होती है।**

(२) बनारसी विलास (वि० सं० १७००) के कर्म-प्रकृति विधान प्रकरण में—

एक निगोद शरीर में, जीव अनत अपार।
धरें जन्म सब एकठें मरहिं एक ही बार ॥६५
मरण अठारह बार कर, जनम अठारह बेव,
एक स्वास उच्छ्वास मे, यह निगोद की टेव ॥६६

(३) बुधजन कृत—"छहढाला" ढाल२—

जिस दुख से थावर तन पायो वरण सको सो नाहिं।
बार अठारह मरा औ, जन्मा एक श्वास के माहि ॥१

(४) दौलतराम जी कृत—छहढाला—

काल अनंत निगोद मझार, बीत्यो एकेन्द्रीतनधार ॥४
एक श्वास में अठदस बार, जन्म्यो मरयो भरयो दुखभार॥

(५) दौलत विलास—(पृष्ठ ५५)

सादि अनादि निगोद दोय मे परयो कर्मवश जाय।
स्वांस उसांस मझार तहा भवमरण अठारह थाय ॥

(६) द्यानतराय जी कृत पदसग्रह—

ज्ञान विना दुख पाया रे भाई।
औ दस आठ उसांस साँस में साधारण लपटाया रे, भाई०
काल अनंत यहां तोहि बीते जब भई मंद कषाया रे,
तब तूं निकसि निगोद सिंधु ते थावर होय न सारा रे, भाई०

(७) बुध महाचन्द्र कृत भजन सग्रह—

(क) जिन वाणी सदा सुख दानी।
इतर नित्य निगोद मांहि जे, जीव अनत समानी,
एक सांस अष्टादश जामन-मरण कहे दुखदानी ॥ जिन०

(ख) सदा सुख पावे रे प्राणी।
है निगोद बसि एक स्वांस अष्टादस मरण कहानी।
सात सात लख योनि भोग के, पड़ियो थावर आनी। स०

(८) स्वरूपचन्दजी त्यागीकृत—स्वरूप भजन शतक

(क) काल अनंत निगोद बिताये, एक उश्वास लखाई।
अष्टादश भव मरण लहे पुनि थावर देह धराई।
हेरत क्यों नहीं रे। निज शुद्धातम भाई।

(ख) दुख पायोजी भारी। नित इतर बँसि युग निगोद में,
काल अनंत बितायो। विधिवश भयो उसांस एक में,
अठदस जनमि भरायो ॥ दुख पायो जी भारी।

इन उल्लेखों में निगोद (एकेन्द्रिय) के एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण बताया है। इससे प्रायः सभी विद्वानों तक ने एक श्वास मे १८ बार जन्ममरण करना निगोद का लक्षण समझ लिया है जो भ्रान्त है, क्योंकि एक श्वास में १८ बार जन्ममरण अन्य पंचस्थावरों और त्रसों मे भी जो अलब्धपर्याप्तक है पाया जाता है अतः उक्त लक्षण अति व्याप्ति दोष से दूषित है। तथा सभी निगोदों में श्वास के १८ वें भाग मे मरण नही पाया जाता (सिर्फ अलब्ध-पर्याप्तकों में ही पाया जाता है, पर्याप्तकों में नही) अतः उक्त लक्षण अव्याप्ति दोष से भी दूषित है।

एकेन्द्रियों मे महान् दुःख बताने की प्रमुखता से ये कथन किए गए है। इन सब उल्लेखों में "लब्ध्यपर्याप्त" विशेषण गुप्त है वह ऊपर से साथ मे ग्रहण करना चाहिए "छह ढाला" ग्रंथ का बहुत प्रचार है यह विद्यार्थियों के जैनकोर्स मे भी निर्धारित है अतः इसके अध्यापन के वक्त निगोद का निर्दोष लक्षण विशेषता के साथ विद्यार्थियों को बताना चाहिए ताकि शुरू से ही उन्हे वास्तविकता का ज्ञान हो सके और आगे वे भ्रम में नही पड़ें। टीकाओं में भी यथोचित सुधार होना चाहिए।

ग्रंथकारों ने इस विषय में अभ्रान्त (निर्दोष) कथन भी किए हैं, देखो :—

(१) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका पृ० ३३ (गाथा ६८)

सूक्ष्म निगोदीऽपर्याप्तकः × × × क्षुद्रभवकालं १/१८ जीवित्वा मृतः।

(२) दौलतविलास (पृ० १५)—सुधि लीज्यो जी म्हारी।
लब्धि अपर्याप्त निगोद में एक उसांस मझारी।
जन्ममरण नव दुगुण व्यथा की कथा न जात उचारी।
सुधि लीज्यो जी म्हारी।

(३) मोक्षमार्गप्रकाशक (तीसरा अधिकार) पं० टोडरमल जी सा०

पृ० ९२ (एकेन्द्रिय जीवों के महान् दुःख)

बहुरि आयुकर्मतें इनि एकेन्द्रिय जीवनि विषैं जे अपर्याप्त हैं तिनि के तो पर्याय की स्थिति उश्वास के १८ वें भाग मात्र ही है।

पृ० ९६ (तिर्यंच गति के दुख)
बहुरि तिर्यंचगति विषै बहुत लब्ध्यपर्याप्त जीव है तिनि की तो उश्वास के १८ वे भाग मात्र आयु है।

पृ० ९७ (मनुष्य गति के दुख) बहुरि मनुष्य गति विषै असंख्याते जीव तो लब्धिअपर्याप्त है ते सम्मूर्च्छन ही है तिनि की तो आयु उश्वास के १८ वे भागमात्र है।

(४) नयनसुख जी कृत पद (अद्वितीय भजनमाला प्रथम भाग पृ० ६०)
सुन नैन चेत जिन बैन अरे मत जनम वृथा खोवे।
तरस-तरस के निगोद से निकास भयो,
तहा एक श्वास मे अठारह बार मरे थो।
सूक्ष्म से सूक्ष्म थी तहां तेरी आयुकाय,
परजाय पूरी न करे थो फिर मरे थो॥

भाव पाहुड में कुन्द कुन्द स्वामी ने लिखा है :—
छत्तीस तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सबारमरणाणि।
अंतो मुहुत्त मज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥२८॥
वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिन्दिय चउवीस खुद्दभवंतोमुहूत्तस्स ॥२९॥

इन गाथाओं मे निगोद वास मे ६६३३६ बार जनम-मरण एक अन्तर्मुहूर्त में बताया है। तथा विकलत्रय और पंचेन्द्रिय के क्षुद्रभवों की सख्या बताई है किन्तु एकेन्द्रिय के क्षुद्रभवों की संख्या नही दी है बिना उसके ६६३३६ भवों का जोड़ नही बैठता है गोम्मटसार जीवकांड गाथा १२२ से १२४ में यही कथन है वहाँ एकेन्द्रियों के क्षुद्र-भवों की अलग संख्या बताई है इस पर सहज प्रश्न उठता है कि क्या भाव पाहुड में यहाँ एक गाथा छूट गई है? इसका समाधान यह है कि—अजित ब्रह्मकृत—"कल्लाणा-लोयणा" (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के "सिद्धान्तसारादि संग्रह में प्रकाशित) ग्रन्थ मे भी ये ही दो गाथाए ठीक इसी तरह पाई जाती हैं। श्रुतसागर ने भी सहस्र नाम (अ० ६ श्लोक ११६) की टीका में पृ० २२७ पर ये ही २ गाथाएं उद्धृत की हैं। इससे १ गाथा छूटने का तो सवाल नहीं रहता है। अब रहा एकेन्द्रिय जीवों के क्षुद्रभवों की संख्या का सवाल सो वह परिशेष न्याय से बैठ जाता है। वह इस तरह कि—विकलत्रय और पंचेन्द्रिय के क्षुद्रभवों की कुल संख्या गाथा २९ में २०४ बताई है इसे ६६३३६ में से बाकी निकालने पर अपने अपने आप शेष ६६१३२ एकेन्द्रिय के क्षुद्रभव हो जाते हैं। कुन्दकुन्द के पाहुड ग्रंथ सूत्र रूप है अतः यहाँ परिशेष न्याय का आश्रय लेकर १ गाथा की बचत की गई है।

निगोद का अर्थ साधारण अनन्तकायिक वनस्पति होता है देखो :—

(i) अनगारधर्मामृत पृ० २०२ (माणिकचन्द्र-ग्रथमाला)

निगोत लक्षणं यथा—(गोम्मटसार गाथा १९० से १९२, धवला प्रथम भाग पृ० २७०)
(साहारणोदयेण णिगोद शरीरा हवंति सामण्णा।
ते पुण दुविहा जीवा बादर सुहुमात्ति विण्णेया) ॥१९०॥
साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥१९१॥
जत्थेक्कु मरइ जीवो तत्थ दु मरण हवे अणताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमण तत्थ णंताणं ॥१९२॥

(ii) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका शुभ-चन्द्रकृत पृ० २०४ (गाथा २८४) :—
"नि नियतां गामनन्तसख्याविच्छिन्नानां जीवानां गां क्षेत्र ददातीति निगोदं। निगोदं शरीर येषां ते निगोदाः निकोता वा साधारण जीवाः (अनन्तकायिकाः)॥"

ऐसी हालत मे उपरोक्त भाव पाहुड गाथा २८ में जो निगोद शब्द दिया है उसका अर्थ "अनन्तकायिक एकेन्द्रिय वनस्पति नही बैठता है क्योंकि ६६३३६ भव जो निगोद के बताए है उनमें त्रस स्थावर सभी हैं। इसका समाधान बहुत से भाई यह करते हैं कि—निगोद का अर्थ लब्ध्य-पर्याप्तक करना चाहिए किन्तु यह अव्याप्ति दूषण से दूषित है क्योंकि सभी निगोद लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते बहुत से पर्याप्तक भी होते हैं। इसके सिवाय यह अर्थ निगोद के प्रसिद्ध अर्थ (अनंतकायिक बनस्पति) से भी विरुद्ध जाता है। जयचन्दजी की वचनिका भी अस्पष्ट और कुछ भ्रांत है।

अतः हमारी राय में भावपाहुड गाथा २८ के 'निगोद' का अर्थ "क्षुद्र" करना चाहिए गाथा २९ में निगोद का पर्याय-वाची क्षुद्र शब्द दिया भी है। इसके सिवा गोम्मटसार जीवकांड में भी जो इसा के समान गाथा है उसमें भी

निगोद की जगह क्षुद्र शब्द का प्रयोग है देखो—
तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि ।
अंतो मुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा १२२

'निगोद' का 'क्षुद्र, कुत्सित, अप्रशस्त, हीन' अर्थ भी होता है देखो :—

(१) सूत्र प्राभृत गाथा १८ "तत्तो पुण जाई निग्गोद" मे निगोद का अर्थ श्रुतसागर ने अप्रशसनीय दिया है (निगोदं **प्रशंसनीयगतिं न** गच्छतीत्यर्थः)

(२) हरिवंश पुराण (जिनसेनकृत) सर्ग ४
मृदंग नाडिकाकारा **निगोदा** पृथ्वीत्रये ।।३४७।।
ते चतुर्थ्यांच पचम्या **नारकोत्पत्तिभूमयः** ।।३४८।।
सर्वेन्द्रिक **निगोदास्ते** त्रिद्वाराश्च त्रिकोणकाः ।।३५२।।
घर्मा **निगोदजाः** जीवा खमुत्पत्य पतन्त्यधः ३५५

नरक मे नारकियों के जो उत्पत्ति स्थान इन्द्रक आदि बिल है उन कुत्सित स्थानो को यहाँ 'निगोद' कहा है । संस्कृत टिप्पणकारने भी यही अर्थ किया है :–"निगोदः नारकोत्पत्ति स्थानानि" ।

धर्म विलास (द्यानतराय कृत) पृ० १७—(उपदेश शतक)
वसत अनतकाल बीतन निगोद माहि । अखर अनंतभागज्ञान अनुसरे है ।
छासठि सहस तीन सै छत्तीस बार जीव । अतर मुहूरत मे जन्मे और मरे है ।।४८।।

दौलत विलास पृ० ८०—जब मोहरिपु दीनी घुमरिया तसवश निगोद में पड़िया ।
तह श्वास एक के माहि अष्टादश मरण लहाहि ।।
लहि मरण अन्तर्मूहूर्त मे छयासठ सहस शत तीन ही ।
षट्तीस काल अनंत यों दुख सहे उपमा ही नही ।।

पृ० ३७—फिर सादि औ अनादि दो निगोद मे परा,
जह अंक के असख्य भाग ज्ञान ऊबरा ।
तह भवअन्तर्मूहुर्त के कहे गणेश्वरा ।
छयासठ सहस त्रिशत छत्तीस जन्मधर मरा ।
यों बसि अनतकाल फिर तहां ते नीसरा ।।

इन उल्लेखों में ६६३३६ क्षुद्रभव सिर्फ निगोद-एकेन्द्रिय के ही बताए है यह ठीक नहीं है ।

वृन्दावन कृत चौबीस पूजा (विमलनाथ पूजा जयमाल) मे यह कथन ठीक दिया हुआ है वहाँ देखो ।

श्वेताबर ग्रथों मे इस विषय में कथन इस प्रकार है :-

"जैनसिद्धात बोलसग्रह" दूसरा भाग (सेठिया जैन ग्रथमाला बीकानेर) पृ० १९–२१ मे लिखा है : —

अनन्त जीवो के पिण्ड भूत एक शरीर को निगोद कहते है । लोकाकाश के जितने प्रदेश है उतने सूक्ष्म निगोद के गोले है एक एक गोले मे असख्यात निगोद है एक एक निगोद मे अनन्त जीव है । ये एक श्वास मे—**कुछ अधिक १७ जन्म मरण** करते हैं, (एक मुहूर्त मे मनुष्य के ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते है) एक मुहूर्त मे **६५५३६** भव करते है, निगोद का एक भव २५६ आवलियो का होता है । सूक्ष्म निगोद मे नरक से भी अनतगुणा दुःख (अज्ञान से) है ।

सत्तरस समहिया किर इगाणु पाणम्मि हुति खुड्डभवा ।
सगतीस सय तिहुत्तर पाणू पुण इग मुहुत्तम्मि ।।
पणसट्ठि सहस्स पणसय छत्तीसा इग मुहुत्त खुड्डभवा ।
आवलियाण दो सय छप्पन्ना एग खुड्डभवे ।।

दि० आम्नाय मे जहाँ १८ बार जन्म-मरण बताया है वहाँ श्वेताबर आम्नाय मे कुछ अधिक १७ बार बताया है । दि० आम्नाय मे क्षुद्रभवो की सख्या ६६३३६ बताई है तब श्वे० आम्नाय मे ६५५३६ बताई है दि० आम्नाय मे यह सख्या स्थावर और त्रस सभी लब्ध्यपर्याप्तको की बताई है किन्तु श्वे० आम्नाय मे इसके लिए सिर्फ एक निगोद शब्द का सामान्य प्रयोग किया है । दोनों आम्नायो मे इस प्रकार यह मान्यता भेद है (यह भेद सापेक्षिक है दोनो की सगति सभव है)

महान् सिद्धात ग्रन्थ धवला मे निगोद का कथन—भाग ३ पृ० ३२७, भाग ४ पृ० ४०६, ४०८, भाग ७ पृ० ५०६, भाग ८, पृ० १९२, भाग १४ पृ० ८६ आदि मे है । ब्रह्मचारी मूलशकर जी देशाई ने अपनी बृहत् पुस्तक "श्री जिनागम" पृ० १७५ से १८१ मे धवला के कथनों की आलोचना की है और यहाँ तक लिखा है कि—धवलाकार ने "निगोद" के अर्थ को समझा ही नहीं है

किन्तु हमें देशाई जी के कथन में कुछ भी वजन नहीं मालूम पड़ता है । धवलाकार का कथन कोई आपत्तिजनक

नहीं है। अगर देशाई जी हमारे इस लेख की रोशनी मे पुनर्विचार करे तो उन्हें भी धवला का कथन सुसगत प्रतीत होगा।

भावपाहुड की उक्त २८वी गाथा की संस्कृतटीका श्रुतसागर ने शब्दार्थ मात्र की है। अतः उससे भी—विषय स्पष्ट नही होता है।

इन दिनों श्री शांतिवीर नगर[5] से अष्टपाहुड ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसके हिन्दी अनुवादक श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर हैं। अनुवादक जी ने उक्त गाथा २८ का अर्थ करते हुए लिखा है कि—६६३३६ भव निकोत जीवो के होते है न कि निगोद जीवों के। निकोत शब्द का अर्थ आप ने लब्ध्यपर्याप्तक जीव किया है। किन्तु आप ने ऐसा कोई शास्त्र प्रमाण नही लिखा जहाँ निकोत का अर्थ लब्ध्यपर्याप्तक किया हो। बल्कि लाटीसंहिता सर्ग ५ श्लोक ६१, ६२, ६४, ८५ मे साधारण और निकोत दोनो को एकार्थवाचक लिखा है।[6]

ऊपर जो ६६३३६ भव सख्या बताई है उसका मतलब यह है कि—एक अलब्धपर्याप्तक जीव जिसकी कि त्रस और स्थावर पर्यायों मे अलग-अलग अधिक से अधिक भवसंख्या आगम मे बताई है उन सब भवो को यदि वह लगातार धारण करे तो ६६३३६ भव धारण कर सकता है। इससे अधिक नही, इन सबो को धारण करने मे उसे ८८ श्वास कम एक मुहूर्त्तकाल लगता है जिसे "अन्तर्मुहुर्त्त काल" संज्ञा शास्त्रों में दी है। इस हिसाब से—अलब्धपर्याप्तक जीव एक उच्छ्वास मे १८ बार जन्मता है और १८ बार मरता है। अतः १८ का भाग ६६३३६ में देने से लब्ध संख्या ३६८५-१/३ आती हैं। यानी ३६८५ उच्छवासों में वह ६६३३६ भव लेता है और एक मुहूर्त के ३७७३ उच्छ्वास होते है। फलितार्थ यह हुआ कि ६६३३६ भव लेने मे उसे ८८ श्वास कम एक एक मुहूर्त का काल लगता है। इन ६६३३६ क्षुद्रभवों में से किस-किस पर्याय में कितने-कितने भव होते है उसका विवरण इस भाँति है—

एकेन्द्रियो के	—	६६१३२
द्वीन्द्रिय के	—	८०
त्रीन्द्रिय के	—	६०
चतुरिन्द्रिय के	—	४०
पचेन्द्रियों मे—		
असज्ञी तिर्यंच के	—	८
सज्ञी ,,	—	८
मनुष्य के	—	८
कुल जोड़		६६३३६

देखो गोम्मटसार जीवकाड गाथा १२२—आदि तथा स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा बड़ा पृ० ७६

एकेन्द्रियों के ६६१३२ क्षुद्र भवों का विवरण निम्न प्रकार है—

चार स्थावर और साधारण वनस्पति ये पांचों सूक्ष्म बादर होने से १० भेद हुए। प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है अतः उसका एक भेद १० मे मिलाने से ११ हुए। इन ११ का भाग उक्त ६६१३२ मे देने से लब्ध ६०१२ आते हैं। बस हर एक लब्धपर्याप्तक स्थावर जीव के ६०१२ क्षुद्रभव होते है। इस विषय को इस तरह समझना कि—कोई जीव किसी एक पर्याय मे मरकर पुनः पुन. उसी पर्याय में लगातार जन्म-मरण करे तो कितने बार कर सकता है इसकी भी आगम नियत सख्या लिखी मिलती है। जैसे नारकी-देव-भोग भूमिया जीव. मरकर लगते ही दुबारा अपनी उसी पर्याय में पैदा नही हो सकते है। कोई जीव मनुष्य योनि मे जन्म लिए बाद फिर भी उसी मनुष्य योनि में लगातार जन्म ले तो वह ८ बार से अधिक नहीं ले सकता है। पृथ्वी आदि ४ सूक्ष्म पर्याप्तक स्थावर

---

५. जिस तरह "श्री महावीर जी" मे पोस्ट ऑफिस है उसी तरह नदी के इस पार "श्री शांतिवीर नगर"—नाम से अलग नया पोस्ट ऑफिस खुल गया है।

६. स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका पृ० २०४ गाथा २८४ में लिखा है :—निगोदं शरीरं येषा ते निगोदाः निकोता वा साधारण जीवाः। भाव पाहुड-गाथा ११३ की श्रुतसागर कृत संस्कृत टीका में भी निगोद और निकोत एकार्थवाची ही लिखे हैं। मूलाचार (पंचाचाराधिकार गाथा २८ की वसुनंदि कृत टीका) में पृ० १६४-१६५ पर निकोत शब्द निगोद का पर्यायवाची शब्द दिया है।

जीव मर मर कर अपनी उसी पर्याय में लगातार अधिक से अधिक असंख्यबार जन्म ले सकते हैं। और पर्याप्तक निगोदिया जीव अनंतबार जन्म ले सकते है। उसी तरह अलब्धपर्याप्तक जीव के लिए लिखा है कि—वह भी यदि अलब्धपर्याप्तक के भव धारण करे तो ऊपर जिस पर्याय में जितने भव लिखे है वहां वह अधिक से अधिक उतने ही भव धारण कर सकता है। जैसे किसी जीव ने सूक्ष्मनिगोदिया में अलब्धपर्याप्तक रूप से जन्म लिया। यदि वह मरकर फिर भी वहां के वहा ही बार बार निरंतर जन्म मरण करे तो अधिक से अधिक ६०१२ बार तक कर सकता है। इसके बाद उसे नियमतः पर्याप्तक का भव धारण करना पडेगा। भले ही वह भव निगोदिया का ही क्यों न हो। यदि वह पर्याप्तक मे न जाये और फिर भी उसे अलब्धपर्याप्तक ही होना है तो वह सूक्ष्म निगोदिया में जन्म न लेकर बादर निगोदिया या अन्य स्थावर-त्रसो मे अलब्धपर्याप्तक हो सकता है। वहा भी जितने वहा के क्षुद्रभव लिखे है उतने भव धारण किये बाद वहां से भी निकल कर या तो उसे पर्याप्तक का भव लेना होगा या उसी तरह अन्य स्थावर त्रसों मे अलब्धपर्याप्तक रूप से जन्म लेना होगा। इस प्रकार से कोई भी जीव यदि सभी स्थावर त्रसो में निरंतर अलब्धपर्याप्तक के भवों को धारण करे तो वह ६६३३६ भव ले सकता है, इससे अधिक नही। ऊपर अलब्धपर्याप्तक मनुष्य के अधिक से अधिक ८ लगातार क्षुद्रभव लिखे है जिनका काल आधे श्वास से भी कम होता है। मतलब कि वह अर्द्धश्वास कालमात्र तक ही मनुष्य भव में रहता है। इतना ही काल अलब्धपर्याप्तक पचेन्द्रिय संज्ञी-असंज्ञी तिर्यंचों का है। तदुपरांत उन्हें या तो किसी पर्याप्तक में जन्म लेना पड़ेगा या अन्य किसी स्थावरादि मे अलब्धपर्याप्तक होना पड़ेगा।

यहां प्रश्न

अनादि काल से लेकर जिन जीवों ने निगोद से निकलकर दूसरी पर्याय न पाई वे जीव नित्यनिगोदिया कहलाते हैं। नित्यनिगोदिया जीव पर्याप्तक ही नही, बहुत से अलब्धपर्याप्तक भी होते हैं। वहां के उन अलब्धपर्याप्तिकों ने भी आज तक निगोदवास को छोडा नहीं है। ऐसी सूरत में आप यह कैसे कहते है कि—निगोदिया अलब्धपर्याप्तक जीव अधिक से अधिक निरंतर अपने ६०१२ क्षुद्रभव लिए बाद उन्हे निश्चय ही उस पर्याय से निकलना पड़ता है।

उत्तर

हां वहां से उन्हें भी अवश्य निकलना पड़ता है। अलब्धपर्याप्तक पर्याय को छोड कर वे पर्याप्तक-निगोद में चले जाते है। मूल चीज निगोद को उन्होने छोडी नहीं जिससे वे नित्यनिगोदिया ही कहलाते है। इसी तरह वे पर्याप्ति से अपर्याप्ति और सूक्ष्म से बादर एव बादर से सूक्ष्म भी होते रहते है। होते रहते है निगोद के निगोद मे ही जिससे उनके निगोद का नित्यत्व बना ही रहता है।

निगोदिया जीव अलब्धपर्याप्तक अवस्था में निरन्तर रहें तो अधिक से अधिक सिर्फ ४ मिनट तक ही रह सकते है। क्योकि उनके लगातार क्षुद्रभव ६०१२ लिखे है। जो ३३४ उच्छ्वासों में पूर्ण हो जाते है। ३३४ उच्छ्वासों का काल ४ मिनट करीब का होता है। इस थोडे से ४ मिनट के समय में ६०१२ जन्म और इतने ही मरण करने से सूक्ष्म निगोदिया अलब्धपर्याप्तक जीवों के इस कदर संक्लेशता बढती है कि उसके कारण जब वे जीव आखिरी ६०१२ वां जन्म लेने को विग्रहगति मे ३ मोड़ा लेते है तो प्रथम मोड़ मे ज्ञानावरण का ऐसा तीव्र उदय होता है कि उस समय उनके अतिजघन्य श्रुतज्ञान होता है। जिसका नाम पर्याप्तज्ञान है। यह ज्ञान का इतना छोटा अश है कि यदि यह भी न हो तो आत्मा जड बन जाए। यह कथन गोम्मटसार जीव काड गाथा ३२१ में किया है।

निगोद के विषय मे एक और भ्रान्त धारणा फैली हुई है। कुछ जैन विद्वान् ऐसा समझे हुए हैं कि—'नरक की ७वी पृथ्वी के नीचे जो एक राजू शून्यस्थान है, जहां कि त्रसनाडी भी नहीं है वहाँ निगोद जीवों का स्थान है।'[७] ऐसा समझना गलत है। जो सूक्ष्म निगोदिया जीव

---

७. (१) सूरत, जबलपुर आदि से प्रकाशित तत्वार्थसूत्र (पाठ्य पुस्तक) में तीन लोक का नकशा दिया है उसमे ७वें नरक के नीचे एक राजू में निगोद बताया है। ऐसा ही कथन कार्तिकेयानुप्रेक्षा (रायचन्द्र शास्त्रमाला)

हैं वे तो त्रसनाड़ी और उससे बाहर सब लोक में ठसाठस भरे हुए हैं। ये ही नहीं, पृथ्वी आदि अन्य सूक्ष्म स्थावर जीव भी समस्त लोक में व्याप्त है। इसलिए सातवी पृथ्वी के नीचे ही निगोद कहना ठीक नही है, वह तो तीन लोक में सर्वत्र है। वह सातवीं पृथ्वी से नीचे भी है और अन्यत्र भी है। तथा ७वी पृथ्वी के नीचे केवल निगोद ही नही है वहाँ अन्य स्थावर जीव भी रहते हैं। ऐसा बृ० द्रव्य संग्रह की ब्रह्मदेवकृत संस्कृतटीका में लोकानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए कहा है—

"तस्मादघोभागे रज्जुप्रमाणं क्षेत्रं भूमि रहित निगोदादिपंच स्थावरभृतं च तिष्ठति।" अर्थ—उस सातवीं पृथ्वी के नीचे एक राजूप्रमाण क्षेत्र भूमि रहित है वहां निगोद को आदि लेकर पांच स्थावर जीव तिष्ठते है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में (पृष्ठ ५९ में) भी इसी गद्य को उद्धृत करके यही बात दर्शायी है।[८]

प्रश्न :—"सूक्ष्मनिगोद सर्वत्र है यह ठीक है पर ७वीं पृथ्वी के नीचे जो निगोद कही जाती है वह बादर निगोद है।"[९] उत्तर :—ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि बादर जीव बिना आधार के रह नहीं सकते ऐसा सिद्धान्त है। गोम्मटसार जीवकांड गाथा १८३ में लिखा है कि—"आधारे थूलाओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा।" बादर जीव आधार पर रहते है और सूक्ष्म जीव सर्वत्र बिना व्यवधान के भरे है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी लिखा है कि—

पुण्णा वि अपुण्णा वि य थूला जीवा हवंति साहारा।
छव्विह सुहुमाजीवा लोयायासे वि सव्वत्थ ॥१२३॥

पृ० ५९, ६२ में तथा सिद्धांतसार संग्रह (जीवराज ग्रंथमाला) पृ० १४४ मे हिन्दी अनुवादकों ने किया है जब कि मूल और संस्कृत टीका में ऐसा कुछ नहीं है।

(२) जैन बाल गुटका (प्रथम भाग बाबू ज्ञानचन्द जैनी, लाहौर) पृ० ३२ त्रसनाली मे नीचे निगोद :—

(३) यशोधर चरित्र (लोकानुप्रेक्षा के वर्णन मे, हजारी लालजी कृत भाषा) पृ० १९१—"नर्क निगोद पाताल विषे जहाँ क्षेत्र जुराजू सात बखानो।"

(४) द्यानतराय जी कृत चर्चाशतक के हिन्दी वचनिकाकार हरजीमलजी ने पद्य ८, ११, १२, १३ क अपनी टीका मे सातवे नरक के नीचे निगोद लिखा है (यह ग्रथ वीर प्रेस, जयपुर से प्रकाशित हुआ है)

(५) बनारसी विलास (वि० स० १७०० मे रचित) के "कर्म प्रकृति विधान" प्रकरण मे लिखा है :—

जो गोलक रूपी पचधाम, अडर खडर इत्यादि नाम।
ते सातनरकके हेट जान, पुनि सकललोक नभमेबखान

(६) बुद्धि विलास (बखतराम शाह कृत वि० सं० १८२७) ग्रंथारंभ में—

रत्न शर्करा बालुका, पंक धूमतम सोदि।
बहुरि महातम सात ये तिनतल कही निगोदि ॥११॥
प्रथम हिं भूमि निगोदतलि लाबी चौड़ी जानि।
सात सात राजू कही, पुनि सुनिए गुणखानि ॥१६॥

(७) छह ढाला (जैन पुस्तक भवन कलकत्ता की सचित्र) पृ० ५—यद्यपि निगोद सर्वत्र पाये जाते है तथापि सात नरकों के नीचे खास निगोदों का स्थान है।

(८) "जैन मित्र" वैशाख सुदि ७ वि० स० २४९४ "त्रिलोक परिचय" लेख मे लेखिका ने लिखा है—अघोलोक में नीचे सात नरक हैं इस सबसे नीचे निगोद लोक है।

८. और यही बात नरेन्द्रसेनाचार्यकृत—सिद्धांतसार संग्रह अध्याय ६ श्लोक ९ में कही है :—ततोऽधस्ताद्धरा शून्य रज्जुमान सुदुस्तरम्। क्षेत्रमस्ति निगोतादि जीवस्थान मनेकधा ॥ इसमें निगोद के आगे आदि शब्द देकर पचस्थावरो का संसूचन किया है। पं० प्रवर गोपालदासजी वरैया ने भी "जैन सिद्धांतदर्पण" पृ० १९६ में यही लिखा है :—"सातवी पृथ्वी के नीचे एक राजू प्रमाण आकाश **निगोदायिक** जीवों से भरा हुआ है।" अतः सातवी पृथ्वी के नीचे एक राजू मे सिर्फ निगोद ही बताना बिलकुल गलत है।

९. पं० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य ने "तीन लोक का वर्णन" लेख मे (सरल जैनधर्म) पृ० १०६ में) लिखा है :—अघो लोक में सबसे नीचे एक राजू तक **बादर निगोद** जीव भरे हुए हैं और उससे ऊपर छह राजुओं में सात पृथ्वियां हैं।

अर्थ—चाहे पर्याप्त हो या अपर्याप्त हो सबही बादर जीव आधार के सहारे से रहते हैं। तथा पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-नित्य निगोद और इतरनिगोद ये ६ सूक्ष्म जीव लोकाकाश में सब जगह भरे है।

नरक की ७वी पृथ्वी के नीचे एक राजूप्रमाण क्षेत्र में वातवलयों को छोड़कर बाकी सारा स्थान निराधार शून्यमय है। और बिना आधार के बादरजीव रहते नहीं है तो वहाँ बादर निगोद भी कैसे मानी जा सकती है ?[१०] दूसरी बात यह है कि—गोम्मटसार जीवकाड गाथा १९९ में वनस्पतिकायिक-विकलत्रय पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों के (केवल शरीर-आहार शरीर को छोड़कर) शरीरो में बादर निगोदिया का स्थान बताया है। और सातवीं पृथ्वी के नीचे वातवलयो को छोडकर शेष स्थान में न प्रत्येक वनस्पतिकायिक हैं और न त्रस है इससे भी वहा बादर-निगोद का अभाव सिद्ध होता है।

इससे यह भी प्रगट होता है कि जिस प्रकार प्रत्येक वनस्पति के आश्रित बादर निगोद होने से वह सप्रतिष्ठित कहलाती है। उसी तरह त्रस जीवों के शरीरों के आश्रित भी बादर निगोद जीव रहते हैं अतः त्रसकाय भी सप्रतिष्ठित कहलाता है" गोम्मटसार की उक्त गाथा १९९ में यह भी लिखा है कि—पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु इन चार स्थावरों के शरीर में, तथा देव शरीर, नारकी शरीर, आहारक शरीर, और केवलीका शरीर सिर्फ इन आठ शरीरों में निगोदिया जीव नहीं होते, शेष सब शरीरों में निगोद जीव होते हैं। इसलिए अमृतचद्र स्वामी ने पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय के निम्न श्लोक में मास में निगोद जीव होने का कथन किया है—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—कच्ची, पक्की, पकती हुई मांस की डलियों में मांस जैसे वर्ण-रस-गध वाले निगोद जीव निरतर ही उत्पन्न होते रहते हैं।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय के इस श्लोक में प्रयुक्त "तज्जातीनां निगोतानां" का अर्थ कोई ऐसा करते हैं कि—जिस जाति के जीव का मांस होता है उसमे उसी जाति के जीव पैदा होते हैं। जैसे बैल का मास हो तो उसमे बैल जैसे ही सूक्ष्म त्रस जीव पैदा होते है।" ऐसा अर्थ करने पर जब निगोद शब्द के साथ सगति बैठती नही, क्योंकि निगोदिया जीव त्रस होते नहीं तब वे निगोत शब्द का लब्ध्यपर्याप्तक अर्थ करके सगति बैठाने का प्रयत्न करने लगते है पर निगोत का लब्ध्यपर्याप्तक अर्थ किसी शास्त्र में देखने मे आया नहीं है। यह गड़बड़ 'तज्जातीनां' शब्द का ठीक अर्थ न समझने की वजह से हुई है। इसलिए 'तज्जातीना' का सही अर्थ यों होना चाहिए कि—"उसी मांस की जाति के (न कि उसी जीव की जाति के) अर्थात् उस मांस का जैसा वर्ण-रस-गंघ है उसी तरह के उसमे निगोद-जीव पैदा होते है।" ऐसा अर्थ करने से कोई असगतता नही रहती। जिस प्राकृत गाथा की छाया को लेकर पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में उक्त पद्य रचा गया है उस गाथा में भी मास मे निरंतर निगोद जीवों की ही उत्पत्ति बताई है। वह गाथा यह है—

आमासु अ पक्कासु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
सययं चिय उववाओ भणिओ उ निगोअजीवाणं ॥

यह गाथा श्वेताम्बराचार्य हेमचंद्र ने योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश मे उद्धत की है। स्याद्वादमंजरी के पृष्ठ १७६ पर भी यह गाथा उद्धृत हुई है। तथा पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की पंडित टोडरमल जी साव ने वचनिका लिखी है। उसमें उक्त पद्य नं०-६७ का अर्थ इस प्रकार किया है—" आली होउ, अग्निकरि पकाइ होउ, अथवा पकती होउ, कछु एक पकी होउ, ऐसे सबही जे मांस की डली तिनविषै उसही जाति के निगोदिया अनंते जीव तिनका समय-समय विषै निरंतर उपजना होय है। सर्व अवस्था सहित मांस की

१०. चर्चा समाधान (चर्चा नं० ९५) में सातवे नरक के नीचे बादर निगोद (पंचगोलक) का अभाव बताया है। सुदृष्टि तरगिणी में भी प० टेकचन्द जी सा० ने लिखा है कि सातवें नरक के नीचे बादर निगोद बताने वाले भोले जीव हैं।

११. अनगार धर्मामृत पृ० ४६१ में मलपरीषह प्रकरण में लिखा है :—उद्वर्त्तन (उबटन, मैल उतारने) में बादर प्रतिष्ठित निगोद जीवों का घात होता है।

डलिनी विषै निरंतर वैसे ही मांस सारिखे नये-नये अनंत जीव उपजै हैं।"

यहां टोडरमल जी सा० ने भी मांस में मांस जैसे ही निगोद जीव की उत्पत्ति लिखी है। न कि लब्ध्यपर्याप्तको की। और देखिये सागारधर्मामृत अध्याय २ श्लोक ७ मे पं० आशाधर जी भी मांस में प्रचुर निगोद जीव बताते हुए निगोत का अर्थ साधारण-अनतकाय लिखते है। लब्ध्यपर्याप्तिक नहीं लिखते। यहा यह भी समझना कि—जैसे स्थावर वनस्पतिकाय मे जो बादर निगोदजीव पैदा होते है। वे भी तो उस वनस्पति के रूप-रस-गंध जैसे ही पैदा होते हैं। वैसे ही त्रस जीवो के कलेवरो मे समझ लेना चाहिए। यह एक जुदी बात है कि—तिर्यचो के मांस में निगोदजीवों के अतिरिक्त लब्ध्यपर्याप्तक और पर्याप्तक कृमि आदि त्रस जीव भी पैदा हो जाते है। यहा तक की उसमें सम्मूर्च्छिम पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यच तक पैदा हो सकते है। परन्तु इसका मायना यह नही है कि बैल के कलेवर मे बैल जैसे पचेद्रिय सूक्ष्म लब्ध्य-पर्याप्तिक जीव पैदा होते है। ऐसा कोई आर्षप्रमाण हो तो बताया जावे। मनुष्य के कलेवर मे लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का पैदा होना ऐसा तो शास्त्रों मे स्पष्ट कथन मिलता है। परन्तु जिस जाति के तिर्यच का कलेवर हो उसमें उसी तिर्यच जाति के लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म जीव पैदा होते है ऐसा कथन नही मिलता है। तथा जिस प्रकार सभी सम्मूर्च्छिम मनुष्य नियमतः लब्ध्यपर्याप्तक ही होते है। उस तरह सभी सम्मूर्च्छिम तिर्यच लब्ध्य-पर्याप्तक नहीं होते—वे पर्याप्तक भी होते हैं। इस तरह दोनों में विषमता होने से यह भी नहीं कह सकते कि जैसी उत्पत्ति लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों की है। वैसी ही तिर्यचों की भी है। यद्यपि आगम मे पंचेद्रिय तिर्यचों के गर्भज और सम्मूर्च्छिम ऐसे दो भेद जरूर किये है। पर इसका मतलब यह नही है कि जो बैल, हाथी, घोडे गर्भजन्म से पैदा होते है वे ही सम्मूर्च्छिम भी होते है। सम्मूर्च्छिम पचेन्द्रिय तिर्यच और ही होते है — जिस जाति के गर्भज तिर्यच होते है उसी जाति के सम्मूर्च्छिम तिर्यच नही होते ऐसा कहने में कोई बाधक प्रमाण नजर नहीं आता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ६६ की टीका मे पं० सदासुख जी ने लिखा है:—"मनुष्य तिर्यचनि के मास का एक कण में एते बादर निगोदिया जीव है जो त्रैलोक्य के एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जितने जीव है उनसे अनंतगुणे है ताते अन्न जलादिक असख्यात वर्ष भक्षण करे तिसमें जो एकेन्द्रिय हिंसा होय ताते अनंतगुणे जीवनि की हिंसा सुई की अणीमात्र मास के भक्षण करने में है पृ० १८१।" प० सदासुख जी सा० ने भी मांस मे जो निगोदिया जीव सतत उत्पन्न होते है उन्हे एकेन्द्रिय ही माना है। किन्तु "श्री जिनागम" पुस्तक के पृ० ३२३ पर देशाई जी ने इस कथन की आलोचना की है जो ठीक नहीं है। पं० सदासुख जी का कथन आगमानुसार है।

आशा है बहुश्रुतज्ञ विद्वान और त्यागी वर्ग इस निबंध पर गहरे चिंतन के साथ अपने विचार प्रकट करने कि कृपा करेगे। ●

बिजोलिया के जैन लेख

श्री रामवल्लभ सोमानी

बिजोलिया क्षेत्र भीलवाडा जिले का ऊपर माल क्षेत्र का भाग है। इतिहास की दृष्टि से यह बड़ा प्रसिद्ध है। आश्चर्य नहीं कि गुजरात के लेखकों ने कुमारपाल के पूर्व भव में जन्म इसी क्षेत्र में माना है। यहाँ के कई शैव और दिगम्बर जैन लेख मिले हैं। कई वर्षों पूर्व बून्दी से मांडलगढ़ और भीलवाडा आते समय मै यहाँ ठहरा था तब कुछ लेख देखे थे उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:—

(i) वि० सं० १२२६ का प्रसिद्ध चौहान लेख:— इस लेख का प्रकाशन एपिग्राफिआ इंडिका में श्री अक्षय-कीर्ति व्यास के सम्पादन में हुआ है। मूल लेख में ३०

पंक्तियां हैं। एवं ६३ श्लोक और कुछ गद्य भाग है। प्रारम्भ के २८ श्लोकों मे चौहानों की वंशावली दी हुई है जो अधिकांशत: अन्य शिलालेखों से मिलती है। लेख में यह भी वर्णित है कि पार्श्वनाथ मन्दिर को मोराक्षरी गांव पृथ्वीभट द्वितीय ने दिया और सोमेश्वर ने रेवाणा गांव दिया। इसके बाद लोलाक श्रेष्ठि का वर्णन है।

(ii) दुसरा बड़ा लेख उन्नत शिखर पुराण का है। इसमें कुल २९४ श्लोक खुदे हुए थे। किन्तु अब एक शिला पर ३१ श्लोक हैं और दूसरी पर २७६ से २९४ तक मिलते है यह लेख वहाँ के स्थानीय अधिकारियों द्वारा ज्ञात हुआ था कि प्रकाशित हो चुका है। इसलिए इसकी पूरी नकल नहीं की जा सकी। इसके शुरू के ४ श्लोकों में स्तुति है। ५ श्लोक टूटा हुआ है। इसमे किसी नगर का वर्णन है [श्री मद्राज न्......नाम नगरं वसुधातले। प्रसिद्धम भवत् पुण्य वीतरीति जनावृत्त ॥६॥] यहाँ के कई देवालयों का वर्णन भी मिलता है। "पूज्यंते परया भक्त्या सर्वसिद्धिप्रदो जिन:" कह कर स्थानीय क्षेत्र में प्रचलित जैन धर्म के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का उल्लेख भी किया है। आगे के श्लोकों मे जो चित्र खीचा गया है उसमें बड़ा अलंकारिक्र वर्णन है। दूसरी शिला में भगवान पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में वर्णन है। अंत में इस प्रकार लिखा है "इति सिद्धेश्वर विरचित उन्नत शिखर पुराणे पंचम: सर्ग॥ लिखापितं श्रीध...... पुत्र लालाकेन लिखितं। संवत् विक्रमादित्यकाले द्वादशशत षड् विंशाधिक गते फाल्गुणवदि दशम्यां......" पार्श्वनाथ मन्दिर का उक्त लेख वि० स० १२२६ फाल्गुण वदि ३ का है और यह लेख उससे ७ दिन बाद का ही है। यह लेख मुझे जहाँ तक जानकारी है अभी तक छपा नहीं है।

(iii) १४८३ फाल्गुण सुदि ३ का लेख भी छप गया है। इसमें १. सर्वश्री वसंतकीर्तिदेव २. विशाल कीर्तिदेव ३. शुभकीर्तिदेव ४. धर्मचन्द्रदेव ५. रत्नकीर्ति-देव ६. प्रभाचन्द्रदेव ७. पद्मनन्दिदेव ८. शुभचन्द्रदेव और कुछ साध्वियों के नाम हैं। इसमें कुल ५ श्लोक और कुछ गद्य भाग है।

(iv) सुरह लेख—यह लेख अब तक छपा नहीं है। इसका मूल पाठ इस प्रकार पढ़ा जाता है :—

॥ई०॥ ऊ। अर्हद्भ्यो नम:। स्वायं भूवं चिदानंद स्वभावें शाश्वतोदयम्। धामध्वस्ततमस्तोमम्मेयं महिम स्तुम: ॥१॥ ध्रौव्योपेत मपि व्ययोदययुतं स्वात्मस्थमध्यात्मकं लोकव्यापि परं यदेकमपि चानेकं सूक्ष्म महत्, आनंदामृतपूरपूर्णमपियच्छून्य स्वसदेवनम् ज्ञानाद्गम्यमगम्यमप्यभिमतप्राप्त्यै स्तुवे ब्रह्मतत्॥२॥त्वकर्म सोमो वृत(भूत)जगती तलेऽस्मिन्घनान मूर्ति: किमुविश्वरूप:। स्रष्टा विशिष्टार्थ विभेददक्ष: स पार्श्वनाथस्तनुताश्रिय व: ॥३॥ स पार्श्वनाथ क्रियतां श्रियं वो जगत्रयी वदित पादपद्म:। विलोकिता येन पदार्थसार्था निजे (न) सज्ञान विलोचनेन ॥४॥ सद्वृत्ता: खलु यत्र लोक महिता मुक्ता भवंतिश्रियो:रत्नानामपि भद्रये सुकृतिनो यं सर्वदोपासते: सद्धर्मामृतपूरपुष्ट-सुमना: स्याद्वादचंद्रोदया: काक्षीसोऽत्र सनातनो विजयते मूलसघोदधि: ॥५॥ श्रीगौत्तमस्वामिगणेशवशे श्री कुदकुदोहिमुनिर्बभूव पदेष्व नेकेषुगतेषुतस्माच्छ्री धर्मचंदो गणिषु प्रसिद्ध: ॥ भवोद्भवपरिश्रमप्रशम केलिकौतूहली सुधाकरसम: सदाजयति य द्वच: प्रक्रम:। समेमुनिमतल्लिका विकचमल्लिका जिरवर प्रसृत्वर य सोभरो भवतु रत्नकीर्तिर्मुदे (ने) ७॥

यह पूरा लेख १५ पद्यों का है जिसमें भ० धर्मचन्द्र, भ० रत्नकीर्ति, प्रभाचन्द्र, पद्म नन्दि, शुभचन्द्र और शुभचन्द्र के शिष्य हेमकीर्ति का उल्लेख है। यह लेख स० १४६५ फाल्गुनसुदि २ बुधवार का उत्कीर्ण किया हुआ है। ऊपर जितना जल्दी में पढा जा सका, दिया गया है। इसका पुन: पढा जाना आवश्यक है।

इस लेख में मुनि पद्मनन्दि के शिष्य भ० शुभचन्द्र का उल्लेख है, सभवत: इन्हीं शुभचन्द्र द्वारा दीक्षित शिष्या आर्या लोकसिरि विनयश्री और शिक्षिका वाई चारित्रश्री तथा चारित्रश्री की शिक्षिणी वाई आगमश्री का भी नाम दिया है। लेख महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार इस क्षेत्र में और भी कई लेख मिलते हैं। इनकी शोधयात्रा बहुत ही आवश्यक है। गत वर्ष जहाज-पुर में भी दिगम्बर जैन लेख देखे थे जिन्हें वीर वाणी में मैंने प्रकाशित कराये हैं।

अनेकान्त पत्र का इतिहास

पं० परमानन्द जैन शास्त्री

किसी भी सम्पन्न देश या समाज को, जो अपना उत्कर्ष एव अभ्युदय चाहता है, उसे अपनी सस्कृति, सभ्यता और आचार-विचारो की परम्परा को सुदृढ बनाने, एव उनका प्रचार प्रसार करने एव ठोस साहित्य को प्रकट करने के लिए साहित्यिक तथा ऐतिहासिक तथ्यो को गवेषणा के साथ लोक में प्रकट करने वाले पत्रो की आवश्यकता होती है। जिस देश और समाज के अच्छे उच्च-स्तर के पत्र होगे, वही देश अपनी संस्कृति का द्रुतगति से प्रचार करने में समर्थ हो सकते है। ठोस पत्रकारिता तथा साहित्य प्रकाशन और प्राचीन शिलालेख, सिक्के, ताम्रपत्र, प्रशस्तियाँ एवं पुरातात्त्विक अवशेष और पुरातन कलात्मक वस्तुओ का प्रदर्शन आदि उसकी प्राचीनता एव महत्ता के द्योतक है। इनसे ही देश-विदेशों मे उसकी सस्कृति का प्रचार प्रसार एव महत्व स्थापित हो सकता है। इन साधनो के अतिरिक्त अन्य कौन ऐसे सुलभ साधन है जो सस्कृति को ऊँचा उठा सके। उसके अभ्युदय को लोक मे प्रतिष्ठित कर सकें। आचार विचारो को ऊँचा उठाये बिना कोई भी देश या समाज अपनी उन्नति करने मे समर्थ नही हो सकता।

जैन समाज को संगठित करने, एक सूत्र मे बाँधने, और श्रमण सस्कृति की महत्ता को लोक मे प्रकट करने के लिए बहुत दिनों से एक अच्छे साहित्यिक मासिक पत्र को निकालने की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। यद्यपि श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बई ने जैन हितैषी नामक मासिक पत्र निकाला था, उसमे साहित्यिक ऐतिहासिक, समीक्षात्मक लेख प्रकट होने लगे थे। किन्तु कुछ वर्षों के बाद वह बन्द हो गया। उसके बन्द हो जाने पर समाज में साहित्यिक और ऐतिहासिक पत्र की बड़ी आवश्यकता महसूस होने लगी, साथ मे अनेक सैद्धान्तिक गुत्थियों को प्रामाणिकता के साथ सुलझाने की समस्या भी अपना उग्र-रूप धारण कर रही थी। इन्हीं दोनों समस्याओं को ध्यान में रखते हुए समाज के प्रसिद्ध ऐतिहासिक वयोवृद्ध विद्वान स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी सं० १९८६ ता० २१ अप्रैल सन् १९२९ को करोलबाग, दिल्ली में 'समन्तभद्राश्रम' नामक संस्था की स्थापना की। और इसी सस्था से उक्त सवत् के मार्गशिर महीने में 'अनेकान्त' नाम के मासिक पत्र का प्रथम अंक प्रकाशित किया। अनेकान्त पत्र का यह अक सचित्र, सुन्दर और महत्वपूर्ण शोध-खोज के लेखो की साज-सज्जा से विभूषित है। इसे बतलाने की आवश्यकता नही। प्रथम वर्ष के सभी अक भाषा-भाव, महत्वपूर्ण लेख, कहानी और सुभाषितो आदि की दृष्टि से उच्चकोटि के है। मुख्तार सा० के सम्पादकीय लेख बड़े ही महत्वपूर्ण और खोजपूर्ण है। इससे उनकी लेखनी का सहज ही आभास मिल जाता है। प्रथम वर्ष की यह फाइल अप्राप्य है और जन साधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी है, पाठको को उसका मनन करना चाहिए।

खेद है कि अनेकान्त के प्रथम वर्ष की अन्तिम किरण प्रकाशित होने के साथ ही स्थान की कमी और अर्थ सकोच के कारण पत्र को बन्द करना पड़ा। और आफिस को सरसावा ले जाना पड़ा। सरसावा मे स्व० मुख्तार सा० ने जमीन खरीद कर उस पर वीर सेवामन्दिर नाम का भवन बनवाया। सन् १९३६ मे उसका उद्घाटन ब्रह्मचारी शीतल प्रसादजी के द्वारा हुआ और उसी में उक्त सस्था का कार्यालय स्थापित किया गया। शोध-खोज का कार्य भी वहीं सम्पन्न होने लगा। पुरातन जैन वाक्य-सूची और लक्षणावली के लिए लक्ष्य शब्द एवं उनके लक्षणों के संग्रह का का कार्य भी होने लगा। इस तरह सरसावा साहित्यिक क्षेत्र बनने लगा।

सन् १९३९ में वीर शासन जयन्ती के अवसर पर ला० तनसुखराय जी—संचालक तिलक बीमा कम्पनी

दिल्ली अध्यक्ष होकर सरसावा आये, साथ में अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय भी थे। अनेकान्त के प्रकाशन की चर्चा होने पर उन्होंने उसके घाटे की स्वीकृति प्रदान की और अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय उसके प्रकाशक रहे।

दूसरे और तीसरे वर्ष के दोनो प्रथमाक विशेषाक के रूप में प्रकाशित हुए। जिनमें अनेक लेख पठनीय और संग्रहणीय प्रकाशित हुए है। इन दोनों वर्षो की फाइले व फुटकर अक सभी अप्राप्य है। पर जिन्होने उनको पढ़ा है वे उसकी महत्ता से कभी इकार नही कर सकते। विशेषांकों में जो पठनीय सामग्री सकलित की गई है वह स्थायी और महत्व की है। जिन पाठको ने उनका रसास्वादन किया है, वे उनकी गरिमा से परिचित है।

सन् १९४१ में अनेकान्त का प्रकाशन वीर सेवामन्दिर सरसावा से ही निश्चित हुआ। सम्पादक मुख्तार साहब और प्रकाशक मुझे बनाया गया। इस वर्ष का प्रथमाक विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ, जिसके मुख पृष्ठ पर चित्रमय जैनी नीति को प्रकट किया गया। इस अंक मे 'तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खाज' नाम का मेरा लेख भी प्रकाशित हुआ है जो बडे परिश्रम से मैने डेढ महीने मे तय्यार किया था। और जिसे विद्वानो ने खूब पसन्द किया था। गोम्मटसार की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका और 'तमिल भाषा का जैन साहित्य' नामक लेख भी इसी अक मे दिये गये हैं, जो महत्त्वपूर्ण है। इस वर्ष के अंकों में राजमल्लका पिंगल और राजाभारमल लेख प्रकाशित हुआ। अनेकान्त पत्र को आर्थिक सकट के कारण प्रकाशन मे बड़ी अडचने आईं, कागज का मिलना भी दुर्लभ हो गया, किन्तु जैसे-तैसे उसका प्रकाशन होता ही रहा।

उक्त वर्षो की भाँति ५, ६, ७ और आठवें वर्ष के अनेकान्त के अंकों मे पठनीय और सग्रहणीय सामग्री का प्रकाशन हुआ है। पउमचरिय का अन्त: परीक्षण, सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का प्रभाव, पडित प्रवर टोडरमल जी और उनकी रचनाएं, क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्यभद्र एक हैं? नाग सभ्यता की भारत को देन, जयपुर में एक महीना, शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार, श्रीचन्द नामके तीन विद्वान। शित्तन्ना वासल केवलज्ञानकी विषय मर्यादा, तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण महा कवि सिंह और प्रद्युम्नचरित, धर्मरत्नाकर और जयसेन नाम के आचार्य, अमृतचन्द्र सूरि का समय जैन सरस्वती। हरिषेणकृत अपभ्रंश धर्मपरीक्षा आदि महत्त्वपूर्ण लेखों का संकलन किया गया है। सातवें वर्ष के प्रकाशन मे बडी कठिनाइयों का सामना करना पडा कागज की अप्राप्ति में न्यूजप्रिन्ट लगाना पडा। और उससे प्रकाशन मे भी विलम्ब हुआ, और पेजो मे भी कटौती करनी पड़ी। इन सबके होने पर भी पत्र को बराबर जीवित रखने का उपक्रम मुख्तार सा० ने किया है। आर्थिक सकोच तो अनेकान्त पत्र के जीवन मे प्रारम्भ से ही रहा है। और प्रयत्न करने पर समाज से उसके घाटे की कुछ पूर्ति भी हुई है।

९वे वर्ष मे अनेकान्त का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ काशी की ओर से हुआ। और उसके सम्पादक मण्डल में मुख्तार साहब के अतिरिक्त मुनि कान्तिसागर जी, पं० दरबारीलाल जी कोठिया और अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय का नाम शामिल किया गया। अन्य वर्षो की भाति इस वर्ष मे भी अनेक लेख महत्त्व के प्रकाशित हुए। इस वर्ष के अन्तिम अक मे जो 'सिद्धसेनांक' नाम से प्रकाशित हुआ है, उसमें स्व० मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी ने 'सम्मतिसूत्र और सिद्धसेन' के बारे मे जो खोजपूर्ण अनेक महत्त्व के तथ्य प्रकाशित किये है, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। और ऐतिहासिक विद्वानों के द्वारा विचारणीय है। उनका उत्तर आज तक भी विद्वानो के द्वारा नही हुआ है। उसी अक मे 'ब्रह्म श्रुतसागर का समय' शीर्षक लेख भी छपा है जिसमे ब्रह्मश्रुतसागर का समय निश्चित किया गया है। इसी वर्ष की दूसरी किरण मे 'चतुर्थ वाग्भट और उनकी कृतिया' नाम का एक खोजपूर्ण लेख छपा है। और भी अनेक लेख महत्त्व की ज्ञातव्य सामग्री को प्रदान करते है।

१०वे वर्ष में अनेकान्त का प्रकाशन वीर सेवामन्दिर से ही हुआ। स्व० मुख्तार सा० के साथ प० दरबारीलाल जी सहायक सम्पादक का कार्य करते थे। इस वर्ष मे भी अनेक महत्त्व के लेख प्रकाशित हुए। इसी वर्ष के अंकों मे हिन्दी भाषा के कवियों का परिचय भी दिया जाने लगा। पं० दौलतराम और उनकी रचनाएँ, शीर्षक लेख मे जयपुर

के विद्वान दौलतराम काशलीवाल का परिचय दिया गया है। महाकवि रइधू वाला लेख भी १०वीं किरण में दिया गया है।

११वें वर्ष में स्व० मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी ही उसके सम्पादक रहे। इस वर्ष की सर्वप्रथम किरण 'सर्वोदय तीर्थाङ्क' के नाम से प्रकाशित हुई, जिसमे भगवान महावीर के शासन सर्वोदय तीर्थ पर अनेक लेख लिखे गये जो महत्त्वपूर्ण है इसके मुख पृष्ठ पर सर्वोदय तीर्थका काल्पनिक सुन्दर चित्र दिया है। इसी मे उदयगिरि खण्डगिरी का ऐतिहासिक परिचय वाला बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता का सचित्र लेख भी प्रकाशित किया गया। इस वर्ष की ३री किरण मे छहढाला के कर्ता कवि दौलतराम जी का परिचय दिया गया है। और चौथी-पाचवी किरण में आगरा के कवि द्यानतराय और भगवतीदास का भी परिचय दिया गया है। बुन्देलखण्ड के कवि देवीदास, हेमराजगोदी का और प्रवचन सार का पद्यानुवाद, फतेहपुर के मूर्तिलेख, मोहन-जोदडो की कला और जैन सस्कृति, महाराज खारवेल एक महान् निर्माता आदि अनेक खोजपूर्ण लेख प्रकाशित हुए है।

१२वे वर्ष मे अनेकान्त के सम्पादक स्व० मुख्तार सा० ही रहे। इस वर्ष मे भी अनेकान्त मे महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित की गई है। हिन्दी कवियों मे कविवर भूधरदास और उनकी विचारधारा पर ही लिखा गया, दशलक्षण धर्म पर अच्छे महत्त्व के लेख लिखे गये है। मूलाचार के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है।

१३वें और १४वें वर्ष मे अनेकान्त का प्रकाशन मासिक रूप में ही हुआ है। किन्तु सम्पादक मण्डल में स्व० मुख्तार सा० के अतिरिक्त तीन नाम और शामिल किये गये। बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता, बा० जयभगवान एडवोकेट पानीपत और परमानन्द शास्त्री। इन दोनों वर्षों में अनेक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। 'मद्रास और मयिलापुर का जैन पुरातत्त्व' शीर्षक लेख बा० छोटेलाल जी का सचित्र प्रकाशित हुआ। दीवान अमरचन्द, रामचन्द छाबड़ा, नागकुमारचरित और पं. धर्मधर, पं. जयचन्द और उनकी साहित्य सेवा। पं० दीपचन्द जी शाह और उनकी रचनाएं, धारा और धारा के जैन विद्वान, महापुराण कलिका और कवि ठाकुर, भगवतीदास, रूपक काव्य परम्परा, अपभ्रंश भाषा का जंबूस्वामीचरित और कवि वीर, कविवर ठकुरसी और उनकी कृतिया, पं० भागचन्द जी, जैन कथा के प्रतीक और प्रतीकवाद, समन्तभद्र के समय पर विचार आदि अनेक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित हुए है। वर्ष ४ से १४वे वर्ष तक मैं अनेकान्त का प्रकाशक रहा और अन्तिम दो वर्षों में सम्पादक भी। इन वर्षों मे अनेकान्त का सब कार्य मुझे ही करना पड़ता था। मुझसे जितनी भी सेवा बन पड़ी, उसे लगन के साथ की।

१४वे वर्ष के बाद आर्थिक सकोच के कारण अनेकान्त को ५ वर्ष के लिए बन्द करना पड़ा। इन वर्षों में साहित्य की शोध-खोज मे शैथिल्य आ जाना स्वाभाविक ही था। बाबू छोटेलाल जी को उनके अनेक मित्रों ने बार-बार अनेकान्त के प्रकाशित करने के लिए प्रेरित किया। तब उन्होंने खूब सोच-विचार कर अनेकान्त के कुछ सहायक बना कर सन् १९६२ मे अनेकान्त को द्वै मासिक रूप में प्रकाशित किया। सम्पादक मण्डल और प्रकाशक भी उसमें रूप मे नियुक्त किये गये। डा० ए० एन० उपाध्ये, श्री रतनलाल कटारिया, डा० प्रेमसागर और यशपाल जैन। और प्रकाशक बाबू प्रेमचन्द जी बी० ए० कश्मीर वाले है। १७वें वर्ष में तीन ही सम्पादक रहे। १९वें वर्ष का छोटेलाल स्मृति अक यशपाल जी और मैंने सम्पादित किया। इन सभी वर्षों के अनेकान्त का कार्य मुझे अकेले ही उठाना पड़ता है। २१वें वर्ष के जून के अंक से मेरा नाम भी सम्पादक मण्डल मे जुड़ गया। २२वे वर्ष के दो अंक प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरा-चौथा अक छप रहा हैं इन सब वर्षों मे अनेक ऐतिहासिक, साहित्यिक, दार्शनिक, विचारात्मक, समीक्षात्मक और पुरातत्त्व सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। जिन सब का परिचय पाठकों को लेखसूची पर से ज्ञात होगा।

इस सब विवेचन पर से विज्ञ पाठक भली भांति जान सकेंगे कि अनेकान्त पत्र जैन संस्कृति के लिए कितना ठोस और उपयोगी कार्य कर रहा है। उसकी सेवाएं किसी तरह भी ओझल नहीं की जा सकती।

समाज के गण्यमान व्यक्तियों, विद्वानों, विज्ञ पाठकों,

रिसर्च स्कॉलरों, विश्व विद्यालयों, कालेजों, हायरसेकण्डरी स्कूलों और लायब्रेरियों में इसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये। और श्रमण संस्कृति के अनुयायियों को आर्थिक सहयोग प्रदान कर अर्थ संकट से बचाना चाहिए।

आभार प्रदर्शन

अनेकान्त में अब तक जैन जैनेतर विद्वानों द्वारा लिखे गये शोधपूर्ण महत्व के लेख प्रकाशित किये गए है। जिनकी संख्या डेढ़ हजार से अधिक है और कविता, कहानी भी रुचिपूर्ण दी गई है। हम उन सब विद्वानों के विशेष आभारी हैं। जिन्होंने लेख भेजकर हमारी सहायता की वीर सेवामन्दिर के विद्वानो द्वारा अधिकाश लेख लिखे गए है। अनेकान्त के लेखक विद्वानों में से कितने ही विद्वान दिवंगत हो चुके है। उनमें स्व० प० जुगलकिशोर जी मुख्तार, स्व० बा० सूरजभान जी वकील, स्व० डा० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य, स्व० पं० नाथूराम जी प्रेमी बम्बई, स्व. बा. जयभगवानजी एडवोकेट पानीपत, स्व. बा० छोटेलालजी कलकत्ता के नाम उल्लेखनीय है तथा न्या० पं० दरबारीलाल जी कोठिया, पं० ताराचन्द जी न्यायतीर्थ, परमानन्द शास्त्री, प० हीरालाल सि० शास्त्री, पं० दीपचन्द जी पाण्डया और बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री।

वीर सेवामन्दिर के इन विद्वानों के अतिरिक्त निम्न विद्वानों के नाम साभार उल्लेखित किये जाते है। डा० ए० एन० उपाध्ये कोल्हापुर, डा० हीरालाल जबलपुर, मुनि कान्तिसागर जी, अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय, प० मिलापचन्द जी कटारिया, पं० रतनलाल जी कटारिया, वंशीधर जी व्याकरणाचार्य बीना, पन्नालाल जी साहित्याचार्य, डा० प्रेमसागर जी, डा० दशरथ शर्मा एम० ए० डी० लिट्, प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, एस० वी० गुप्ता, डा० वी० एन० शर्मा, कालिकाप्रसाद जी एम० ए० व्यारणाचार्य, श्री काका कालेलकर जी, पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी, डा० विद्याधर जोहरापुरकर, डा० श्यामाचरण जी दीक्षित, पं० बेचरदास जी, पं० सुखलाल जी संघवी, स्व० डा० जायसवाल, स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रो० पुष्कर शर्मा एम० ए०, स्व० बा० कामता प्रसाद जी, श्रीगोपाल वाकलीवाल एम० ए०, तेजसिंह जी गौड़ एम० ए० बी० एड, श्री रामवल्लभ सोमानी, प्रो० दुर्गाप्रसाद जी दीक्षित एम० ए०, डा० टी० एन० रामचन्द्रन. डा० प्रभाकर शास्त्री, डा० गंगाराम जी गर्ग, डा० सत्यरंजन वनर्जी, डा० ज्योतिप्रसादजी, डा० कमलचन्द जी सोगानी, मुनि श्री विद्यानन्द जी, पं० सुमेरचन्द जी दिवाकर, स्व० भगवत जैन, प्रो० उदयचन्दजी, क्षुल्लक सिद्धसागरजी, पं० कैलाशचन्द जी सि० शास्त्री, फूलचन्द जी सि० शास्त्री, डा० गोकुलचन्द जी, डा० नरेन्द्र भानावत, पं० के० भुजबली शास्त्री, डा० नेमिचन्द शास्त्री, श्री नीरज जैन, डा० देवेन्द्रकुमार जी, बा० सलेकचन्द जी, डा० भागचन्द जी साहित्याचार्य, डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल, स्व० पं० चैनसुखदास जी, डा० राजारम जी, बाबू बालचन्द जी एम० ए०, अगरचन्द जी नाहटा, भवरलाल जी नाहटा, पं० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य, जबूप्रसाद जी जैन, आनन्द प्रकाश जैन, डा० कैलाशचन्द जी, पं० अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ, मुनि श्री नथमल जी, मुनि श्री नगराज जी, मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी, द्वितीय, पं० गोपीलाल जी अमर एम० ए०, प्रो० भागचन्द जी, प्रो० प्रेम सुमन जी, डा० प्रद्युम्नकुमार जी, बा० माणिकचन्द जी, पं० कुन्दनलाल जी, डा० रवीन्द्रकुमार जैन, साध्वी श्री मंजुला, साध्वी श्री संघमित्रा, पं० नेमचन्द धन्नूसा जैन तथा कल्याणकुमार जी 'शशि' आदि।

इन लेखक विद्वानों की कृतियों से हम अनेकान्त को प्रकाशित कर सके है। इसके लिए हम उनके पुनः पुनः आभारी है। और आशा करते है कि इन सब विद्वानों का हमे पूर्ववत् सदा सहयोग मिलता रहेगा। ●

सुभाषित—नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास का काल।
अली-कली में बंधि रह्यो, आगे कौन [illegible] ाल॥
निपट अबुध समुझत नहीं, बुधजन वचन रसा[illegible]।
कबहुँ भेक नहिं जानता, अमल-कमल दल वास॥

अनेकान्त और श्री पं० परमानन्द जी शास्त्री

श्रीमती पुष्पलता जैन

अनेकान्त जैन शोध पत्रों में शायद प्राचीनतम पत्र है जिसने जैनधर्म, संस्कृति और साहित्य की अनुपलब्ध व अप्रकाशित विधाओं को उपलब्ध कर प्रकाशित करने का बीडा उठाया। इसका प्रकाशन स्व० प० जुगल किशोरजी मुख्तार व स्व० बाबू छोटे लाल जी कलकत्ता के अमित सहयोग से सन् १९२९ मे वीर सेवक सघ एवं समन्तभद्राश्रम की स्थापना हुई तथा अनेकान्त का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ महावीर जयन्ती (वीर नि० सं० २४५६) के शुभावसर पर।

जैनसमाज ने अनेकान्त जैसे निर्भीक शोध पत्र की आवश्यकता का अनुभव बहुत पहले से किया था परन्तु उसका समुचित पालन-पोषण नही किया जा सका। जैसा प्रायः देखा गया है, शोध पत्र का सम्पर्क सामान्य जन समाज से अधिक नही हो पाता और फलतः उसे अनेक समस्याओ का सामना करना पडता है। इनमे मुख्य समस्या अर्थ व्यवस्था की है। अनेकान्त को अपने शिशुकाल से ही इस अर्थक्षीणता का शिकार होना पडा। प्रथम वर्ष मे ही उसे लगभग १२५२ रुपये की हानि रही। इस हानि को देखकर 'प्रकाशन व्यय कम होगा' इस उद्देश्य से वीर सेवा सघ ने समन्तभद्राश्रम तथा अनेकान्त को सरसावा भेजने का निर्णय किया और ये दोनो संस्थाए मुख्तार सा० के साथ नवम्बर १९३० मे सरसावा पहुँच गई। परन्तु दुर्भाग्य से वहा भी अनेकान्त का प्रकाशन अवरुद्ध हो गया।

इस बीच मुक्तार सा० वीर-सेवा-मदिर के भवन निर्माण मे अपना पूरा समय देने लगे। फलतः द्वितीय वर्ष की प्रथम किरण के बाद अनेकान्त बन्द पड गया। स्व० बाबू छोटेलाल जी ने पूर्ण आर्थिक सहयोग देने का आश्वासन दिया फिर भी अनेकान्त का प्रकाशन नही किया जा सका। लाला तनसुखराय जी तथा अन्य महानुभावों ने भी आर्थिक सहायता दी। अर्थ व्यवस्था हो जाने पर एक नवम्बर १९३८ से अनेकान्त का प्रकाशन पुनः प्रारम्भ हुआ। श्री पं० परमानन्द जी का सम्बन्ध भी अनेकान्त से इसी समय हुआ।

लगभग इसी वर्ष तक अनेकान्त किसी तरह अपनी गाडी खींचता रहा पर सन् १९४७ मे फिर उसकी कमर टूटी। सन् १९४८ में भारतीय ज्ञान पीठ, काशी ने उसे अपने हाथ में लिया और घाटे के साथ एक वर्ष तक चलाता रहा। ज्ञानपीठ इस घाटे को बहन करने के लिए तैयार नही हुआ और अनेकान्त पुनः समन्त भद्राश्रम (वीर सेवा मंदिर) के पास वापिस आ गया। जुलाई १९४९ में देहली से उसका प्रकाशन हुआ और सात मास तक किसी तरह उसका प्रकाशन चलता ही रहा। यहा भी घाटे की पूर्ति नही की जा सकी। पत्र के दसवे वर्ष के अन्त मे मुख्तार सा० को विवश होकर पुनः पत्र को बन्द कर देना पड़ा। लगभग ढाई हजार का घाटा था।

अक्टूबर १९५१ मे फिर अनेकान्त का भाग्योदय हुआ। मुख्तार सा० कलकत्ता पहुँचे। वहां छोटे लाल जी वा० नन्दलाल जी सरावगी के सहयोग से अनेकान्त में स्थायित्व लाने की योजना बनाई गई। सरक्षक व सहायक सदस्य बनाये गए। एतदर्थ प्राप्त आर्थिक सहायता से सर्वोदय तीर्थांक के साथ अनेकान्त के ग्यारहवें वर्ष की प्रथम किरण मार्च, १९५२ मे डेढ वर्ष बाद पुनः प्रकाशित हुई। इसी मे मुख्तार सा० ने वीरसेवामंदिर ट्रस्ट, की स्थापना की। इसके उद्देश्य निम्नलिखित निर्धारित किए गए—

(क)—जैन संस्कृति और उसके साहित्य तथा इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न ग्रंथों शिलालेखों, प्रशस्तियों, उल्लेख वाक्यों, सिक्कों, मूर्तियों, स्थापत्य, और चित्रकला के नमूनों आदि सामग्री का लायब्रेरी व म्यूजियम आदि के रूप में अच्छा संग्रह करना और दूसरे ग्रंथों की

भी ऐसी लायब्रेरी प्रस्तुत करना जो धर्मादि विषयक खोज के कामों में अच्छी मदद दे सके।

(ख)—उक्त सामग्री पर से अनुसन्धान कार्य चलाना और लुप्तप्राय प्राचीन जैन-साहित्य, इतिहास व तत्वज्ञान का उसके द्वारा पता लगाना और जैन-संस्कृति को उसके असली तथा मूल रूप मे खोज निकालना।

(ग)—अनुसन्धान व खोज के आधार पर नये मौलिक साहित्य का और लोकहित की दृष्टि से उसे प्रकाशित करानां; जैसे जैन-सस्कृति का इतिहास, जैनधर्म का इतिहास, जैन साहित्य का इतिहास, भगवान महावीर का इतिहास, प्रधान-प्रधान जैनाचार्यों का इतिहास जातिगोत्रों का इतिहास, ऐतिहासिक जैन व्यक्ति कोष जैन-लक्षणावली जैन-पारिभाषिक शब्द-कोष जैन ग्रथो की सूची, जैन-मंदिर मूर्तियों की सूची और किसी तत्व का नई शैली से विवेचन या रहस्यादि तैयार कराकर प्रकाशित कराना।

(घ) उपयोगी प्राचीन जैन-ग्रथो तथा महत्व के नवीन ग्रन्थों एव लेखो का भी विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओ मे नई-शैली से अनुवाद तथा सम्पादन कराकर अथवा मूल रूप मे ही प्रकाशित कराना। प्रशस्तियों और शिलालेखों आदि के संग्रह भी पृथक् रूप से सानुवाद तथा बिना अनुवाद के ही प्रकाशित करना।

(ङ) जैन सस्कृति के प्रचार और पब्लिक के आचार-विचार को ऊँचा उठाने के लिए योग्य-व्यवस्था करना, वर्तमान में प्रकाशित अनेकान्त पत्र को चालू रखकर उसे और उन्नत लोकप्रिय बनाना। साथ ही, सार्वजनिक उपयोगी पेम्पलेट व ट्रैक्ट (लघु पत्र पुस्तिकाये) प्रकाशित करना और प्रचारक घुमाना।

(च) जैन- साहित्य इतिहास और संस्कृति की सेवा तथा तत्वसम्बन्धी अनुसन्धान व नई पद्धति से ग्रथ-निर्माण के कार्यों मे दिलचस्पी पैदा करना और आवश्यकता शिक्षण (ट्रेनिंग) दिलाने के लिए योग्य विद्वानो को स्कालरशिप (वृत्तियां, वजीफे) देना।

(छ) योग्य विद्वानों को उनकी साहित्यिक सेवाओं तथा इतिहास आदि विषयक विशिष्ट खोजों के लिए पुरुस्कार या उपहार देना। और जो सज्जन निःस्वार्थ भाव से अपने को जैन-धर्म तथा समाज की सेवा के लिए अर्पण कर देवें, उनके भोजनादि खर्च में सहायता पहुँचाना।

(ज) कर्मयोगी जैन-मन्डल अथवा वीर समन्तभद्र गुरुकुल की स्थापना करके उसे चलाना।

इस ट्रस्ट और वीरसेवामन्दिर के ये उद्देश्य और ध्येय ट्रस्टनामा में लिखित उद्देश्यों और ध्येयों का शब्दशः उल्लेखन है। ये उद्देश्य सभी जैनधर्म तथा तदाम्यनाय की उन्नति एव पुष्टि के द्वारा लोक की यथार्थ सेवा के निमित्त निर्धारित किए गए है। इस ट्रस्ट में स्वर्गीय मुख्तार सा० की लगभग सभी सम्पत्ति का ट्रस्टनामा कर दिया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य वीर-सेवा-मन्दिर का संरक्षक व सम्वर्द्धन करना रहा है।

ट्रस्ट बन जानेके वावजूद अनेकान्त घाटेकी अर्थ व्यवस्था से नहीं बच सका। कलकत्ता से प्राप्त ६५६६ रुपये की सहायता से तीन वर्ष (दस से बारहवें तक) का घाटा पूरा किया जा सका फिर भी ८७१ रुपये का घाटा बना रहा। ध्रौव्य फण्ड समाप्त हो जाने के कारण अनेकान्त को और भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तेरहवे वर्ष मे १४६२ रुपये तथा चौदहवे वर्ष में ५५०० रुपये का घाटा रहा। अतः मुख्तार सा० ने एक बार पुनः अनेकान्त में स्थायित्व लाने का प्रयत्न किया। तदर्थ उन्होने वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली की पैसा फण्ड गोलक योजना बनाई। यह योजना अनेकान्त वर्ष १४ किरण ६ जनवरी, १९५७ मे प्रकाशित हुई। परन्तु यह योजना भी सफल न हो सकी। फलतः जुलाई, १९५७ से अनेकान्त को पुनः बन्द कर देना पडा। इस प्रकार अनेकान्त ने अपने चौदह वर्ष का कार्यकाल अट्ठाईस वर्ष मे पूर्ण किया। इन वर्षों में श्री पं० परमानन्द जी प्रकाशक व सम्पादक के रूप मे अपनी सेवाए देते रहे है।

इसके बाद अनेकान्त का पन्द्रहवां वर्ष अप्रैल, १९६२ से प्रारम्भ हुआ। इसी समय से पत्र को मासिक न रखकर द्विमासिक बना दिया गया। अभी तक सम्पादक मण्डल में श्री डा० आ० ने० उपाध्ये, श्री रतन लाल कटारिया, डा० प्रेम सागर व श्री यशपाल को रखा गया। कुछ समय बाद श्री रतनलाल कटारिया सम्पादक मण्डल से पृथक् हो गए। १९६५ में सम्पादक मण्डल में श्री पं०

परमानन्द जी को भी सम्मिलित कर लिया गया। वस्तुतः प्रारम्भ से ही परमानन्द जी प्रकाशन व सम्पादन का समूचा भार वहन करते रहे हैं। आज भी उन्हें इस कार्य में और कोई दूसरा विद्वान सहयोग नही देता। यथार्थ में वे अनेकान्त के लिए प्राण हैं। उनके बिना अनेकान्त में प्राण प्रतिष्ठा बनी रहने की न सम्भावना पहले थी और न आज भी है। इस वृद्धावस्था में भी वे कुशल शिल्पी की भांति साहित्य सृजन करते हुए भी अनेकान्त के सम्पादन व प्रकाशन में जुटे हुए हैं।

विद्वज्जगत परमानन्द जी की सूक्ष्मेक्षिका से भलीभांति परिचित है। उन्होने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तथा हिन्दी के अनेक आचार्यों का काल निर्धारण किया एव उनके कृतित्व व व्यक्तित्व पर असाधारण रूप मे शोध-खोजकर प्रथमतः प्रकाश डाला। इतिहास, सस्कृति और भाषा पर उनका अधिकार है। अनेक शिलालेखों का सम्पादन कर उन क्षेत्रों की ऐतिहासिकता आदि पर पूर्ण विचार किया है। महाकवि रइधू व कवि वीर के कृतित्व व व्यक्तित्व पर सर्वप्रथम शास्त्री जी ने ही लेखनी चलायी। उसके बाद तो इन विषयों पर विद्वानों ने प्रबन्ध लिखकर PH. D. आदि उपाधिया भी ली। जैन रासा साहित्य, अग्रवालों का जैन सस्कृति में योगदान, आदि लेख भी महत्वपूर्ण है। वस्तुत: परमानन्द जी का प्रत्येक लेख नई दृष्टि और नई सूझबूझ को लिए हुए रहता है। तन, मन, धन वे से साहित्य सृजन करनेमे जुटे हुए है। अनेक ग्रन्थागारों को देखकर उन्हे व्यवस्थित करना तथा नये ग्रन्थों और ग्रन्थकारो पर निबन्ध लिखना उनका लक्ष्य बनचुका है।

अनेकान्त मे अभी तक, अनेक ग्रन्थों के लेखन, सम्पादन समालोचन व अनुवादन के अतिरिक्त, उनके द्वारा लिखित कुछ खास निबन्धों की एक तालिका दी जाती है। जो निबन्ध प्रकाशित हुए हैं।

कुछ प्रमुख लेखों की सूची

धारा और धाराके जैन विद्वान वर्ष १३, ११-१२ पृ. २८
हूंमड या हुंबड वंश और उसके महत्वपूर्णकार्य १३-५-१२३
कविवर ठकुरसी और उनकी रचनाएं १४-१ पृ. १०
कसाय पाहुड और गुणधराचार्य वर्ष १४-१ पृ. ८
रूपक काव्य परम्परा वर्ष १४ कि. ६ पृ. २५६
अपभ्रंश भाषाका जंबूस्वामीचरिउ और कविवीर १३–
द्रव्यसंग्रहके कर्ता और टीकाकारके संबंध में विचार १६
मध्यभारत का जैन पुरातत्त्व १६-१-२-५४
क्या द्रव्यसग्रहके कर्ता व टीकाकार समकालीन नहीं हैं?
श्रमण संस्कृति के उद्भावक ऋषभदेव १६, १-२, २७३
अग्रवालोंका जैन संस्कृतिमे योगदान वर्ष २०, ३, ६८, २०, ४, १७७, २०, ५, २३३, २१, वर्ष २१ १, ४६, २, ६१, ४, पृ० १८५
ग्वालियर के तोमर राजवंश में जैनधर्म २, १-३३
भ० विनयचन्द के समय पर विचार २०, १, ३०
ब्रह्म जीवंधर और उनकी रचानाएँ १७, ३, पृ० २४
कवि वल्ह या वूचिराज वर्ष १६ कि. ६, २५३
ब्रह्म नेमिदत्त और उनकी रचनाएं १८, २, ८२
भगवान पार्श्वनाथ वर्ष १८ कि. ६ पृ. २६६
हेमराज नाम के दो विद्वान वर्ष १८ कि. पृ. १३५
चित्तौड का दिगम्बर जैन कीर्तिस्तम्भ २१, ४, १७६
छीहल २१-३-१२६
सीया चरिउ एक अध्ययन २१, ३, १३७
जैन समाज की कुछ उपजातियां २२-२-५०
ग्वालियर के काष्ठासंघी भट्टारक २२-२-६४
रासासाहित्य एक अध्ययन
शुभकीर्ति और शान्तिनाथ चरित्र २१, २, ६०
अयोध्या एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर १७, २, ७८
कविवर द्यानतराय ११, ४-५
अमरचन्द्र दीवान १३, ८, पृ. १६८
अतिशयक्षेत्र चन्द्रवाड़ वर्ष ८-६, ३४५
कविवर भूधरदास और उनकी विचारधारा
श्वेताम्बर कर्म साहित्य और दि० पंच संग्रह ३-६-३७८
राजा हरसुखराय १५-१ पृ. ११
पउमचरिय का अन्तः परीक्षण ५-१-३८
अर्थप्रकाशिका और प० सदासुख जी ३, ८-६-५१४
सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक ३-११-६२६
तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज वर्ष ४ कि. १ पृ. ६२३
जयपुर में एक महीना ६, १०-११, ३७२
शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार ७, १, १७
सुलोचना चरित और देवसेन ७, ११-१२, पृ. १५६

श्रीचन्द नाम के तीन विद्वान ७, ९-१०, पृ. १०७
रामचन्द्र छाबड़ा वर्ष १३-१०-२५६
भगवती आराधना और शिवकोटि २-६-३७१
अपराजित सूरि और विजयोदया वर्ष २ कि. ६ पृ. ३७१
अपभ्रंश भाषा का जैनकथा साहित्य ८, ६/७, २७३
दिल्ली और दिल्ली की राजावली ८, २, ७१
धर्मरत्नाकर और जयसेन नाम के आचार्य ८-२००
महाकवि सिंह और प्रद्युम्न चरित ८, १०/११ पृ० ३८९
श्रीधर और विबुध श्रीधर नाम के विद्वान ८, १२, ४६२
चतुर्थ वाग्भट और उनकी कृतियाँ वर्ष ६, कि. २, पृ. ७७
ब्रह्म श्रुतसागर का समय और साहित्य ६, ११/१२, ४७४
अपभ्रंश भाषा के दो महाकाव्य और नयनन्दी १०-३१३
ग्वालियर किले का इतिहास और जैन पुरातत्व १०, ३,१०१
पं० दौलतराम और उनकी रचनाए १०-१-६
आचार्य कल्प प० टोडरमल जी ६, १, २५
पांडेरूपचन्द और उनका साहित्य १०, २, ७५
महाकविरइधू १०, १०, ३७७, ११, ७/८, २६५
कविवर पं० दौलतरामजी ११, ३, २५२
भगवान महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ ११, १, ५५
आदिनाथ मन्दिर और कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद, नवभारत
बिजोलिया के शिलालेख ११, ११-३५६
नागकुमार चरित और कवि धर्मधर १३-६-२२७
प० दीपचन्द शाह और उनकी रचनाएं १३, कि. ४, १३
प० जयचन्द और उनकी साहित्य-सेवा १३-१६६
अहिंसातत्व वर्ष १३, कि. ३, पृ. ६०
कविवर भगवतीदास वर्ष १४, ८, २२७

इस प्रकार अनेकान्त ने जैन साहित्य और सस्कृत की अभूतपूर्व सेवा की है। जुलाई, १९५४ के अत मे वीर-सेवामन्दिर की सेवाओ का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है.—

१. वीर शासन जयन्ती जैसे पावन-पर्व का उद्धार और प्रचार।

२ स्वामी समन्तभद्र के एक अश्रुत-पूर्व अपूर्व-परिचय-पद्य की नवीन खोज।

३. लुप्तप्राय जैन साहित्य की खोज मे सस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी के लगभग दो सौ ग्रन्थों का अनुसधान तथा परिचय प्रदान। दूसरे भी कितने ही ग्रथों तथा ग्रन्थ-कारों का परिचय लेखन।

४. श्रीपात्र केसरी और विद्यानन्द को एक समझने की भारी भूल का सप्रमाण निरसन।

५. गोम्मटसार की त्रुटि पूर्ति, रत्नकरण्ड का कर्तृत्व और तिलोयपण्णत्ती की प्राचीनता विषयक विवादों का प्रबल युक्तियों द्वारा शान्तिकरण।

६. दिल्ली के तोमरवंशी तृतीय अनगपाल की खोज, जिससे इतिहास की कितनी ही भूल-भ्रान्तिया दूर हो जाती है।

७. गहरे अनुसन्धान द्वारा यह प्रमाणित किया जाना कि सन्मतिसूत्र के कर्ता आचार्य सिद्धसेन दिगंबर थे तथा सन्मति सूत्र न्यायावतार और द्वात्रिन्शिकाओ के कर्ता एक ही सिद्धसेन नही, तीन या तीन से अधिक है। साथ ही उपलब्ध २१ द्वात्रिन्शिकाओ के कर्ता भी एक ही सिद्धसेन नही है।

८. इतिहास की दूसरी सैकडों बातो का उद्घाटन और समयादि विषयक अनेक उलझी हुई गुत्थियो का सुलझाया जाना।

९. लाकोपयोगी महत्व के नवसाहित्य का सृजन और प्रकाशन जिसमे सोलह ग्रथो की खोजपूर्ण प्रस्तावनाये, २० ग्रंथो का हिन्दी अनुवाद और लगभग तीन सौ लेखों का लिखा जाना भी शामिल है।

१०. अनेकान्त मासिक द्वारा जनतामे विवेकको जाग्रत करके उसके आचार-विचारको ऊंचा उठाने का सत्प्रयत्न।

११. धवल, जयधवल, और महाधवल (महाबन्ध) जैसे प्राचीन सिद्धान्त-ग्रथों की ताड़पत्रीय प्रतियो का—जो मूडबद्री के जैन-मन्दिर मे सात तालो के भीतर बन्द रहती थी—फोटो लिया जाना और जीर्णोद्धार के लिए, उनके दिल्ली बुलाने का आयोजन करके सबके लिए दर्शनादि का मार्ग सुलभ करना।

१२. जैन लक्षणावली (लक्षणात्मक जैन पारिभाषिक शब्दकोष), जैन-ग्रंथों की वृहत् सूची और समन्तभद्र भारती कोषादि के निर्माणका समारंभ। साथ ही पुरातन जैन वाक्य सूची आदि २१ ग्रथों का प्रकाशन।

१९५४ के बाद अब तक अनेकान्त और वीर सेवा मन्दिर द्वारा उक्त उद्देश्यों की पूर्ति में और भी विशिष्टता आई है। इसमें श्री पं० परमानन्द जी शास्त्री का सहयोग प्रशंसनीय और साधुवादार्ह रहा है। ●

"अनेकान्त" एक आदर्श पत्र

पं० मिलापचन्द्र रतनलाल जैन कटारिया

वीर-सेवा-मन्दिर—समन्तभद्राश्रम का मुखपत्र—"अनेकान्त" इतिहासादि विषयक अनुसंधानात्मक ख्याति प्राप्त एक आदर्श पत्र है। इसमे समाज के अनेक विद्वानो और त्यागियों के विविध विषयक खोज पूर्ण लेख है जैनेतर विद्वानो के भी विशिष्ट उपयोगी लेख है जो अब तक १॥ हजार से ऊपर पहुँच गये है।

इस पत्र के सस्थापक—प्रवर्तक स्व० पडितवर्य्य जुगल किशोर जी मुख्तार सरसावा निवासी थे वे ही इसके प्रमुख सम्पादक थे उनके सैकड़ो खोजपूर्ण लेखों ने और उनकी प्रतिभापूर्ण गहन सम्पादन कला ने इसको उच्च-कोटि का पत्र बना दिया था। मुख्तार सा० पुत्र विहीन थे किन्तु यह उनका वास्तविक आत्मज-पुत्र था एक पुत्र की तरह ही उन्होने इमका लालन-पालन किया था।

पत्र के नाम (अनेकान्त] के अनुरूप निम्नाकित श्लोक M TTO मे से कोई भी प्रत्येक अक के प्रारभ में दिए जाते आ रहे है।

१—परमागमस्य बीज निषिद्धजात्यधसिधुरविधान ।
सकलनयविलसिताना विरोधमथन नमाम्यनेकातम ॥
—पुरुपार्थ सिद्धचुपाय (अमृतचन्द्रसूरि)

२—नीतिविरोधध्वसी, लोकव्यवहारवर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं, भुवनैकगुरुजर्यत्यनेकातः ॥

३—एकेनांकर्षन्ती, श्लथयंती वस्तुत्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी, नीतिर्मथाननेत्रमिव गोपी ॥
—पुरुषार्थ सिद्धघुपाय

४—विधेय वार्यं चानुभयमुभय मिश्रमपि तद्,
विशेषैःप्रत्येक नियम विषयैश्चापरिमितैः ।
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठ गुरुणा,
त्वया गीत तत्त्व बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥
—(स्वयभू स्तोत्र)

५—सर्वान्ति-वत्तद्‌गुणमुख्यकल्प,
सर्वन्ति शून्यं च मिथोऽनपेक्ष ।
सर्वापदामन्तकरं निरंत सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
(युक्त्यनुशासन)

(इनमे से तीसरे चौथे श्लोक मुख पृष्ठ पर के "जैनीनीति" कल्पनात्मक चित्र के लिए तथा पाचवा श्लोक मुख पृष्ठ पर के 'सर्वोदय तीर्थ" कल्पनात्मक चित्र के लिए प्रयुक्त किए जाते रहे है)

"अनेकान्त" विक्रम सम्वत् १९८६ के मगसर मास में दिल्ली से प्रकट हुआ था इस वक्त विक्रम सं० २०२६ में उसे ४० वर्ष हो गये है किन्तु इस समय उसका २२ वां वर्ष चल रहा है इस हिसाब से यह १८ वर्ष बीच-बीच में बन्द रहा हे नीचे २२ वर्षों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है :—

वर्ष	अक	प्रारम्भ काल	मूल्य	कुलपृष्ठ	सम्पादक	विशेष
१	१२ मासिक	वि० स० १९८६ मगशिर	४)	६७२	प० जुगलकिशोरजी मुख्तार	मुखपृष्ठ पर ३० आरोंका अनेकान्तात्मक चक्र-चित्र
२	,,	वि० स० १९९५	२॥)	६८८	,,	संचालक—तनसुखरायजी, दिल्ली
३	,,	,, १९९६	३)	७६४	,,	प्रथम अक वीरशासनांक
४	,,	फागुण १९९७	,,	६३२	,,	मुखपृष्ठ पर "जैनी नीति" चित्र
५	,,	, १९९८	,,	४२६	,,	,,
६	,,	भाद्र पद २०००	४)	३८६	,,	किरण ५-६ मुख्तार सम्मान अक
७	,,	माघ २००१	,,	२२८	,,	,,
८	,,	पोष २००२	,,	४७२	,,	,,

वर्ष	अंक	प्रारम्भ काल		मूल्य	कुल पृ.	सम्पादक	विशेष
६	१२ मासिक	ज्येष्ट	२००४	५)	४६०	मुख्तार सा०, मुनि कांतिसागर जी दरबारीलालजी, अयोध्या प्रसाद जी	संचालक भारतीय ज्ञानपीठ काशी कि० ११-१२ सन्मति सिद्धसेनांक
१०	„	फागुण	२००६	„	४६०	सिर्फ जुगलकिशोर जी मुख्तार	वीर सेवामन्दिर, दिल्ली से
११	„	ज्येष्ट	२००८	„	४२४	„	कि० १ सर्वोदयतीर्थांक कि० ७ से अहिंसा मन्दिर, दिल्ली
१२	„	श्रावण	२०१०	„	३८६	„ किरण १० से बाबू छोटेलाल जी, जयभगवान जी, डी. एस. जैतली, परमानन्दजी	किरण १० से मूल्य ६)
१३	„	„	२०११	६)	३२२	जैतली सा. को छोड़कर पूर्वोक्त ४	मुखपृष्ठ सादे
१४	„	चैत्र	२०१३	„	३६२	„	„
१५	द्वै मासिक ६ अंक	„	२०१६	„	३६०	ए. एन. उपाध्ये, रतनलाल कटारिया, डा. प्रेमसागर, यशपाल जैन	समन्तभद्राश्रम (वीरसेवामन्दिर) मुखपृष्ठ पर "हाथी और ६ जन्मांध" चित्र
१६	„	„	२०२०	„	३६०	जून अंक से रतनलाल को छोडकर बाकी ३ उपरोक्त	प्रत्येक अक पर अलग-अलग प्राचीन मूर्ति-चित्र
१७	„	„	२०२१	„	३६०	„	„
१८	„	„	२०२२	„	३६०	„	„
१९	„	„	२०२३	„	३८२	„	प्रथम अंक बाबू छोटेलाल जैन स्मृति अक
२०	„	„	२०२४	„	३६०	„	
२१	„	„	२०२५	„	३६०	„ जून अंक से परमानन्द जी शास्त्री भी इस तरह कुल ४	अतिम अक—युगवीर स्मृति अक
२२	„	„	२०२६	„	४६०	„ „	

इस तरह २२ वर्षों के सब अंकों की कुल पृष्ठ संख्या ९ हजार से ऊपर है इनमें ज्ञान की अतुल निधि सग्रहीत है जिसे एक तरह से "जैन विश्व कोष" कहना चाहिए। कुछ अंको में मन्दिर मूर्ति सम्बन्धी प्राचीन महत्वपूर्ण चित्र भी संकलित किए गए है।

चैत्र २०१९ से चैत्र २०२० तक हम भी इसके संपादक मन्डल में रहे हैं। अनेकांत में अब तक हमारे भी निम्नांकित ११ लेख प्रकाशित हुए हैं :—

वर्ष	अक	समय	लेख का शीर्षक
१२	६	नवंबर १९६९	वसुनदि श्रावकाचार का सशोधन
१५	१	अप्रेल ६२	रात्रिभोजनत्यागः छठा अणुव्रत
१५	१	„	जयसेन प्रतिष्ठापाठ की प्रतिष्ठा विधि का अशुद्ध प्रचार
१५	२	जून ६२	'दर्शन' का अर्थ मिलना

वर्ष	अंक	समय	लेख का शीर्षक
१५	३	अगस्त ६२	मंगलोत्तम शरण पाठ
१८	२	जून ६५	क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द्र
१९	१	अप्रेल ६६	ज्ञानतपस्वी गुणिजनानुरागी बाबू सा.
१९	१	,,	चातुर्मास योग
२०	२	जून ६७	राजाश्रेणिक या बिम्बसार
२१	१	अप्रेल ६८	प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र का समय
२१	६	फरवरी ६८	सरस्वती पुत्र मुख्तार सा०

'अनेकान्त' पत्र से अनेकों ने अपने ज्ञान का संवर्द्धन और परिमार्जन किया है बहुतों ने लेख लिखना और सपादन करना तक सीखा है।

यह समाज का ठोस और निर्भीक पत्र है फिर भी इसकी ग्राहक सख्या कम है इससे इसकी महता कम नही समझनी चाहिए, क्योंकि रत्नों के खरीददार और पारखी अत्यल्प होते है।

इसमे भरती के लेख नही दिए जाते किन्तु शुद्ध इतिहास और शुद्ध सिद्धान्त आदि विषयक लेख ही दिए जाते है व्यर्थ के विवाद और विसवादों से यथाशक्य दूर रहकर समाज को उचित मार्ग दर्शन किया जाता है।

रूढिवादिता और चाटुकारता से दूर रहकर पत्र ने सदा अपनी नीति निर्भीक और उदार रखी है। मुख्तार सा० और बाबू छोटेलाल जी सा० के स्वर्गवास हो जाने के बाद भी पं० परमानन्द जी शास्त्री ने पत्र स्तर को नही गिरने दिया है बल्कि पर्याप्त परिश्रम के साथ इसके गौरव को अक्षुण्ण रखा है और बराबर पत्र को निकाल रहे है। प्रत्येक अंक में शास्त्री जी का कम से कम एक लेख अवश्य रहता है यह बडी खुशी की बात है। अगर पत्र के अन्य तीन सम्पादक विद्वान् भी इसी तरह प्रत्येक अंक में अपना कम से कम एक लेख अवश्य देते रहें तो लेख जुटाने में विशेष परिश्रम नहीं उठाना पड़े और अंक भी बिल्कुल ठीक समय पर निकल जाये। हम तो उस सुदिन की प्रतीक्षा में हैं। जब कि पत्र द्वैमासिक से पुनः मासिक हो जाय।

'अनेकान्त' की फाइलें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। अनुसधान-प्रेमी विद्वान् इन फाइलों का उपयोग करते रहते हैं और अपने निबंधों एवं ग्रंथों में यत्र तत्र प्रमाण रूप में इनका उल्लेख भी करते रहते है इससे इनकी उपयोगिता प्रामाणिकता और लोकप्रियता का संकेत मिलता है।

हर सस्कृत विद्वान को ये फाइलें रखना बहुत ही आवश्यक हैं जो भी फाइले उपलब्ध हो उन्हे अवश्य मंगा लेना चाहिए अन्यथा शुरू के कुछ वर्षों की तरह आगे की भी फाइले मिलना मुश्किल हो जायेगा।

प्रत्येक विद्वान्, स्कालर, ग्रेजुएट, सरस्वती भवन, मन्दिर आदि को पत्र का ग्राहक हो जाना चाहिए इससे पत्र को सहयोग मिलकर वह समुन्नत बनेगा तथा पाठकों की और भी सेवा कर सकेगा इस तरह परस्पर लाभ ही होगा।

इसमें सस्कृतादि भाषाओं के सैकड़ों, प्राचीन, विविध, सुन्दर स्तोत्र भी प्रकाशित होते रहे हैं अगर कोई महानुभाव "अनेकान्त" की फाइलों से उन्हे सकलित कर अलग पुस्तक रूप मे छपाये तो एक नवीन स्तोत्र सग्रह उपयोग मे आ सकता है।

अनेकान्त मे विद्वद्भोग्य खोजपूर्ण सामग्री के अलावा जनसाधारण के लिए भी अनेक पौराणिक कथाये, उद्बोधक कहानियां और सरस कवितायें आदि भी प्रकाशित होती रहती है अतः सभी को इसका अवश्य ग्राहक होना चाहिए।

हम पत्र की समुन्नत की शुभकामना करते हैं। ★

कंचन निजगुण नहिं तजे, बान हीन के होत।
घट घट अंतर आतमा सहज स्वभाव उदोत ॥१७
पन्ना पीट पकाइये, शुद्ध कनक ज्यों होय।
त्यों प्रगटं परमात्मा, पुण्य-पाप-मल खोय॥ —बनारसीदास

वीर-सेवामन्दिर का साहित्यिक शोध-कार्य

पं० परमानन्द जी जैन शास्त्री

वीर सेवा मन्दिर एक प्रसिद्ध शोध संस्थान है, जिसके संस्थापक वयोवृद्ध ऐतिहासिक विद्वान स्वर्गीय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार है। जिसका उद्देश्य जैन साहित्य, इतिहास और तत्वज्ञान-विषयक अनुसन्धान कार्यो का प्रसाधन, जैन- जैनेतर पुरातात्विक सामग्री का अच्छा सग्रह संकलन और प्रकाशन, तथा लोक-हितानुरूप नव-साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण एव प्रचार है। महत्व के प्राचीन ग्रंथों का उद्धार, जैन सस्कृति, साहित्य, कला और इतिहास के अध्ययन में सहायक विभिन्न ग्रन्थों, शिलालेखों, प्रशस्तियों, मूर्तिलेखों, ताम्रपत्रों, सिक्को यत्रों, स्थापत्य और चित्रकला के नमूनों आदि का विशाल सग्रह करना है। अनेकान्त पत्र द्वारा जनता के आचार को ऊँचा उठाना, एवं शोध-खोज कार्यो को प्रकाश मे लाना है।

वीर-सेवा-मन्दिर अपने इस उद्देश्य के अनुसार जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्व के सम्बन्ध मे अनेक शोध-खोज के कार्य में सलग्न रहता है, वह वर्तमान विज्ञापनबाजी से दूर है किन्तु उद्देश्यानुसार अपने कार्य सम्पन्न करने में कभी नहीं हिचकता। आज दिन जैन साहित्य और इतिहास के सम्बन्ध में जो कुछ प्रगति आप देख रहे है उस सबका श्रेय इस सस्था को ही है।

शोध-खोज का कार्य संचालन करने के लिए वीर सेवामन्दिर में एक लायब्रेरी भी है जिसमे साढे चार हजार के लगभग ग्रथो का सग्रह है, वीर सेवामन्दिर के विद्वान इसी छोटी सी लायब्रेरी के सहारे अपने अनुसन्धान का कार्य करते है। अनुसन्धान का कार्य करते हुए जो कुछ विशेष ज्ञातव्य सामग्री प्राप्त हो जाती है, उससे साहित्यिक और ऐतिहासिक गुत्थियो को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। वीर सेवामन्दिर के मुख पत्र 'अनेकान्त' मे शोधात्मक इतिहास, और पुरातत्व सम्बन्धी तथा समीक्षात्मक लेख प्रकाशित होते हैं वह सब इसी शोध-खोज का परिणाम है। मुख्तार साहब ने अब तक जो कार्य इस सम्बन्ध में किया व उनके सहायक विद्वानों ने किया, उनका आधार भी वही पुस्तकालय है। और मैं जो कुछ कार्य कर रहा हूँ वह भी उसके सहयोग से ही कर रहा हूँ। मेरे प्रायः सभी अधिकाश लेख अनेकान्त पत्र मे ही प्रकाशित हुए है और हो रहे है। विज्ञ पाठक उन पर से सस्था के कार्यों की रूप-रेखा का अनुमान कर सकते है। इसी खोज का परिणाम जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह के वे दोनो भाग है, जिनमे अनेक ग्रन्थो, ग्रंथकारो, उनकी कृतियो के परिचय के साथ ग्रंथ निर्माण मे प्रेरक श्रावक-श्राविकाओ, राजाओ, राज्य-मंत्रियों, कोषाध्यक्षो, भट्टारकों, आचार्यो, विद्वानो, लेखको, अन्वयो, गोत्रों, स्थानो, और अग्रवाल खडेलवाल आदि उपजातियों के ऐतिहासिक परिचय का अवलोकन करते है। जिनमे विद्वानो के शोध कार्य मे योगदान मिलता है। इससे पाठक वीरसेवामन्दिर के साहित्यिक और ऐतिहासिक कार्यो की उस रूप-रेखा का, जो इतिहास के निर्माण मे अत्यन्त आवश्यक है आशिक पूर्ति कर रहा है। यद्यपि वीर-सेवामन्दिर के इस पुनीत एव महत्वपूर्ण कार्य में जैनसमाज का सहयोग नगण्य-सा भी नही है परन्तु फिर भी वीरसेवामन्दिर के सचालक और कार्य करता गण अपने अथक परिश्रम से उक्त कार्य मे सलग्न देखे जाते है। विगत वर्षों मे वीर सेवामन्दिर से जो शोध-खोज कार्य सम्पन्न हुआ उससे केवल कुछ जैनाचार्य, और उनके समयादि पर ही प्रकाश नही डाला गया प्रत्युत अनेक अलभ्य और अप्रकाशित प्राकृत सस्कृत अपभ्रन्श भाषा और हिन्दी की रचनाओं का भी सम्मुल्लेख किया गया है। ये सब कार्य अत्यन्त रूक्ष और श्रम साध्य हैं।

प्रशस्तिसंग्रह प्रथमभाग में १७१ सस्कृत-प्राकृत के अप्रकाशित ग्रंथों का आदि-अन्तभाग दिया गया है। उनके कर्ता १०४ विद्वानों का उसकी प्रस्तावना में परिचय के साथ उनकी अन्य रचनाओं का भी उल्लेख किया गया है।

प्रशस्ति संग्रह के द्वितीय भाग में अपभ्रंश भाषा के १२२ दिगम्बर ग्रंथों की आदि-अन्त प्रशस्तियां दी गई है। और ५५ ग्रंथकारों का शोधपूर्ण परिचय भी लिखा गया अपभ्रन्श भाषा के अनुपलब्ध ग्रंथों का नामोल्लेख भी दिया है। परिचय में जो ऐतिहासिक सामग्री दी गई है वह महत्वपूर्ण हैं। अनेक परिशिष्टों द्वारा उन ऐतिहासिक तथ्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत संग्रह में ९ वीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी तक की सामाजिक, धार्मिक और नैतिक परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

प्रशस्तिसंग्रह के तृतीय भाग का सकलन कार्य भी सामने है. उसका कुछ भाग सकलित हो चुका है, पर अधिकांश कार्य शेष है, उसके लिए बाहर के कुछ ग्रथ-भंडारों का अवलोकन करना और अप्रकाशित ग्रन्थों के आदि अन्तभाग का संकलन करना आवश्यक है, समय मिलने पर उसे पूरा करने का विचार है।

प्रकाशन-कार्य—

वीर सेवा मन्दिर में केवल अनुसन्धान कार्य ही संपन्न नहीं हुआ, किन्तु अनेक ग्रन्थों का सानुवाद प्रकाशन भी हुआ है। पुरातन जैनवाक्य-सूची स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, स्तुति विद्या, समीचीन धर्मशास्त्र, आप्तपरीक्षा, न्यायदीपिका, श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र, शासनचतुस्त्रिशिका, प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थसूत्र, समाधितत्र और इष्टोपदेश, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, अनित्यभावना, सतसाधुस्मरण मंगलपाठ बनारसी नाममाला अध्यात्म रहस्य आदि ग्रंथ प्रकाशित हुए है। पुरातन जैन वाक्य-सूची, जिसमे ६२ दिगम्बर ग्रथों के पद्यो का आदि भाग दिया गया है और प्रस्तावना मे मुख्तार सा० ने उनके सम्बन्ध में अच्छा विचार किया है, जो मनन करने योग्य है, इन सब ग्रंथों की प्रस्तावनाये अत्यन्त महत्व पूर्ण है, जो ऐतिहासिक अनुसन्धाताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्द कोष) का संकलन दिगबर-श्वेतांबर ग्रंथों पर से किया गया है। यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि लक्ष्य शब्दों का सग्रह दो सौ दिगंबर और इतनेही श्वेताम्बर ग्रन्थों परसे हुआ है। और उन्हें जहां तक भी बन सका ऐतिहासिक क्रमानुसार देने का प्रयत्न का किया है। इस समय लक्षणावली के संपादन और प्रकाशन का कार्य चल रहा है, लक्षणों का हिन्दी अनुवाद भी दिया है जिससे विद्वान, विद्यार्थी और स्वाध्यायी जन सभी लाभ उठा सकते है। लक्षणावली का संपादन कार्य पं० बालचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री कर रहे हैं। उसके अब तक तीस फार्म छप चुके हैं। आगे कार्य चालू है।

अनेकान्त पत्र का प्रकाशन पहले १४ वर्ष तक मासिक रूप में हुआ और अब उसका प्रकाशन द्वैमासिक रूप में हो रहा है, जिसमें अनेक ऐतिहासिक, साहित्यिक, दार्शनिक, तात्विक और समीक्षात्मक लेख, कहानी, कविता आदि प्रकाशित होते है।

वीरसेवामन्दिर का यह सेवा-कार्य किसी तरह भी भुलाया नहीं जा सकता। इन सब ग्रंथों की तैयारी में अन्य सस्थाओं की अपेक्षा वीर सेवामन्दिर मे अल्प खर्च में महान कार्य सपन्न हुए है। जब कि उनमे अर्थ व्यय अधिक होता है। यह तथ्यसमाज से छुपा हुआ नहीं है। मुझे आशा है कि समाज ऐसी महत्वपूर्ण सेवा भावी सस्था को अपनाएगी और उसे आर्थिक सहयोग प्रदान कर उसके सेवा कार्य मे अपना हाथ बटाएगी।

वीर सेवामन्दिर द्वारा अब तक जिन ग्रंथों, ग्रथकारों आदि के सम्बन्ध में अन्वेषण कार्य हुआ है उसकी सक्षिप्त तालिका निम्न प्रकार है :—

अनुसंधान कार्य के कुछ संकेत—

दिल्ली के तोमर वशी अनंगपाल तृतीय (स०११८९) की खोज से दिल्ली के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश पडता है। सं० ११०९ से १२४९ तक के लिए जो आनंद सवत की कल्पना की गई थी, जिसका निरसन प्रसिद्ध विद्वान हीराचन्द जी ओझा ने किया था। इससे भी उसकी निरर्थकता पर प्रकाश पड़ता है। और इतिहास की कितनी ही भूल-भ्रांतिया दूर हो जाती है।

बिजोलिया के शिलालेख से चौहान वंश की वंशावली का सम्बन्ध भी ठीक घटित हो जाता है।

सिद्धसेन के सामने सर्वार्थसिद्धि और 'राजवार्तिक' नामक लेख से पं० सुखलाल जी संधवी की उस मान्यता का निरसन हो जाता है कि सिद्धसेन गणी को दूर देश-

वर्ती होने से उक्त दोनों टीकाएँ उन्हें देखने को नहीं मिली, अतएव वे वैसी टीका नहीं बना सके। किन्तु उस लेख से निश्चित है कि सिद्धसेन गणी की इस टीका में सर्वार्थ सिद्धि और राजवार्तिक की पंक्तियोंकी पंक्तियां उद्धृत है। तब दूर देश होनेके कारण वे टीकाएँ देखनेको नहीं मिली, मान्यता अप्रामाणिक ठहरती है, उन टीकाओं के रहते हुए भी सर्वार्थसिद्धि और तत्वार्थवार्तिक जैसी टीका नही बनने में योग्यता भेद ही कारण है।

अनंगपाल तृतीय के राज्यकाल में आमात्य अग्रवाल साहू नट्टल द्वारा आदिनाथ के मन्दिर का निर्माण और प्रतिष्ठा तथा पार्श्वनाथचरित्र का निर्माण, ये खोज महत्व-पूर्ण है।

गहरे अनुसन्धान द्वारा यह प्रमाणित किया गया कि सन्मति सिद्धसेन के कर्ता दिगवर थे। तथा सन्मति सूत्र, न्यायावतार और द्वात्रिंशिकाओ के कर्ता एक सिद्धसेन नही किन्तु तीन या तीन से अधिक है।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर नहीं, और न वह श्वेतांबरकृति है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार देवागमादि ग्रथों के कर्ता स्वामी समन्तभद्र की कृति है, ऐसा अनुसधान पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किया गया है।

'अलोप पार्श्वनाथ प्रसाद' नामक लेख द्वारा शिला-लेखीय प्रमाणों के आधार पर मुनिकान्तिसागर जी ने उसे नागदा का पार्श्वनाथ दिगबर जैन मन्दिर बतलाया है। यह लेख मुनि जी ने मेरी प्रेरणा पर तटस्थ भाव से लिखा है।

चित्तौड़ का जैन कीर्तिस्तम्भ—जिसे श्वेतावर सम्प्रदाय के विद्वान साम्प्रदायिक व्यामोहवश श्वेतावर बतलाते थे, वह दिगंबर जैन कीर्तिस्तभ बघेरवालवशी शाह जीजा द्वारा बन-वाया गया है, और उसकी प्रतिष्ठा उनके सुपुत्र शाह पूरनसिंह द्वारा सम्पन्न हुई है। उसके सम्बन्ध मे दो शिलालेख भी उदयपुर राज्य के प्रकाशित किए है।

सिरिपुर पार्श्वनाथ का इतिहास और पार्श्वनाथ की मूर्ति के प्रतिष्ठापक राजा श्रीपाल ईल, का प्रामाणिक परिचय भी नेमचन्द धन्नूसा जैन द्वारा अनेकान्त में प्रका-शित हुआ है।

ग्वालियर के गोलापूर्व आम्नाय के शाह धनराज द्वारा सं. १६६४ से पूर्व का 'भक्तामरस्तोत्र' हिन्दी का पद्यानुवाद अनेकान्त में प्रकाशित हुआ है, उसकी सचित्र जीर्णप्रति मुनि कान्तिसागर जी के पास विद्यमान है।

प्रचलित गोम्मटसार-कर्मकाण्ड का प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार त्रुटिपूर्ण है। उसमें प्राकृत के कुछ गद्यसूत्र छूटे हुए हैं। जो कि मूडबिद्री की ताडपत्रीय प्रति में पाये जाते हैं। उन सूत्रों को मिलाकर उसके त्रुटित अश को पूरा किया गया है।

भविष्यदत्त कथा के शोध प्रबन्ध पर, जिसपर पी. एच. डी. की उपाधि मिली है, उसके निर्माण काल पर विचार-लेख द्वारा उसके निर्माण काल पर विचार किया गया है। सं० १३९३ को रचनाकाल बतलाया गया था वह उसका प्रतिलिपि काल है, निर्माण काल नहीं।

तात्विक अनुसन्धान द्वारा तत्व विषयक सैकड़ों बातों पर नया प्रकाश डाला गया है। इसमे दर्शन, ज्ञान और चरित्र सम्बन्धि बातो का समावेश है।

अनुसन्धान द्वारा अनेक आचार्यों, विद्वानों, और भट्टा-रकों आदि के समय पर नया प्रकाश डाला गया है। और उनके समयादि के सम्बन्ध मे प्रामाणिक विचार किया है।

अनेक अप्रकाशित अलभ्य ग्रन्थों की शोध खोज की और दूसरों को प्रेरित करके कराने का उपक्रम किया है। अनेक अप्रकाशित ग्रथों को ग्रथ भण्डारों मे से लाकर उनका परिचय अनेकान्तादि पत्रों मे दिया है।

वीरसेवामन्दिर द्वारा अन्वेषित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

अक्षयनिधिव्रत कथा, भ० सकलकीर्ति
अक्षयनिधिव्रत कथा, ब्र० श्रुतसागर
अर्घकाण्ड. दुर्गदेव
अजितपुराण, अरुणमणि
अध्यात्म तरंगिणी टीका, गणधर कीर्ति
अनंत जिन पूजा, भ० गुणचन्द्र (१६३३)
अनन्त व्रत कथा, पद्मनन्दि
अनन्त व्रत कथा, ब्र० श्रुतसागर
अम्बिकाकल्प, भ० शुभचन्द्र
अशोक रोहिणी कथा, ब्र० श्रुतसागर
आकाशपचमी कथा, ब्रह्म श्रुतसागर

आकाशपंचमी कथा, चन्द्रभूषण शिष्य अभ्रदेव
आत्मानुशासन टीका, प्रभाचन्द्राचार्य
आदिनाथ पुराण, भ० सकलकीर्ति
आदिनाथ पुराण टीका, भ० ललितकीर्ति
आयज्ञान तिलक, भट्टवोसरि
आय सद्भाव, मल्लिषेणाचार्य
आराधना सार टीका, पं० आशाधर
एकावली कथा, भ० सकलकीर्ति
कथाकोष, चन्द्रकीर्ति
कनकावली कथा, सकलकीर्ति
कर्मप्रकृति, अभयचन्द्र
करकडु चरित, भ. शुभचन्द्र
करकडुचरित, भ० जिनेन्द्रभूषण
कर्म स्वरूप वर्णन, कवि जगन्नाथ
कामचाण्डाली कल्प, मल्लिषेण सूरि
ज्ञानार्णव गद्य टीका, ब्र० श्रुतसागर
चतुर्विंशति सधान, कवि जगन्नाथ
चन्द्रप्रभचरित्र, भ. शुभचन्द्र
चन्द्रप्रभचरित कवि दामोदर (१७२७)
चन्द्रप्रभपुराण, पं० शिवाभिराम
चन्दनषष्ठीव्रत कथा, ब्र० श्रुतसागर
चन्दनषष्ठी कथा, छत्रसेन
छन्दोनुशासन वृत्ति, कवि वाग्भट
छपणासार गद्य, माधवचन्द्र त्रैविद्य (शक स. ११२५)
जिन पुरदर विधि, भ. सकलकीर्ति
जिन सुखावलोकन कथा, भ. सकलकीर्ति
जम्बू स्वामी चरित्र, भ. सकलकीर्ति
जम्बू स्वामी चरित्र, ब्र० जिनदास
ज्येष्ठ जिनवर कथा, ब्रह्म श्रुतसागर
ज्वालामालिनी कल्प, इन्द्रनन्दि योगीन्द्र
तत्त्वसार टीका, भ. कमलकीर्ति
तत्त्वार्थ टिप्पण, (रत्न प्रभाकर) भ. प्रभाचन्द्र (१४८९)
तपोलक्षण पंक्ति कथा, ब्रह्म श्रुतसागर
त्रिकाल चउवीसी कथा, चन्द्रभूषण शिष्य अभ्रदेव
त्रिपंचाशत क्रियोद्यापन, देवेन्द्रकीर्ति (१६४४)
त्रिभंगीसार टीका, सोमदेव सूरि
त्रिलोकसार टीका, सहस्रकीर्ति

त्रैलोक्य दीपक, इन्द्र वामदेव
दशलाक्षणिक कथा, ब्रह्म श्रुतसागर
द्विकावली कथा, भ. सकलकीर्ति
देवताकल्प, गुणसेन शिष्य अरिष्टनेमि
द्रव्य संग्रह वृत्ति, पं. प्रभाचन्द्र
द्रोपदि प्रबन्ध, जिनसेन
धन्यकुमार चरित्र, भ. गुणभद्र
धन्यकुमार चरित्र, भ. यशःकीर्ति
धन्यकुमार चरित, ब्र० नेमिदत्त
धर्मचक्र पूजा, बुधवीर
धर्मपरीक्षा, मुनि रामचन्द्र
धर्म प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, भ. सकलकीर्ति
धर्म रत्नाकर, जयसेन (१०५५)
धर्मोपदेश पीयूष वर्ष श्रावकाचार, ब्र० नेमिदत्त
ध्यान स्तवन, भास्करनन्दि
नक्षत्रमाला विधान, भ. सकलकीर्ति
नन्दीश्वर पंक्ति विधान कथा, भ. सकलकीर्ति
नागकुमार चरित, मल्लिषेणाचार्य
नागकुमार पंचमी कथा, धरसेन
निर्दुख सप्तमी कथा, ब्र० श्रुतसागर
नीतिसार पुराण, सिद्धसेन
नेमिनरेन्द्र स्तोत्र, कवि जगन्नाथ
पचकल्याणकोद्यापनविधि, ब्र० गोपाल
पंच नमस्कार मत्र, सिहनन्दी (१६६७)
पचास्तिकाय प्रदीप, प्रभाचन्द्राचार्य
पद्मचरित टिप्पण, मुनि श्रीचन्द्र
पद्मपुराण, ब्र० जिनदास
पद्मपुराण, भ. धर्मकीर्ति (१६६९)
पदार्थदीपिका (कलश टीका), देवेन्द्रकीर्ति १७८८
परमागमसार, श्रुतमुनि [शक सं० १२६३]
परमात्मराज स्तोत्र, भ. सकलकीर्ति
परमार्थोपदेश, भ. ज्ञानभूषण
पल्ल विधान कथा, ब्र. श्रुतसागर [१४५२]
पाण्डव पुराण, भ. श्रीभूषण
पार्श्वपुराण, चन्द्रकीर्ति [१६५४]
पार्श्वपुराण, भ. सकलकीर्ति

पुरंदर विधान कथा, ब्र. श्रुतसागर
पुष्पांजलि व्रत कथा, ब्र. श्रुतसागर
पुराणसार, भ. सकलकीर्ति
प्रद्युम्नचरित्र, सोमकीर्ति
प्राकृत पंचसंग्रहकर्ता, (अज्ञात)
प्राकृत पचसग्रह की प्रा० टीका
प्राकृत पंचसंग्रह की संस्कृत टीका, भ. सुमतिकीर्ति
प्रायश्चित्त समुच्चय सचूलिक वृत्ति, श्रीनन्दिगुरु
प्रीतिकर महामुनि चरित, ब्र. नेमिदत्त
वृहत्सिद्धचक्र पूजा, कवि वीरु
भविष्यदत्तकथा, कवि श्रीधर
भावना पंचविंशति व्रत कथा, भ. सकलकीर्ति
भावसंग्रह, श्रुतमुनि
भूपाल चतुर्विशति टीका, पं. आशाधर
भैरव पद्मावती कल्प, मल्लिषेण सूरि
मदन, पराजय, ठक्कुर जिनदेव
मल्लिनाथ चरित्र, भ. सकलकीर्ति
महापुराण, मल्लिषेण सूरि
महीपाल चरित्र, चारित्रभूषण
मुकुट सप्तमी कथा, भ. सकलकीर्ति
" ब्र. श्रुतसागर
मुक्तावली कथा, भ. सकलकीर्ति
मुक्तावली कथा वृहद्, भ. सकलकीर्ति
मुक्तावली व्रतकथा, ब्र. श्रुतसागर
मुनि सुव्रत पुराण, ब्र. कृष्णदास
मूलाचार प्रदीप भ. सकलकीर्ति [१४८१]
मेघमाला व्रतकथा, ब्र. श्रुतसागर
मेरूपक्ति कथा "
मेरूपंक्ति विधि, भ. सकलकीर्ति
मौनव्रत कथा, गुणचन्द्र सूरि
यशोधर चरित्र, भ. सकलकीर्ति
यशोधर चरित्र, ब्र. श्रुतसागर
यशोधर चरित्र, भ. ज्ञानकीर्ति
यशोधर चरित्र, पद्मनाभ कायस्थ
यशोधर चरित्र, वासवसेन सूरि
यशोधर चरित्र, सोमकीर्ति
यशोधर चरित्र पंजिका, श्री देव
योग सार संग्रह, श्रीनन्दि गुरु
योगसार टीका, इन्द्रनन्दि
रत्नत्रय विधान कथा, पं. आशाधर
रत्नत्रयकथा, ब्र. श्रुतसागर
रत्नावली कथा, भ. सकलकीर्ति
रात्रि भोजन त्याग कथा, ब्र. नेमिदत्त
रिष्ट समुच्चय शास्त्र, दुर्गदेव
रविव्रत कथा, ब्र. श्रुतसागर
रुक्मणी विधान कथा, छत्रसेन
लब्धि विधान कथा, ब्र. श्रुतसागर
लब्धि विधान कथा, चन्द्रभूषण शिष्य अभ्रदेव
वर्धमान चरित, भ. सकलकीर्ति
वाग्भट्टालकारावचूरि, कवि चन्द्रिका
पोमराज सुत वादिराज
विमानपंक्तिविधि, भ. सकलकीर्ति
विमानपंक्तिकथा, ब्रह्म श्रुतसागर
विषापहार–टीका, नागचन्द सूरि
वैद्यकशास्त्र, (प्राकृत) हरिपाल
वृषभदेव पुराण, चन्दकीर्ति
शातिकविधि, प. धर्मदेव
शांतिनाथ पुराण, भ. श्रीभूषण
शील कल्याणकविधि, भ. सकलकीर्ति
श्वेताम्बर पराजय, कवि जगन्नाथ (१७०३)
श्रवण द्वादशी कथा, प. चन्द्रभूषण शिष्य अभ्रदेव
श्रवण द्वादशी कथा, ब्र. श्रुतसागर
श्रावकाचार, पद्मनन्दि
श्रुतज्ञान कथा, भ. सकलकीर्ति
श्रुतस्कधविधान, भ. सकलकीर्ति
श्री देवताकल्प, अरिष्टनेमि
श्रीपाल चरित्र, भ. सकलकीर्ति
श्रीपालचरित्र, विद्यानन्दि
श्रीपाल चरित, ब्र. नेमिदत्त
श्रीपाल चरित, धरसेन
शृगार मंजरी, अजितसेन
शृगार समुद्रकाव्य, कवि जगन्नाथ [अनुपलब्ध]

षट् चतुर्थ वर्तमान जिनार्चन पं. शिवाभिराम
षड्दर्शन प्रमाण प्रमेय संग्रह, शुभचन्द्र
षण्णवति क्षेत्रपाल पूजा, मुनि विश्वसेन
षोडशकारणकथा, चन्द्रभूषण शिष्य प. ग्रभ्रदेव
षोडशकारण कथा, ब्र. श्रुतसागर
सद्भाषितावली, भ. सकलकीर्ति
सप्तपरमस्थानव्रत कथा, ब्रह्म श्रुतसागर
सप्तव्यसन कथा, सोमकीर्ति
समवसरणपाठ, प. रूपचन्द
सम्यक्त्व कौमदी, प० खेता
सम्मेद शिखर माहात्म्य, दीक्षित देवदत्त
सरस्वती कल्प, मल्लिषेण सूरि
सार चतुर्विंशतिका, भ. सकलकीर्ति
सर्वतो भद्रतप कथा, भ. सकलकीर्ति
सिद्धान्तसार नरेन्द्रसेन
सिद्धान्तसार दीपक, भ. सकलकीर्ति
सुकमाल चरित्र, भ. सकलकीर्ति
सुख सपत्ति व्रत फल कथा भ. सकलकीर्ति
सुगन्ध दशमी कथा, ब्र. श्रुतसागर
सुदर्शन चरित्र, भ. सकलकीर्ति
सुदर्शन चरित्र, विद्यानन्दि
सुभग सुलोचना चरित्र, वादिचन्द्र
सुभौमचक्रिचरित, भ. रत्नचन्द्र (१६८३)
सुषेण चरित्र, कवि जगन्नाथ
स्वर्णाचल माहात्म्य, दीक्षित देवदत्त
हरिवंश पुराण, धर्मकीर्ति (१६७१)
हरिवशपुराण ब्र. जिनदास
होलिरेणुका चरित, जिनदास (१६०८)

अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ

अजित पुराण, विजसिह [१५०५]
अणथमीकहा, रइधू
अणथमी कहा, हरिश्चन्द्र अग्रवाल
अणुवयरयण पईव, पं. लक्ष्मण
अणुवेक्खा रास, कवि जल्हिग
अणुवेक्खा (दोहा), लक्ष्मीचन्द
अणुवेक्खा, अल्हू कवि
अणुवेक्खा, ब्रह्म साधारण
अनतवयकहा, भ. गुणभद्र
अमरसेन चरित, माणिक्यराज [सं. १५७५]
आत्म-सबोध-काव्य, रइधू [सं. १४४८ से १५३०]
आदित्यवार (रविवार) कथा, भ. यशःकीर्ति
आदिपुराण, रइधू [अनुपलब्ध]
आयासपंचमी कहा, भ. गुणभद्र
आराहणासार, वीरकवि
करकण्डु चरिउ, रइधू [अप्राप्त]
कहाकोसु, श्रीचन्द
कुसुमांजलिकहा, ब्रह्म साधारण
कोइल पचमीकहा, ,,
चंदण छट्ठी कहा, लाखू
चदण छट्ठी कहा, भ. गुणभद्र
चंदायणवयकहा, ,,
चन्द्रप्रभचरिउ, यशःकीर्ति
चदप्पह चरिउ, कवि दामोदर [नागौर भंडार[
चंदप्पह चरिउ, कवि श्रीधर [अनुपलब्ध]
चूनडी, भ. विनय चन्द
छक्कम्मोवएस, (षट्कर्मोपदेश) अमरकीर्ति [१२४७]
जबू स्वामी चरित, वीर कवि [१०७६]
जसहर चरिउ, कविवर रइधू
जिनदत्तचरित, कवि लाखू
जिनरात्रि कथा भ. यशःकीर्ति
जीवंधर चरिउ, कविवर रइधू
तियाल चउवीसी कहा, ब्र. साधारण [१५०८]
दहलक्खण कहा गुणभद्र
दुद्धारसि कथा, विनयचन्द्र
दुद्धारसिकहा, ब्र. साधारण
दुद्धारसिकहा, भ. गुणभद्र
धन्यकुमार चरिउ, कविवर रइधू
धर्मपरीक्षा, श्रुतकीर्ति
नरक उतारी दुद्धारसिकहा, मुनि बालचन्द
णिद्दुह सत्तमीकहा, मुनि बालचन्द
,, ,, भ. गुणभद्र
,, ,, ब्र. साधारण
नागकुमार चरिउ, माणिक्यराज [सं. १५७९]

नेमिनाथ चरित, कवि लक्ष्मण
नेमिनाथ जिनचरित (हरिवंश पुराण), कविवर रइधू
नेमिनाथ पुराण, भ. अमरकीर्ति [सं. १२४४]
नेमिनाह चरिउ, कवि दामोदर [१२८७]
निर्भर पंचमी कथा, ब्र. साधारण
निर्भर पंचमी कथा, विनयचन्द्र
निव्वाणभत्ति जयमाला, उदयकीर्ति
पंचमी चरिउ, स्वयभू [अप्राप्य]
पक्खवइ कथा, भ. गुणभद्र
पउमचरिउ, स्वयंभूदेव
पउमचरिउ, कविवर रइधू
परमेट्ठी पयाससार, भ. श्रुतकीर्ति
पाण्डवपुराण, भ. यशःकीर्ति
पासणाह चरिउ, कवि असवाल [१४८६]
पासणाह चरिउ, कवि देवचन्द
पास पुराण, विवुध श्रीधर [११९९]
पास पुराण, पद्मकीर्ति [९९९]
पासपुराण, कविवर रइधू
पासपुराण, कवि तेजपाल
पुण्णासवकहा कोसु, कविवर रइधू
पुप्फंजलिकहा, भ. गुणभद्र
पुरदर विधानकथा, भ. अमरकीर्ति
पचकल्लाणक, विनयचन्द
पज्जुण्णचरिउ, कवि सिद्ध और सिंह
बारह अणुवेक्खा रासो, योगदेव
बाहुवली चरिउ, धनपाल [१४५४]
भविसयत्तकहा, कवि श्रीधर
मउउ सत्तमीकहा, ब्र. साधारण
 ,, ,, भ. गुणभद्र
मउड सत्तमीकहा, भगवती दास
मयण पराजय, हरिदेव
मयंक लेहाचरिउ, भगवतीदास
मल्लिणाह चरिउ, हरिचन्द
मुक्तावली कहा, [अज्ञात]
मेघमाला वयकहा, कवि ठकुरसी [१५७८]
मेघेसर चरिउ, कविवर रइधू
रयणकरण्ड सावयायार श्रीचन्द
रविवयकहा भ० यशःकीर्ति
रयणत्तयकहा, भ. गुणभद्र
रविवयकहा, ब्र. साधारण [सं. १५०८]
रविवयकहा, नेमचन्द
रोहणी विहाणकहा, देवनंदि
लब्धि विहाणकहा, भ. गुणभद्र
वड्ढमाण कहा, कवि नरसेन
वड्ढमाणचरिउ, हरिचंद [जयमित्तहल]
वड्ढमाणचरित (पुराण) विबुध श्रीधर
वरांग चरिउ, कवि तेजपाल
वित्तसार, कविवर रइधू
सयल विहीविहाणकहा, नयनन्दी [११००]
सवणवारसि कहा, भ० गुणभद्र
सम्मत्त कउमदी (सावयायार), कविवर रइधू
सम्मत्त गुण निधान कविवर रइधू [१४९२]
संतिणाह चरिउ भ० शुभकीर्ति
सतिणाह चरिउ कवि ठाकुर (६१५२)
संभवणाह चरिउ कवि तेजपाल [१५००]
सम्मइ जिणचरिउ महाकवि रइधू
सिद्धंतत्थसार (सिद्धान्तार्थसार) रइधू
सिरिपाल चरिउ कविवर रइधू
सुकमाल चरिउ मुनि पूर्णभद्र
सुकोसल चरिउ कवि रइधू [१४९६]
सुयन्धदसमी कहा उदयचन्द
सुयंध दसमी महा विमलकीर्ति
सुयंधदसमीकहा भगवतीदास
सुदंसण चरिउ कविवर नयनन्दी [११००]
सुदसण चरिउ कवि रइधू (अप्राप्त)
सुलोयणा चरिउ गणिदेवसेन
सोलह कारणवय कहा भ० गुणभद्र
सोरववई विहाण कहा विमलकीर्ति
हरिवस पुराण स्वयंभू, त्रिभुव न स्वयंभू
हरिवंस पुराण भ० यशःकीर्ति (१५००)
हरिवंस पुराण श्रुतकीर्ति [१५५२]
हरिषेणचरिउ अज्ञात कवि

दि० जैन रासा साहित्य सूची

अचल कीर्ति—अठाईरास, रत्नत्रयरास, दशलक्षणव्रत-रास, धर्मरास, (१७२३) आदित्यव्रत कथा (१७५७)
ऊदू कवि–जिनवररास, चैत्यरास, सनत्कुमाररास(१६६७)
कपूरचन्द ब्रह्म—(मुनिगुणचन्द शिष्य)-पार्श्वनाथ रासो १६६ प० (स० १६६७)
कलसी ब्रह्म—ध्यानामृतरास
कल्याणकीर्ति— (भ० देवकीर्तिशिष्य)—श्रेणिकरास, होलीरास, चारुदत्तरास, (स० १६६२) प्रबन्धरास (स० १६६२)
कामतीचन्द पाण्ड्या-रेवतीरासो
किशन सिंह—णमोकाररास (स० १७६०)
कुमुदचन्द्र—(काष्ठासघी) नेमिनाथरास बाहुबलीछन्द (स० १४६७)
कृष्णदास—दानशीलतप भावनारास (रच० स० १६६६)
गगादास—रविव्रतरास
गुणकीर्ति—(ब्रह्म जिनदास शिष्य)-रामसीतारास
गुणकीर्ति—(द्वितीय) शीलरास (१७१३)
गुणचन्द्र—दयाव्रतरास (१६६३) राजमतीरास
गुणराज—सकलकीर्तिरास, समकितरास प्रद्युम्नरास (स० १६०६)
गोपालदास—यदुरासो
चन्द्रकीर्ति—(भ० श्री भूषण शिष्य) जयकुमार सुलोचनारास (इन्होने पार्श्वनाथचरित १६५४ मे बनाया)
चन्द्रसागर ब्रह्म—धर्मपरीक्षा रास (रचना स० १६२५)
जयकीर्ति—अनतव्रतरास (इन्होंने सीता शील पताका गुण वेलि स० १६८४ मे गलिया कोट मे बनाई थी। वकचूल रास स० १६८५)
जिनदास ब्रह्म—रामायणरास (१५०८) धर्मपरीक्षा रास (१५२०) हरिवशरास, (१५२०) जीवधर रास, कर्मविपाक रास, हनुवंत रास चारुदत्तश्रेष्ठि रास, यशोधररास, पुरदर विधान रास, मडूकनो रास, गुणस्थान-रास, नागपचमी रास, सुकमालस्वामी रास, लब्धिविधान रास, रोहणीव्रत रास, सुदर्शन-श्रेष्ठिनो रास, आदिपुराण रास, श्रीपाल रास, निर्दोषसप्तमी रास, होलीरास, जयकुार रास, अठाईव्रत रास, मुकुट सप्तमी रास, आकाश पंचमी रास, परमहंस-रास, सोलहकारण रास, भद्रबाहु रास, श्रुतस्कंध रास, सम्यक्त्व रास, रात्रिभोजन वर्जन रास, मालिकथा रास, करकंडुमुनि रास, जिनेन्द्रभक्ति रास, पुष्पांजलि रास, जीवदयारास, जोगीरास, चन्दन षष्ठी रास, मौनव्रत रास, वारिषेण रास, पंचपरमेष्ठी रास, सुगधदशमी रास, ज्येष्ठजिनवर रास, अम्बिकादेवी रास, धनपाल रास, अजितनाथ रास, अनंतव्रत रास, विष्णुकुमारकथा रास, दानकथा रास, गुणपालश्रेष्ठिरास।
जिनदास पांडे—जोगीरास, मालीरास,
जिनसागर—अनतव्रतकथा रास (मराठी भाषा मे)
जिनसेन—(भ० यश: कीर्तिशिष्य) नेमिनाथ रास (रच० स० १५५८)
तुलसी कवि वनवासी—रोहिणीव्रतरास(सं० १६४८, १६४ पद्य, पानीपत में बनाया)
जिनसेवक—श्रावकाचार रास (१६०३)
जीवंधर ब्रह्म—(१५६०) खटोलारास, मुक्तावली रास (इनकी १५-१६ रचनायें उपलब्ध है)
ज्ञानभूषण—(द्वितीय) पोषह रास, षटकर्मनों रास
ज्ञानसागर ब्रह्म—रत्नत्रयरास, लब्धिविधान रास, हनुमंत रास(१६६०)
(ब्रह्म)दीप (चन्द)—मनकरहा रास
देवदत्त—अंबादेवी चर्चरी रास (१०५० के लगभग)
देवदास (ब्रह्म)—हनुमत रास (१६८१)
देवेन्द्र कवि—यशोधर रास (१५६ पद्य)
देवेन्द्र कीर्ति—प्रद्युम्न प्रबन्ध रास (१७२६)
दौलतराम पाटनी—व्रतविधान रास (स० १७६७)
धर्मपाल—श्रावकाचार रास
धर्मभूषण—अंजना रास
धर्मरुचि ब्रह्मचारी—(भ० अभयचन्द्र शिष्य) सुकमाल स्वामिनो रास (स० १६१६) (दूसरी रचना नेमीश्वरभवांतर)
नरेन्द्रकीर्ति—(सकलभूषण शिष्य) अंजनारास (सं० १६५०) खडेल० म० उदयपुर
नरेन्द्र कीर्ति—सगरचक्रवर्तीनु रास (स०१६०५) द्रापदिशीलगुणरास (१६०५)
नरेन्द्रकीर्ति— (प्रतापकीर्ति शिष्य)-श्रावकाचाररास (सं० १५१४ मगशिर सुदि १०)

नरेन्द्रकीर्ति—(बागडसंघीय प्रतापकीर्तिशिष्य)-श्रावकराम (सं० १५१४) अंबडनगर

नेमचन्द—(जयलकीर्ति शिष्य)-नेमीश्वर रास (१७६९)

(ब्रह्म) नेमिदत्त—आदित्यव्रत रास, दूसरी रचना मालारोहण अनेक संस्कृत रचनाएँ।

कवि पद्म—हुंवडजातीय श्रावक मेघकुमार रास, महावीरचरित रास,(१६०९) ध्यानरास,त्रेपन क्रियारास

पूनो—मेघकुमाररास

पथ्वीमल्ल—श्रुतपंचमीरास (१६६२)

प्रतापचन्द्र मुनि—स्वप्नावलीरास (सं० १५०० पूर्ववर्ती)

भगवतीदास अग्रवाल—(भट्टारक महेन्द्रसेन शिष्य) इनकी संवत १६५१ से १७००तक की रचनाएँ उपलब्ध हैं
टंडाणारास, जोगीरास, खिचड़ीरास, चतुरवणिजारा रास, आदित्यव्रतरास, पखवाड़ारास, दशलक्षणरास, साधुसमाधिरास, मनकरहारास, सीतासतुरास, (स० १६८४) मुक्तिरमणचूनड़ीरास (१६८०)

भाऊकवि अग्रवाल—नेमीश्वर रास

भ० भुवन कीर्ति—(सकलकीर्तिपट्टधर)सकलकीर्ति रास

भुवनकीर्ति (द्वितीय)—रात्रि भोजनवर्जनरास, जंबूस्वामीरास(लिपि सवत १६२५)जीवधररास(१६०६)

भोजराज पानीपत—श्रुतपचमीरास (१६६२)

कवि मनरंग—कर्मविपाकरास (सवत१७२८)

महीचंद—रविव्रतरास

मेघराज—चन्द्रप्रभरास

यश:कीर्ति—आदिपुराणरास, जीवधररास

अठाईरास—हनुमतरास, नेमिनाथ राजुलनो रास

यश: कीर्ति—आदिपुराणरास (सवत १८५७) पाण्डवपुराणरास (१८५५)

(ब्रह्म) यशोधर—बलदेवरास (संवत १५८५)

(भ०) रतनचन्द्र—शान्तिनाथ रास (१७८३)

रत्नकीर्ति मुनि—नेमीश्वररास

रत्नभूषण भट्टारक—(भ० सुमतिकीर्तिशिष्य) (रुक्मणिरास)लिपि संवत १७१०

रत्नवती—(आर्यिका) समकितरास

(ब्रह्म) रायमल—नेमीश्वररास (१६१५) प्रद्युम्नरास (१६१६) श्रीपालरास

भ० विश्वभूषण—(भट्टारक विशालकीर्तिशिष्य)-काललब्धि विधानरास, सोलहकारणरास, आकाश पंचमीरास, (१६४०) मौन इगारसीरास (१६४९) (१६३०) सुदर्शनरास (१६२९) हनुमंतरास (१६-१६) भविष्यदत्तरास (सं० १६३३)

रूपचन्द पांडे—नेमिनाथरास, वणिजोरास

वर्धमान कवि—वर्धमानरास (१६६५)

(ब्रह्म) वस्तुपाल—पार्श्वनाथरास, पीतंकररास, रविव्रतरास (१६६७)

विद्याभूषण—भविष्यदत्त रास (१६००) नेमिनाथरास

भ० विनयचन्द्र—चूनडीरास, निर्झरपचमीकथा रास, कल्याणकरास

विनयसागर (ब्रह्म) रामायणरास

विशालकीर्ति—रोहिणीव्रतरास (१६०६)

मुनि वीरचन्द—सप्तव्यसनरास (१६०२) नेमिकुमाररास (लिपि संवत १६४८) बाहुबली वेलिरास

शान्तिदास—मौन एकादशीरास

भ० शुभचन्द्र—अठाईरास, पल्यविधानरास, महावीररास, देवेन्द्ररास(१६३९)

(ब्रह्म) श्रीपति—(इन्द्रभूषणशिष्य)-रत्नपालनोरास (स १७३२)

भ० श्रीभूषण—(१६४९) देवेन्द्रकुमार रास, प्रद्युम्नरास

(भ०) सकलकीर्ति—(१४४३-१४९९)-कर्मविपाकरास, रत्नत्रयरास, सारशिखामणरास. सोलहकारणरास

भ० सकलभूषण—गजसुकमालरास

सांगा—सुकोशलरास (लिपि स०१६१६) से पूर्ववर्ती

सांसु—सुकोशलराम(लिपि स० १६६४) जैनमदिर नेनवा

सुमतिकीर्ति—(भ० लक्ष्मीचन्द्र शिष्य) धर्मपरीक्षारास, (१६२५) लोकामतरास

सुमतिसागर —त्रैलोक्यरास(१६२७)

सुरचन्द्र—रत्नपाल रासो (१७३२)

सुरेन्द्रकीर्ति—नरसिंहपुरा जातिरास (१६६७)

सोमकीर्ति—(भ० भीमसेन शिष्य) (१५२६-१५३६) यशोधररास

(ब्रह्म) हरषसागर—सम्यक्त्वअष्टमङ्गरास

हुकमसिंह—किशनदास वघेरवालरास(१७४६)

एक ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन :

स्वामी समन्तभद्र की जैनदर्शन को देन

डा० दरबारीलाल कोठिया एम. ए. पी-एच. डी.

स्वामी समन्तभद्र जैन दर्शन के उन इने-गिने आचार्यों में है जिन्होंने जैन वाङ्मय की असाधारण प्रभावना की और जैनदर्शन को लोगो के अधिक निकट पहुँचाया है। आ० कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छ के पश्चात् इन्होंने जैन दर्शन को सर्वाधिक प्रभावित किया एव शासन-प्रभावक के रूप मे असामान्य यश प्राप्त किया। शिलालेखो तथा मूर्धन्य ग्रन्थ-कारो के ग्रन्थो मे इनका पर्याप्त यशोगान किया गया है। सुप्रसिद्धतार्किक भट्ट अकलंक देवने इन्हे स्याद्वाद -तीर्थका प्रभावक और स्याद्वाद मार्ग का परिपालक, समस्त दर्शनों के अन्तः प्रवेशी तीक्ष्ण बुद्धि विद्यानन्द ने स्याद्वाद मार्गाग्रणी वादिराजने सर्वज्ञ का प्रदर्शक, मलयागिरि ने आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखो मे वीरशासन की सहस्रगुणी वृद्धि करने वाला, श्रुत केवलि सन्तानोन्नायक, समस्त विद्यानिधि एव कलिकाल गणधर कहकर उल्लेखित किया है। सम्भवतः इसी से शिलालेखो और साहित्य मे इन्हे विशिष्ट सम्मान के प्रदर्शक "स्वामी' पद से विभूपित प्रकट किया गया है। अथवा "स्वामी" उनका उपनाम या नाम-विशेषण रहा हो। समन्तभद्र को इतना महत्व एव गौरव मिलने का कारण यह प्रतीत होता है कि जब भारतीय दर्शनों मे तत्व-निर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा अर्हत परम्परा ऋषभादि तीर्थकरो द्वारा प्रतिपादित तत्त्व व्यवस्थापक "स्याद्वाद" को भूलने लगी, तो इन्हीने उसे प्रकाशित एव प्रभावित किया।

इन का विस्तृत परिचय, इतिहास और समयादिका निर्णय जैन साहित्य और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार "युगवीर" ने अपने "स्वामी समन्तभद्र" नामक इतिहास ग्रन्थ में किया है। अतः प्रस्तुत में समन्तभद्र के परिचयादि सम्बन्ध में विचार न कर केवल उनकी कतिपय उपलब्धियों पर चिन्तन किया जायेगा।

समन्तभद्र से पूर्व का युग

जैन अनुश्रुति के अनुसार जैन धर्म के प्रवर्तक क्रमशः काल के अन्तराल को लिए चौवीस तीर्थकर हुए हैं। इनमें तीर्थकर ऋषभ देव, बाईसवे अरिष्ट नेमि, तेईसवें पार्श्व-नाथ और चौवीसवे वर्द्धमान-महावीरजी तो ऐतिहासिक और लोक प्रसिद्ध भी है। इन तीर्थंकरों के द्वारा जो उपदेश दिया गया वह जैन परम्परा मे "द्वादशाङ्ग" के रूप में प्रसिद्ध है। जैसे बुद्ध का उपदेश "त्रिपटिक" के रूप में विश्रुत है। वह "द्वादशाङ्ग" श्रुत दो वर्गों में विभक्त है—१ अङ्ग प्रविष्ट और २ अङ्ग बाह्य। ये दो भेद प्रवक्ता विशेष के कारण है। जो श्रुत तीर्थंकरों तथा उनके प्रधान एव साक्षात् शिष्यों (गणधरो) द्वारा निबद्ध है वह अङ्ग प्रविष्ट है तथा जो इसके आधार से उत्तरवर्ती प्रवक्ताओ द्वारा रचा गया वह अङ्गबाह्य श्रुत है। अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्गबाह्य के भी क्रमशः बारह और चौदह भेद है। अङ्ग प्रविष्ट के बारह भेदों में एक दृष्टिवाद है जो बारहवाँ श्रुत है। इस बारहवें श्रुत में[1] विभिन्न-वादियों की एकान्त दृष्टियो (मान्यताओं) के निरूपण तथा उनकी समीक्षा के साथ उनका स्याद्वादन्याय से समन्वय किया गया है। इस तथ्य को आचार्य समन्तभद्र ने "स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तम्" (स्वयम्भू १४) जैसे पद प्रयोगों द्वारा व्यक्त किया है और सभी तीर्थंकरों को 'स्याद्वादी' (स्याद्वाद प्रतिपादक) कहा है अकलङ्क देव[2]

१. ...एषां दृष्टिशतानां त्रयाणा षष्ठयुत्तराणां प्ररुपणं निग्रहश्च क्रियते।—वीरसेन, धवला पु. १, पृ. १०८

२. (क) धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादि महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥
—लघीय० १–१।

(ख) श्री मत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलांछनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥
—प्रमाण सं० १–१।

ने भी उन्हें स्याद्वाद का प्रवक्ता तथा उनके उपदेश को "स्याद्वाद के अमोघ चिन्ह से चिन्हित', बतलाया है।

षट्खण्डागम आदि आगमों में यद्यपि स्याद्वाद की स्वतंत्र चर्चा नहीं मिलती, फिर भी उनमें सिद्धान्त-प्रतिपादन "स्यात्" (सिया अथवा सिय) शब्द को लेकर अवश्य प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ षट्खण्डागम मे मनुष्यों को पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों बतलाते हुए कहा गया है कि "मणुस्सा...सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता"[1] अर्थात् मनुष्य स्यात् पर्याप्तक है, स्यात् अपर्याप्तक। इसी प्रकार आगम के कुछ दूसरे विषयों का भी प्रतिपादन उपलब्ध होता है। इस तरह आगम ग्रन्थों मे 'स्यात्' शब्द को लिए हुए विधि और निषेध इन दो वचन-प्रकारों से कथन मिलता है। आ० कुन्दकुन्द ने उक्त दो 'विधि और निषेध' वचन प्रकारों मे पाँच वचन प्रकार और मिलाकर सात वचन प्रकारों से वस्तु 'द्रव्य' निरूपण का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अवत्तव्वं पुणोय तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥

—पंचास्ति० गा० १४।

यहाँ 'स्यादस्ति द्रव्यं स्यान्नास्तिद्रव्यं स्यादुभयं स्यादवक्तयं स्यादस्त्यवक्तव्यं स्यान्नास्त्यवक्तव्यं स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम्' इन सात भंगों का निर्देश करके उनके आश्रय से द्रव्य (वस्तु) के कथन का उल्लेख किया गया है। ध्यातव्य है कि कुन्दकुन्द ने यहाँ द्रव्य को सप्तभङ्गात्मक आदेशवशात् 'नयविवक्षानुसार' प्रतिपादित किया है। उन्होंने यह भी बताया है[2] कि यदि सद्रूप ही द्रव्य हो तो उसका विनाश नहीं हो सकता और यदि असद्रूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नहीं है और चूंकि यह देखा जाता है कि जीव द्रव्य मनुष्य पर्याय से नष्ट, देव पर्याय से उत्पन्न और जीव सामान्य से ध्रुव रहने से वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है।

कुन्दकुन्द के इस प्रतिपादन से प्रतीत होता है कि उनके समय में जैन वाङ्मय में दर्शन का रूप तो आने लगा था, पर उसका अभी विकास नहीं हो सका था और न उसमें तर्क का ही विशेष समावेश हो पाया था।

आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र मे कुन्दकुन्द द्वारा प्रदर्शित दर्शन के रूप में कुछ वृद्धि मिलती है। एक तो उन्होंने प्राकृत में सिद्धान्त प्रतिपादन की पुरातन पद्धति को युग के प्रकाश में सस्कृत गद्य सूत्रों मे बदल दिया दूसरे, उपपत्ति पूर्वक सिद्धान्तों का निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम प्रतिपादित ज्ञानमार्गणा गत मत्यादिज्ञानों को प्रमाण संज्ञा देकर उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदों का कथन किया। चौथे दर्शनान्तरों मे पृथक् प्रमाण रूप मे स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान इन्हें मतिज्ञान और शब्द को श्रुतज्ञान कहकर उनका 'आद्येपरोक्षम्" (त०सू०१-...) सूत्र द्वारा परोक्ष प्रमाण में समावेश किया। पाँचवे, प्रमाण की तरह नय को भी अर्थाधिगम का साधन "प्रमाणनयैरधिगम."-१-६) निरूपित करके उसके नैगमादि सात भेदो का भी सर्व प्रथम निर्देश किया। इस तरह तत्त्वार्थसूत्रकार ने कितना ही नया चिन्तन प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त तर्क (युक्ति-अनुमान) से सिद्धान्तों के पोषण की दिशा भी प्रदर्शित की अवयवत्रय से मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन-सिद्धान्त का साधन[3] उनकी ही देन है। इतना होने पर भी दर्शन मे उन एकान्तवादों, सघर्षों और विवादों का स्पष्ट तार्किक समाधान नहीं आपाया, जो उनके कुछ समय बाद की चर्चा के विषय हुए।

समन्तभद्र के समय की संघर्षशील स्थिति

विक्रम की दूसरी से पांचवी शताब्दी का समय दार्शनिक क्रान्ति का समय रहा है। इस काल में विभिन्न दर्शनों में अनेक प्रभावशाली एवं क्रान्तिकारी विद्वान हुए है। वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराओं में कणाद, गौतम, जैमिनी, अश्वघोष, नागार्जुन जैसे प्रतिद्वन्दी प्रभावक मनीषियों का आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने अपने मंडन तथा विरोधी के खण्डन में लग गए। शास्त्रार्थों की धूम मच गयी। मुख्यतया सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-अशाश्वतवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन विरोधी युगलों को लेकर तत्त्व की चर्चा

१. षट्खण्डागम १-१-८९।
२. पंचास्तिकायगा० १५, १७।
३. त. सू. १०-५, ६, ७।

की जाने लगी और चार कोटियों से[1] उसका विचार होने लगा तथा वादियों का उक्त युगलों में से किसी एक-एक कोटि (पक्ष) को ही मानने का आग्रह रहता था। इसका संकेत आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र (श्लो० १०१) की निम्नकारिका से मिलता है—

सदेक-नित्य-वक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहते ॥१०१॥

लगता है कि इस खीचतान के कारण अनिश्चयवादी संजय के अनुयायी तत्त्व को अनिश्चित ही प्रतिपादन करते थे, जिसकी एक झलक विद्यानन्द की अष्टसहस्री (पृ० १२६) में[2] प्राप्त होती है। उपर्युक्त युगलों में लगने वाली वादियों की वे चार कोटियाँ इस प्रकार होती थीं—

१ सदसद्वाद
- १ तत्त्व सत् है।
- २ तत्त्व असत् है।
- ३ तत्त्व उभय [सद्-असद् दोनों] है।
- ४ तत्त्व अनुभय [दोनों नहीं] है।

२ शाश्वत-अशाश्वतवाद
- १ तत्त्व शाश्वत [नित्य] है।
- २ तत्त्व अशाश्वत [क्षणिक] है।
- ३ तत्त्व उभय [शाश्वत-अशाश्वत दोनों] है।
- ४ तत्त्व अनुभय [दोनों नहीं] है।

३ अद्वैत-द्वैतवाद
- १ तत्त्व अद्वैत है।
- २ तत्त्व द्वैत (अनेक) है।
- ३ तत्त्व उभय (अद्वैत और द्वैत दोनों) है।
- ४ तत्त्व अनुभय (दोनों नहीं) है।

४ अवक्तव्य-वक्तव्यवाद
- १ तत्त्व अवक्तव्य है।
- २ तत्त्व वक्तव्य है।
- ३ तत्त्व उभय (अवक्तव्य और वक्तव्य दोनों) है।
- ४ तत्त्व अनुभय (दोनों नहीं) है।

समन्तभद्रकी देन

यद्यपि कुन्दकुन्द स्पष्ट निर्देश कर चुके थे कि तत्त्व निरुपण चार कोटियों से नहीं, अपितु सात वचन प्रकारों से होता है। पर उनका यह निर्देश तर्क का रूप न पा सकने से अधिक विश्रुत न हो सका। आचार्य समन्तभद्र ने उसे तर्क का भी रूप दिया और उस पर विस्तृत चिन्तन, विवादोंका शमन, शमनकी पद्धति और स्याद्वाद द्वारा समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया और इसके लिए उन्होंने अनेक प्रबन्ध लिखे। इन प्रबन्धों द्वारा उन्होंने प्रतिपादन किया कि तत्त्व का पूर्ण कथन उपर्युक्त चार कोटियों से नहीं होता, किन्तु सात[1] कोटियों द्वारा होता है। यथार्थ में तत्त्व[2] 'वस्तु' अनेकान्त रूप है—एकान्त रूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक आदि) के युगल के आश्रय से प्रकाश में आने वाले वस्तुगत सात धर्मों का समुच्चय है और ऐसे-ऐसे अनन्त धर्म समुच्चय [अनेकान्त] विराट् अनेकान्तात्मक तत्त्व-सागर में अनन्त लहरों की तरह लहरा रहे हैं। और प्रत्येक धर्म समुच्चय सप्तक एक-एक सप्तभंगीनय से नेय-ज्ञातव्य अथवा वक्तव्य है। और इस तरह वस्तु में एक. दो नहीं, अपितु अनन्त सप्त कोटियाँ [सप्तभङ्गियाँ] निहित है। ध्यातव्य है कि आचार्य समन्तभद्र ने "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा" की भाँति अनेकान्त स्वीकार नहीं किया, किन्तु प्रतिपक्षी दो धर्मों और उन दो धर्मों को लेकर व्यक्त होने वाले सात धर्मों के समुच्चय को ही अनेकान्त प्रतिपादन किया है[3] और इस तरह वस्तु में अनन्त अनेकान्त समाहित हैं। यही जैन दर्शन के अनेकान्त और इतर दर्शनों के अनेकान्त में मौलिक अन्तर है। और इसी से उत्तर काल में जैन दर्शन के अनेकान्त में विरोध वैयधिकरण्य आदि दोषों की समापत्ति की गई है।

समन्तभद्र ने बतलाया कि वक्ता या ज्ञाता तत्त्व को

---

१. चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः।
तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः सन्तानतद्वतोः ॥ आ० ४५

२. तर्ह्यस्तीति न भणामि, नास्तीति च न भणामि, यदपि च भणामि तदपि न भणामीति दर्शनमस्त्विति कश्चित्, सोपि पापीयान्।'
अष्टस० पृ० १२६, का० १४।

---

१. सप्तभङ्गनयापेक्षो...। आप्तमी० १०४
२. तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्...। युक्त्य० ४६
३. स्वयम्भू० १०१

पत्रिकायें कैसे चलें?

डा० गोकुलचन्द्र जैन, आचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.

स्वर्गीय पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ के आग्रह पर जैन पत्रिकाओं के विषय में मैंने एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखी थी जो जैन पत्रिकाओं के 'स्तर का प्रश्न' शीर्षक से वीरवाणी के १८ अक्तूबर १९६८ के अंक म प्रकाशित हुई थी। प० चैनसुखदास जी ने इसी पर अपना सम्पादकीय वक्तव्य भी लिखा था। अनेकान्त ने इस विषय पर एक पूरा विशेषाक ही निकालने की बात सोची है, उन बातों को ताजा सन्दर्भ के लिए यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक लगता है—

पचासी जैन पत्र-पत्रिकाओ की जानकारी मुझे है। हो सकता है कुछ और भी हों, जिनकी सूचना मुझे नही है। ये पत्र-पत्रिकाएं साप्ताहिक से लेकर वार्षिक तक है। कुछेक इस समय बन्द भी हो गई है।

जैन पत्र-पत्रिकाओं के विषय मे मुख्य रूप से दो प्रश्न उठाए जाते रहते हैं—(१) स्तरीय सामग्री का अभाव, (२) पत्रिकाओ की आर्थिक स्थिति। ये दोनों ही बाते तथ्यपूर्ण है। दो-चार पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्रायः सभी की सामग्री स्तरीय नही होती। इसी प्रकार शायद ही एकाध पत्र हो जो अपनी ग्राहक संख्या तथा विज्ञापन आदि के आधार पर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो। इन दोनों बातों से प्रायः सभी सहमत होगे। घटिया मुद्रण, प्रकाशन की अनियमितता आदि भी अधिकाश पत्रों के साथ सम्बद्ध है। ये सर्वविदित तथ्य हैं, इसलिए इनके विषय मे और अधिक कहना या कटु शब्दो मे आलोचना करना उचित नही है। न उससे स्थिति सुधर सकती है। इन पर विधायक ढंग से सोचा जाना चाहिए।

स्तरीय सामग्री के प्रश्न के साथ कई बाते जुडी है। अधिकांश पत्रो के सम्पादक सम्पादन कला के विशेषज्ञ नही हैं। सामग्री सकलन के लिए भी पर्याप्त प्रयत्न नही किये जाते। शायद ही कोई पत्र यह रूपरेखा बनाता हो कि इस अक मे यह सामग्री देना है और उसके बाद उस रूपरेखा के अनुसार सामग्री प्रयत्न पूर्वक जुटाता हो। विशेषाको के लिए कुछ पत्रिकाए रूपरेखा बनाती है। इसलिए उनमे सामग्री जुट जाती है। जो विशेषाकों के लिए भी रूपरेखा नही बनाते उनमे नही जुट पाती।

एक बडी बात यह है कि एक दो को छोडकर शायद ही कोई जैन पत्र लेखक को पारिश्रमिक देता हो। पारिश्रमिक की बात को भी छोड दिया जाए तो कम-से-कम लेखक इतनी अपेक्षा तो कर ही सकता है कि उसकी रचना के कुछ अनुमुद्रण उसे प्राप्त हो। कोई भी जैन पत्र अनुमुद्रण नही देता। बाध्य करने पर पत्रिका के पन्ने इधर एक-दो पत्रो ने भेजे है। होता यहाँ तक भी है कि पत्र-पत्रिकाए साल भर मे एक बार भी नही आती तो भी अपेक्षा यह की जाती है कि उनके लिए महत्वपूर्ण लेख प्राप्त हो। मेरे पास लेखादि के लिए पत्र आते है तो मै प्रयत्न करके भरसक लेख भेज देता हूँ। मुझे आश्चर्य होता है कि जिन पत्र-पत्रिकाओं का वार्षिक शुल्क पाँच-छह रुपये है वे भी नियमित पत्रिका तो नही भेजते पर पत्र लिखते है कि उन्हे महत्वपूर्ण अप्रकाशित लेख भेज दिया जाए।

मेरी समझ से इस मनःस्थिति को सर्वथा बदलना होगा। प्रत्येक पत्र यह नियम कर ले कि वह हर अंक मे कम-से-कम एक विशिष्ट लेख अवश्य देगा; और प्रयत्न करके उसे प्राप्त करे। यदि उसके लिए पारिश्रमिक देना पड़ता है तो अवश्य दे। पत्रिका के जो अन्य व्यय है, उन्ही मे इसे भी शामिल करना चाहिए। कम-से-कम १५ अनुमुद्रण देने का भी नियम बना लेना चाहिए। इसका आसान तरीका यह है कि जितने अनुमुद्रण निकालने है उतने फार्म एक और छाप लिए जाए। यह साधारण विवेक की बात है कि जिस लेखक से हम लेखादि प्राप्त

करते है या प्राप्त करना चाहते है उसे नियमित पत्रिका भेजते रहे। मेरी समझ मे यदि वर्ष मे एक भी लेख उसने दे दिया तो उस पत्रिका का वार्षिक शुल्क पूरा हो गया समझना चाहिए। इन बातो का ध्यान रखा गया तो कोई कारण नही है कि पत्रिकाओ को स्तरीय सामग्री न मिले। शुद्ध और सुन्दर मुद्रण का दायित्व पत्रिका के सम्पादक और मुद्रको का एक अनिवार्य कर्तव्य है।

शोध पत्रिकाएं और उनकी कठिनाइयाँ

ऊपर मैने सामान्यतः सभी पत्रिकाओ के सम्बन्ध म कहा है। शोध पत्रिकाओं के विषय मे कुछ बाते और भी ध्यान देने की है। जो पत्रिकाए शोध के नाम पर निकल रही है उनमे खोजपूर्ण सामग्री कितनी रहती है, यह भी विचारणीय है। उनका मुद्रण स्तर, सम्पादन पद्धति तथा भाषा के आधार पर उनके क्षेत्र की व्यापकता बनती है। अभी जितनी भी जैन पत्र-पत्रिकाए इस प्रकार की प्रकाशित होती है उनमे सम्भवतया इनमे से वास्तविक अनुसन्धान से सम्बन्धित सामग्री कितनी है और पहले का अनुसन्धित सामग्री का पुनराकलन कितना है यह देखना बहुत आवश्यक है। जो लेखक के साथ-साथ सम्पादक का भी दायित्व है किन्तु सचाई यह है कि ये सारी पत्रिकाए सामग्री के लिए भी अतिशय दरिद्र रहती है इसलिए उन्हे जो जैसी सामग्री मिल जाती है उसे उसी रूप मे छाप देते है। सामग्री प्राप्त होने के कारण लगभग वही है जो पहले बताये गये है। पत्रिकाओं पर बडे-बड़े नामधारी लोगो के नाम सम्पादक मण्डल या सम्पादको मे जाते है किन्तु वे अपना कितना योगदान उस पत्रिका को देते है इसके लिए वे स्वयं प्रमाण है।

हिन्दी मे कुछ पत्रिकाएं केवल सम्पादकीय लेखो के लिए पढी जाती रही हैं। क्या इह स्थिति शोध पत्रिकाओ की नही हो सकती।

पत्रिकाओं के क्षेत्र की व्यापकता का प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण है इसी पर अन्य कई बातें निर्भर करती है। कोई भी लेखक जो यह जानता है कि अमुक पत्रिका मे उसका लेख प्रकाशित होने पर कुछ सीमित लोगो के पास ही पहुँचेगा और न तो उसे पारिश्रमिक ही मिलेगा और न ही अनुमुद्रण, तो ऐसी स्थिति मे भला कौन व्यक्ति होगा जो अपनी बहुत महत्व की सामग्री उस पत्रिका के लिए भेजना चाहे। होता यह भी है कि उन लेखो का सही-सही मुद्रण भी नही हो पाता।

बाते और भी बहुत सी हो सकती है किन्तु उन सबकी चर्चा करने से अधिक महत्व की बात यह है कि उनके समाधान के विषय मे विचार किया जाए। अनेकान्त की संचालन संस्था को मैने कुछ सुझाव दिये थे जिसमे एक यह भी था कि इसम हिन्दी और अंग्रेजी दोनो भाषाओ मे लिखी गई सामग्री को प्रकाशित किया जाए, इससे निश्चय ही इसका क्षेत्र विस्तृत हो जाएगा और सामग्री भी स्तरीय तथा पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होने लगेगी। यह अवश्य है कि ऐसा करने पर सम्पादकीय तथा व्यवस्थापकीय दायित्व निश्चित रूप से कुछ अधिक बढ जाएगा। मेरा स्पष्ट अभिमत है कि शोध पत्रिकाओं के न चल पाने का सबसे बडा कारण उसके प्रसार के क्षेत्र की संकीर्णता ही है। भारत तथा विदेशो मे जितने विश्वविद्यालय और शोध संस्थाए इस समय चल रही है उनमे से दशांश से भी किसी भी जैन पत्रिकाओ ने सपर्क साधा हो। यदि उन सबसे सम्पर्क किया जाए तो मुझे विश्वास है कि ग्राहक संख्या भी इतनी हो सकती है कि पत्रिका का संचालन सम्भव हो सके। यह होने पर जब लेखको को यह प्रतीति होगी कि अमुक पत्रिका मे प्रकाशित होने पर उसके शोध कार्य का पर्याप्त प्रसार मिलेगा तो लेखक भी प्रयत्न पूर्वक उस पत्रिका के लिए अपनी सर्वाधिक महत्व की सामग्री भेजना चाहेगे। वास्तविक अनुसन्धाता के लिए यह बात सर्वाधिक महत्वपूर्ण है कि उसकी शोध उपलब्धियाँ कम-से-कम उन लोगों तक पहुँच जाए जो उस विषय के विद्वान है या उस विषय मे रुचि रखते है। सम्पादन, मुद्रण तथा व्यवस्था सम्बन्धी दायित्व पत्रिका के संचालको का है। यदि इन बातो की ओर ध्यान दिया जाए तो निश्चय ही यह सोचने की आवश्यकता नही पड़ेगी कि पत्रिका चलाई जाए या बन्द कर दी जाए। ★

अनेकान्त पत्र का गौरव

पं० जयन्तीप्रसाद शास्त्री

भारत के शोध-खोज पूर्ण पत्रों मे 'अनेकान्त' का स्थान सर्वोच्च रहा है। इस पत्र ने जैन साहित्य और संस्कृति की अभूत पूर्व सेवा की है; परन्तु इस बात मे विद्वत्समाज इन्कार नहीं कर सकता कि इस पत्र ने अनेक जैन-जैनेतर विद्वानों का मार्ग दर्शन किया है उनकी भ्रान्तियों को दूर किया है उन्हे सन्मार्ग दिखाकर जैन साहित्य के गौरव पूर्ण ग्रथ और ग्रन्थकारो की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया है। उन्हे इस सत्यता के लिए विवश किया है कि जैन साहित्य के योगदान को भुलाया नही जा सकता। उन्हे इस बात के लिए ललकारा है कि यदि तुमने जैन साहित्य के योगदान को भुलाकर लिखा तो एक दिन जागरूक साहित्य जगत् तुम्हे क्षमा नही करेगा। तुम्हारे द्वेष और मनोमालिन्य अथवा ज्ञान को अधूरा मानकर तुम्हे धिक्कारेगा। मुझे मालूम है कि कई जैनेतर विद्वान जैन साहित्य की जानकारी के लिए इस पत्र के सम्पादको के पास आये हैं और उन्होने अपनी-अपनी शोध-खोज पूर्ण रचनाओ मे इसका यथास्थान उल्लेख किया है और कई विद्वान् ऐसे भी देखे है और उनकी रचनाओं को पढा है जिन्होंने इसके लेखो के आधार से अपनी उपाधिया प्राप्त की है। परन्तु इसके नामोल्लेख न करने की भयकर भूल की है। फिर भी इस पत्र का और इसके सम्पादकों का दृष्टिकोण सदा उदार ही रहा है।

ऐसे मार्ग दर्शक, निर्भीक पत्र को आज चालीस वर्ष हो चुके है परन्तु बीच-बीच मे अर्थाभाव के कारण कई बार इसका प्रकाशन बन्द करना पडा। इसका अर्थ यह नही लगाया जा सकता कि इसकी लोकप्रियता कम है। बल्कि यह मानना पडेगा कि इसमे शुद्ध इतिहास, सिद्धान्त आदि लेख ही प्रकाशित होते है जिसके कारण इसके पाठक और पारखी अत्यल्प है। समय-समय पर इसकी आवश्यकता को ध्यान मे रखकर ही स्व. मुख्तार सा. ने इसको पुनः पुन. प्रकाशित करने मे समाज के धनी-मानी और विद्वन् समाज का योगदान चाहा और चालू किया।

इस पत्र के अब तक लगभग १६०० सोलह सौ उच्च-कोटि के शोध-खोज पूर्ण लेखों का प्रकाशन किया है। सस्कृत-प्राकृत-अपभ्रन्श और हिन्दी के २०० दो सौ ग्रथो का अनुसन्धान कर उनका परिचय प्रदान किया और अनेक ग्रंथभण्डारों की अहर्निश लगन के साथ देखभाल कर लुप्तप्राय सामग्री को जीवन प्रदान किया है। ऐति-हासिक अनेक बातों का उद्घाटन कर उलझी गुत्थियों को सुलझाया है।

धवल, जयधवल और महाधवल जैसे प्राचीन ग्रथो की ताडपत्रीय प्रतियो के फोटो आदि लेकर जनसाधारण के लिए उनके दर्शन को सुलभ बनाया है।

कई विवादस्थ ग्रथ और ग्रथकारो की भ्रान्तियों को दूर किया और सोलह ग्रथो की खोजपूर्ण प्रस्तावनाओ को लिखा तथा कई ग्रन्थो का हिन्दी अनुवाद भी किया।

इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण कार्य अपने ध्येय के अनुरूप ही बड़ी निष्ठा के साथ सम्पन्न किये और कर रहा है।

स्व. पूज्य जुगलकिशोरजी मुख्तार का यह कीर्ति-स्तम्भ अथवा मानस्तम्भ आज भी श्री पंडितरत्न परमा-नन्द जी शास्त्री आदि विद्वानो की पैनी सूक्ष्म लेखनी से समाज और विद्वानो का मार्गदर्शन कर रहा है। यह बडे ही गौरव का विषय है। समय समय पर अनेक विद्वानो के लेखो का सहयोग यह सिद्ध करता है कि श्री स्व. मुख्तार सा. आज भी जीवित हैं और इसके लेखक विद्वान् श्रद्धा सहित इस कीर्तिस्तम्भ को सदा ही देदीप्य-मान बनाने पर दृढ प्रतिज्ञ से मालूम होते है अथवा वे श्री मुख्तार सा. के प्रति अपनी कृतज्ञता भरी श्रद्धा इन लेखों के मध्यम से प्रकट करते रहते हैं।

[शेष पृष्ठ १८६ पर]

अनेकान्त और उसकी सेवाएँ

डा० दरबारीलाल कोठिया

आज से चालीस वर्ष पूर्व सन् १९२९ की २१ अप्रैल की बात है। स्वर्गीय पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' ने इसी दिन महावीर-जयन्ती पर समाज और साहित्य के उत्थान एवं लोकहित की साधना के लिए दिल्ली मे एक 'वीर सेवक सघ' स्थापित किया था। तीन तीन महीने के बाद इस संघ ने अपनी प्रवृत्तियो को चरितार्थ करने के लिए २१ जुलाई १९२९ को "समन्तभद्राश्रम" की स्थापना करके समाज और साहित्य सेवा का सकल्प किया था। आश्रम की स्थापना का उद्देश्य और उसके द्वारा किए जाने वाले कार्यों का निर्देश 'अनेकान्त' वर्ष १, किरण १, पृष्ठ ५३ पर किया गया है। इन कार्यों मे "अनेकान्त" मासिक का प्रकाशन भी सम्मिलित है, जिसके द्वारा समाज मे नवजागरण एव नवचेतना पैदा करने के अतिरिक्त लुप्त प्राय जैन ग्रथो की खोज, जैनाचार्यो और जैन तीर्थकरों का परिचय एवं इतिहास, जैन पुरातत्त्व और जैन कला का दिग्दर्शन, जैनधर्म तथा जैन दर्शन के स्याद्वाद, अनेकान्त, अहिंसा आदि सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार जैसे महत्त्व के कार्यों के करने की परिकल्पना की गयी थी। इस परिकल्पना का समाज के नेताओं और विद्वानो ने तो स्वागत किया ही था। देश के अनेक नेताओं ने भी उसकी सराहना की थी। राष्ट्रनेता और काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के संस्थापक महामना प० मदनमोहन मालवीय का हम यहाँ वह सदेश-पत्र 'अनेकान्त से'[1] उद्धृत कर रहे है जिसमे उन्होने आश्रम और मासिक पत्र निकालने के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट की है :—

"आपके आश्रम के उद्देश्य ऊँचे है और उनके साथ मेरी सहानुभूति है। आपका एक मासिक पत्र निकालने का विचार भी सराहनीय है। मै हृदय से चाहता हूँ कि उस पत्र के द्वारा आप अपने आश्रम के उद्देश्यों को पूरा कर सके और ऐसे सच्चे सेवक उत्पन्न करें जो वीर के उपासक, वीर गुणविशिष्ट और लोक सेवार्थ दीक्षित हों तथा महावीर स्वामी और जैन आचार्यों के सत् उपदेशों का ज्ञान प्राप्त कर धर्म में दृढ़, सदाचारवान्, देशभक्त हों।"

उपर्युक्त परिकल्पना को श्रद्धेय मुख्तार साहब ने 'अनेकान्त' पत्र के द्वारा बहुत कुछ साकार मूर्तरूप दिया। यह हमें उनके सम्पादन-काल की 'अनेकान्त' की फाइलों से स्पष्ट ज्ञात होता है। उस अधेरे युग मे, जब समाज मे न अपने धर्म के बारे मे जानकारी थी, न तीर्थंकरो और आचार्यों के विषय मे विषय मे और न साहित्य के सबन्ध मे, 'अनेकान्त' ने इन सबकी जानकारी दी। और तो क्या जैन दर्शन का प्रसिद्ध और व्यापक सिद्धान्त 'अनेकान्त' भी भूल चुके थे। 'अनेकान्त' का प्रकाशन आरम्भ करते हुए मुख्तार साहब ने। सम्पादकीय मे इसका कुछ चित्र खीचते हुए लिखा है कि 'खेद है, जैनियो ने अपने इस आराध्य देवता 'अनेकान्त' को बिल्कुल भुला दिया है और वे आज एकान्त के अनन्य उपासक बने हुए है, उसी का परिणाम है उनका सर्वतोमुखी पतन, जिसने उसकी सारी विशेषताओं पर पानी फेर कर उन्हे ससार की दृष्टि मे नगण्य बना दिया है। अस्तु, जैनियों को फिर से अनेकान्त की प्राण प्रतिष्ठा कराने और ससार को अनेकान्त की उपयोगिता बतलाने के लिए ही यह पत्र 'अनेकान्त' नाम से निकाला जा रहा है।'

वस्तुतः 'अनेकान्त' ने द्वादशांग श्रुत क्या है? उसके कर्ता कौन हैं? महावीर स्वामी कब हुए और उन्होंने क्या उपदेश दिया था? उनके बाद कितने केवली और श्रुतकेवली हुए और वे कौन से हैं! गुणधर, धरसेन, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलक पात्रकेशरी, विद्या-

---

१. वर्ष १, किरण १, पृ० ४२

नन्द, नेमिचन्द्र आदि आचार्यो का समय क्या है और उन्होने कौन-कौन से ग्रंथ बनाए ? इन सभी बातों का सप्रमाण प्रकाशन किया। जिन ग्रथों का दूसरे आचार्यों के ग्रथों मे उल्लेख है पर उपलब्ध नही है उनकी खोज का प्रयास भी अनेकान्त ने किया है। जैन धर्म की अहिंसा का स्वरूप क्या है ? अनेकान्त स्याद्वाद और सप्तभगी मे पारस्परिक क्या सम्बन्ध है और वे क्या है ? जैसे सैद्धान्तिक विषयों पर भी अनेकान्त, मे प्रकाश डाला गया है। कहने का तात्पर्य यह कि 'जैन हितैषी' ने जिस शोधखोज का श्रीगणेश किया था, अनेकान्त ने उसे पूर्णरूप दिया नये-नये लेखकों और विचारको को जन्म दिया।

यद्यपि जिस अनेकान्त' मासिक का चालीस वर्ष पहले उदय हुआ उसे उत्थान और पतन की अनेक अवस्थाओ मे से गुजरना पडा है फिर भी वह आज जीवित है और बौद्धिक सामग्री दे रहा है। यदि वह लगातार चालू रहता तो उसकी चालीस वर्षों की चालीस फाइलें होती। किन्तु उसकी बाइस ही फाइले हो सकी है। तात्पर्य यह कि वह आज बाईसवे वर्ष मे चल रहा है। इस बीच मे उसे आर्थिक कठिनाइयों आदि के कारण बन्द होना पडा। यहाँ तक कि वह अब द्वैमासिक के रूप मे कई वर्ष से निकल रहा है। सन्तोष यही है कि वह बाधाओ से जूझता हुआ भी अपना अस्तित्व ही बनाए हुए नहीं है अपितु महत्त्वपूर्ण सामग्री भी प्रस्तुत कर रहा है।

२४ अप्रैल १६४२ से ५ मार्च १६५० तक वीर सेवा मन्दिर और अनेकान्त से मेरा खास सम्वन्ध रहा है। मैं जानता हूँ कि श्रद्धेय मुख्तार साहब, मुझे और प० परमानन्दजी शास्त्री को अनेकान्त की सामग्री को जुटाने मे कितनी शक्ति और समय लगाना पडता था। किसी-किसी अङ्क की तैयारी मे तो हम तीनो का पूरा ही समय लग जाता था, मन्दिर के अन्य कार्य गौण हो जाते थे। लेकिन यह सत्य है कि सारी सामग्री शोध और खोजपूर्ण होती थी। जनवरी १६४८ से फरवरी ५० तक लगभग दो वर्ष 'अनेकान्त' का सहसम्पादन हमने भी किया था। अतः इस अनुभव के आधार से यह कह सकते है कि 'अनेकान्त' विद्वत्प्रिय और विद्वद्भोग्य पत्र रहा है। यह प्रसन्नता की बात है कि वह आज भी अपनी मर्यादा को बनाए हुए है।

अन्त मे अनेकान्त के वर्तमान सचालकों मे हमारा अनुरोध है कि जिन कार्यो को 'अनेकान्त' ने अपने जन्म-काल के समय करने का सकल्प किया था उनमे से निम्न-कार्य अवश्य किए जाना चाहिए :···

१. लुप्त-प्राय जैनग्रथोंकी खोज, २. पूर्ण जैन ग्रंथावली का सकलन, ३. जैन मूर्तियो के लेख सग्रह क्षेत्रों और भारतवर्ष के समस्त जैन मन्दिरो की मूर्तियों के सम्पूर्ण जैन लेखो का संग्रह), ४. जैन ताम्रपत्र, चित्र और सिक्को का सग्रह, ५. जैन मन्दिरावली (मूर्ति सस्थादि-सहित—अर्थात् सब जगह के जैन मन्दिरो की पूरी सूची, ६. त्रिपिटिक आदि प्राचीन बौद्ध ग्रथो पर से जैन इतिवृत्त जैन सम्बन्धी अनुकूल या प्रतिकूल सभी वृतान्त) का संग्रह, ७. प्राचीन हिन्दू ग्रन्थो पर से जैन इतिवृत्त का सग्रह आदि वे सब कार्य, जो अनेकान्त वर्ष १, किरण ६, ७, पृ० ४१५-४१६ पर दिए गए है। ●

[पृष्ठ १८४ का शेषांस]

वीर-सेवा-मन्दिर एक प्रसिद्ध शोध सस्था है। जिसने जैन संस्कृत के लिए बड़ा योगदान दिया है। उसके द्वारा प्रकाशित साहित्य महत्वपूर्ण और ठोस है।

वीर सेवा मन्दिर द्वारा किये गये कार्यों की कुछ झलक इस इतिहास साहित्य अक से लग जावेगी। मै सस्था के इस प्रतिष्ठित पत्र की हृदय से शुभ कामना करता हूँ कि यह पत्र सदा विद्वानों का सन्मार्ग दर्शक बना रहे, क्योकि विद्वानो की सूक्ष्म दृष्टि पूर्ण लेखनी ही समाज और देश की प्रगति की प्रतीक होती है।

'दिगम्बर समाज का सौभाग्य है कि उसमे ऐसा खोजपूर्ण पत्र प्रकाशित होता है, समाज को और विद्वानों को इसे अपनाना चाहिये तथा उसको ग्राहक सख्या में वृद्धि होना चाहिए। समाजके धनीमानी व्यक्तियो को ऐसे महत्वपूर्ण पत्रको आर्थिक सहयोग प्रदान करना जैन सस्कृति की सेवा करना है। आशा है समाज इसे अवश्य सहयोग प्रदान करेगी, जिससे वह मासिक रूपमे प्रकाशित हो सके।

★

जैनविद्या का अध्ययन-अनुशीलन : प्रगति के पथ पर

प्रो० प्रेम सुमन जैन एम. ए., शास्त्री

जैन विद्या का अध्ययन-अनुशीलन पिछले पचास वर्षों मे काफी आगे बढा है। प्राचीन परम्परा के जैन विद्वानो ने एक ओर जहाँ जैन विद्या के ग्रन्थों को प्रकाश में लाने, उनका मूल रूप मे अध्ययन करने-कराने तथा अन्य अनेक प्राचीन सस्कारों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है, वहाँ उन्होंने जाने-अनजाने एक ऐसी पीढ़ी का भी निर्माण किया है, जिसने जैन विद्या के अध्ययन एव पठन-पाठन को अनुसधानिक रूप प्रदान किया है। यह सन्तोष का विषय है कि अब जैन विद्या का अध्ययन परम्परागत एव अधुनातन दोनो पद्धतियो से गतिशील हो रहा है।

संगोष्ठी-सेमिनार-शिविर

जैनविद्या के अध्ययन अनुसन्धान के क्षेत्र मे इधर कुछ समय से न केवल जैन अपितु जैनेतर विद्वान भी अध्ययन-रत हुए है। उनके इस रुझाण एवं लगन से स्पष्ट है कि भारतीय प्राचीन वाङ्मय एवं सास्कृतिक उपादानो के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए जैन वाङ्मय एव सस्कृति के अध्ययन की अनिवार्यता स्वीकार कर ली गई है। की जा रही है। इस सम्बन्ध मे व्यक्तिगत एव सामूहिक दोनो प्रकार के अध्ययन प्रस्तुत किये गये है। यथा—

मई १९६८ मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा शिवाजी विश्वविद्यालय कोल्हापुर मे एक त्रिदिवसीय 'प्राकृत-सेमिनार' का आयोजन हुआ। इसमे जैन विद्या के लगभग ४० अध्येता सम्मिलित हुए, जिन्होने प्राकृत भाषा एव साहित्य के अध्ययन-अनुसन्धान एव प्रचार-प्रसार के कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए।

अक्टूबर १९६८ मे अ० भा० प्राच्य विद्या सम्मेलन के अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ के तत्वावधान मे वाराणसी में 'जैन-साहित्य सगोष्ठी' का आयोजन किया गया। लगभग ५० विद्वान इसमे सम्मिलित हुए। जिन्होने जैन विद्या के अध्ययन-अनुशीलन आदि से सम्बन्धित विविध पक्षो पर सामूहिक रूप से विचार-विमर्श किया। अध्ययन मे जुट जाने की शक्ति का सम्बर्द्धन किया।

सगोष्ठी के उपरान्त सागर मे वर्णी स्नातक परिषद् के तत्वावधान मे १ जून तक 'स्नातक शिविर' का आयोजन किया गया। इसमे विभिन्न विश्वविद्यालयो तथा शिक्षा संस्थाओ से सम्बद्ध स्नातक शामिल हुए, जिनमें जैन-साहित्य, दर्शन, इतिहास, प्राचीन भारतीय सस्कृति, पुरातत्व, कला, भाषाविज्ञान एवं गणित के विशेषज्ञ तथा अनुसन्धित्सु थे। शिविर काल मे शोध-कार्य मे सलग्न स्नातको ने अपने कार्य को आगे बढाया एवं अग्रिम अध्ययन की योजना बनाई। उन्होने भारत तथा विदेशों मे मानविकी और विज्ञान से सम्बन्धित जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसन्धान मे सक्रिय रूप से इन विद्वानों, शोधार्थियो एव सस्थाओ मे परस्परिक सम्पर्क, सहयोग एवं शोध प्रवृत्तियो को गति देने के उद्देश्य से 'जैनालाजीकल रिसर्च सोसाइटी' की स्थापना का भी निर्णय लिया।

शिविर के तुरन्त बाद २३ जून से २७ जून ६९ तक पूना विश्वविद्यालय के सस्कृत प्रगति अध्ययन केन्द्र मे 'प्राकृत-सेमिनार' का आयोजन हुआ। इसमे लगभग ४० विद्वान सम्मिलित हुए। प्राकृत भाषा और साहित्य विषयक ३० निबन्ध पाठ तथा दो विशिष्ट भाषण हुए। यह सेमिनार कोल्हापुर मे आयोजित प्राकृत सेमिनार का अगला चरण था।

इस प्रकार इन सेमिनार, सगोष्ठी और शिविर के आयोजनो ने जैनविद्याओं के अध्येताओ को एक ऐसा अवसर दिया कि वे एक साथ मिल-बैठकर जैनविद्या के अध्ययन-अनुशीलन की प्रगति के सम्बन्ध मे सक्रिय हो सके। उनकी पारस्परिक प्रदेशगत, भाषागत आदि अनेक दूरियाँ इन सम्मेलनो से दूर हो गयी। यह एकरूपता निश्चित ही जैनविद्या के प्रचार-प्रसार के लिए शुभ सकेत है।

ज्ञानपीठ-पत्रिका

जैनविद्या के अध्ययन-अनुशीलन की प्रगति में अनेकान्त, श्रमण आदि जैन पत्र-पत्रिकाओं का सहयोग भी काफी रहा है। इधर ज्ञानपीठ-पत्रिका के दो विशेषांकों ने इस क्षेत्र मे सराहनीय कार्य किया है। ज्ञानपीठ-पत्रिका का प्रथम विशेषांक अ० भा० प्राच्य विद्या सम्मेलन वाराणसी अधिवेशन के अवसर पर गत वर्ष 'जैन-साहित्य संगोष्ठी स्मारिका' के रूप में प्रस्तुत किया गया था। इसमे जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसन्धान आदि से सम्बधित महत्वपूर्ण एव दुर्लभ सामग्री दी गई है। द्वितीय विशेषाक उक्त सम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन के अवसर पर इस वर्ष प्रकाशित किया गया है। इसमे भारतीय विद्या की उपेक्षित शाखाओं—विशेषकर जैन वाङ्मय और संस्कृति से सम्बन्धित शोध-कार्य की आधारभूत सामग्री प्रस्तुत की गई है। जैन वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन से लेकर प्राचीन साहित्य के आधुनिक प्रस्तुतिकरण तक की चर्चा इसके निबन्धों मे है। भारतीय विश्व विद्यालयों मे जैनविद्या के अध्यापन की व्यवस्था के अब तक के स्वरूप को यह विशेषाक उजागर करता है। इस प्रकार की बहुमूल्य सामग्री के संकलन एव प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ के संचालक, श्री लक्ष्मीचन्द जैन डा० गोकुलचन्द जैन के प्रयत्न सराहनीय हैं। जैन विद्या के अध्ययन-अनुशीलन की प्रगति के लिए ज्ञानपीठ-पत्रिका का प्रति वर्ष एक विशेषाक प्रस्तुत होता रहेगा, ऐसी आशा है।

प्राकृत एवं जैनिज्म विभाग :

जैन वाङ्मय और सस्कृति के अध्ययन-अनुसन्धान को गति देने मे अ० भा० प्राच्य विद्या सम्मेलन पूना ने भी महत्वपूर्ण योगदान किया है। प्रारम्भ मे इस सम्मेलन मे जैन विद्या का कोई विभाग नही था। श्री डा० आ० ने० उपाध्ये अकेले जैन विद्वान थे, जो इस सम्मेलन के अधिवेशनो में सम्मिलित होते थे। उनके निरन्तर प्रयत्नो के फलस्वरूप—मे इस सम्मेलन मे 'प्राकृत एव जैनिज्म' नामक विभाग को सम्मिलित किया गया। स्वतन्त्र विभाग बन जाने पर भी दो-चार विद्वान ही इसमे सम्मिलित हो पाते थे। किन्तु कुछ समय पहले जब जैन विद्या के अध्ययन-अनुसन्धान में जैनेतर विद्वान उत्साहपूर्वक कार्य करने लगे तो जैन विद्वानों का ध्यान भी इस ओर गया। वे भी अनुसन्धान कार्य में रुचि लेने लगे। विगत चार-पाच वर्षों से 'प्राकृत एव जैनिज्म' विभाग में सम्मिलित होने वाले विद्वानों की संख्या बढ गयी। सम्मेलन के अलीगढ अधिवेशन मे इस विभाग मे लगभग २० विद्वान सम्मिलित हुए। बनारस अधिवेशन मे ३० निबन्ध पढे गए। और इस वर्ष यादवपुर विश्व विद्यालल कलकत्ता में आयोजित अधिवेशन मे इस विभाग के निमित्त लगभग पचास विद्वान् उपस्थित हुए। जैनविद्या के अध्ययन-अनुसन्धान के क्षेत्र मे इस प्रकार का उत्साह निश्चित ही हर्ष का विषय है।

सम्मिलित विद्वान :—

अ० भा० प्राच्य विद्या सम्मेलन कलकत्ता मे आयोजित अधिवेशन मे सम्मिलित विद्वानों मे कतिपय इस प्रकार है :—

डा० आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुर, डा० एच० सी० भयाणी, अहमदाबाद, डा० उमाकान्त शाह, बडौदा, पं० के० भुजबली शास्त्री, धारवाड़, प० दलसुख मालवणिया, अहमदाबाद, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा, डा० पी० एस० उपाध्ये, बम्बई, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, नालन्दा, डा० कृष्णचन्द्र आचार्य, भुवनेश्वर, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, कलकत्ता, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर, डा० हरीन्द्र भूषण जैन, उज्जैन, प्रो० वी० के० खडबडी, धारवाड, डा० रत्ना श्रीषन्, बेंगलोर, प्रो० एम० एस० रणदिवे, सतारा, श्रमती रणदिवे, सतारा, डा० राजाराम जैन, आरा, डा० नरेन्द्र भानावत, जयपुर, श्रीमती शान्ता भानावत, डा० गोकुलचन्द्र जैन, बनारस, डा० देवेन्द्रकुमार जैन, इन्दौर, डा० के० आर० चन्द्रा, अहमदाबाद, डा० भागचन्द्र जैन, नागपुर, श्रीमती पुष्पा जैन, नागपुर, प्रो० प्रेमसुमन जैन, बीकानेर, प्रो० रामप्रकाश पोद्दार, वैशाली, डा० परममित्र शास्त्री, राची, प्रो० वी० मोहरिल, नागपुर, श्री चन्द्रभाल द्विवेदी, बनारस, डा० अजित सुखदेव बनारस, डा० दरबारी लाल कोठिया, बनारस, श्री ए० जे० शर्मा, श्रीकार्तिकचन्द्र शाह, श्री लालचन्द्र जैन, वाराणसी, श्री सन्म्तकुमार जैन, वाराणसी, कु० एन० एन० हल्दीकर, बम्बई, कु० पी० एस० पोटनिस, बम्बई,

श्री प्रकाशचन्द्र सिंघई, सागर, डा० पी० वी० वापट।

अन्य विद्वान जो स्वीकृति के बाद भी अन्यान्य कारणो से अधिवेशन मे उपस्थित न हो सके—

डा० नथमल टाटिया, वैशाली, डा० मोहनलाल मेहता, वाराणसी, डा०, हीरालाल जैन, जबलपुर, डा० विमल प्रकाश जैन, जबलपुर, डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, रायपुर, डा० वीरेन्द्रकुमार जैन, गुना, प्रो० भागचन्द्र भागेन्दु, सीहोर, प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन, सीहोर, प्रो० सुमतिकुमार जैन, अलीगढ, प्रो० पूर्णचन्द्र, सागर, प० गोपीलाल अमर, सागर आदि।

अधिवेशन में पठित निबन्ध !

इस अधिवेशन मे जैन विद्या से सम्बन्धित लगभग ४० निबन्ध 'प्राकृत एवं जैनिज्म विभाग' तथा अन्य विभागोके अन्तर्गत पढ़े गये। उनके विषय इस प्रकार है—

साहित्य :

१ द समराइच्चकहा एण्ड विलासवईकहा
२ अपभ्रंश साहित्य की एक अप्रकाशित महत्वपूर्ण कृति-पुण्णासवकहा
३ ब्रह्म जयसागर का सीताहरण
४ कुवलयमालाकहा मे वर्णित शास्त्र और शास्त्रकार
५ द प्रमेयकण्ठिका : एन अनपब्लिश्ड संस्कृत वर्क ऑन जैन लाजिक
६ द टाइटिल आफ उत्तराध्ययनसूत्र
७ नायिकाज इन गाहासत्तसइ
८ प्रज्ञापना और षट्खण्डागम
९ साहित्य-मीमासा : प्राकृत टेक्स्ट रिस्टोरड
१० अपभ्रंश का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ : सिरीपालचरिउ

भाषा-विज्ञान .

११ द अपभ्रंश पेसेज फ्राम अभिनवगुप्ताज तन्त्रसार एण्ड प्रार्त्रिंशिकावृत्ति
१२ प्राकृत फेमिनाइन फार्मस् एन्डिग इन या
१३ ओनोमेटो पोइटिक वर्डस् इन प्राकृत
१४ प्राकृनिज्म इन वेदाज
१५ मृच्छकटिक और चारुदत्त मे प्राकृत का प्रयोग

धर्म-दर्शन :

१६ द रोल आफ मारेलिटी प्लेज एण्ड स्टोरीज फार द प्रोपेगेशन आफ रिलीजन
१७ द कन्सेप्ट आफ 'जीव' इन जैनिज्म
१८ अ निगलेक्टेड फील्ड आफ इण्डियन साइकालाजी : जैन योग
१९ धर्मपद और जैनधर्म : एक तुलनामूलक अध्ययन
२० जैन रहस्यवाद
२१ जैनधर्म मे आत्मा का स्वरूप : एक विवेचन
२२ जैन तर्कशास्त्र को समन्तभद्र की देन
२३ द बुद्धिष्ट एड जैन आईडिया आफ ए वतारमल कन्सेप्शन आफ लिविग बीइंग
२४ श्रीमद् रायचन्द्र के दार्शनिक विचार

संस्कृति :

२५ आबजर्वेशन आन सम सोर्सेज आफ द पुण्याश्रवकथा कोश
२६ द एस्पेक्ट आफ लव एज रिभील्ड इन द अपभ्रंश वर्सेज कोटेड इन द प्राकृत ग्रामर आफ हेमचन्द्र
२७ तीर्थङ्करत्व व बुद्धत्वप्राप्ति के निमित्तो का तुलनात्मक अध्ययन
२८ जैन टेम्पल्स इन कर्नाटक
२९ कुवलयमालाकहा मे वर्णित ७२ कलाएँ
३० जैनधर्म मे मूर्तिपूजा का विकास
३१ कुवलयमालाकहा मे वर्णित चित्रकला : एक अध्ययन

इतिहास :

३२ उद्योतन एण्ड हरिभद्रसूरि
३३ आनन्दपुर इन जैन केनानीकल लिटरेचर
३४ जैन साहित्य मे वर्णित मगध
३५ जैन साहित्य एव सस्कृति का केन्द्र : राजस्थान

जैनालॉजीकल रिसर्च सोसायटी :

अ० भा० प्राच्य विद्या सम्मेलन के इस कलकत्ता अधिवेशन मे दिनाक ३० अक्तूबर ६९ को सायकाल "जैनालॉजीकल रिसर्च सोसायटी' का श्रीमान् प० दलसुख मालवणिया के सारगर्भित अभिभाषण द्वारा उद्घाटन सम्पन्न हुआ। डा० आ० ने० उपाध्ये, डा० गोकुलचन्द्र जैन एव प्रो० एम० वाई० वैद्या ने अपने भाषणो द्वारा इस सोसायटी के उद्देश्य एव कार्यो पर प्रकाश डाला। जैनविद्या के अध्ययन अनुशीलन को एक सुनिश्चित गति प्रदान करने के लिए स्थापित इस "जैनालाजीकल रिसर्च सोसायटी" का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

उद्देश्य—

(क) भारत तथा विदेशो मे मानविकी तथा विज्ञान से

सम्बन्धित जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसन्धान में सक्रिय रूप से रत और रुचि रखने वाले विद्वानों, शोधार्थियो और सस्थाओं में पारस्परिक सम्पर्क सहयोग एव शोध प्रवृत्तियों को गति देना।

(ख) जैनविद्या से सम्बन्धित विभिन्न शोध-परियोजनाओं को सम्पन्न करने-कराने का प्रयत्न करना।

(ग) जैनविद्या से सम्बन्धित शोध-निबन्धो एवं स्वतन्त्र कृतियो के प्रकाशन आदि की समुचित व्यवस्था करना।

सदस्यता :

मानविकी तथा विज्ञान से सम्बन्धित जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसन्धान मे सक्रिय रूप से रत या रुचि रखने वाले विद्वान, शोधार्थी, सस्थाएँ एव अन्य व्यक्ति इस सोसायटी के सदस्य हो सकेगे।

रिसर्च जनरल :

'जैनालाजिकल रिसर्च सोसायटी' विद्वानों के बीच सम्पर्क-सहयोग स्थापित रखने के साथ-साथ हिन्दी-अंग्रेजी मे एक शोध-पत्रिका भी प्रकाशित करेगी, जिसके प्रारम्भिक विशेषाक मे इस प्रकार की सामग्री सकलित होगी :

(१) देश-विदेश मे जैन विद्या सम्बन्धी अध्ययन-अनुसन्धान के कार्यों का विवरण।

(२) जैन विद्या के अध्ययन-अनुसन्धान के लिए देश-विदेश मे उपलब्ध सुविधा-साधनो का विवरण।

(३) जैन विद्या के अनुसन्धान एवं प्रकाशन मे सलग्न संस्थाओ का परिचय।

(४) पी० एच० डी० एवं डी. लिट् उपाधि के निमित्त स्वीकृत शोध-प्रबन्धों के सक्षिप्त-सार।

(५) जैनविद्या की किसी भी भाषा मे प्रकाशित पुस्तको एव निबन्धों की समीक्षा।

(६) जैन विद्या के अध्ययन-अनुसन्धान के सम्बन्ध में अनेक दुर्लभ महत्वपूर्ण सूचनाएँ।

(७) जैन विद्या के अनुसन्धान कार्य के लिए कुछ चुने हुए महत्वपूर्ण विषय।

'जैनालाजीकल रिसर्च सोसायटी' का अगला अधिवेशन अ. भा. प्राच्य विद्या सम्मेलन के २६वे अधिवेशन के अवसर पर उज्जैन मे होगा। सोसायटी अधिवेशन मे सम्मिलित होने वाले विद्वानों से पहले सम्पर्क स्थापित करेगी ताकि प्राकृत एव जैनिज्म विभाग मे जाने वाले निबन्धों के स्तर में सुधार एवं संख्या मे वृद्धि हो सके।

सम्पर्क-सूत्र :

'जैनालाजीकल रिसर्च सोसायटी' (J. R. S.) के कार्य-संचालन के लिए एक सहयोगी-समिति का भी गठन किया है, जो डा० गोकुलचन्द्र जैन, वाराणसी एव प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन सीहोर को सहयोग प्रदान करेगी। सोसा- के सम्बन्ध में सभी प्रकार की सूचनाएँ प्राप्त करने हेतु इस पते पर पत्र-व्यवहार किया जा सकता है।

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन,
जनरल सेक्रेटरी जे. आर. एस.
कृष्णा निवास, गुरुबाग,
वाराणसी—१ (भारत)

प्राच्य विद्या सम्मेलन का अग्रिम अधिवेशन :

अ० भा० प्राच्य विद्या सम्मेलन का अग्रिम अधिवेशन १९७१ अक्तूबर मे विक्रमविश्वविद्यालय के तत्वावधान मे उज्जैन मे सम्पन्न होगा। इस अधिवेशन मे प्राकृत एव जैनिज्म विभाग के अध्यक्ष डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा चुने गये है। ऐसी आशा है, इस अधिवेशन मे जैन-विद्या के अध्ययन-अनुशीलन मे रत अनेक विद्वान सम्मिलित होगे। शोध-निबन्धो की सख्या भी गत अधिवेशनो से काफी बढ़ेगी। उनका स्तर भी सुधरेगा।

प्रशिक्षण की आवश्यकता :

विगत ५-६ वर्षो से अ० भा० प्राच्य विद्या सम्मेलन के अधिवेशनो मे सम्मिलित होने रहने से एक बात यह स्पष्ट हुई है कि यद्यपि प्राकृत एव जैनिज्म विभाग मे निबन्धो की सख्या मे वृद्धि हुई है, किन्तु उनके स्तर मे कोई वृद्धि दृष्टिगोचर नही हुई। अन्य विषयों के विद्वान तो समय-समय पर अन्य छोटे सम्मेलनो, सेमिनारो आदि मे सम्मिलित होते रहते है। निबन्ध पढ़ते रहते है। अतः उनका स्तर भी सुधर जाता है। किन्तु जैनविद्या के अध्येताओ को ऐसे कम ही अवसर प्राप्त होते है। प्राचीन परम्परा के विद्वानो को तो और भी कम। अत. यह बहुत आवश्यक है कि निबन्ध लेखन मे आलोचनात्मक व काल-विभाजन की दृष्टि को ध्यान मे रखा जाय

'जैनालाजिकल रिसर्च सोसायटी' ने इस प्रकार के निर्देशन के कार्य को करने की घोषणा की है। व्यवहार मे आने पर यह एक शुभकार्य होगा।

दूसरे, जैनविद्या से सम्बन्धित कोई न कोई अ० भा० स्तर पर एक सेमिनार प्रतिवर्ष आयोजित होना चाहिए। उससे भी पर्याप्त जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इधर कुछ समय पूर्व तेरापन्थी महासभा ने 'दर्शन एव सस्कृति परिषद' के आयोजन द्वारा एक ऐसा क्रम प्रारम्भ किया था। किन्तु वह भी अवरुद्ध सा हो गया है। उसे पुनः चालू होना चाहिए। समाज के अन्य वर्गों से भी ऐसे प्रयत्न होना चाहिए। अब ऐसा समय आ गया है कि विद्वानो के निर्माण एव सरक्षण से समाज उदासीन नही रह सकता। अतः समाज का भी उत्तरदायित्व जैनविद्या के प्रचार-प्रसार के कार्यों मे बढ गया है।

समाज का दायित्वबोध :

महानगरी कलकत्ता मे आयोजित इस अधिवेशन मे सम्मिलित विद्वानो एव पठित निबन्धो का उक्त विवरण एक ओर जहाँ जैनविद्या के अध्येताओ के उत्साहवर्द्धन मे सहायक होगा, वहाँ जैन समाज के जागरूक नागरिकों के दायित्वबोध का उत्प्रेरक भी। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण अधिवेशन मे सम्मिलित विद्वानो ने कलकत्ता जैन समाज द्वारा आयोजित विभिन्न स्वागत-सम्मान समारोहो में देखा। श्री जैन सभा ने अधिवेशन के पूर्व से ही विद्वानो से सम्पर्क स्थापित किए। उन्हे हर तरह की सुविधा प्रदान करने के लिए आमन्त्रित किया। इसी का परिणाम था कि विश्वविद्यालय में निवास-भोजनादि की व्यवस्था होते हुए भी अनेक विद्वानों ने जैन समाज के स्नेहपूर्ण आतिथ्य को ही स्वीकार किया। यह एक ऐसा प्रसग था जिसने जैनविद्या के अध्येताओ एव समाज के नागरिकों को पारस्परिक सहयोग के लिए अवसर प्रदान किया।

२६ अक्तूबर ६६ को श्री जैन सभा ने जैन भवन के भव्य प्रागण मे समस्त जैन विद्या के अध्येताओ के स्वागतार्थ आयोजन किया। विद्वानो के परिचय के बाद उन्हे माल्यार्पण एव पुस्तकें आदि भेट देकर समाज ने अपना आदर व्यक्त किया। इस अवसर पर विद्वानों की ओर से भाषण करते हुए डा० आ० ने० उपाध्ये ने कहा—"आपके इस स्वागत-सम्मान से हमारी जिम्मेदारी और बढ़ गयी है। अब हमारा लेखन, मनन और चिंतन न केवल अनुसन्धान से ही सम्बन्धित रहेगा अपितु हमे समाज की समस्याओ के प्रति भी सचेत एवं सक्रिय होना पड़ेगा। आपके इस स्नेह से हम आश्वस्त हुए है कि हमारा अध्ययन-अनुसन्धान साधनों के अभाव मे अब रुकेगा नही।"

जैन सभा के अतिरिक्त दि० जैन महिला परिषद् स्थानकवासी समाज, जैनश्वेताम्बर पचायती मंदिर एवं जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा की ओर से भी समागत विद्वानों का स्वागत-सम्मान किया गया। १ नवम्बर को प्रातः महासभा के स्वागत समारोह मे सम्मेलन के अनेक मनीषी विद्वान् भी सम्मिलित हुए। सम्मान का आभार मानते हुए। इस सम्मेलन के अध्यक्ष डा० पी० एल० वैद्य ने कहा—"मुझे हर्ष है कि जैन धर्म के श्रावक अपनी समाज के विद्वानो को पुनः वह सम्मान और सहयोग प्रदान करने के लिए तत्पर हुए है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण जैन वाङमय समृद्ध हुआ है। हम लोगो ने जैन वाङमय का अध्ययन इसलिए नही किया या कर रहे है कि इसके पीछे कोई आर्थिक लाभ है, अपितु हम यह महसूस करते है कि बिना जैन विद्या के अध्ययन के भारतीय वाङमय और सस्कृति का अध्ययन पूर्ण नही होता।"

इसीदिन शाम को जैनभवन मे विद्वानो एव प्रबुद्ध नागरिको की उपस्थिति मे एक विचार गोष्ठी का भी आयोजन हुआ, जिसमे जैन विद्या के प्रचार-प्रसार से सम्बन्धित अनेक वक्ताओ के भाषण हुए। इन सब आयोजनो के सचालन एवं व्यवस्था मे श्री मिश्रीलाल जैन, श्री कमलकुमार जैन, श्री प० वशीधर शास्त्री, श्री जुगमन्दिरदास जैन, एव श्री श्रीचन्द्ररामपुरिया, भवरलाल नाहटा आदि समाज के प्रमुख व्यक्तियो का सम्पूर्ण सहयोग रहा।

आशा है, आगामी अधिवेशनो मे भी विद्वानो एवं समाज के व्यक्तियो का इसी प्रकार का सहयोग प्राप्त होता रहेगा, जिससे जैनविद्या का अध्ययन-अनुशीलन निरन्तर प्रगति के पथ पर बढ़ता रहेगा। ●

भगवान महावीर का २५सौवां निर्वाण दिवस

पं० परमानन्द शास्त्री

ससार के प्रसिद्ध महापुरुषों मे भगवान महावीर का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने जन कल्याण का जो महत्वपूर्ण कार्य किया वह उनकी महत्ता का स्पष्ट द्योतक है। महावीर ने देश मे फैले हुए सकुचित वातावरण को समुन्नत बनाया, और विचारों में औदार्य लाने के लिए अनेकान्त जैसे सिद्धान्त का प्रचार व प्रसार किया, ऊँच-नीच की भावना का निरसन किया, और जगत को अध्यात्म का वह सन्देश दिया जिससे जनता अपनी भूल को जानने मे समर्थ हो सकी। और आत्म-साधना का जो मार्ग कुठित सा हो गया था उसमें नवजीवन का संचार किया। देश काल की उस विषम परिस्थिति मे जबकि जनता अधर्म को धर्म का रूप मान रही थी, यज्ञादि क्रियाकाण्डो मे जीव हिसा का प्रचार हो रहा था, पशुओ के आर्तनाद से भूमण्डल हिल रहा था। स्त्रियो और शूद्रों को धर्मसेवन का कोई अधिकार न था। बिलबिलाट करता हुआ पशुकुल 'हो कोई अवतार नया' की रट लगा रहा था। ऐसी विषम परिस्थिति में महावीर ने भर जवानी मे राजकीय वैभव का परित्याग किया। और द्वादश वर्ष की कठोर तपश्चर्या द्वारा आत्म-साधना की। और केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) प्राप्त कर ३० वर्ष तक विविध देशो और नगरो मे विहार कर धर्मोपदेश द्वारा लोक का कल्याण किया। जनता ने धर्म-अधर्म के मूल्य को पहिचाना और यज्ञादि हिसा काण्ड का परित्याग किया। महावीर ने जन शोषण और सामाजिक अन्याय अत्याचारके विरुद्ध आवाज बुलन्द की। समता, दया और अपरिग्रह के सिद्धान्त पर अधिक जोर दिया। उन्होंने बताया कि पर पीड़ा से भय और वैर की अभिवृद्धि होती है और मानसिक सन्तुलन बिगड़ता है। विद्वेष की परम्परा सुदृढ होती है। ससार मे सभी को सुखपूर्वक जीने का अधिकार है, सभी को अपने प्राण प्यारे हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता, सभी जीव अभ्युदय के पात्र है, सबको अपने आत्मीय कुटुम्ब की तरह मानना, उनसे प्रेम और समानता का व्यवहार करना सच्ची मानवता है।

ऐसे महान उपकारी परमसन्त की निर्वाण शताब्दी मनाना अत्यन्त आवश्यक है। जन साधारण में उनकी अहिंसा और उनके सदुपदेशो का प्रचार करना, उन्हे जीवन मे उतारना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है।

जैन समाज का कर्तव्य है कि भगवान महावीर की २५ सौवी निर्वाण शताब्दी को सगठितरूप मे प्रेम से मनाने के लिए दृढ प्रतिज्ञ रहे। श्रीमती इदिरा गान्धी प्रधानमत्री भारत सरकार की अध्यक्षता मे जो रूप-रेखा १३ दिसम्बर को अहिंसा भवन शकर रोड मे बनाई गई है उसे पल्लवित कर देश और विदेश के विद्वानो और महापुरुषो को सम्मिलित कर उसे विशाल अन्तर्राष्ट्रीय रूप देना चाहिए। उसमें सभी का सहयोग वाछनीय है, साम्प्रदायिक व्यामोह से दूर रहकर जनता मे महावीर के सिद्धान्तो को प्रचार करने का उपक्रम करना चाहिए। मुनि श्री सुशील कुमार जी इस पुनीत कार्य मे सलग्न है। महावीर का असाम्प्रदायिक जीवन परिचय और उनके सिद्धान्तो का सक्षिप्त मौलिक रूप को विविध भाषाओ मे प्रकाशित कर जनसाधारण मे प्रसारित करना चाहिए। जिससे जनसाधारण महावीर के वास्तविक स्वरूप से परिचित हो सके। दिगम्बर समाज का खास कर्तव्य है कि वह निर्वाण शताब्दी की योजना मे भाग ले और उसे सफल बनाने का प्रयत्न करे। साथ ही ऐसी कोई ठोस योजना संयोजित करे, जिससे महावीर के सिद्धान्तो का प्रचार हो सके। आशा है विद्वत् परिषद् इस सम्बन्ध मे अपनी कोई ठोस योजना निर्धारित कर कार्य करेगी।

●

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २२ किरण ५ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | दिसम्बर
वीर निर्वाण सवत् २४९६, वि० सं० २०२६ | १९६९

श्री आदिनाथ स्तुति

(सवैया मात्रा ३२)

ज्ञान जिहाज बैठि गनधर से, गुनपयोधि जिस नाहिं तरे हैं।
अमर समूह आनि अवनीसौं, घसि घसि सीस प्रनाम करे हैं।
किधौं भाल-कुकरम की रेखा, दूर करन की बुद्धि धरे हैं।
ऐसे आदिनाथ के अहनिस, हाथ जोरि हम पांय परे हैं ॥१॥

काउसग्ग मुद्रा धरि वनमैं, ठाड़े रिषभ रिद्धि तजि दीनी।
निहचल अंग मेरु है मानौं, दोउ भुजा छोर जिन दीनी।
फंसे अनंत जंतु जग चहले, दुखी देखि करुना चित लीनी।
काढ़न काज तिन्हैं समरथ प्रभु, किधौं बांह ये दीरघ कीनी ॥२॥

करनौं न कछु करन तें कारज, तातें पानि प्रलंब करे हैं।
रह्यौ न कछु पांयन तै पैवो, ताहीतैं पद नाहिं टरे हैं।
निरख चुके नैनन सब यातें, नैन नासिका अनी धरे है।
कहा सुनें कानन यों कानन, जोगलीन जिनराज खरे हैं ॥३॥

—कविवर भूधरदास

"अनेकान्त" में प्रकाशित रचनाएँ

[१ ये रचनाएँ इस पत्र की अब तक की २१२ किरणों में प्रकाशित हैं, जिन्हें १० वर्गों में अकारादि क्रम से रखा गया है।

२ रचना और उनके लेखक के बाद लिखे गये अंकों में प्रथम अंक वर्ष का और द्वितीय अंक पृष्ठ का सूचक है।

३ धारावाहिक रचनाओं को प्रायः एक ही बार लिख कर उनके वर्ष और पृष्ठ के अंक अलग-अलग दिये गये हैं।

४ इन रचनाओं के आधार पर निकाले गये कुछ आंकड़े और नतीजे, इसी अंक में प्रकाशित मेरे लेख "अनेकान्त" द्वैमासिक : एक दृष्टि में देखे जा सकते हैं।

५ इस सूची और (लेखक-सूची) को तैयार करने में मेरे प्रिय शिष्य सर्व श्री सत्यनारायण तिवारी, अरुण सराफ, अरुण भट्ट तथा अरविन्द जैन आदि ने बहुत श्रम किया है, जिसके लिए उन्हें हृदय से आशीर्वाद देता हूँ।]

१. सैद्धांतिक (धर्म, दर्शन, न्याय, व्याकरण)

गोपीलाल 'अमर'

आ

इ

उ

ऊ

ड

ण

त

२. साहित्य

ग

म

३. पुरातत्त्व (इतिहास, संस्कृति, स्थापत्य, कला)

य

र

स

४. समीक्षा

५. कहानियां

६. कविताएँ

७. व्यक्तिगत (परिचय, अभिनन्दन आदि)

८. सामयिक

ल

श

स

ह

९. विविध

अ

★

१०. संकलन

'अनेकान्त' के लेखक

गोपीलाल 'अमर'

१. इन लेखकों की रचनाएँ मूल, अनूदित या उद्‌धृत रूप में, इस पत्र की अब तक की ३१२ किरणों में प्रकाशित हुई हैं।
२. लेखक के बाद लिखे गये अंकों में प्रथम अंक वर्ष का और द्वितीय अंक पृष्ठ का सूचक है।
३. कुछ लेखकों का नाम या नामांश भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाशित हुआ है, उदाहरण के लिए श्री जुगलकिशोर को कभी सिर्फ 'युगवीर' लिखा गया है ऐसी स्थिति में यथासभव समीकरण करके एक ही नाम को सूचीबद्ध किया गया है।
४. अकारादि क्रम में मूलनाम को मुख्य माना गया है। नामों के आदि में लगे 'श्री', 'पं.', 'डा०', 'प्रो.' आदि को इसीलिए कोष्टक में रखा गया है।
५. अंग्रेजी वर्णों को हिन्दी उच्चारण के आधार पर ही अकारादि क्रम में रखा गया है, उदाहरण के लिए 'बी. एल. सराफ' को 'ब' के अन्तर्गत रखा गया है, न कि उनके पूरे नाम 'भैयालाल सराफ' के अनुसार 'भ' के अन्तर्गत।

अ

अक्षयकुमार जैन— १९।१८
(श्री) अखिल— १२।३६६
अखिलानन्द रूपराम शास्त्री— ८।१३८
अखलेश ध्रुव— ६।१८९
अगरचन्द नाहटा–२१।१७२, २१।३९, २१।१३४, २१।११० २१।१६८, २१।२३५, २०।२०७, १९।३६७, १९।८१, १९।२९४, १८।२३८, १८।१५८, १८।५९, १७।१०, १७।६१, १७।२२६, १६।७६, १६।१३६, १६।१८८, १६।२३७, १६।२८१, १५।६८, १५।२८२, १५।२२९, १५।१६०, १४।२०९, १४।१७०, १४।२३२, १४।१९९, १४।३००, १४।१६२, १३।७२, १३।१०७ १२।२८८, १२।२४७, १२।११३, १२।२२७, ११।१२८, ११।२४८, १०।३३१, १०।३२७, १०।१६, १०।२७१, १०।४०७, ९।१०८, ९।२२२, ८।१३९, ८।४४. ८।४५७, ८।४५६, ७।६०, ६।६५, ६।३०९, ५।४९, ५।३२१, ४।४७०, ४।१४५, ४।५४५, ४।३३६, ४।६१०, ४।३८९, ३।६४०, ३।४९४, ३।२९३, ३।४९८, ३।१४९, २।५४३, २।१५५ २।२५०
(पं.) अजितकुमार शास्त्री–१४।२३०, १२।१३०, ८।४१, ६।१८०, ५।१६८, २।६९
अजितप्रसाद जैन एडवोकेट—४।२४३, ४।६५, २।५९०

प

फ

ब

'अनेकान्त' द्वै मासिक : एक दृष्टि में

गोपीलाल 'अमर'

अनेकान्त का रहस्य—

भारतीय संस्कृति का अमर संदेश देने वाली पत्रिकाओं में 'अनेकान्त' का स्थान उल्लेखनीय है। आज जब संस्कृति के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन हो रहे है तब भारतीयता के शाश्वत मूल्यों की सुरक्षा और संपोषण एक चुनौती बन गया है। इस चुनौती का मुकाबला 'अनेकान्त' जैसी पत्रिकाएं बखूबी करती आयी हैं। खास बात ये है कि इस पत्रिका ने हमारी सांस्कृतिक धरोहर की सुरक्षा और संपोषण के साथ उसका परिष्कार भी किया है; परिस्थितियों के बदौलत आ घुसे अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक तत्वों को हमारी संस्कृति से रुखसत करने में 'अनेकान्त' ने सख्तीसे काम लिया है; तर्कसंगत और प्रत्यक्षसिद्ध बातों को, किसी भी परम्परा के विरुद्ध पड़ने पर भी साहस के साथ मंजूर किया है। फलस्वरूप, 'अनेकान्त' को जितनी प्रसिद्धि संस्कृति के संरक्षक और व्याख्याकार के रूप मे मिली उससे भी अधिक प्रसिद्धि संशोधक और समालोचना के रूप में मिली। और यही 'अनेकान्त' की अनेकान्तता का रहस्य है।

'अनेकान्त' की आपबीती—

मैगजिन साइज की ४४ पृष्ठीय मासिकी और ४८

पृष्ठीय द्वैमासिकी 'अनेकान्त' का ४० वर्ष का जीवन, दरअसल जैन समाज के पुनर्निर्माण की एक घटनापूर्ण कहानी है जिसका लिखा जाना आज भी बहुत बाकी है। पुनर्निर्माण के दौरान प्रतिक्रियावादी और उदासीनतावादी तत्त्वों ने जिन चीजों पर कुठाराघात किया उनमें एक 'अनेकान्त' भी हैं। यही कारण है कि ४० वर्षों के जीवन में यह पत्रिका २१ वर्ष चार माह ही सक्रिय रह सकी। २४५६ वी० सं० (१६२६ ई०) में समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा मन्दिर), दिल्ली से स्व. जुगलकिशोर मुख्तार के नेतृत्व में प्रथम बार प्रकाशित 'अनेकान्त' एक वर्ष तक प्रतिमाह आया और आर्थिक संकट में उलझकर, सरसावा (उ० प्र०) में स्थानान्तर के बावजूद आठ वर्ष तक निष्क्रिय पड़ा रहा। स्व० बाबू छोटे लालजी स्व० लाला तनसुखराय जैन आदि के आर्थिक संपोषण से १-११-१६३८ को फिर चल पड़े, 'अनेकान्त' को सात वर्ष बाद फिर लड़खड़ाता देख भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ने एक वर्ष संचालित किया। पांच माह में कुछ शक्ति संचय करके वह जुलाई' ४९ से चला ही था कि पुनः दिल्ली लाये जाने के बावजूद उसे आर्थिक संकट ने लगभग दो वर्ष को रोक दिया। और, इसी तरह रुकता-चलता 'अनेकांत' जुलाई, ५७ तक, जीवन के २८ वर्ष में सिर्फ १४ वर्ष सक्रिय रहकर लगभग पांच वर्ष को निष्क्रिय हो गया। अप्रैल' ६२ से, समन्तभद्राश्रम (वीरसेवा मन्दिर), दिल्ली से ही यह पत्रिका द्वैमासिकी के रूप मे पुनः प्रकाशित होती आ रही है।

कुछ आंकड़े, कुछ नतीजे—

प्रस्तुत अंक 'अनेकान्त' का विशेष रूप से संग्रहणीय अंक होगा। कुछ दिन पहले, 'अनेकान्त' के प्राणाधार पं० परमानन्द शास्त्री को मैंने सुझाव दिया था कि वे पत्रिका मे अब तक प्रकाशित रचनाओं की और उनके लेखकों की वर्गीकृत सूचियां प्रकाशित करें, जिसे अपनी समिति से मंजूर कराकर उन्होंने उसका उत्तरदायित्व मुझे ही सौंप दिया। दोनों सूचियों के आधार पर कुछ आंकड़े और नतीजे प्रस्तुत हैं।

(१) लगभग ४० वर्ष के जीवन में 'अनेकान्त' २१ वर्ष चार माह सक्रिय रहा।

(२) उसके २१२ अंक (किरणें) प्रकाशित हुए, १६८ मासिक और ४४ द्वैमासिक।

(३) इनमें महात्मा गांधी, श्रीमद् रायचन्द्र, स्वनामधन्य गणेशप्रसाद वर्णी, सर्वश्री काका कालेलकर, जैनेन्द्रजी आदि २७ लेखकों ने २१५ रचनाएं प्रस्तुत कीं।

(४) विषयक्रम से रचनाओं की संख्या है :

(१) सिद्धान्त (धर्म, दर्शन, न्याय, व्याकरण): ३६२

(२) साहित्य : ५०३

(३) पुरातत्व (इतिहास, संस्कृति, स्थापत्य, कला) : ४६१,

(४) समीक्षा : ७६,

(५) कहानी : ५०,

(६) कविता : १२७,

(७) व्यक्तिगत (परिचय, अभिनन्दन, श्रद्धांजलि आदि) : १६१,

(८) सामयिक : ३०४,

(९) विविध : १३५,

(१०) संकलन : १६३,

(५) वर्षक्रम से रचनाओं की सख्या है : १ : १५१; २ : १७६; ३ : १५३; ४ : १६५; ५ : १०३; ६ : १७१; ७ : ६६; ८ : १०६; ९ : १०६; १० : ६५; ११ : १२६; १२ : ६४; १३ : १०८; १४ : १०६; १५ : ७३; १६ : ५७; १७ : ६५; १८ : ७३; १९ : ११०; २० : ५४; २१ : ८५; २२ : (दो अक) : २८

(६) कुछ लेखकों की रचना संख्या उल्लेखनीय है : पं० परमानन्द शास्त्री : २२५, आ० जुगलकिशोर मुख्तार : १०४, श्री भगवत् स्वरूप भगवत् : ७७, श्री अगरचन्द्र नाहटा : ६७, डॉ० दरबारीलाल कोठिया : ६१, श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय : ३६, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : ३४, पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री : ३३, पं० नाथूराम प्रेमी : ३२।

(७) कुल २२६० में से सिद्धांत, साहित्य और पुरातत्व पर १३०० रचनाएं हैं। शेष ६६० में सभी रचनाएं लघुकाय हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'अनेकान्त' में दो तिहाई से अधिक सामग्री सिद्धान्त, साहित्य और पुरातत्व पर प्रकाशित होती है।

(८) एक निष्कर्ष यह भी है कि 'अनेकान्त' के जीवन में पं० परमानन्द शास्त्री का योगदान अत्यन्त व्यापक और बुनियादी है। २२५ खोजपूर्ण तथा बृहदाकार लेखों के असाधारण उपहारकर्ता श्री शास्त्री कभी व्यवस्थापक, कभी प्रकाशक और कभी सम्पादक के रूप में 'अनेकान्त' को आगे बढ़ाते हैं। उन्हें 'अनेकान्त' का 'दूसरा मुख्तार' कहना उपयुक्त होगा।

(९) इधर के कुछ अंक देखने से पता लगता है कि 'अनेकान्त' की हालत पहले की अपेक्षा आज अधिक नाजुक है। पहले उसे पैसे का ही टोटा रहता था, अब रचनाओं का भी टोटा रहने लगा है। इसके कई कारण हैं जिनपर रोशनी डालना यहां शायद बेमौके होगा।

आशा है, इस लेख तथा इसी अंक में प्रकाशित दोनों सूचियों से विद्वज्जगत् लाभान्वित होगा और 'अनेकान्त' का महत्व स्पष्टतर होगा। विद्वानों को अनेकान्त के लिए अपनी बहुमूल्य रचनाएं भेजनी चाहिए। और समाज को उसके अधिक से अधिक सदस्य बनकर अनेकान्त की प्रगति में सहयोग देना आवश्यक है। ★

आत्मा का देह-प्रमाणत्व

डा० प्रद्युम्नकुमार जैन

जैन दर्शन भारतीय दर्शन के इतिहास मे अपनी दार्शनिक मान्यताओं की विलक्षणता के लिए विख्यात है। जैन दर्शन का प्रत्येक मुद्दा अनेकानेक ऐतिहासिक एवं तार्किक-गुत्थियों का समुच्चय है, जिसे तनिक भी जल्दबाजी मे समझने की कोशिश अनेक गलतफहमियां पैदा करने का कारण हो सकती है। आत्मा एक ऐसा ही मुद्दा है जिसके सम्बन्ध में जैनदर्शन का वैलक्षण्य सर्वविदित है। इस वैक्षणण्य पर जब जल्दबाजी में एकांगी दृष्टिकोण से विचारने का प्रयास किया जाता है, तभी तत्सम्बन्धी भ्रांतियों का जन्म होता है। जैनों की आत्मसम्बन्धी संबोधना वस्तुत: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तार्किक समीचीनता की उद्भावना है। अनेकान्तवादी जैन दृष्टि तत्कालीन सभी दृष्टियों की एक ऊहात्मक समष्टि है। आत्मा की सम्बोधना उसी ऊहात्मक समष्टि का एक प्रमुख घटक है, जो अपनी समष्टि की ही प्रकृत्यानुरूप स्वय भी सार्वभौमिक एवं बहुमुखी है। अतः जैन दर्शन की आत्म-सबधी व्याख्या ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे ही समझी जा सकती है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही उसकी ऊहा की बहुमुखी प्रकृति झांकी भी जा सकती है।

प्रस्तुत निबन्ध में स्थानाभाव के कारण आत्म-तत्त्व की विशद व्याख्या तो करना सम्भव नही है, किन्तु तत्सम्बन्ध में जिस बिन्दु पर बाल चितकों को सर्वाधिक विसंगति का आभास होता है उसी का विशदीकरण यहां अभिप्रेत है। आत्मा के स्वरूप को सूत्रबद्ध करते हुए जैन दार्शनिकों ने उसे निम्न प्रकार प्रकट किया है :—

(१) जीवो उपयोगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥[1]

अर्थात्—(आत्मा अथवा) जीव उपयोगमयी, अमूर्त, (कर्मों का) कर्ता, देहप्रमाण रहने वाला। (कर्मफल का) भोक्ता तथा सिद्ध है तथा स्वभाव से ऊर्ध्वगति वाला है।

(२) अणुगुरु देहप्रमाणो उपसहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंख देसो वा ॥[2]

अर्थात् व्यवहारनय से चिदात्मा संकोच विस्तार गुण के कारण, समुद्घात के सिवाय अन्य सब अवस्थाओं में प्राप्त हुए छोटे या बड़े शरीर के प्रमाण ही रहता है। और निश्चयनय से (लोक के बराबर) असंख्य प्रदेशी है।

---

१. द्रव्य संग्रह, २
२. वही, १०

(३) विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्ख्यं च केवलं विरियं।
केवल दिट्ठि अमुत्तं अत्थित्त सप्पदेशत्तं ॥[३]

अर्थात्—(निर्वाणावस्था में) आत्मा केवल ज्ञान, केवल सुख, केवल वीर्य, केवल दर्शन में विद्यमान होता है। तथा वह अमूर्त, अस्तित्ववान एवं सप्रदेशी होता है।

उपर्युक्त वर्णिति आत्मा सम्बन्धी अनेक धर्मों में सब से अधिक विवादास्पद एवं विलक्षण धर्म आत्मा का सप्रदेशी अथवा देह-प्रमाण होना है। सामान्यतः यह सभी मानते हैं। कि आत्मा भौतिक पदार्थों से भिन्न अमूर्त और चैतन्य स्वरूप है, किन्तु भौतिक शरीर के तुल्य आकार वान कैसे हो सकती है, जनसामान्य को समझाने में कठिनाई होती है। परिणाम स्वरूप कोई-कोई जन जैन सम्मत आत्मा को चार्वाक सम्मत भौतिक पदार्थ के समान ही मान लेते है। यद्यपि यह जैनों का आत्मा सम्बंधी आकार वाद कोई उन्ही की मनः प्रसूत कल्पना नहीं है, बल्कि महावीर कालीन अन्य मतों में भी उसकी विभावना है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा है कि जैसे तलवार अपनी म्यान में और अग्नि अपने कुंड में व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा अपने शरीर में नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है[४]। 'तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, सभी आत्माओं को शरीर में प्रमाण बताया गया है।[५] 'बृहदारण्यक' में आत्मा जो या चावल के दाने के परिमाण की है।[६] 'कठोपनिषद' में आत्मा को अंगुष्ठ मात्र घोषित किया गया है।[७] 'छांदोग्य' में उसे बालिस्त प्रमाण माना गया है।[८] फिर जब इन सभी विभावनाओं में ऋषियों को कुछ असंगति दृष्टिगोचर हुई तो फिर विभिन्न उपनिषदों में आत्मा को अणु से भी अणु और महान् से भी महान् मानकर संतोष किया गया।[९] बौद्धों ने भी पुद्गल को देह-प्रमाण स्वीकार किया है। चार्वाक तो स्पष्ट ही चैतन्य को देह-प्रमाण मानते हैं। इन सारे उद्धरणों के प्रकाश में यह समझना तो अब आसान है कि जैनों द्वारा मान्य आत्मा का आकारवाद कोई उनकी ही विभावना नहीं है। जैनों ने सिर्फ तत्कालीन प्रचलित मान्यताओं को एक तार्किक संहृति में निविष्ट करने का प्रयत्न किया है।

आत्मा के आकार को स्वीकारने के पीछे से पहली तार्किक पृष्ठ-भूमि द्रव्य की परिभाषा है। द्रव्य के लक्षण में सत् का नामोल्लेख किया गया।[१०] इस परिभाषा से यह फलित हुआ, कि 'जो द्रव्य है वह सत् है।' फिर सत् की तार्किक और व्यावहारिक स्थिति क्या है? यह भी स्वतः फलित होता है कि सत् वह है जो ज्ञान का साक्षात् विषय हो सके। यथार्थ ज्ञान का विषय तभी हो सकता है जब कि वह देश और काल में अवस्थित हो, क्योंकि बिना देश और काल में अवस्थित हुए कोई विषय चिंतनीय नहीं हो सकता। देश-काल मे अवस्थित का तात्पर्य है कि विषय का कोई न कोई आकार होना। साकारता दार्शनिक याथार्थ्य की अनिवार्य अनुमिति है।

अब समस्या यह है, कि जब द्रव्य के लिए सत्, सत् के लिए देश-काल सापेक्षता और देश-काल सापेक्षता के लिए साकारता अनिवार्य है, तो आत्मा के सम्बन्ध में दो ही विकल्प संभव हैं। या तो आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाये या न माना जाये। यदि माना जाता है तो उसकी अनिवार्य अनुमिति अथवा उसका साकार होना मानना आवश्यक है। जब उसे साकार माना जाता है तो उसे आकाश की अपेक्षा कितना प्रदेशो माना जाए। यह प्रश्न सहज ही उठता है, जिसे उत्तरित करने के लिए कभी आत्मा को शरीर प्रमाण, कभी अंगुष्ठमात्र, कभी बालिस्त प्रमाण और कभी अणु प्रमाण माना गया। जैनों का कहना है कि जब आत्मा का आकार मानना आवश्यक ही है, तो उसे शरीराकार तुल्य एक क्षेत्रावगाही मानना न्याय संगत हैं, क्योंकि यदि हमने आत्मा को शरीराकार के प्रदेशों से अधिक मान्य किया तो उसके उन अतिरिक्त प्रदेशों में उनका शारीरिक आधार क्या माना जाएगा?

---

३. नियमसार, १८१
४. कौषीतकी०, ४–२०
५. तैत्तरीय०, १–३ ब्रह्मनन्दन बल्ली ५ अनु० पर्यन्त।
६. बृहदा०, ५–६–१
७. कठो०, २–१–१२
८. देखिये दलसुख मालवणिया कत आत्म मीमांसा पृ. ४५
९. कठो० १–२–२०, छान्दो० ३–१४–३, श्वेता, ३–२०, मैत्री० ६–३८
१०. तत्वार्थ सूत्र, ५–२९

यदि कहा जाए, कि इन अतिरिक्त प्रदेशों मे उसे शारीरिक आधार की आवश्यकता ही नहीं, तो प्रश्न है कि उसे शरीर के आधार की कुछ प्रदेशों में ही आवश्यकता क्यों ? जब आत्मा को शरीर की उपाधि के साथ ही संलग्न रखना है तो उससे अधिक प्रदेशों में फैलने की कल्पना करना ही उसके लिए क्यो आवश्यक है ? दूसरे, आत्मा शरीर प्रदेशों से अतिरिक्त प्रदेशों में फैले होने का कोई नैयायिक आधार भी नहीं है। यदि उसे शरीर प्रमाण से कम यथा अंगुष्ठ या बालिस्त या अणु प्रमाण माना जाता है, तो प्रश्न उठता है, कि ऐसा निर्णय किस आधार पर किया गया ? क्या किसी सांवेदनिक अनुभूति के आधार पर ? परन्तु संवेदना शारीरिक इंद्रियों की क्रिया है। तो क्या जो विषय इंद्रिय-प्रदेशों से अभिन्न नहीं है, उसकी संवेदना की जा सकती है ? निश्चित ही इंद्रिय-सवेदना के अभाव में वह सम्भव नही। यदि यह माना जाए, कि आत्मा अपना परिमाण इंद्रिय-निरपेक्ष होकर स्वतः प्रमाण से निर्णीत करती है, तो फिर इंद्रिय-निरपेक्षता में उसे अंगुष्ठ, बालिस्त आदि इन्द्रियो की ही सापेक्षता में प्रकट करना क्या स्वतो-व्याघाती बचन नहीं है ? और फिर उसे शरीर से कम आकार का स्वीकारने मे तार्किक उपलब्धि क्या है ? यदि आत्मा शरीर प्रदेशो के साथ एकक्षेत्रावगाही नहीं है, तो वह शारीरिक क्रियाओ का सचालन किस प्रकार करती है ? आत्मा फिर शारीरिक आचरण की उत्तरदायी भी किस प्रकार है ? इसी लिए जैन आत्म-चेतन्य को शरीराकार से निबद्ध मानते हैं। एकक्षेत्रावगाही होकर शरीर और चैतन्य एक नई सृष्टि को जन्म देते हैं जिसे ही आधुनिक पदावली मे प्रोटोप्लाज्म और बौद्धों और चार्वाकों की केवल यही विसंगति है कि बे इस निबद्ध चैतन्य को शरीर की ही उपज मान लेते हैं जब कि चैतन्य की तात्विक सत्ता शरीर से सर्वथा भिन्न है। जिस प्रकार दूध और पानी मिलकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं और उनका आकार एक दूसरे के तुल्य हो जाता है, फिर भी दूध और पानी दोनों की तात्विक सत्ता सर्वथा प्रथक ही रहती है। ठीक वही हाल चैतन्य और शरीर का है। दोनोंके स्वरूपमें भेद केवल इतना है कि चैतन्य अमूर्त होता है और शरीर मूर्त। यहां अमूर्त का तात्पर्य आकार रहित होना नहीं है बल्कि पुद्गल की स्थूलरूप की शून्यता है। तात्पर्य यह कि शरीर स्थूलाकार होता है और आत्मा शून्याकार। आकार दोनों का ही विशेष्य है जो समान प्रदेशी होकर ही न्याय संगत बनता है।

यह तो स्थिति हुई उन मतों की, जो शरीर और चैतन्य को तत्वतः पृथक मानते हैं। द्वैत वेदान्त आदि शरीर और चैतन्य की तत्वत: दो सत्ताएं नहीं मानते। देहात्म उनकी निगाह में उपहित चैतन्य है। खैर, अद्वैत वेदान्त की कुछ भी दार्शनिक स्थिति हो, लेकिन उनकी ऊहा के द्वारा ही व्यवहार दृष्टि में जो शरीर नामांकित किया जाता है और उसके माध्यम से जिस चैतन्य का सकेत होता है वे दोनों वस्तुतः एक ही सत्य के दो पहलू बनते है और दोनों पहलू वस्तुत: एक ही आकार में निबद्ध कहे जा सकते है। इस प्रकार चाहे प्रकारान्तर से ही सही, चैतन्य को देह—प्रमाण मानना वेदान्त को भी अभिप्रेत है। अब मुक्तावस्था मे इस चैतन्य के देह-का क्या होता है, यह आगे चर्चित करेंगे, परन्तु संसारी अवस्था में चैतन्य को देह- प्रमाण के अतिरिक्त किसी रूप मे मानना तर्कसंगत नहीं होता।

चार्वाक आदि जो मत आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते, उनके उक्त मत में चाहे अन्य कठिनाइयाँ भले ही हो, किन्तु चैतन्य का देह-प्रमाण मानना उनके लिए भी सुकर है। क्योकि चैतन्य को जब शरीर की उपज माना जाता है, तो वह उपज या तो शरीर के किसी एक भाग की होगी या सम्पूर्ण शरीर की ? चैतन्य की उपज हो जाने से ही शरीर के अवयव जीवंत कहे जाते हैं। तो यदि वह उपज शरीर के किसी एक भाग की कही जाएगी, तो निश्चित ही शरीर के अन्य अग जीवंत नहीं हो सकते जो कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। यदि चैतन्य की उपज सम्पूर्ण शरीर से मानी जाए और वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो, तो स्पष्ट ही चैतन्याकार शरीराकार के तुल्य हुआ। यदि उसे सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं माना जायगा, सम्पूर्ण शरीर उसके अभाव में मृत हो जायगा। यदि यहां पर यह कहा जाए कि सम्पूर्ण अथवा कुछ शरीर से उत्पन्न हो कर चैतन्य शरीर में किसी एक बिंदु पर अपने को

केन्द्रीयभूत कर लेता है और वहीं से सम्पूर्ण शरीर का संचालन करता है, तो फिर प्रश्न उठता है, कि उत्पन्न हो कर चैतन्य क्या अपने मूल शारीरिक अवयव से सर्वथा पृथक हो जाता है ? यदि यह प्रथक हो जाता है और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व धारण कर लेता है, तो क्या स्वतन्त्र अस्तित्व द्रव्य के अतिरिक्त भी किसी का हो सकता है ? निश्चित ही नहीं, गुण, जैसा कि आत्मा को चार्वाक जैसे विचारक मानते हैं अपने द्रव्य से पृथक अस्तित्व नहीं रख सकता। अतः न्यायतः आत्मा अपने उत्पन्नकर्त्ता अंग से पृथक हो कर कहीं का अन्यत्र केन्द्र भूत नहीं हो सकता। उसे अपने जनक अगों के साथ पूर्ण प्रदेशी रूप में व्याप्त रहना आवश्यक है। इस प्रकार चार्वाकों के अपने न्याय के अनुसार ही आत्मा स्वदेह प्रमाण है। देहेतर प्रमाण न्याय सगत नहीं।

सीधी सी बात है, कि जब आत्मा आकार उसके सद्स्वरूप होने की दूरष्ट्रया मानना आवश्यक है, साथ ही उसके शरीर के साथ पारस्परिकता भी अभिप्रेत है, तो उसके आकार-प्रदेशों और शरीर के आकार-प्रदेशों को एक ही मानने में झिझक क्यों ? दोनों ही वस्तु-सत्य एक-क्षेत्रावगाही होकर एक आकार का सृजन करते है, जिसके आत्मगत स्तर पर अमूर्त या शून्याकार और शरीर गत स्तर पर मूर्त या स्थूलाकार की संज्ञा प्रमाणित होती है। व्यवहार दृष्टि मे उक्त आत्म-दैहिक आकार एक ही है, जबकि तत्व-दृष्टि मे वे दो हैं। कर्म-ग्रंथियों का प्रणयन इन्हीं दोनों आकारों की पारस्परिकता का परिणाम है। आत्म-प्रदेश अनादि काल से शरीर-प्रदेशों से ही अनुस्यूत या परिमाणित होते आये हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं, कि आत्म-प्रदेश पौद्गालिक शरीर प्रदेशों से तत्वतः पैदा होते आए हैं। पैदा तो तत्वतः कोई किसी से पैदा नहीं होता लेकिन प्रदेश की परिभाषा पुद्गलाणु की अपेक्षा से ही की जाती है। यानी एक प्रदेश आकाश का वह घेरा है जोकि एक पुद्गल परमाणु से आच्छादित हो जाता है[11]। इस प्रकार प्रदेश की सम्बोधनों का पुद्गल-सापेक्ष होने के कारण आत्मा के आकार का निर्धारण शरीरकार की अपेक्षा से किया जाता है। इसी अपेक्षा-भेद से आत्मा को शरीर का रूप कहा जाता है, जबकि अन्य विवक्षा से यदि कोई बनाई जाए, शरीर को आत्माकार रूप भी कहा जा सकता है। इस प्रकार शरीर और आत्मा के आकार एक दूसरे से पैदा नहीं होते, अपितु विवक्षित होते हैं। पैदा तो वे अनादिकालीन पारस्परिकता से स्वय होते हैं और स्वतः ही अनेकाकार रूप परिणमित होते जाते हैं।

अब प्रश्न आता है निर्वाणावस्था में आत्मा के आकार का। इस प्रश्न का सुलझाव तभी ठीक प्रकार हो सकता है जबकि हम अब तक की कुछ तार्किक प्रस्थापनाओं को कस कर पकड़े रहें, अन्यथा अर्थांतर हो जाने की पूरी सम्भावना है। अतः आइये उन स्थापनाओं को एक बार पुनः स्पष्ट करले और स्वीकार करलें।

स्थापना सं० १—द्रव्य सत् है, सत् द्रव्य है।

२—जो सत् है वह असत् नहीं हो सकता और ऐसा ही विलोम। अथवा सत् तत्वतः विनष्ट नहीं होता।

३—सत् देश-काल सापेक्ष है, अतः—

(क) वह साकार है,

(ख) वह चिन्तनीय है, विधेय है।

४—द्रव्य की तात्विक सत्ता है, अतः द्रव्य तत्व रूप से स्वागत है और पर निरपेक्ष भी।

अब इन स्थापनाओं के दार्शनिक औचित्व की ऊहापोह में तो यहां नहीं जाना है, अपितु यह मान कर चलना है कि जैन दर्शन इनके औचित्य को स्वीकार करके चलता है। इनके दार्शनिक औचित्य की ऊहापोह का एक अलग विषय ही है। इन स्थापनाओं की दृष्ट्या आत्मा की निर्वाणावस्था के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उठते हैं। उसमें शरीर का अत्यन्त क्षय हो जाता है, फिर आत्मा के आकार की क्या स्थिति रहती है ? जैनों के लिए इसका अन्तर कोई अधिक पेचीदा नहीं। पहले ही कहा जा चुका है, कि संसारी अवस्था में दो आकारों की एकाकारिता होती है। आत्मा का शून्याकार एक ओर तो शरीर का स्थूलकार दूसरी ओर। निर्वाण में जब शरीर का स्थूलकार क्षय हुआ, तो आत्म-द्रव्य का शून्याकार शेष रह गया। द्रव्य होने के कारण उसका तो विघटन नहीं माना जा सकता। अतः सिद्ध केवल शून्याकार रूप होता है। अब प्रश्न उठता है

११. वही ५–१४

कि उक्त शून्याकार कितने प्रदेश प्रमाण माना जाए ? स्थूलकार तो अब निःशेष हो चुकता है, जिसकी अपेक्षा लेकर अब तक शून्याकार के प्रदेश निर्दिष्ट किए जाते रहे, तो फिर क्या उक्त विवक्षा के अभावमें आत्माकार को अप्रदेशी अथवा सम्पूर्ण लोकाकाश प्रदेशी कह दिया जाए? अप्रदेशी कहने में कठिनाई यह है, कि अभी तक उसकी सप्रदेशता सत् कही गई थी और वह सप्रदेशता सत् के लिए आवश्यक भी मानी गयी थी (स्थापना सं. ३), फिर उक्त सत् की सप्रदेशता सहसा असत् कह देने से क्या स्थापना सं० १ व २ बाद नहीं हो जाता ? और फिर जैसाकि पूर्व में स्पष्ट भी किया, आत्माकार की सप्रदेशता शरीर की उपज नहीं है। वह तो केवल शरीराकार द्वारा विवक्षित मात्र थी। सप्रदेशता तो "सद्द्रव्य लक्षणम्" की अनुमति है। शरीर की तो नहीं। उसी प्रकार जैसे कि अखंड आकाश को अंगुल, बालिस्त आदि की विवक्षा से आंका और कहा जाता है, पैदा तो नहीं किया जाता, उसी प्रकार आत्माकार को शरीरकार से आंका और कहा जाता है। वस्तुतः आत्माकार शरीराकार के अनुसार ढलता नहीं, अपितु अपने भाव-कर्मोदय के निमित्त से वह स्वयं आकार परिवर्तन करता हुआ पुद्गल-परमाणुओं को तदुनसार संगठित होने का निमित्त देता है। इस प्रकार उभयाकार एकाकार हो जाते हैं। इससे न्यायतः यह तय होता है कि निर्वाणावस्था में सिद्धात्मा अप्रदेशी नहीं हो जाती।

चूंकि आत्मा का अप्रदेशी होना न्याय-विरुद्ध है, तो इसके अप्रदेशीपन का परिणाम कितना माना जाए ? कुछ के अनुसार उसका शून्याकार विश्व रूप मान लेना उचित है। कुन्दकुन्द आदि अनेक जैनाचार्यों ने भी निश्चय नय से उसे लोकाकाश के प्रदेश-संख्या के तुल्य व्यापक माना है। परन्तु यह विकल्प एकान्त रूप से सब के गले नहीं उतरता। इसका न्याय यह है कि अब तक आत्म-द्रव्य के आकार का अन्तरण उससे सम्बद्ध नाम और आयु कर्म के निमित्त से होता था। चूंकि निर्वाण प्राप्ति के प्रथम क्षण पर उक्त कर्मों का अत्यन्त विनाश हो गया। तो उस क्षण आत्मा का जो आकार-धारण था उससे अन्य आकार में अन्तरण का हेतु क्या कहा जाए ? वस्तुतः हेतु का तो अत्यन्त अभाव हो गया, फिर बिना हेतु के आकारान्तरण कैसा ? स्थापना स० दो के आधार पर उसके आकार का अत्यन्त विनाश स्वीकारा नहीं जा सकता। बिना हेतु के आकारान्तरण मानना न्याय युक्त नहीं, अतः फिर यही विकल्प शेष रहता है कि सिद्धावस्था में वही आकार नित्य हो जाता है जो संसारावस्था के अन्तिम क्षण पर विद्यमान था। सिद्धाकार के प्रदेश निर्धारण में इस प्रकार एक और पूर्व शरीर की विवक्षा ली जाती है और दूसरी ओर लोकाकाश की प्रदेश संख्या की विवक्षा सिद्धात्मा को विश्व-व्यापक कहने में यह विवक्षा काम करती है कि चूंकि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाने से अखिल वस्तु-सत्य समवेत रूप से आत्म-ज्ञान का विषय हो जाता है और उस प्रकार उसका ज्ञान विश्व-व्यापक हो जाता है। इस विवक्षा से ज्ञान-रूप में आत्माकार विश्व रूप से मान्य होता है, जबकि आकाश प्रदेशों की गणना की अपेक्षा से वह पूर्व शरीराकार रूप ही होता है। आत्मा के इस सप्रदेशी विशेष को तत्वार्थसूत्रमें क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध-बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्प-बहुत्व[१२] इन बारह अनुयोगों की विवक्षा से समझने की प्रेरणा की है। इस आत्म-स्वरूप को समझने के लिए अनेकानेक विवक्षाओं की मर्यादा बराबर ध्यान में रखने की आवश्यकता है, जिसमें तनिक सी भी चूक हो जाने पर गहन से गहन भ्रांति हो जाने की सम्भावना रहती है।

आत्मा की इस सप्रदेशता में एक बात और आड़े आती है जो जन सामान्य को भ्रमित करती है, कि एक ही आकाश-प्रदेश में अनेक आत्माओं और शरीरों का अवगाहन किस प्रकार हो जाता है ? जबकि हम साफ देखते हैं कि एक जगह जहां एक मनुष्य खड़ा है दूसरा खड़ा नहीं हो सकता, फिर भली सारी आत्माएँ सिद्ध-लोक में एक साथ कैसे रह लेती हैं और किस प्रकार अपनी वैयक्तिकता बनाए रखती हैं ? जहां तक एक ही प्रदेश में अनेक आत्माएं रहने का प्रश्न है, वह कोई असम्भव बात नहीं। जब भौतिक विज्ञानवादी जैसा स्थूल

---

१२. वही १०-९

सिद्धान्त ईथर, गुरुत्वाकर्षण, परमाणु, प्रकाश आदि सारे पदार्थों को एक ही आकाश-प्रदेश में अवस्थित मान कर किसी प्रकार के विरोधाभास की आशंका नहीं करता, तो फिर अरूपी आत्माओं का ही एक क्षेत्र में रहना शक्य किस प्रकार हो सकता है ? इसके साथ ही साथ एक-क्षेत्रावगाहन प्रदेश-विवक्षा से ही कहा जाता है, तत्व-विवक्षा से नहीं। तत्व-विवक्षा से उनकी वैयक्तिकता की अक्षुण्णता भी अशक्य है (स्थापना संख्या ४ के द्वारा)। बहुत से दीपकों का प्रकाश एक ही कमरे में व्याप्त होकर प्रदेश-दूरष्टि से एक ही प्रकाशाकार की संज्ञा से अभिहित होता है, किन्तु दीपकों की तत्व-दूरष्टि से प्रत्येक दीपक के प्रकाश की वैयक्तिकता अक्षुण्ण है, जो कभी दीपक बुझा या हटा कर अलग की जा सकती है। अतः अरूपी आत्मा के क्षेत्र में अन्य द्रव्यों का अवगाहन न तो न्याय-विरुद्ध है और न प्रत्यक्ष-विरुद्ध।

अब एक शंका अगुरु-लघुत्व गुण के बारे मे उठाई जाती है, जिस गुण के आधार पर आत्मा के प्रदेशाकार मे संकोच-विस्तार की क्रिया सम्पन्न होती है। यह संकोच-विस्तार क्यों और कैसे होता है ?—जैन इसे तथ्य रूप में स्वीकार करते हैं। तथ्य तत्व-रूप है, जिसके स्वीकार में 'क्या' का कोई स्थान नहीं है। उपनिषदों में भी आत्मा को—

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा
गुहायाम् निहितोऽस्य जन्तोः।[13]

(अर्थात्—यह अणु से भी अणु और महान से भी महान आत्मा इस जीव के अन्तःकरण में स्थित है)

के रूप में अनंत संकोच-विस्तार गुण युक्त कल्पित किया ही है। अब कोई पूछे, कि आत्मा ऐसा सूक्ष्म और महान क्यों है, तो यह प्रश्न ही गलत है। आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान से भी महान आकार वाली होती है—यह एक तथ्यात्मक वचन है, जिसे जैसा का तैसा स्वीकारना ही न्याय-संगत है। जैनों ने इसलिए संकोच-विस्तार लक्षण वाला अगुरुलघुत्व गुण नित्य आत्म-द्रव्य के साथ ही सन्निविष्ट कर दिया, जिसमे वस्तुतः शंका करने की कोई गुंजायश नहीं रहती। ऐसा करना वैदिक मान्यता के भी अति निकट पड़ता है।

इस प्रकार आत्मा सम्बन्धी जैन दूरष्टि पूर्णतः वस्तु-परक है। उसे अनेक विवक्षाओं से समझकर एक ऊहात्मक समष्टि मे गूथना जैन दर्शन को समझने का सम्यक् प्रयास कहा जा सकता है।

---

१३. श्वेता० ३–२०, कठो० १–२–२०

ज्ञानपीठ साहित्य-पुरस्कार इस वर्ष वरिष्ठ कवि :
श्री सुमित्रानन्दन पंत को समर्पित

विज्ञान भवन, नई दिल्ली के सभागार में आज संध्या समय साढ़े पाच बजे भारत का सर्वोच्च साहित्य पुरस्कार राष्ट्रपति श्रीवेंकटगिरि वराहगिरि द्वारा हिन्दी के वरिष्ठ कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत को भेंट किया गया। भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ कृति के लिए प्रति वर्ष उपलब्ध, भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित यह पुरस्कार इस वर्ष कवि श्री पंत को उनके काव्य संग्रह "चिदम्बरा" पर समर्पित किया गया।

यह चौथा पुरस्कार समर्पण समारोह था। पिछले तीन वर्षों में तीन पुरस्कार समर्पण समारोह सम्पन्न हो चुके हैं। पहला पुरस्कार १९६६ मे श्री गोविन्द शंकर कुरूप को उनके मलयालम काव्यसग्रह "ओडक्कुषल', पर भेंट किया गया, दूसरा १९६७ में श्री ताराशंकर बन्द्योपाध्याय को उनके बांग्ला उपन्यास "गणदेवता" पर, और तीसरा पिछले वर्ष डा० कु. वे. पुट्टप्पा और डा. उमा शंकर जोशी को उनकी कृतियों, कन्नड़ महाकाव्य "श्री रामायण-दर्शनम्" और गुजराती काव्य-संग्रह "निशीथ" पर सह-समर्पित किया गया।

महामहिम राष्ट्रपतिजी ने कवि श्रीपंत की साहित्यिक उपलब्धियों की सराहना करते हुए कहा : आज की-सी नैतिकताके सकट की स्थितिमें केवल लेखक और साहित्यकार ही निरपेक्ष दृष्टि से समस्याओं और स्थितियों को परख सकते है और अभीष्ट मार्ग दिखा सकते है जैसा कवि श्रीपत ने किया है । हम आज चरित्र के सकटका--आस्थाके संकट का सामना कर रहे हैं । यह सरस्वती पुत्रों का कर्त्तव्य है कि वे नये मूल्यों और सिद्धातों की स्थापना करें । हम भौतिक सम्पन्नता की प्राप्ति के महान् प्रयास में लगे हुए है, साथ-साथ हमारे लिए यह भी आवश्यक है कि हम अपने पारस्परिक व्यवहार के मानदंडों को भी ऊंचा रखें । लेखकों का यह कर्त्तव्य है कि साहित्य की साधना के द्वारा वे जीवन को ऊंचा उठावें । मुझे पूरा विश्वास है कि हमारे लेखक इस आवश्यकता की पूर्ति मे कोई कसर नहीं रखेगे और उस चुनौती का डटकर सामना करेगे ।

श्री गिरि ने भारतीय ज्ञानपीठ को इस पुरस्कार का प्रचलन करने के लिए बधाई दी जो भारत की एकता का प्रतीक बन गया है । सभी भारतीय भाषओं मे से एक उत्कृष्ट पुस्तक का चयन करना कोई आसान कार्य नहीं है, परन्तु ज्ञानपीठ ने पिछले चार वर्षों से इस कार्य को बड़ी सफलता के साथ सम्पन्न किया है । राष्ट्रपति जी ने कहा : साहित्यकार ही राष्ट्रीय चेतना के आधार है । वर्तमान परिस्थिति मे जबकि चारों ओर साम्प्रदायिक वैमनस्य की भावना और अनुशासन हीनता का बोल बाला है, यह आवश्यक है कि साहित्यिक कृतियों के प्रणेता राष्ट्रीय एकता के ध्येय को अपने समक्ष रखें और अनुशासन , समर्पण और सत्य की अनवरत खोज का वातावरण पैदा करें । उन्हें प्रजातन्त्र की शक्तियों को बल देना है और एक ऐसे वायुमंडल की सृष्टि करनी है जो राष्ट्रीय विकास में सहायक हो ।

पुरस्कार-विजेता कवि श्रीसुमित्रानन्दन पंत ने एक कवि की सत्यनिष्ठा और द्रष्टाकी दूरगामी भावदृष्टिसे अनुप्राणित स्वरों में मानवता के समक्ष उपस्थित दिक्भ्रान्ति की ओर सकेत करते हुए कहा : हम पिछले नाम-रूपों में परिणत जिस सत्य से परिचित हैं वह कितना ही महान् हो, भविष्य के नाम का सत्य नहीं हो सकता, भले ही उसके पीछे एक सार्वभौम व्यक्तित्वका प्रकाशमण्डल चिपका दिया गया हो । अपने नये विकासक्रम में मानव-चेतना पिछले देश कालगत आदर्शों के सम्मोहन से मुक्त होकर एक नवीन मानवीय विश्व व्यक्तित्व के सौष्ठव से मण्डित होने जा रही है और विगत युगों के धर्म-नीति, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, इहलोक-परलोक की धारणाओं को अतिक्रम कर, जीवन-मूल्यों को नई दिशा देकर, अपने सम्पूर्ण रचनात्मक ऐश्वर्य में अवतरित हो रही है । श्री पंत के अनुसार कवि का सत्य-दर्शन तभी माना है जब वह समकालीन जीवन तथ्यों पर आधारित हो । उन्होंने कहा समस्त सत्य धरा-केन्द्रिक अथच मानव केन्द्रिक है । इसलिए हमें विज्ञान और अध्यात्म दोनों ही धरातलों के दृष्टि वैभव को नवीन मानव के निर्माण तथा विकास के लिए प्रयुक्त करना चाहिए कि वह भविष्य में इन देशों-राष्ट्रों की सीमाओं से उभरी हुई धरती पर एक नवीन सांस्कृतिक एकता का अनुभव अपने भीतर कर सकें—सांस्कृतिक एकता जो उसकी ईश्वरीय अथवा आध्यात्मिक एकता की भी प्रतिनिधि बन सके । कला में रूप और चेतना का संयोजन—दर्शन में गुण और राशि का सयोजन रचनाकर्म में विज्ञान और अध्यात्म का सयोजन—ये तीनों आज के युग की व्यापक आवश्यकता के प्रमुख तत्व है । कवि-कर्म के लिए सृजनात्मक तथा कलात्मक ही न रहकर नई चेतना की दिशा मे चिन्तनात्मक तथा निर्माणात्मक भी रहा । कवि-दृष्टि मानव जीवन को सौन्दर्य तथा रस कीं सम्पद् से संजोनें एवं सम्पन्न करने के लिए प्रकाश तथा अन्धकार दोनों ही शक्तियों के सत्यों का महत्व समझती है ।

ज्ञानपीठ प्रवर परिषद के अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल डा० बे० गोपाल रेड्डी तथा प्रवर परिषद के सदस्य दिल्ली के उपराज्यपाल डा० आ० ना० झा ने भी भारतीय साहित्य को श्री-समृद्ध करने के लिए कवि पंत का अभिनन्दन किया । डा० रेड्डी के शब्दों में : विभिन्न भावनाओं, अनुभूतियों, उद्गारों, आदेशों और अपेक्षाओं की मोहक संजूषा 'चिदम्बरा' में मानवतावाद का स्वर सर्वत्र मुखर होता है । मानव-मगल उसका इष्ट है और भाव-दर्शन उसका प्रसाधन बदलने के लिए सदैव तत्पर

हैं, किन्तु इष्ट में परिवर्तन उसे मान्य नहीं। कवि के काव्य के विषय मे जो सत्य है, जो तथ्य है, वर्ण्य है, उल्लेख है वह सब प्रचुर मात्रा में 'चिदम्बरा' में सर्वत्र बिखरा हुआ है। भाव और कर्म मे साम्य स्थापित करने का कवि-प्रयास इसमे पूर्णतः परिलक्षित होता है।

भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा, श्रीमती रमा जैन ने मान्य अतिथियों का स्वागत करते हुए ज्ञानपीठ द्वारा 'चिदम्बरा' के अंग्रेजी, कन्नड, गुजराती, तेलुगु, बंगला, मलयाली और मराठी अनुवादों के प्रकाशन की घोषणा की। भारतीय साहित्य के मंगल में ऐसे प्रयासों की उपादेयता की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा : भारतीय साहित्य हमारी सामूहिक पूंजी है। वह बाटने से ही अधिक बढ़ती है। उसका आदान-प्रदान हमारे व्यक्तित्व को परिपूर्ण, हमारी सामाजिक चेतना को उदार और राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ करता है।

भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक-न्यासधारी श्री शान्तिप्रसाद जैन ने सभी अभ्यागतों के प्रति आभार व्यक्त किया।

पुरस्कार-समर्पण-समारोह के कार्यक्रम का एक विशेष आकर्षण-अंग था। 'चिदम्बरा' की रचनाओं पर आधारित एक नृत्य-प्रतिबिम्ब जिसे उदयशंकर इंडिया कल्चर सेण्टर के कलाकारों ने श्रीमती अमला शकर के निर्देशन मे प्रस्तुत किया। 'चिदम्बरा' की रचनाओं के विचार-भावनागत तथ्य के आधार पर शैली एवं भाव मुद्राओं के वैविध्य से सम्पन्न नृत्य प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना श्रीमती अमला शंकर की सूक्ष्म कला-काव्य-दृष्टि का परिचायक है।

मंच पर डा० कर्णसिंह, डा० नीहार रंजन रे, श्री गो० शंकर कुरुप आदि प्रवर-परिषद् के सदस्य और भारतीय ज्ञानपीठ ट्रस्ट तथा संचालक समिति के सदस्यगण भी उपस्थित थे।

पुरस्कार समर्पण समारोह का एक रोचक अंग थी विज्ञान भवन की दीर्घा मे आयोजित पुस्तक-प्रदर्शनी, जिसमें भारतीय ज्ञानपीठ के लगभग चार सौ प्रकाशन प्रदर्शित थे। इनमें प्राच्यविद्या विषयक विभिन्न शोध-ग्रन्थभी थे और विभिन्न साहित्यिक विधाओं के साहित्यिक प्रकाशन भी। इस प्रकार भारतीय ज्ञानपीठ की सभी ग्रंथमालाओं—मूर्तिदेवी ग्रंथमाला, माणिकचन्द्र ग्रंथमाला, कन्नड ग्रंथमाला और लोकोदय ग्रंथमाला जिसके अतर्गत राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला भी आती है—की एक भरी-पूरी छवि वहाँ प्रस्तुत थी।

पिछले तीन पुरस्कार समर्पण समारोहों का चित्र-दर्शन वहाँ का एक अतिरिक्त आकर्षण था। श्री सुमित्रानन्द पंथ की पुरस्कृत काव्यकृति 'चिदम्बरा' के अंग्रेजी, बांग्ला, कन्नड़, गुजराती, मराठी, मलयाली और तेजुगु भाषाओं में काव्यानुवाद भी वहां विशेष रूप से प्रदर्शित किये गये थे। ●

साहित्य-समीक्षा

(१) **आगम और त्रिपिटक**—एक अनुशीलन खण्ड १ इतिहास और परम्परा लेखक—मुनि श्री नागराज जी डी० लिट्। प्रकाशक जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, ३ पोर्चुगीज, चर्चस्ट्रीट कलकत्ता-१, पृष्ठ संख्या ७६८ मूल्य २५) रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ एक ऐतिहासिक अनुसन्धान परम्परा का सूचक है। ग्रंथ में मुनि जी ने बौद्ध पिटकों और जैन आगम-ग्रन्थों की जो तुलनात्मक रूप प्रस्तुत किया है, उससे कितने ही नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं। उनसे भलीभांति निश्चित हो जाता है कि महावीर का जीवन परिचय लिखते समय बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन होना आवश्यक है। यद्यपि बौद्ध-ग्रंथों मे महावीर के जीवन संबंधी कोई मौलिक घटना का उल्लेख नहीं है, जो कुछ लिखा गया है वह सब महावीर के महत्व पर पर्दा डालने या उसे हीन बतलाने का उपक्रम किया गया है। महावीर क्या थे और उन्होंने जीवन में क्या आदर्श उपस्थित किये,

यह सब अनुसन्धान का विषय है। फिर भी विरोधी और बाद में प्रविष्ट उन घटना-क्रमों का तालमेल बैठाने का सहयोग मिल सकता है।

महावीर और बुद्ध के परिनिर्वाण काल पर अच्छा विचार किया है और महावीर का निर्वाण काल ५२७ ईस्वी पूर्व और बुद्ध का निर्वाण समय ५०२ ईस्वी पूर्व निर्धारित किया है। जो संगत जान पड़ता है। अब से बहुत वर्ष पहले मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी ने भी सन् १९२९ में अनेकान्त के प्रथम वर्ष की प्रथम किरण में महावीर और उनका समय-सम्बन्धी लेख में यही समय अनेक प्रमाणो के आधार पर निश्चित किया था। इससे प्रचलित वीर निर्वाण संवत सही जान पड़ता है।

ग्रन्थ में दोनों तीर्थंकर्ताओं के अतिरिक्त तात्कालिक अन्य तीर्थंकरों के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है और तत्कालीन राजाओं का भी परिचय दिया है, इस तरह मुनि जी ने यह ग्रन्थ गवेषणा पूर्वक लिखा है। मुनि जी अच्छे लेखक, विद्वान और वक्ता है। ग्रथ के परिशिष्ट में पालि ग्रन्थों के वे मूल अवतरण भी दिये है उनसे ग्रथ की प्रामाणिकता बढ़ गई है। आशा है, मुनि जी अन्य दो भागों को भी पूरा करने का प्रयत्न करेगे। आचार्य तुलसी गणी और उनके शिष्यों की गतिविधियां तथा कार्य करने की क्षमता प्रशसनीय है। इसके लिए मुनि श्री नगराज जी धन्य वादार्ह हैं। ग्रंथ समयानुकूल उपयोगी है। इसके अन्वेषक विद्वानों और लायब्रेरियों को मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए।

(२) **पट्टावली प्रबन्ध संग्रह**—संकलयिता व संशोधक आचार्य श्री हस्थिमल, सम्पादक डॉ० नरेन्द्रभानावत, प्रकाशक जैन इतिहास निर्माणसमिति, जयपुर। मूल्य १०) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लोंकागच्छ परम्परा और स्थानकवासी परम्परा, इन दोनों परम्पराओं की १७ पट्टावलियों का संकलन किया गया है। पट्टावलियाँ यदि प्रामाणिक हों तो उन पर से महावीर से अब तक की परम्परा का इतिवृत्त संकलित किया जा सकता है। इनमें दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का जो कथन दिया हुआ है वह संगत नहीं जान पड़ता, कारण कि महावीर दिगम्बर थे, उससे जो विभक्त हुआ उसे ही अर्वाचीन कहा जा सकता है। दूसरे महावीर के बहुत समय बाद सम्प्रदाय बनें। क्योंकि महावीरके बाद तीन केवली और पांच श्रुत केवली हुए, अन्तिम श्रुत केवली के समय दुर्भिक्ष पड़ने के बाद मतभेद होने के बाद सम्प्रदाय बने होंगे। ऐसी स्थिति में उक्त कथन की प्रामाणिकता नहीं रहती। ये पट्टावलियां कब बनीं इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख देखने में नहीं आता। जो सामग्री उपलब्ध नहीं उसके सम्बन्ध में केवल अनुमान किया जा सकता है। प्राचीन प्रमाणों के अनुसंधान करने मे पट्टावलियाँ भी उपयोगी हो सकती हैं। ऐतिहासिक क्षेत्र में उनकी महत्ता है ही। इस तरह सब सामग्री के संकलित हो जाने से जैन इतिहास के निर्माण में सरलता हो सकती है। इस प्रयास के लिए सम्पादक प्रकाशक धन्यवाद के पात्र है।

(३) **आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भंडार ग्रन्थ-सूची**—(भाग १) सम्पादक डॉ० नरेन्द्र भानावत, प्रकाशक, श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, लाल भवन चौड़ा रास्ता, जयपुर-३ मूल्य सजिल्द प्रति का २५) रुपया।

इस ग्रंथ में स्थानकवासी सम्प्रदाय के ३७०० के लगभग ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की गई है। शेष ग्रथों की सूची बाद में प्रकाशित होगी। सूची के अवलोकन करने से स्थानकवासी सम्प्रदाय की ज्ञान सामग्री का यथेष्ट अनुभव हो जाता है। स्थानकवासी सम्प्रदाय के पास अनेक शास्त्र भण्डार हैं, हो सकता है उनमें कोई महत्व का प्राचीन ग्रंथ मिल जाय। पर यह सब ग्रंथ सूची के व्यवस्थित होने पर ही हो सकता है। डा० नरेन्द्र भानावत जी ने इसके सम्पादन में पर्याप्त श्रम किया है। आशा है समाज इसे अपनाएगी और ग्रथ भण्डारो को व्यवस्थित करने की इससे अधिक प्रेरणा मिलेगी। ऐसे सुन्दर संस्करण के लिए डा० साहब धन्यवाद के पात्र हैं।

(४) **युक्त्यनुशासनम् (उत्तरार्ध) हिन्दी विवेचन सहित**—सम्पादक क्षुल्लक शीतलप्रसाद जी, विवेचक पं० मूलचन्द्र जी शास्त्री, प्रकाशक दि० जैन पुस्तकालय, सांगानेर (जयपुर), पृष्ठ संख्या २१४, मूल्य पोष्टेज सहित १) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थकर्त्ता आचार्य समन्तभद्र की अनुपम कृति

युक्त्यनुशासन है, जो दार्शनिक विषय का एक मौलिक स्तवन है। उनकी सभी कृतियाँ मौलिक और महत्वपूर्ण हैं। दार्शनिक क्षेत्र में उनकी महत्ता का स्पष्ट निदर्शन है। प्रस्तावना लेखक प्रो० डा० दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य एम० ए० पी० एच० डी० हैं। डा० साहब ने प्रस्तावना में युक्त्यनुशासन पर अच्छा विचार किया है। उसकी कितनी ही कारिकाओं के हार्द को भी स्पष्ट किया है और समन्तभद्र से पूर्ववर्ती युग में अनेकान्त की सप्तभंगी का भी उल्लेख करते हुए सदद्वाद, शाश्वत-अशाश्वत आदि वादों का भी विचार किया है। उनकी सभी कृतियों का संक्षिप्त परिचय भी दिया है।

विवेचक पं० मूलचन्द जी ने आचार्य विद्यानन्द की टीका का आश्रय लेकर हिन्दी में उसका अच्छा विवेचन किया है। जिससे स्वाध्यायी जनों को उसके अध्ययन में सरलता हो गई है। ग्रन्थ के दोनों भाग मंगाकर पढ़ना चाहिए। क्षुल्लक की का प्रयास स्तुत्य है।

—परमानन्द शास्त्री

(५) **समयसार (प्रवचन सहित)**—प्रवचनकार आध्यात्मिक सन्त गणेशप्रसाद जी वर्णी, सम्पादक पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, प्रकाशक ग० वर्णी जैन ग्रंथमाला वाराणसी, बड़ा आकार, पृष्ठ ४६×४०६, मूल्य १२ रुपया।

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित समय प्राभृत (समयसार) एक सुप्रसिद्ध अध्यात्म ग्रंथ है। इसमे निश्चयनय की प्रधानता से नौ अधिकारों के द्वारा जीव-अजीव, कर्तृ-कर्मता, पुण्य-पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष और सर्वविशुद्ध ज्ञान का विवेचन किया गया है। यहाँ कहा गया है कि आत्मा न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, वह तो एक मात्र ज्ञाता है। उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, यह भी व्यवहाराश्रित कथन है। यह वस्तुस्थिति ही है: फिर भी जो अधिकांश प्राणी व्यवहार मार्ग का अनुसरण करते हुए देखे जाते हैं वे इस व्यवहार का अनुसरण करते हुए भी उक्त वस्तुस्थिति को लक्ष्य में रक्खें, उसे भूलें न; इस प्रकार के विवेक को उत्पन्न करना, यह प्रस्तुत ग्रंथ का प्रयोजन रहा है।

लगभग इसी प्रकार के अभिप्राय को प्रगट करते हुए आत्मानुशासन (२३९-४०) में यह कहा गया है कि शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप और सुख-दुख; इन छह में से आदि के तीन—शुभ, पुण्य और सुख—हितकर होने से अनुष्ठेय हैं तथा शेष तीन—अशुभ, पाप और दुख—अहितकर होने से परित्यज्य हैं। उनमें भी वस्तुतः प्रथम (अशुभ) ही परित्याज्य है—उसका परित्याग हो जाने पर शेष दो (पाप और दुख) स्वयमेव विलीन हो जाने वाले है, क्योंकि उनका जनक वह अशुभ ही है। अन्त में शुद्ध स्वरूप के प्राप्त हो जाने पर शुभ को भी छोड़कर परम पद की प्राप्ति होने वाली है।

प्रस्तुत ग्रंथ पर यद्यपि आचार्यअमृतचन्द्र की आत्म-ख्याति और जयसेनाचार्य की तात्पर्य वृत्ति ये दो संस्कृत टीकाएं तथा पं० जयचन्द्र जी और राजमल जी पांडे की हिन्दी टीकाएं भी उपलब्ध है, फिर भी सर्वसाधारण जो उक्त टीकाओं से ग्रंथ के मर्म को हृदयंगम नहीं कर सकते हैं ऐसे आत्म-हितैषीजनों को लक्ष्य में रखकर पूज्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी ने प्रकृत प्रवचन को लिखा है। समयसार यह वर्णी जी का अतिशय रुचिकर ग्रंथ रहा है व उसका उन्होंने खूब मनन किया है। इस प्रवचन में उन्होंने दोनों संस्कृत टीकाओं का परिशीलन कर उनके आधार से तथा अपने अनुभव के बल पर भी विषय का सरल भाषा में अच्छा स्पष्टीकरण किया है।

ग्रन्थ का सम्पादन अनेक ग्रन्थों के सम्पादक व अनुवादक श्री प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य के द्वारा हुआ है। उन्होंने अपनी प्रस्तावना में ग्रंथ के अन्तर्गत विषय का अधिकार क्रम से परिचय भी करा दिया है। इससे ग्रंथ मे और भी विशेषता आ गई है।

वर्णी ग्रंथमाला ने ऐसे उत्तम ग्रन्थ को प्रकाशित कर स्तुत्य कार्य किया है। इस ग्रथमाला के सुयोग्य मन्त्री डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया उसकी आर्थिक कठिनाई को हल करने के लिए पर्याप्त परिश्रम कर रहे हैं। इसका ही यह परिणाम है जो उसके द्वारा अभी हाल में २-३ महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके है। ग्रंथ का मुद्रण आदि भी अच्छा हुआ है।

—बालचन्द्र सि० शास्त्री

बाबू यशपाल जी की माता का स्वर्गवास

बाबू यशपाल जी एक साहित्यिक व्यक्ति है, वे साहित्य मनीषी होकर निरंतर साहित्य सृष्टि मे तन्मय रहते भी सामाजिक और धार्मिक कार्यो मे बराबर रस लेते रहते है। अनेकान्त के सम्पादक मण्डल में भी है और -सेवामन्दिर की कार्य समिति के माननीय सदस्य है। आपकी माता जी बडी धार्मिक थी। वे सन् १९५३ में सेवामन्दिर की तीर्थ यात्रा बस मे श्रवणबेलगोल के मस्तकाभिषेक के समय यात्रा को गई थीं, और उन्होंने य: दक्षिण के सभी तीर्थ क्षेत्रो की सानन्द वन्दना की थी। जहाँ वे धर्मनिष्ठा थी वहाँ वे विवेकशीला भी थी। उनके र्गवास से बाबू यशपाल जी और उनके परिवार को जो कष्ट पहुँचा है, उसके लिए हम सम्वेदना प्रकट करते हैं र दिवगत आत्मा को परलोक मे सुख-शान्ति की कामना करते है।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
.००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
२५१) श्री शिखरचन्द जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१ श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
.०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
.) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता

१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या झूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१०१) ,, सेठ दानमल हीरालाल जी, निवाई (राज०)
१००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १-२५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-०२

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना मे अलंकृत, सजिल्द। ४-००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-००

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१६ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका ·१६ पैसे, (१७) महावीर पूजा ·१६

(१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. पं० परमान्द शास्त्री। सजिल्द १२-००

(२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० ७-००

(२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ५-००

(२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

(२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक

फरवरी, १९७०

अनेकान्त

जैन तीर्थंकर की महत्त्वपूर्ण प्राचीन मृण्मूर्ति

(लेखक के सौजन्य से)

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

★

सूचना

अनेकान्त के जिन ग्राहको ने वर्ष समाप्ति तक अपना वार्षिक चन्दा नही भेजा है, उनसे सानुरोध निवेदन है कि वे अपना पिछला वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनीआर्डर से भिजवा कर अनुगृहीत करे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर २१, दरियागंज
दिल्ली।

निवेदन

जैन समाज के प्रतिष्ठित श्रीमानो, विद्वानो और जिनवाणी के प्रेमियो से निवेदन है कि वे वीर सेवा मंदिर लायब्रेरी को अपने-अपने प्रकाशित ग्रथ भेट कर धर्म और यश का लाभ ले। तथा विवाह-शादियो, पूजा-प्रतिष्ठा के उत्सवो और माननीय त्योहारो पर निकाले हुए दान मे से अनेकान्त के लिए भी आर्थिक सहयोग प्रदान करे। क्योकि अनेकान्त जैन समाज का प्रतिष्ठित एव ख्याति-प्राप्त पत्र है। उसको आर्थिक सहयोग करना जैन सस्कृति की महती सेवा है।

व्यवस्थापक
वीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज
दिल्ली

ग्राहकों से

अनेकान्त की इस किरण के साथ २२ वे वर्ष के ग्राहकों का वार्षिक मूल्य समाप्त हो जाता है। अगला अक २३ वें वर्ष का प्रथमाक होगा। अत: ग्राहक महानुभावों से निवेदन है कि वे २३ वें वर्ष का वार्षिक शुल्क मनीआर्डर से भिजवा कर अनुगृहीत करें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली।

★

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २२ किरण ६ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | वीर निर्वाण संवत् २४९६, वि० सं० २०२६ | फरवरी १९७०

सिद्ध स्तुति

सूक्ष्मत्वादणुदर्शिनोऽवधिदृशः पश्यन्ति नो यान् परे
यत्संविन्महिमस्थितं त्रिभुवनं स्वस्थं भमेकं यथा ।
सिद्धानामहमप्रमेय महसां तेषां लघुर्मानुषो
मूढात्मा किमु वच्मि तत्र यदि वा भक्त्या महत्या वशः ॥१॥
निःशेषामरशेखराश्रितमणि श्रेण्यर्चिताङ्घ्रिद्वया ।
देवास्तेऽपि जिना यदुन्नतपदप्राप्त्यै यतन्ते तराम् ।
सर्वेषामुपरि प्रवृद्ध परमज्ञानादिभिः क्षायिकैः ।
युक्ता न व्यभिचारिभिः प्रतिदिनं सिद्धान् नमामो वयम् ॥२॥

—पद्मनन्द्याचार्य

अर्थ—सूक्ष्म होने से जिन सिद्धों को परमाणुदर्शी अवधिज्ञानी भी नहीं देख पाते हैं तथा जिनके ज्ञान में स्थित तीनों लोक आकाश में स्थित एक नक्षत्र के समान स्पष्ट प्रतिभाषित होते हैं उन अपरिमित तेज के धारक सिद्धों का वर्णन क्या मुझ जैसा मूर्ख व हीन मनुष्य कर सकता है ?—नहीं कर सकता। फिर भी जो मैं उनका ... वर्णन कर रहा हूं वह अतिशय भक्ति वश होकर ही कर रहा हूं ॥१॥

जिनके दोनों चरण समस्त देवों के मुकुटों में लगे हुए मणियों की पंक्तियों से पूजित हैं—जिनके चरणों में समस्त देव भी नमस्कार करते हैं, ऐसे वे तीर्थंकर जिनदेव भी जिन सिद्धों के उन्नत पद को प्राप्त करने के लिए अधिक प्रयत्न करते हैं; जो सबों के ऊपर वृद्धिगत होकर अन्य किसी में न पाये जाने वाले ऐसे अतिशय वृद्धिगत केवलज्ञानादि स्वरूप क्षायिक भावों से संयुक्त हैं; उन सिद्धों को हम प्रतिदिन नमस्कार करते हैं ॥२॥

भारत में वर्णनात्मक कथा-साहित्य

ए एन. उपाध्ये

[प्रस्तुत लेख प्राकृत-संस्कृत भाषा के ग्रन्थों के विशिष्ट सम्पादक डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट प्रो० राजाराम कालेज कोल्हापुर द्वारा सन् १९४३ में हरिषेणाचार्य के बृहत्कथाकोश की विस्तृत लिखी गई महत्वपूर्ण प्रस्तावना के निम्न स्थलों (1) Narrative Tale in India, (2) Compilations of Katnankas : A survey, (3) Orientaliats on the Jain Narrative Literature. का हिन्दी अनुवाद है। यह अनुवाद श्री कस्तूरचन्द जी बांठिया कलकत्ता ने सन् १९५८ में किया था, तब से यह प्रकाशन की बाट जोह रहा था। श्री अगरचन्द जी नाहटा की प्रेरणा से हमें प्राप्त हुआ है और वह अनेकान्त में क्रमश. सधन्यवाद दिया जा रहा है। सम्पादक के निम्न स्थलों का :— — संपादक]

१. वैदिक और सम्बद्ध साहित्य :

भारत का बौद्धिक जीवन, जैसा कि वह प्राचीन एवम् मध्यकालिक साहित्य में चित्रित है, धार्मिक विचारों से एकदम सराबोर है। भारत धर्मों का झूलना है, यह न तो थोथे अभिमान की ही बात है और न व्यंग ही। यह एक ऐसा तथ्य है कि जो साहित्यिक कृतियो में प्राप्त होने वाली प्रभूत साक्षियों से भली प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है। आर्यों का प्राचीनतम शास्त्र, विशेषत: ऋगवेद, जो कि भारतीय भूमि में सुरक्षित है और जो ब्राह्मण परम्परा में वारसे के रूप में चले आते रहे हैं, प्रकृति के मूर्ति-मान विग्रह के भक्ति-गीतों से भरा हुआ है। कालान्तर में ये गीत ही ऐसे जटिल आचारों के विषय बन गये कि जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से प्रतीकात्मक या स्पष्ट रूप से सम्बन्धित माने जाते थे। धर्म की पवित्रता या उसके अधिकार उस देवत्व द्वारा ही प्राप्त होते है कि जो धर्म देव, शास्त्र और गुरु को स्वयं प्रदान किये थे। और ये ही समय पाकर धार्मिक सिद्धान्तों का महान् उत्कर्ष और संस्कार करने में सहायता करते है। प्रत्येक विकसित धर्म को इन तीनों की अधीनता किसी न किसी रूप में मान्य है। अनुष्ठान और पूजा ही नहीं, भक्ति एवं ध्यान, एवं सभी मूलत: देव से सम्बद्ध हैं और शनै: शनै: वे सब शास्त्रांगीभूत हो गये है। सिद्धान्त, शिक्षा और उपदेश विशेष हीं तो शास्त्र हैं और ये देव को दिव्य, और गुरु को महिमान्वित करते है। देव का प्रतिनिधित्व गुरु करता है या उससे प्रेरणा प्राप्त करता है। शास्त्र का ज्ञान उसे या तो उत्तराधिकार में या निजी प्रयत्न से प्राप्त होता है। धार्मिक-क्रियानुष्ठानों का सफल पालक होने के कारण उसकी चर्या दूसरों के लिए आदर्श होती है। ये तीनों अन्योन्याश्रयी है और मिलकर शनै: शनै: धर्म और धार्मिक साहित्य का सविशेष विकास सम्पन्न करते है। भारतीय साहित्य की वृद्धि इस सामान्य प्रणाली का भली प्रकार समर्थन करती है।

सैद्धान्तिक और निगूढ़ तत्वों के बावजूद, धर्म ने, जहां तक कि इस भारत भूमि मे उसकी वृद्धि हुई है, समाज के अंग के रूप में मानव सदाचार के सुनिश्चित नैतिक माध्यों के विकास और प्रचार करने का प्रयत्न सदा ही किया है। इस प्रकार धर्म ने सदाचार के आदर्श का काम भी किया है कि जिसके निर्देश के लिए कुछ यथार्थ मानदण्ड आवश्यक थे। ये मानदण्ड विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किए गये है : जैसे कि सदा सर्वदा से चले आते देवों के वे आदेश ही हो; प्राचीन शास्त्रों द्वारा वे अज्ञापित हों; और प्राचीन गुरुओं के उपदेश और क्रियादर्श हों। इस अन्तिम प्रवृत्ति ही में हमें भारत के महाकाव्यों, वीर-गाथाओं और औपदेशिक कहानियों-कथाओं के उद्गम का पता भी लग जाता है कि जो सामान्य रूप मे प्रारम्भ होकर कालान्तर मे वृहद्काय हो गये हैं।

ऋगवेद के गान किसी दृष्टि से लोक-काव्य नही कहे जा सकते है। उनका उद्भव, अधिकांशतः, ब्राह्मण वर्ग में ही हुआ था। आह्वानित देवताओ के कृपापात्र एवं जटिल यज्ञ-याज्ञो परम्परा के रक्षक के रूप में ये ब्राह्मण सदा ही, जन साधारण में रहते हुए भी उनसे ऊपर उठने का प्रयत्न करते रहे हैं। इसलिए न तो वे लोक परम्पराओं के प्रभाव से ही बिल्कुल अछूते रहे है और न जन साधारण के आश्रय-विहीन ही। वैदिक काव्य मे वर्णन योग्य अनेक मनोरंजक कथाए सुरक्षित है। उदाहरणार्थ हमें जहां यह बताया गया है कि युद्धप्रिय इन्द्र वृत्र समान राक्षसों का संहार और अंधकार एव अवर्षा का निवारण कैसे करता है। फिर देवों की सहायता करने वाले अश्विनी कुमारो की अनेक पौराणिक आख्यायिकाएं भी वहा गई है। जिसे यज्ञानुष्ठान का विशुद्ध ज्ञान है ऐसे आचार्यों के वशीभूत ये सब देव होते है इस प्रकार ये ब्राह्मण जन-साधारण की समृद्धि की पुरस्कर्ता अनेक दिव्यात्माओं की श्लाघा-प्रशंसा करते हुए, न केवल अपनी ही शक्ति बढाते है अपितु यज्ञ-धर्म को भी फैलाते है। तथाकथित आख्यान-ऋचाएं ऐसे प्राचीन पौराणिक गीत ही हैं कि जिनमें वर्णनात्मक और नाटकीय तत्व भी है। इन्ही में हमें पुरुरवस और उर्वशी का संवाद, यम और यमी का तीव्र वाद-विवाद मिलता है। पहला प्रसग तो उत्तरकालीन भारतीय साहित्य मे अनेक जटिल रचनाओं द्वारा अमर ही कर दिया गया है। इसकी दान स्तुतियों में ब्राह्मणों को उदार चित्त से दान देने वाले दाताओ की अतिशय प्रशंसाएं सुरक्षित है। और यह बहुत ही सम्भव है कि यज्ञो के इन संरक्षकों मे से कुछ ऐतिहासिक व्यक्ति भी हों। परन्तु यह दुर्भाग्य की बात ही है कि नाम के अतिरिक्त उनके विषय में हमे और कुछ भी ज्ञात नही है।

जब हम ब्राह्मणों को, जिनमें कि ईश्वरवाद और यज्ञवाद के सम्बन्ध में ब्राह्मणों में होने वाले वृथा वाद-विवाद का शुष्क वर्णन ही है, देखते है तो मानव उप-उपयोग की प्रधान बात उनमें यही हमे मिलती है कि उनमे अनेक पुरावृत्त और सिद्ध- पुरुषों की जीवनियां दी हुई है। उनमे धर्म और अनुष्ठान की भी अनेक बातें कही हुई हैं कि जिनमें नैतिकता या सदाचार से कुछ भी सम्बन्ध नही है। उनमें यज्ञ ने एक चमत्कारी यंत्र का रूप ले लिया है कि जिसके द्वारा देवगण यज्ञकर्ता की सांसारिक आकाक्षाएं पूर्ण करते हैं, और इसीलिए उसके रिपुओं को दुःख और कष्ट भोगना पड़ता है। किसी यज्ञविधि को और उसकी प्रभावकता को स्पष्ट करने, देवो की महानता और उनकी वदान्यता का यशोदान करने, प्राचीन वीरो के कीर्तिगान करने और ब्राह्मणों का महत्व लोक मानस पर जमाने के लिए प्राचीन आख्यान, पुरावृत्त, और सिद्ध पुरुषों की जीवनियां यहां वहां उनमें वर्णित हैं। ब्राह्मणों के स्वार्थ और यज्ञधर्म से स्पष्ट सम्बन्धित होते हुए भी इन कहानियों में से कुछ में लोकपरक तत्व भी है। पुरुरवस और उर्वशी का पुरावृत्त हरिश्चन्द और यज्ञ के शिकार शुन्शेप की कहानी, प्रजापति की जीवनी वर्णनात्मक दृष्टि से निःसन्देह मनोरंजक है। आधारभूत कथा का केन्द्र-बिन्दु किसी यज्ञानुष्ठान की प्रशसा और औचित्य आदि की स्थापना के लिए वर्णित विवरण-प्रचुर कथा मे से खोज निकालना निःसंदेह कठिन है। अनेक दृष्टियों वाले महाकाव्यों की आदि का वस्तुतः, ब्राह्मणों के इस वर्णनात्मक स्तर से भी पूर्व की है।

जब हम उपनिषद काल मे प्रवेश करते है तो वहां हमे एक भिन्न संसार ही का परिलक्षण होता है। उपनिषदों की बौद्धिकता के काल में, ब्राह्मण आचार्य पीछे पडता जाता है और क्षितिज एक दम नया दिखाई पड़ता है। धर्मशास्त्र में ऐक्य की ध्वनि, जड यज्ञों की निरर्थकता और ब्राह्मण-आचार्यों का सर्वज्ञान एकाधिकार, प्रचलित सामाजिक अयोग्यताओं को निवारण कर उच्चतम ज्ञान -प्राप्ति की जनआकुलता, देवों के कोप या प्रसाद से नही अपितु स्व-कर्म और जन्मानुसार सांसारिक विषमता के व्याख्याकरण का प्रयत्न, उच्चतर ज्ञान एवं वैराग्य-साधनानुसरण द्वारा शनैः शनैः यज्ञ एवं दान का उच्छेद, समाज के एक सदस्य रूप मानवाचरण के लिए बारम्बार नैतिक-धार्मिक उपदेशों का प्रयोग, ये ही उपनिषदों की प्रमुख धाराओं में से कुछ धाराएं हैं जो उपनिषदों को ब्राह्मणों से पृथक् कर देती है। विचारधारा में इस नवीनता की आदि की व्याख्या करते हुए, विण्टरनिट्ज कहते

हैं। जब कि ब्राह्मण लोग अपने ऊपर यज्ञीय विज्ञान का अनुसरण कर रहे थे, अन्य वर्ग उन उत्कृष्टतम प्रश्नों के निराकरण में पहले से ही लग गये थे कि जिनका अवशेष में ही उपनिषदों में इतना शुष्ठ विचार किया गया है। इन वर्गों में से कि जिनका ब्राह्मणों से मूलतः कोई भी सम्बन्ध नहीं था, ऐसे वनवासी और भ्रमणशील तपस्वियों का उद्भव हुआ कि जिनने न केवल समार और उसकी आसक्ति का ही त्याग कर दिया था, अपितु ब्राह्मणों द्वारा किये जानेवाले यज्ञों और अनुष्ठानों से भी वे एकदम पृथक् रहते थे। ब्राह्मणवाद के विरोधी अनेक सम्प्रदाय इन्हीं वर्गों में से बन गये थे और इन्ही सम्प्रदायो में का एक बौद्ध-सम्प्रदाय इतनी बडी ख्याति को पहुँच गया था[1]। उपनिषद् स्तर के साहित्य, विशेषतया प्राचीनतम, में हमें कुछ बड़े ही मनोरंजक वर्णन जैसे कि गार्गी और याज्ञवल्य का वाद-विवाद, सत्यकाम जाबाल की कथा और प्रवाहण एवम् अश्वपति जैसे क्षत्रियो की घटना, मिलते हैं। इनमें से कुछ तो प्राचीन भारत के बौद्धिक काल के रूप में स्मरण रखने योग्य हैं।

वेदोत्तर कालीन भारतीय साहित्य के वर्णको की तीन महान सरिताओं ने सूक्ष्मदर्शी विद्वानो का ध्यान अच्छी तरह से आकर्षित कर लिया है। वे सरिताएँ है:— बृहत्कथा, महाभारत और रामायण। इनमें से पहली पैशाची प्राकृत में है और पीछे की दोनों सस्कृत मे। गुणाढ्य की बृहत्कथा आज मूल रूप में न तो प्राप्य है और न उसके कभी मिलने की ही कोई आशा है। संस्कृत भाषा में भी उसके संक्षेप तीन ही मिले है। पक्षान्तर मे महाभारत और रामायण के मूल बीज का जो कि उनके लेखकों ने मूलतः प्रस्तुतः किया था, पता लगाना भी लगभग असम्भव है, हालांकि सूक्ष्मदर्शी विद्वानो द्वारा ऐसे प्रयत्न निरन्तर किए जा रहे है, क्योंकि इनके प्राप्य पाठ, भारत के विभिन्न भागों मे सदियों से लगातार अपने-अपने दृष्टिकोण से कार्यरत चतुर मतविस्तारक-सम्पादकों द्वारा किए गए प्रक्षेपों से, बहुत ही विस्तार पा गए हैं। इन्हें महाकाव्य तो न जाने कब से कहा जाने लगा है। और बृहत्कथा को भी, उसमे रोमानी और काल्पनिक तत्त्वों के होते हुए भी, बहुत सम्भव है कि, महाकाव्य का गौरव और विशालता ही प्राप्त हो गई होगी। दोनों महाकाव्यो की यह वृद्धि अपने में ही एक समस्या है और इनके सूक्ष्मदर्शी शोधक बडे अच्छे परिणामों पर पहुँच चुके है।

कुरु शाखा के सिद्धों की वीर कथा ही महाभारत का मूल बीज है और इसमें कौरव महायुद्ध का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। परन्तु इस सांसारिक घटना पर विश्वकोशीय साहित्य की ऐसी महान् उपरि-संरचना चढा दी गई है कि जिसमे विभिन्न आदर्शों और युगों के स्पष्ट दर्शन दीख पड़ते है। इस अपार सामग्री मे ईश-ब्रह्माण्ड विषयक धार्मिक कथाए है, तो स्वतंत्र कहानियाँ भी, जैसाकि कर्ण की जन्म कथा, ब्राह्मणों को दान देकर युधिष्ठिर-पाप-मोचन की कथा, और यादव-वश-नाश की कथा। इसमे धार्मिक-दार्शनिक और नैतिक विभाग भी है जिसमे राजतत्र और सामाजिक व्यवहार के अनेक सारसत्य है। इसमे रूपकथाएं, दृष्टान्तकथाएँ और औपदेशिक वर्णक भी है। अवशेष इसमे वैरागी कविता भी बहुत कुछ है। सारा का सारा ग्रंथ, क्या अंशो मे और क्या समस्त रूप मे ही, अब तक अनेक सम्पादकों के हाथ से निकला हुआ है; और इसलिए, विसंगत एवम् परस्पर विरोधी होने के उपरांत भी, उसके मूल पाठ में सभी प्रकार के विषय प्रविष्ट हैं। महाभारत का पाठ, जैसा कि आज मिलता है, समर्थ विद्वानो के मतानुसार, अत्यन्त सुदृढ और असंदिग्ध भार्गव प्रभाव में वर्तमान रूप पाया हुआ है।[2] इसके पहले और पीछे भी इसके पाठ पर इसी प्रकार के अनेक साम्प्रदायिक प्रयत्न होते रहे होंगे। मूल कथानक से विशेष सम्बन्ध नही होते हुए भी इसमे अनेक छोटे और बड़े आख्यान बस जोड़ दिए गए हैं। जो भी हो, महाभारत सभी प्रकार के वर्णकों का एक महान संग्रह है और इसने उत्तरकालीन लेखकों को अपने विषय-निर्वाचन मे बहुत ही प्रभ वित किया है।

पक्षान्तर मे महाभारत जितने विविध विषय रामायण

---

१. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर भा. १ पृ. २३१

२. वी. एस. सुखठकर दी भृगुज एण्ड दी भारत, अनाल्स आफ दी बिहार उडीसा रिसर्च सोसाइटी पत्रिका भा. १८ खण्ड १ पृ. १–७६।

में नहीं है हालांकि इसका पाठ भी उन व्यवसायी कथकों के हाथों कि जो लोकरुची की मांग की पूर्ति करना चाहते थे, वृद्धि को अवश्य ही प्राप्त हुआ है। राम की कथा को महाभारत में भी स्थान मिल गया है और दशरथ जातक के कथानक से उसका निकट सादृश्य है। रामायण का पहला और अन्तिम काण्ड जिन्हें सूक्ष्मदर्शियों ने पीछे से जोडा हुआ घोषित किया है, उस विष्णु को महिमान्वित करने को, कि जिसने कि राम-रूप मे अवतार लिया था, सम्पादकीय प्रयत्न का स्पष्ट ही उद्घोष है। इस प्रकार विशुद्ध लोक-कथा पर भी साम्प्रदायिकता ने अपना हाथ साफ किया है। रामायण मे विकसित कुछ पात्र अवश्य ही मनोरंजक है। भारतीय स्त्री के आदरणीय आदर्श रूप मे सीता का वहाँ चित्रण है, और भारतीय गावों के लोकप्रिय देवता के रूप में श्री हनुमान का। सीता-जन्म की काल्पनिक कथा हमे उस ऋग्वेदीय लाङ्गल-पद्धति का स्मरण करा देती है कि जिसका वहाँ व्यक्तिकरण कर देवी रूप से आह्वान किया गया है। रामायण निरा महाकाव्य ही नहीं है, अपितु उसका बहुंताश ऐसी अलंकार-बहुल काव्य प्रवृत्ति भी प्रदर्शित करता है कि जहाँ कथा की शैली, उसके विषय जितनी ही महत्त्वपूर्ण है। उसके सातवे काण्ड मे विशेष रूप से, हमे अनेक पौराणिक कथाएँ और जीवनियां प्राप्त होती है जैसा कि ययाति एवं नहुष की जीवनी, वशिष्ठ और अगस्त्य की जन्म-कथा आदि-आदि कि जो पीछे से उसमे प्रविष्ट कर दी गई है।

अब पुराणों का विचार करें। जगदुत्पत्तिक और उनमें देवों, सन्तों, वीरो, अवतारो और राजवशों का वर्णन किया गया है। उनकी औपदेशिक ध्वनि और साम्प्रदायिक उद्देश्य सर्वत्र बिलकुल स्पष्ट है। महाभारत और रामायण के उत्तरकालीन क्षेपको से उनका सन्निकट सम्बन्ध परिपूर्ण परिलक्षित होता है।

रामायण में अलकार-बहुल शैली का प्रदर्शन कहीं-कहीं ही होता है। परन्तु जब हम सस्कृत-साहित्य के काव्य-स्तर की ओर देखते है तो महाकाव्य-स्तर से उसकी विशेषता स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है। महाकाव्यकार का मुख्य लक्ष्य अपना प्रतिपाद्य विषय और उसका सजीव वर्णन ही रहा था। परन्तु अन्य काव्यो मे, प्रतिपाद्य विषय कवि को अपनी व्याकरण-ज्ञान पटुता, भाव-व्यंजन सुकरता, शैली-चातुर्य, वर्णन और भाव दोनों से सम्बन्धित काव्यालंकारिता का सुदक्ष प्रयोग, और काव्यशास्त्र के जटिल और रवाजी सिद्धान्तो के पूर्ण ज्ञान के प्रदर्शन का, एक निर्बल आधार है। जो कभी गुण थे वे ही दोष हो गए, क्योंकि उत्तरकालीन कवियों ने अपने ज्ञान के पांडित्यपूर्ण प्रदर्शन की चिन्ता में विभिन्न मूल्यो को बल देने के अनुपात और सन्तुलन का सब ज्ञान ही भुला दिया है। जैसा कि मेक्डोन्येल ने कहा है, प्रतिपाद्य विषय जटिल अभिमान के प्रदर्शन का साधन अधिकतम मान लिया गया है यहाँ तक कि अन्त मे सिवा शाब्दिक कलाबाजी और दीर्घ पद-विन्यास के और कुछ वह रह नही गया है[३]। कालीदास से प्रारम्भ होकर और सस्कृत के जीवटपूर्ण काल की समाप्ति तक, महाभारत और रामायण ही अनेक लेखकों के लिए सदा-प्रवाही विषय-स्रोत रहे थे और जिसे उनने गीतिक, शृगारिक और औपदेशिक रसो द्वारा खूब अच्छी प्रकार सजाने मे कोई कसर ही नही रखी है। काव्यों मे रघुवश, भट्टिकाव्य, रावणवहो, जानकीहरण आदि का विषय राम कथा ही है और किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, नैषधीय आदि का विषय निर्वाचन महाभारत का आभारी है। नाटको मे से अधिकांश का प्रसग दोनों महाकाव्यो और बृहत्कथा से लिया गया है। मुद्राराक्षस और मालतीमाधव जैसे नाटक इने-गिने ही है कि जिनने महाकाव्य बाह्य पात्रों को अपने नाटक का विषय बनाया है। बाद के कवियो ने, चाहे गद्य हो या पद्य, कथा-वर्णक का ध्यान इतना नही रखा है जितना कि अपने पाडित्य-प्रदर्शन का। दशकुमारचरित, वासवदत्ता, कादम्बरी आदि गद्य रमण्यासो के लिए तो यह बिलकुल ही सत्य है। इनके लेखक दोनों महाकव्यो से गहन परिचित प्रतीत होते है, परन्तु उनके कथानक का विषय न तो उनसे लिखा ही गया है और न वह उनका है ही। उनकी शैली भी ऐसी है कि उन्हे परम-बुद्धि-अभिमानी भी कोई-कोई ही पढ़ सकता है। उपमाओ की छठा, अनुप्रासो का बाहुल्य, समास भरी जटिल शैली ही इन गद्यों के सामान्य

---

३. ए हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ. ३२६

लक्षण हैं। इनके साहित्यिक शौष्टव के रसास्वादन और काव्य-विचारणा के ग्रहण करने के लिए व्याकरण और अलंकार शास्त्र के कठोर अध्ययन की दीर्घकालीन शिशिक्षुता अत्यन्त ही आवश्यक है। इन लेखकों की इच्छा न होते हुए भी, उनकी पृष्ठभूमि धार्मिक है और सारे ही ग्रन्थ में धार्मिक औपदेशिक अनुरोध बिखरे पड़े है। भर्तृहरि जैसे लेखकों की रचनाओं में औपदेशिक तत्व प्रधान हो जाते है। अमरू जैसे कवियों की कृतियों में विशुद्ध शृङ्गार परिलक्षित होता है, परन्तु जयदेव जैसे कवि द्वारा ये ही भाव धार्मिक पृष्ठभूमि मे पच्चीकरण कर दिये गए हैं और आध्यात्मिक सुतान द्वारा उनकी अभिव्यंजना हुई है। इन अलंकार-बहुल रचनाओ में वर्णनात्मक कहानी का कोई अवकाश या क्षेत्र रह नही गया है।

जब हम पचतन्त्र और उस जैसे ही ग्रन्थो की औपदेशिक नीति-कथाओं का, भाव-व्यंजक कथाओ का जिनका नमूना बृहत्कथा मे होना प्रतीत होता है और जिनकी वेतालपंचविंशतिका आदि कथाए आज प्रतीक है और धार्मिक एव नैतिक कथाओं का कि जिनके नमूने महाकाव्यों में मिलते है और जिनका विभिन्न धर्म के अनुयायी अपने-अपने ढंग से परिपोषण करते है, व्यापकता का विचार करते है तो ऐसा मालूम होता है कि मनोरंजन का लक्ष्य उपेक्षित न करते हुए भी, पाठक को उपदेश देने की इच्छा ही लेखक के मन में सर्वोपरि है। मनुष्य भूल करने वाला एक पशु है जो अन्तर और बाह्य दोनों ही शक्तियों के प्रभाव से प्रभावित होकर अनेक रूप मे काम करता है। इसलिए उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र याने आचरण की शिक्षा देना परम आवश्यक है। बहुताश में यह ऐसे दृष्टान्तो द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है कि जिनमें पशु-पक्षी पात्र रूप से प्रस्तुत किये जाते हों, जिनमे काल्पनिक व्यक्ति भी भाग लेते बताए जाते है या जिनमें देव और अर्ध-ऐतिहासिक व्यक्ति तक अभिनेता हों।

२. श्रमण भावना : वैरागी काव्य

भारत की वर्णनात्मक कथा के स्थूल रूपरेखा का सर्वेक्षण अब तक जिस साहित्य से किया गया था, वह सब उन लोगों का था जो कि वेदों को सर्वोत्तम धार्मिक साहित्य मानते है और जो वैदिक धर्म या उसके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उत्तराधिकारी धर्मो के ही अनुयायी है। वेद काल से लेकर महाकाव्य एवं स्मृति काल तक के भारतीय साहित्य के सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन ने भारतीय विद्याविदों को साहित्य की इस व्यापकता मे निहित धार्मिक विचारधारा के दार्शनिक विकास मे एक दरार का पता लगा लेने मे सहायता मिली है। उपनिषद्-युग तक पहुँचने के पश्चात्, हमें ऐसे विचित्र विचारों से वास्ता पड़ता है जिसे कि पुनर्जन्म सिद्धान्त, वैराग्य और दुखवाद की ओर जीवन का झुकाव और यज्ञ धर्म से आत्मविद्या की महानता। अब ज्ञान का एकाधिकारी ब्राह्मण ही नही माना जाता है। प्रमुख क्षत्रियगण उपर्युक्त सिद्धान्तो मे से कुछ की व्याख्या और विवेचना करते देखे जाते है कि जिनका यथार्थवादी समीक्षक को वेद या ब्राह्मण में कोई भी आधार नहीं मिलता है। आर्यों के भारत में पदार्पण के पूर्व, हमारा यह सोचना उचित ही है कि, गगा-यमुना के के उर्वर तटों के सहारे-सहारे वसी अत्यन्त सुसंस्कृत समाज पहले से ही विद्यमान थी और उसके अपने धार्मिक आचार्य व उपदेष्टा भी थे। वैदिक शास्त्र सदा से ही मगध देश को जहां कि जैन एवं बौद्ध धर्म पूर्ण तेज के साथ चमक रहा था, कुछ-कुछ घृणा से देखते रहे है, क्योंकि ये धर्म वेदों का आधिपत्य स्वीकार ही नही करते थे। ब्राह्मण काल की समाप्ति पर दार्शनिक विचारधारा मे दीखने वाली इस दरार ने एक ऐसी स्वदेशी धार्मिक विचारधारा के अस्तित्व का स्वीकरण आवश्यक कर दिया है। कि जो आर्य विचारधारा को प्रभावित करते हुए स्वयम् भी उससे पूर्ण प्रभावित हुई होगी। भिन्न-भिन्न पण्डितो ने पूर्वी भारत के इस स्वदेशी धर्म का भिन्न-भिन्न रीति से वर्णन किया है। याकोबी ने उसे लोक-धर्म कहा; तो लायमेन ने यह कि उसके तोता परिव्राजक थे। गारबे ने उनका सम्बन्ध क्षत्रियों से बताया तो ह्रिस डेविड्स ने उसे सुसंगठित शक्तिशाली यायावरो का प्रभाव माना। विण्टरनिट्ज ने सहज रूप से इन विचारों को 'वैरागी काव्य' का नाम दिया और मै इसको 'मगध धर्म कहता हूँ। जैसा कि मैने अन्यत्र कहा है। हमे सांख्य, जैन, बौद्ध, और आजीवक सिद्धान्तो को आर्य विचारधारा के उपनिषदिक भूमि से अनुक्रमे संग्रहीत स्फुट विचारों की

विकृत संलगता ही कहना उचित नहीं है। इस सबकी आन्तरिक समानता, आर्य [वैदिक और ब्राह्मण] धर्म से इनकी अनिवार्य असमानता को सामने रखते हुए और उन दरारों का विचार करते हुए कि जो वैदिक और उपनिषदिक विचारधाराओं के अपक्षपाती अध्ययन से पाई जाएं, यही बताती है कि यहाँ ऐसी स्वदेशी विचारधारा जिसे हम सुविधा के लिए 'मागध धर्म' कह सकते है, पहले से विद्यमान थी ही कि जो सांसारिक दृष्टिकोण मे एकदम दुखवादी, आध्यात्मिकता में बहुदेववादी नही तो द्वैतवादी, आचार में विरागी, पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त मे नि:सन्देह विश्वास करने वाली, नैतिक दृष्टिकोण मे अतिमानवी और सर्वजीव-तत्ववादी, वेदो और वैदिक अनुष्ठानो मे श्रद्धा जरा भी नही रखनेवाली, और निःसकोच रूप से सृष्टिकर्ता का स्वीकार नहीं करनेवाली थी[४]। जैन और बौद्ध इस मागध धर्म के अच्छे आदर्शभूत प्रतिनिधि है कि जिसकी पृष्ठ-भूमि की रूपरेखा मैंने अन्यत्र इन शब्दो मे दी है, 'जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का अन्य भारतीय धर्म-सम्प्रदायो के सिद्धान्तों के साथ यहाँ वहाँ साम्य और वैषम्य बताते हुए जो संक्षिप्त सर्वेक्षण मैंने किया है, उससे मुझे भारतीय दार्शनिक विचारधारा के विकास मे जैन-धर्म की स्थिति पर अनिर्णायिक रूप से प्रकाश डालने का प्रलोभन होता है। जैन-धर्म को वेद की अधीनता का अस्वीकार, बौद्धो के पूर्ण और साख्यों के आशिक, कदाचित् यह बताता है कि ये तीनो एक ही विचारधारा के है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही नही अपितु उससे उद्भूत जीवन-दुःखवाद और कर्म सिद्धान्त कि जो वैदिक साहित्य के उपनिषदों मे ही सर्वप्रथम निश्चित रूप से दिखलाई पड़ता है, इन तीनों को समान रूप से मान्य है। दया और नीति का दृष्टिकोण एवम् हिंसा की घोर निन्दा, फिर चाहे वह यज्ञ के अर्थ अथवा व्यक्तिक इच्छा के लिए की जाए, भी तीनो को समान रूप से मान्य है। बौद्धों और साख्यों के सिद्धान्त बहुत से समान है, यह भारतीय-विद्याविदो के लिए कोई नई बात या सूचना नही है। तात्विक द्वैतवाद, आत्मा-बहुवाद, द्रव्य द्वारा आत्मा का विभ्रमण, साख्य का यह आदिम विश्वास कि पुरुष जितनी ही प्रकृतियाँ हैं और अनेक विशिष्ट बातें जैनों और सांख्यों को समान मान्य है। तीनों ही सम्प्रदायों में सृष्टि-कर्ता या ऐसे अतिमानव को कि जो दण्ड या पुरस्कार वितरण किया करे कोई भी स्थान प्राप्त नहीं है। इन सभी समान मान्यताओं की, वैदिक धर्म की स्वाभाविक विकास के साथ उस समय तक कोई भी संगति नही बैठती है जब तक कि उपनिषद्-युग का मध्य-काल नहीं आ जाता है। सांख्य ने, कि जिसे उसकी मनोमोहक परिभाषावली के कारण सनातन स्वीकार कर लिया गया है हालांकि वेद-मान्य सनातन से उसमें प्रकट विसंगतियाँ भी हैं, कतिपय उपनिषदों को विशेष रूप से प्रभावित किया है, और फिर आस्तिकवादी योग का बल पाकर सांख्य निःसन्देह ही सनातन बन गया है। जैन, सांख्य और बौद्धों की इन समान बातों को, उनके ऐसे ही आर्य-वैदिक अनुष्ठानों के समान मत-भेदों को, और आजीवक, पूरण काश्यप आदि सम्प्रदायों से मिलते-जुलते जैनों के कुछ विशेष सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए, मैं एक ऐसे महान् मागध-धर्म का, प्रमुख अनुभावों मे स्वदेशी, अस्तित्व स्वीकरण के पक्ष में हूँ कि जो मध्य-देश में आर्यों के आगमन के पूर्व ही पूर्वी भारत में गंगा के तटों पर फल-फूल रहा था। बहुत सम्भव है कि इन दोनों धाराओं का ब्राह्मण-युग के अन्त समय में संमिश्रण हुआ हो और उसके परिणाम स्वरूप एक ओर तो उससे उपनिषदों का उद्भव हुआ जिनमें याज्ञवल्क्य आदि ऋषि आत्म-विद्या का प्रचार पहले पहल कर रहे है एवम् दूसरी ओर जनता द्वारा आचरित वैदिकानुष्ठान रूपी धर्म के विपक्षी रूप में जैन और बौद्ध धर्म प्रचार पाए कि जो मागध-धर्म के महान् वारसे के सुदृढ़ प्रतिनिधि के रूप में शीर्ष स्थानी हुए[५]।

विण्टरनिट्ज के अनुसार, प्राचीन भारत में सभी बौद्धिक प्रवृत्तियां केवल ब्राह्मणों में ही परिसीमित नहीं थीं। ब्राह्मण शास्त्रों के साथ-साथ परिव्राजक, श्रमण, अथवा वैरागी साहित्य भी तब था। प्राचीन भारत के बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन के इन दो प्रतिनिधियों

४. प्रवचनसार, बम्बई १९३५, भूमिका पृ. १२–१३

५. वही, इन्ट्रोडक्सन, पृ. ९४–९५

को, बौद्ध ग्रन्थों में 'श्रमण और ब्राह्मण', अशोक के शिलालेखों में 'समणबंभण', और मेगस्थनीज द्वारा 'श्रकमनाह और सरमनाई कह कर भली प्रकार मान्य किया गया है। **अपनी पृथक-पृथक जीवन कथाओं, नैतिक मूल्यों और धार्मिक दृष्टिकोणों से ये दोनों ही भली प्रकार पहचाने जा सकते हैं। ब्राह्मण सिद्ध पुरुषों की जीवनियां वैदिक परम्परा और कथाओं से प्रारम्भ होती हैं।** महान् ऋषि, वैदिक मंत्रद्रष्टा और स्मृतिकार प्रायः देवो के समकक्ष ही स्थान पा गए और ब्राह्मणों को उसी प्रकार भेंटें दी जाने लगीं, मानों वे पूर्ण क्षमता प्राप्त देव प्रतिनिधि ही हों। परन्तु श्रमण सिद्ध-पुरुषों की जीवनियां संसार त्याग करने वाले संतों और घोर तप करने वाले तपस्वियों की है। ब्राह्मण नीति और धर्म विश्वास जातिवाद में खूब ही भींजे हुए है। वहाँ संसार-त्याग स्वीकार तो किया गया है, परन्तु जीवन में प्रमुख भाग उसे वहाँ प्राप्त नही है। वेद का ज्ञान, यज्ञ और ब्राह्मण की पूजा-प्रतिष्ठा ही को उसमे प्रमुखता दी गई है। नतिक मूल्यों का वहाँ महत्व लौकिक व्यवहारानुगत है। दान का अर्थ वहाँ है ब्राह्मणों के प्रति ही उदारवृत्ति। और आत्म-बलि का अर्थ है ब्राह्मणों की आज्ञानुवर्तिता। राजा का स्वर्ग गमन भी ब्राह्मण गुरू की एक-निष्ठ भक्ति पर ही निर्भर करता है। परन्तु वैरागी काव्यों के नैतिक लक्ष्य इससे बिलकुल ही भिन्न हैं। **नैतिक अनुशासन और संसार-त्याग यहाँ मोक्ष या निर्वाण प्राप्ति के साधन रूप किया जाता है। संत न तो किसी से स्वयम् भयाक्रान्त रहता है और न वह स्वयम् किसी को भयाक्रान्त करता है।** आत्म-त्याग और आत्म-निरोध का वह अत्युच्च अवतार ही है। सभी श्रेणियों के ज्ञानी इन ध्येयों का आचरण करते हैं, और अहिंसा एवम् मैत्री ही धार्मिक जीवन के अत्युच्च सिद्धान्त है।

विरागियों की नैतिकता या धर्म का आधार पुनर्जन्म और कर्म में विश्वास है। सर्वत्र संसार की प्रकृति की घोर शिकायत ही शिकायत है। मोक्ष के शाश्वत सुख पर खूब ही बल दिया गया है। ये विचार वेद में कहीं भी नहीं मिलते हैं। छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषदों में कर्म-सिद्धांत के कुछ आकस्मिक लक्षण मिल जाते हैं कि जहाँ इसका ज्ञान क्षत्रियों राजा द्वारा एक ब्राह्मण को दिया जा रहा है। वैरागी काव्य में जो संवाद स्पष्ट है उस दुःखवाद का निर्देश तों एक दम उत्तरकालीन उपनिषदों ही में दिखलाई पड़ता है।

इस वैरागी काव्य का स्पष्ट प्रभाव महाभारत और जैन एवम् बौद्ध शास्त्रों में ही दीख पड़ता है जैसा कि हम महाभारत के पिता-पुत्र संवाद में पाते हैं। इसका ही प्रतिरूप बौद्धजातक और जैन उत्तराध्ययन सूत्र में भी हमें दीख पड़ता है। इस प्रकार के वैरागी अंश महाभारत में अनेक है। उदाहरण स्वरूप निम्न अंश गिनाए जा सकते हैं:—विदुरनीतिवाक्य [५, ३२–४०], धृतराष्ट्र शोकापनोदन [स्त्री-पर्व २–७] 'कुएँ में लटक रहे मनुष्य' का दृष्टान्त, जो कि जैन एवम् बौद्ध शास्त्रों में भी पाया जाता है, कर्मव्याघ का उपदेश [वनपर्व, २०७-१६], तुलाधार-जाजली सम्वाद। शांतिपर्व, २६१–६४।, यज्ञ निन्दा प्रकरण [१२, २७२ आदि], गो कपिलीय प्रकरण [वही, २६६–७१], जनक की अनासक्ति [वही, १७८], जो जैन और बौद्ध शास्त्रों में भी है, व्याघ और कबूतर की कथा [शांति, १४३–४६], मुद्गल की कथा [३, २६० आदि], आदि आदि। इन अंशों में प्रतिपादित कुछ सिद्धान्त और नैतिक मूल्यों की ब्राह्मण धर्म से जैसा कि अन्यत्र उसका प्रतिपादन किया गया है, बिलकुल संगति नही है।

इस पुरातन भारतीय वैरागी काव्य की ऐतिहासिक स्थिति का जब हम विचार करते है तो कहना पड़ता है कि इसका उद्भव स्थान महाभारत तो नहीं ही है क्योकि इस प्रकार के अंश उसके नवीनतम स्तरों में ही मिलते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत में सम्मिलित किए जाने के पूर्व ही ये सम्वाद स्वतंत्र रूप से अस्तित्व मे होंगे। अन्त में विण्टरनिट्ज कहते हैं कि —मैं ऐसा सोचने को प्रेरित होता हूँ कि वैरागी काव्य और उसमें परिलक्षित जीवन का विशिष्ट दृष्टिकोण, सर्व प्रथम उस योग के पुरातन रूप में उद्भवित हुआ कि जो एक आचारपद्धति और पाप-निष्कृति का व्यवहारिक सिद्धान्त मात्र ही था और जो सांख्य विचारधारा से उतनी ही सरलता से मिलाया जा सकता था जितना कि

जैन और जैन और बौद्ध उपदेशों के साथ। सांख्य और योग दोनों ही यद्यपि अब सनातन ब्राह्मण-धर्म के पेटे मे समाविष्ट हो गए है, परन्तु मूलतः वे ब्राह्मण-धर्म नही थे। वे वेद से स्वतंत्र थे। उसने यह स्थिति स्वीकार कर ली है कि वैरागी काव्य के सिद्धों के कुछ जीवनवृत्य और उक्तियाँ जो कि महाभारत मे मिलती है, निःसन्देह जैन और बौद्ध शास्त्रों से लिए गए है। जो जीवनवृत्य और उक्तियां सब में समान रूप से है, उनके सम्बन्ध मे दो सम्भावनाएँ हो सकती है—'पहली तो यह कि मूलतः वे बौद्ध या जैन ही हो, या फिर यह कि ये सब अनुरूप अश किसी एक ही श्रोत याने इससे भी प्राचीनतर वैरागी साहित्य के हों कि जो सम्भवतया योग अथवा सांख्य-योग की शिक्षा के सम्बन्ध मे उद्भूत हुआ हो[६]।'

यद्यपि यह अभिगमन कुछ भिन्न है, फिर भी वैरागी साहित्य जिसका कि विवेचन ऊपर किया गया है, और मागध-धर्म जिसकी की रूपरेखा मैने यहाँ दी है, दोनों मे बहुत समानता है। मगध के भौगोलिक पक्षपात के सिवा, दोनो ही वाक्य-विशेष प्रायः एक ही प्रकार के भावों को प्रकाश करते हैं। यह एक दुर्भाग्य की ही बात है कि मंखली गोशाल, पूरण काश्यप, आदि आदि ज्ञानियों की कृतियाँ आज हमें कोई प्राप्त नहीं हैं। परन्तु जो प्राचीन भारतीय साहित्य वारसे में हमें प्राप्त हुआ है, उससे विण्टरनिट्ज की कही सिद्धों की जीवनियों की प्रकृति और नैतिक-धार्मिक दृष्टियो को मद्दे नजर रखते हुए यह नि. सकोच कहा जा सकता है कि जैन और बौद्ध साहित्य उस वैरागी काव्य के प्रधान रक्षक हैं और जैन धर्म एवं आर्य बौद्ध धर्म ही उस मगध धर्म के अति उत्कृष्ट प्रतिनिधि है।

३ आदि बौद्ध साहित्य :

सारे ही बौद्ध साहित्य में जिसका कि अध्ययन जैन साहित्य की अपेक्षा अधिक पूर्णता और सूक्ष्मता से किया जा रहा है, बुद्ध का व्यक्तित्व प्रायः प्रत्येक संदर्भ में पाठक पर अत्यधिक प्रभाव डालता है। बुद्ध ऐसे वैद्य धन्वन्तरी है कि जो मानव के दुःखों की चिकित्सा अपने ही धार्मिक सिद्धांत रूपी औषधियों को देकर करने के इच्छुक हैं। वे एक सफल उपदेशक थे और इसलिए वे लोगों के शरीर और मन दोनों पर ही शीघ्र अधिकार जमा लेते थे। फलतः हम पढ़ते हैं कि वे अनेक आल्हादक और मनोरंजक कथाएं जो कि शिक्षाप्रद और सुश्राव्य दोनों ही होती थीं, कहते और उन्हें सुनकर सब प्राणी इह भव और पर भव दोनों मे ही सुखी होते थे। भारतीय विचार पद्धति में दृष्टा ने महत्व का काम किया है और अनुमान वाक्य (सिलोनिज्म) में दृष्टान्त तो होते ही है। यही कारण था कि बुद्धदेव सभी प्रकार के जीवनों से अपने को पूर्ण अवगत रखते थे। इसलिए उदाहरण या दृष्टांत वे प्रस्तुत करते थे, श्रोताओं को उनकी बुद्धिमत्ता एवम् उनके उपदेश की प्रामाणिकता मे सहज ही विश्वास हो जाता था। यह भी बहुत सम्भव है कि बुद्ध अपने उपदेशों में लोक-कथा का भी समावेश करते थे। पाली साहित्य मे इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं कि बौद्ध साधुओं और उपदेशकों ने अपनी धर्म-देशनाओं को श्रद्धा, धर्म के लिए तपस्या, या दुःख सहन, सफल प्रायश्चित और अर्हत-पद प्राप्ति सम्बन्धी कथाओं के अनेक दृष्टान्तों द्वारा खूब ही सजाते थे। कभी-कभी वे धर्मप्राण जीवनियों की कल्पना भी कर लेते थे। परन्तु अधिकांशतया वे पशुओं की नीति कथाओं, रूप कथाओं और लोक कथाओं के सम्पन्न भण्डार से या अनाध्यात्मिक साहित्य मे से ही चुनी हुई कथाओं को ही थोड़ा सा हेर-फेर कर अपने धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के उपयुक्त और अनुरूप बना लेते थे। लोक या आध्यात्मिक साहित्यिक किसी भी कथानक को बौद्ध रूप देने में बोधिसत्व का सिद्धांत, पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धांत की दृष्टि से, एक उत्कृष्ट साधन था[७]। उपमाओं और दृष्टांतों का जनता पर बड़ा ही प्रभाव पड़ता है और उनसे श्रोता विशुद्ध तर्कों की अपेक्षा धर्म का मर्म बहुत शीघ्र समझ जाते हैं। प्रमुख उपदेष्टाओं ने इसीलिए अपनी देशनाओं को मनोरंजक और कर्णप्रिय

६. विन्टरनिट्ज के ग्रन्थ सम प्रावलम्स आफ इंडियन लिटरेचर कलकत्ता १९२५ में उत्कृष्ट लेख एसेटिक लिटरेचर इन इन्सेन्ट इंडिया का सार संक्षेप में दिया है।

७. इन्साइक्लोपीडिया आफ एथिक्स एण्ड रिलीजन भा० ७, पृ० ४६१।

बनाने के लिए सदा ही इनका उपयोग किया है।

हम विनयपिटक को ही लें। उसके खन्दकों मे नियमों और उपनियमों का प्रवेश दृष्टांतों द्वारा किया गया है और उनमें उसी समय का चित्रण है जब कि बुद्ध द्वारा उनकी घोषणा की गई थी। चूल्लवग्ग में भी हम अनेक उपदेशप्रद कथानक देखते है। उनमे से कुछ तो धर्म-परिवर्तन कथानक हैं तो कुछ ऐसे के जो बुद्ध के या बुद्ध के भिक्षुओं के जीवन के साथ गुंथे हुए है। सौरिपुत्त, मोगल्लान, महाप्रजापति, उपाली, जीवक आदि के कथानकों का सामाजिक और मनोवैज्ञानिक सार्वकालिक उपयोग है। सुत्तपिटक के दीर्घनिकाय और मज्झिमनिकाय में भी हमे बुद्ध जीवन की कुछ घटनाएँ मिलती हैं। पयासीसुत्त जेसे संवाद भी उनमें है और ऐसी पौराणिक कथाएँ और सिद्ध-पुरुषों की जीवनियां भी कि जो किसी सिद्धांत का प्रदर्शन करती है या कोई धर्माचार बताती है। छन्न, आस्सलायन आदि की कथाएँ किसी घटना के वास्तविक होने जैसी प्रतीत होती है। डाकू अंगुलिमाल का कथानक, कि जो भिक्खु होकर अर्हत् के पद तक पहुँच गया था, राजा मखदेव की जीवनी कि जिसने श्वेत केश के देखते ही प्रव्रज्या ले ली थी और रत्थपाल का संसार-त्याग और सांसारिक सुखों की असारता पर फिर भारी तिरस्कार, ये त्याग के आदर्श को गौरवान्वित करने वाले गेय कथानकों के कुछ उत्तमोत्तम उदाहरण हैं। विमानवत्थू और पेटवत्थू दोनों ही ग्रथों मे एक आदर्श पर ही बनी ऐसी कहानियाँ दी हुई है कि जिनमें परभव में सुखी या दुखी जीवन बिताने और अमुक अमुक सुख दुःख पाने के कारणों का चित्रण है। इन सब कहानियों का लक्ष्य कर्म सिद्धांत की सार्वभौमिकता और परम प्रभाविकता सिद्ध करना ही हैं। सम्बन्धित व्यक्ति जब अपने दुर्भाग्य और सौभाग्य के कारणों का विवेचन करता है तो इस प्रकार के वर्णकों का निश्चय ही श्रद्धाशील श्रोताचों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उस कथानक में जो भी कमी रह गई हो, टीकाकार उसकी खानापूरी कर देते हैं। थेर और थेरी गाथाएँ उन प्रव्रजित मनुष्यों और स्त्रियों की आत्मा की आध्यात्मिक स्खलनाओ की स्वीकृतियों का संग्रह है कि जो शांति प्राप्ति के उत्कट आकांक्षी थे। ये सब वैरागी वीर ही थे और इनकी उक्तियों द्वारा दिव्य-प्रकाश और उदाहरणों द्वारा प्रेरणा उन सब लोगों को मिलती है जो कि आध्यात्मिक लक्ष्य की साधना करना चाहते है। इन व्यक्तियों में कुछ तो ऐतिहासिक ही प्रतीत होते हैं। उनके वचनों में यद्यपि उनके जीवन की घटनाओं का विवरण कुछ भी नहीं मिलता है, फिर भी तदनुसारी अपदान कथाओं और धर्मपाल की टीका में इन भिक्षु और भिक्षुणियों के विषय में बहुत सा विवरण या ब्यौरा दिया हुआ है। अधिकांश कथाएँ बिलकुल यांत्रिक सी निरस लगती हैं। फिर भी धार्मिक और नैतिक उपदेश की कहानियां होने के कारण उनका एक विशेष महत्व है। नामों में उनका कोई मूल्य नहीं है, परन्तु त्याग की भावना, कर्म-सिद्धांत की क्रिया, धार्मिक और नैतिक मूल्यों की सत्यता और धर्म-परायण जीवन की आवश्यकता की छाप इन कथानकों द्वारा आस्तिकों पर पड़ती ही है। जब विभिन्न सांसारिक स्थिति के स्त्री-पुरुषों की कथाओं पर जिन्होने धार्मिक दृष्टियों से प्रेरणा प्राप्त कर भिक्खु जीवन स्वीकार कर लिया था, हम दृष्टिपात करते है तो सहज ही समझ जाते है कि वैराग्य के मूल्यों का इन कथा-लेखकों के दृष्टिकोण का प्रभाव बहुत ही बड़ा पड़ा था। इन कथानकों में से कुछ निःसदेह यथार्थ उपदेशी कथा और जीवन को वास्तविक चित्रों का मनोरंजक नमूना ही है।

फिर दो बौद्ध वर्णात्मक साहित्य के व्यापक प्राचीन ग्रन्थ है कि जो कि कथा द्वारा धार्मिक और बेरागी लक्ष्यों का-सिद्धान्तों का उपदेश देते हैं। इनमें से पहला ग्रन्थ है जातक और दूसरा है अपदान। बौद्ध परिभाषा के अनुसार[८] 'जातक' उस कथा को कहा जाता है कि जिसमें बुद्ध अपने किसी पूर्वजन्म में कुछ न कुछ भाग भजते ही है और वह भाग मुख्य नायक का हो या किसी अन्य का भी हो सकता है यहाँ तक कि एक सामान्य साक्षी तक का भी। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों के साथ मिल बोधिसत्व का सिद्धान्त, किसी भी कहानी को जातक का

८. वही, जातक पर लेख; बी. सी. लाः ए हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर कलकत्ता १९३० भा० १ पृ. २७१ आदि।

रूप दे सकता है। इन जातकों ने न केवल बुद्ध के व्यक्तित्व की महत्ता को और भी महान बना दिया है अपितु कर्म और पुनर्जन्म की भावनाओ को भी चुपचाप प्रसारित कर दिया है एवम् समाज की सामूहिक भलाई के नैतिक मानक भी स्थापन कर दिये है। जातक रूप मे प्रस्तुत की जाने वाली कुछ कहानियाँ तो सूत्रों से पहले से ही साधारण कहानियो के रूप मे मिलती है। यदि उनमे से बोधिसत्व का व्यक्तित्व, और विशिष्ट बौद्ध दृष्टिकोण एवम् परिभाषा निकाल दी जाए तो हम सहज ही मे देख सकेंगे कि उनमे रूप कथाएं, पौराणिक गल्पे, आख्यान, साहसी और रोमानी कहानियाँ, नीति की कथाएं और उक्तियाँ और सिद्ध-पुरुषो की जीवनियाँ सभी समाविष्ट है। ये सब भारतीय लोक-कथाओ के उस सामान्य भण्डार से ही ली गयी है जिनका कि भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों ने अपनी दृष्टि मे अपने लिए उपयोग किया है।

इन जातक कथाओं से दूसरे ही प्रकार की अपदान कथाएं है जिसमे नायक के पूर्वभवो की कथा इस दृष्टि से दी गई है कि अच्छे और बुरे कर्मों पर और आगामी भव मे उनसे प्राप्त होने वाले परिणामों पर पर्याप्त जोर दिया जा सके। ये साहसी कर्मों की कहानियां है, याने नर और नारियो के पुण्य और धार्मिक कार्यो की। 'जातक की तरह ही अपादान में' पूर्व भव की कथा और 'वर्तमान भव की कथा' तो होती है, परन्तु जातक में जहाँ सदा बुद्ध के पूर्व भवों की ही बात कही जाती है, वहाँ अपदान मे सामान्य रूप से परन्तु सदा ही नही किसी भी अर्हत् के पूर्व भव की बातें कही जाती हैं। अपदान मे भी कितने ही सन्तो की अच्छी जीवनियाँ हैं। कुछ तो थेर, और थेरी-गाथा के सुप्रसिद्ध भिक्षू और भिक्षुणियों जैसे ही हैं। ये कहानियाँ सामान्यतः प्रथम पुरुष मे ही कही गई हैं। इनमें कितने ही नाम तो ऐतिहासिक हैं। इनमें कितने ही नाम तो ऐतिहासिक ही है और सारिपुत्र, आनन्द, राहुल, खेमा, किसा-गोतमी, जैसे कुछ व्यक्ति तो बौद्ध परम्परा मे दूसरे आधारों से भी सुप्रतिष्ठित और सुख्यात हैं। परन्तु अधिकांश कहानियो का ढाँचा और विषय बिलकुल वैचित्र्यहीन है। ऐसा लगता है कि उनकी रचना पारमार्थिक या और किसी कार्य को गौरवान्वित करने के लिए ही विशिष्ट रूप से की गई है। टीकाकार बुद्धघोष और धर्मपाल दोनो ही ने जातक और अपदान दोनों प्रकार की अनेक कथाए अपनी अनेक टीकाओ में उद्धृत की हैं और ये सब मिला कर बौद्ध वर्णनात्मक कथाओं का एक महत्व का समूह या सग्रह है। इन सभी कथाओं मे धार्मिक और वैरागिक भावनाओ की रक्षा करने की प्रवृत्ति बिलकुल ही स्पष्ट है। (क्रमशः)

९. उदाहरणार्थ देखो, हारवर्ड ओ सिरीज भा० २८-३०, केम्ब्रिज मसे. १९२१ मे वरलिंगम का लेख बुद्धिष्ट लीजेण्ड्स।

भगवान महावीर और छोटा नागपुर

श्री सुबोधकुमार जैन

मगध से उत्कल प्रदेश (उड़ीसा) जाते हुए तीर्थंकर महावीर, विहार के छोटा नागपूर प्रदेश से गुजरे। मानभूमि और सिंहभूमि का यह इलाका उन सभी यात्रियो को पार करना ही पडता था जिन्हे बग देश या मगध से उत्कल जाना हो।

तीर्थंकर महावीर के उपदेशो से इस प्रदेश की जनता अत्यन्त प्रभावित हुई और देखते-देखते जैनधर्म यहाँ प्रथित और पल्लवित हुआ। दो वर्ष पूर्व जब मैं उड़ीसा के भुवनेश्वर नगर पहुँचा और वहाँ के मशहूर जैन तीर्थ खण्डगिरी और उदयगिरी की यात्रा की, तभी इन सभी क्षेत्रों के महत्व पर दृष्टि अनायास गई। मानभूमि और सिंहभूमि उडीसा से सटे हुए स्थल है। वर्धमान महावीर की वाणी ने उड़ीसा के जनमानस पर अपार प्रभाव डाला था। जिस प्रकार मगध के ख्यातिप्राप्त जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त, सम्प्रति आदि हुए उसी प्रकार यहाँ के सम्राट् खारवेल भी अपने काल के महान जैन राजनेता और वीर ऐतिहासिक नरपुंगव हुए थे। आज भी उड़ीसा वाले इस जैन सम्राट् खारवेल का नाम गौरव पूर्वक लेते हैं।

सम्राट् खारवेल के काल में मानभूमि और सिंहभूमि भी उत्कल नरेश के सहयोग से समृद्धि के शिखर पर पहुँच चुके थे। गाँव-गाँव में जैन चैत्यों, मन्दिरों और स्तूपो की शोभा अनोखी थी। श्रावकों की हजारों बस्तियां थी। आज भी इन सभी स्थानों के भग्न अवशेष मानभूमि और सिंहभूमि में बिखरे पड़े है। सड़कों के किनारों पर जैन मूर्तियाँ जहाँ तहाँ पड़ी मिलती है। पिछले १०० वर्षों की लिखित सूचनाओं के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनमें से हजारों बहुमूल्य ऐतिहासिक मूर्तियाँ अब लापता हो चुकी हैं। प्राचीन श्रावक परिवारों के सुसंस्कृत एवं सभ्य नागरिक लुप्त हो चुके है, जो कुछ आज भी बचे है वे पिछड़े वर्ग के कहे जाते है एवं उन्हें हम श्रावक नहीं 'सराक' कहते है। यानी वह हम श्रावकों से भिन्न 'सराक' जाति के लोग माने जाते है।

यह सारे दुर्भाग्य की कहानी जो कि आज है, ई० सं० १३०० के लगभग तक वह ही हमारे गौरव का इतिहास था। इसे हम भूल चुके हैं।

ईसा के ६०० वर्ष पूर्व महावीर के पावन चरण से पवित्र ये भूमियाँ और श्रावकों से भरपूर इनके नगर और गाँव आखिर कैसे बिखर गये?

सम्राट् अशोक और उनके पौत्र सम्राट् सम्प्रति के काल तक इन स्थलों की हजारों जैन नगरियाँ और गाँव, जैन यति, मुनियों और श्रावक श्राविकाओं द्वारा ससार के सारे वैभवों से भरपूर थे। जैनधर्म की पताका मगध से उत्कल प्रदेश एवं बंग देश तक फहराती थी। एक कथनानुसार महावीर स्वामी ने अपने तीर्थकाल का प्रथम चौमासा वर्धमान नगरी में बिताया था। यह प्राचीन वर्धमान नगरी ही बंगाल का आधुनिक 'वर्दवान' है। इसके पूर्व प्राचीनतम काल में इस स्थान को अस्थिग्राम के नाम से जाना जाता था। वर्धमान महावीर के प्रथम चौमासे का स्थल होने के कारण ही यह वर्धमान नगरी के नाम से मशहूर हो गया।

विषयान्तर तो हो रहा हूँ, परन्तु इसी सदर्भ मे यह सूचना भी कर दू कि पिछले ३–४ मास से इस 'बर्दवान' का नाम फिर से 'वर्धमान' स्थापित करने का मैं प्रयास कर रहा हूँ। मैंने इस विषय में बंगाल के मुख्य मंत्री श्री अजय मुखर्जी से पत्र व्यवहार के द्वारा 'वर्धमान का नाम पुनः स्थापित करने की स्वीकृति ले ली है। अब भारत सरकार से पत्र व्यवहार चल रहा है।

इस प्रकार निश्चय पूर्वक ऐतिहासिक बल पर कहा जा सकता है कि भारतवर्ष का पूर्वीय अंचल प्राचीनकाल मे श्रमण सस्कृति का केन्द्र रहा है। यही कारण है कि भारत के प्राचीन हिन्दू शास्त्रों मे इस प्रदेश को अपवित्र एवं दूषित स्थान घोषित किया है। कही पर तो जैनियों को 'दानव' तक कह डाला है। वैसे तो दानव कहने की प्रथा ही ऐसी थी कि विरोधियो को दानव कह देना सहज था। प्राचीन कथाओ मे मनुष्यों को दानव बना डालने के उदाहरण भरे पड़े है।

मानभूमि और सिंहभूमि की जैन संस्कृति भी उसी धार्मिक वैमनस्य की शिकार हुई। अन्य धर्मावलम्बियों के उत्पीडन के द्वारा बौद्धधर्म तो बिल्कुल ही इस प्रदेश ही क्या भारत से ही उखड़ गया। जैनधर्म उखड़ा तो नहीं, बिखर अवश्य गया।

भारत के प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त से लेकर सम्राट् सम्प्रति तक जैनधर्म को राज्याश्रय अखण्ड रूप से मिला। परन्तु इन्ही मौर्य सम्राटों की शृखला में अन्तिम मौर्य राजा वृहद्रथ को उनके सेनापति पुष्यमित्र ने मार डाला और स्वयं मगध का शासक बन बैठा। मौर्य सम्राटों द्वारा दण्ड-समता और व्यवहार-समता के ऐसे कड़े नियम बनाये गए थे जिसके द्वारा ब्राह्मणों के लिए विशेष सरक्षण के कानून दूर हो चुके थे। अन्दर ही अन्दर उनमे आग सुलग रही थी परन्तु बलशाली सम्राटों के आगे उनकी कुछ चलती न थी। अवसर खोजने की क्रियाएँ तो चल रही थी, जिसे पुष्यमित्र ने पूरा कर दिया। तदुपरान्त मौर्यो के सर्वधर्म समन्वय और सरक्षण के सिद्धान्तो की बलि दी गई और पुष्यमित्र ने मगध से ही क्या, मानभूमि और सिंहभूमि से भी श्रमणों को मिटा देने में राज्य की सारी शक्ति लगा दी। ब्राह्मण अपनी विजय पर दीवाने हो गये थे और पुष्यमित्र ने अत्याचार एवं दानवीय वृत्तियों द्वारा भीषण सहार किया। कहा जाता है कि उसने पजाब के जलन्धर तक के जैनियो और बौद्धों

के असंख्य मठों और मन्दिरों को मिट्टी में मिला दिया।

उसी समय जब इस संसार की सूचना उत्कल सम्राट खारवेल को मिली तो वह अत्यन्त दुःखी और क्रोधित हुआ। उसने घोषणा की कि 'यद्यपि वह अहिंसा सिद्धान्त का पोषक है फिर भी सत्य की रक्षा के लिए उसे युद्ध करना ही होगा।' 'हाथी-गुम्फा' के पत्थर पर उत्कीर्ण इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि खारवेल ने मगध पर चढ़ाई कर दी। वह मानभूमि के उसी श्रमण प्रदेश से होता हुआ मगध की ओर बढ़ा, जिस जैन भूमि का पुष्यमित्र ने संहार किया था। ज्यो-ज्यों वह पुष्यमित्र के अत्याचार को देखता हुआ मगध की ओर बढ़ा, उसका क्रोध बढ़ता ही गया।

सम्राट् खारवेल की वीरता भारत क्या, विदेशो मे भी प्रख्यात थी। गया के गोरठ-गिरी के पास ज्यों ही उसकी सेना पहुँची सारे मगध राज्य मे खलबली मच गई और मारे डर के पुष्यमित्र मगध छोड़ कर मथुरा की ओर भाग खड़ा हुआ। उस समय मथुरा का शासक ग्रीस देश का डेमेट्रिओस था। महान् सिकन्दर द्वारा मनोनीत गवर्नर था। भयभीत होकर कि सम्राट् खारवेल, पुष्यमित्र को खदेड़ता हुआ मथुरा आ पहुँचेगा, सिकन्दर का गवर्नर डेमेट्रिओस भी मथुरा छोड कर भागा।

सम्राट् खारवेल के शासन का यह १२वा साल था। वह इस युद्ध मे उत्कल से इतने सारे हाथी लाया था कि अपनी सारी सेना को उसने हाथी पर ही गंगा पार कराया था। 'हाथी-गुम्फा' के लेख मे यह भी बताया गया है कि मगध के सेनापति वहसतिमित्र को उसके चरणो मे सर नवा कर क्षमा माँगनी पड़ी। उसने सम्राट् खारवेल के चरणों पर अपार सुवर्ण एव जवाहरातो को रखकर उसे प्रसन्न किया। उसी समय जैन सम्राट् खारवेल ने वर्षों पूर्व मगध के राजा नन्द के द्वारा अपहरण की हुई उत्कल राजघराने की भगवान आदिनाथ की श्री सम्पन्न मूर्ति मगध राज्य से वापस ली। मगध से उत्कल तक मूर्तिके साथ की गई उसकी शोभा यात्रा कैसी अद्भुत हुई होगी उसका अनुमान सहज लगाया जा सकता है।

सम्राट् खारवेल ने मगध की गद्दी पर लोभ नही किया। दुश्मन को उसने क्षमा अवश्य कर दिया। इस प्रकार श्रमण संस्कृति भारत से विनाश होने से बच गई। भारत के इतिहास में खारवेल अमर हो गया। वापसी काल मे उसने भग्न जैन चैत्यो और मन्दिरों का पुनर्निर्माण कराया। श्रावकों की वस्तियो को फिर से बसाने और समृद्ध करने मे अपार धन लगा दिया। मानभूमि और सिंहभूमि श्री सम्पन्न हो गई।

ई० स० ७०० के निकट श्रावको द्वारा छोटा नागपुर के इलाको से व्यापार देश विदेशो मे बहुत चलता था। उत्कल (उड़ीसा) और बंगाल के समुद्र तटों से विदेश व्यापार होता था। धीरे धीरे श्रावको ने ताम्बे की खानों का इस प्रदेश मे पता लगाया और सम्भवत: भारत में ये पहले लोग थे जिन्होंने अपने हाथो से ताम्बे का उत्पादन किया और अत्यन्त उच्चकोटि तक अपनी कार्यक्षमता को ले गए।

बगाल गजेटियर (Vol. XX) सिंहभूमि (१६०६) मे अंग्रेज श्री. मेले ने लिखा है जिससे स्पष्ट है कि सराक नाम के पिछड़े वर्गों द्वारा (Copper) ताम्बा निकालने का ढग देखकर अत्यन्त आश्चर्य उसे हुआ था बिना मशीन के वे अपने हाथो से ही उच्चकोटि का ताम्बा उत्पादित करते थे।

श्री. मेले के ५० वर्ष पूर्व डा० स्टोहर ने जो कि स्वयं उच्चकोटि के इन्जीनियर थे लिखा है—ये लोग जमीन की बहुत तह मे जाकर काम नही करते; परन्तु ताम्बा उत्पादन की क्षमता सराको की उत्तम है क्योंकि वे बिना किसी कल-पुर्जे के ही अपना कार्य सिद्धहस्त होकर करते है। इनसे पूछने से मालूम होता कि सैकड़ों वर्षों से इनके घर यह धन्धा चला आ रहा था।

सन् १८६८ मे डा० बिल ने लिखा है— 'सराक नाम की एक जाति जो कि एक जमाने मे इस प्रदेश के अधिपति थे, ताम्बा निकालने मे अपूर्व क्षमता रखते होंगे। उन्होंने इस प्रदेश के उन सभी स्थलो की खोज अत्यन्त बारीकी से की होगी जहाँ भी ताम्बा की खाने हैं क्योंकि ऐसे सारे स्थलो पर ताम्बा निकाले जाने के आधार मिलते है। आज भी उन्ही सराक जाति के अशिक्षित वर्ग द्वारा कही-कही ताम्बा निकाला जाता है।'

मेजर टिकेल ने १८४० ई० मे लिखा है—सरावक

जाति, जो कि आज लगभग बिलकुल मिट चुकी है, एक जमाने में सिंहभूमि के स्वामी थे। उस समय उनकी बड़ी संख्या थी और वे समृद्ध थे। कहा जाता है कि वे सिकरा भूमि के निवासी थे। सरावकों के को आगे चलकर यहाँ से भगा दिया गया।

कर्नल डानरल ने लिखा है—'यह सर्व स्वीकृत है कि सिंहभूमि का भाग उन सरावकों द्वारा स्वामित्व में था, जिनकी कलाकृतियाँ उनके गौरव की गाथा आज भी बतलाती है। वे निश्चयपूर्वक उन आदि आर्य्य सन्तति के थे जो कि सिंहभूमि और निकटस्थ मानभूमि में आकर बस गए थे। ये श्रावक जैन थे। सरावकों ने तालाब बहुत बनवाए।'

आज भी हजारों मील के इन सारे इलाकों मे ऐसे तालाबों की भरमार है जिन्हे सराक ताल कहते है। स्पष्ट है कि सरावकों द्वारा जन समुदाय की सुविधा के लिए तालाबों का निर्माण कराया गया था।

प्राचीन मूर्तियो के आधार पर कोई पुरातत्ववेत्ता तो इन स्थानों की श्रमण संस्कृति को २००० वर्ष पूर्व तक ले जाते है यहाँ से प्राप्त बहुत सी पुरातत्व की सामग्रियाँ, पटना और उड़ीसा के म्युजियम की शोभा बढ़ा रही है। ई० सन् ११०० तक की प्राप्त मूर्तियों में अत्यन्त उच्च-कोटि के शिल्प के दर्शन होते है। इसके उपरान्त एक ऐसा अन्तराल आता है जिससे यह लगता है कि श्रावक समुदाय इस स्थान से मिट सा गया। उनके घर द्वार, मन्दिर चैत्यों के विनाश की सम्भावना चोल नरेश राजेन्द्र चोल देव की सेना के द्वारा की जाती है। ई० १०२३ में राजेन्द्र चोलदेव जब बंगदेश के महिपाल को युद्ध मे हरा कर छोटानागपुर के मानभूमि प्रदेश से गुजर रहे थे तभी धर्मान्ध विजयी नरेश और उसकी सेना ने श्रमण संस्कृति को गहरी चोट पहुँचाई। पाण्ड्य वंशीय साम्राज्यवादी भी नही चूके। लिंगायत शैवों का छोटा नागपुर में उदय और धर्मपरिवर्तन के उनके अभियान ने १३०० ई० में कुछ ऐसे कट्टर श्रमण द्रोही शक्तियों के आगमन का अवसर दिया जिससे देखते-देखते श्रमणों का अधिकार छोटा नागपुर से समाप्त हो गया।

जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों को भैरव की मूर्ति के रूप में, धरणेन्द्र-पद्मावति की मूर्ति को हर-पार्वती के रूप में पूजा जाने लगा। तंत्रवादी महायान शैवों ने अपना आतंक फैलाया और इस प्रकार हर तरीके से श्रमण संस्कृति की अद्भुत कला कृतियों, उनके रीति-रिवाजों आदि के समूल विनाश को पूरा किया जाने लगा।

पाकवीर की तीर्थंकर प्रतिमाओ को हिन्दू देवता बनाकर उनके समक्ष पशुओं की बलि कुछ वर्ष पूर्व तक चलती रही थी। बाहुवलि भगवान की एक मूर्ति को आज भी भैरव की मूर्ति के रूप मे पूजा जा रहा है। तेल और रोली से उन्हे रग दिया गया है।

उस काल मे पाकवीर, चन्दन क्यारी, बलरामपुर, सिंहगुड आदि ऐसे स्थान थे जो संभवतः धर्म और व्यापार के जैन केन्द्र कहे जा सकते है।

आज भी जमीन मे गड़े मन्दिर दीखते है जिनके शिखर कहीं-कहीं निकले दीखते है। भग्न मन्दिर टूटी-फूटी और जहाँ तहाँ बिखरी तीर्थंकरों की प्रतिष्ठित मूर्तियाँ दीखती है। नष्ट हुए श्रावक-ताल और श्रावक बिरादरी को उबारने के लिए फिर सभवतः किसी काल में आगामी तीर्थंकर को ही वहाँ जाना होगा या संभवतः कभी किसी खारवेल का उदय हो। आज के भारत में तो कोई ऐसा सामर्थ्यवान और श्रीमान वीर नहीं जो वर्धमान महावीर के श्री चरणों से पवित्र इस जैन भूमि या सिंह-भूमि के बचे खुचे सराकों और उनके प्राचीन गौरव के खण्डहरो की पुनः प्रतिष्ठित करा सके। ★

जैन तीथकर की कुछ महत्वपूर्ण मृण्मूर्तियाँ

संकटाप्रसाद शुक्ल एम. ए.

राज्य-संग्रहालय, लखनऊ मे जैन तीर्थंकर की दो महत्वपूर्ण मृण्मूर्तियाँ संग्रहीत हैं। इनसे जैन कला एवं मूर्तिविद्या (iconography) पर विशेष प्रकाश पडता है। इन मृण्मूर्तियों का विवरण निम्न है :—

(अ) संग्रहालय की एक मृण्मूर्ति अभिलिखित है जो खीरी जिले (उ० प्र०) के मोहम्दी नामक स्थान से उपलब्ध हुई है। इस पर तीन अक्षरों का अभिलेख है जिसमे 'सुपार्श्वः' शब्द उत्कीर्ण है। अभिलेख की लिपि प्रारम्भिक गुप्तकालीन ब्राह्मी है। अतः अभिलेख के आधार पर मृण्मूर्ति की पहिचान जैन तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ से की जा सकती है (चित्र १)[1]। इस मृण्मूर्ति में तीर्थंकर की आकृति चतुर्भुजाकार फलक पर उभरी हुई है। वह ध्यान-मुद्रा मे बैठे है। मृण्मूर्ति मे अंकित उनकी आकृति एक युवक जैसी लगती है। उनका केश-विन्यास सीमन्त से लहरदार (तरंग युक्त) दिखलाया गया है। यह विशेषोल्लेखनीय है कि जैन तीर्थंकर की मूर्तियों मे उन्हें प्रायः मुण्डित शिर दिखलाया जाता है। इस मृण्मूर्ति में केश-विन्यास दिखलाया जाना सचमुच महत्व का है। उनके कानों में कुण्डल है। जैन तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का सिर सर्प फणों से आच्छादित दिखलाया जाता है। इस मृन्मूर्ति में सिर के चारों ओर जो प्रभामण्डल है उसकी आकृति एक फण के सदृश है। अतः संभव है कि कलाकार का उद्देश्य प्रभामण्डल न दिखलाकर सर्प-फण दिखलाना ही अभीष्ट रहा हो। उसके साथ ही इस मूर्ति में वक्ष पर श्रीबत्स चिन्ह नहीं है।

(ब) संग्रहालय की दूसरी जैन तीर्थंकर की मृण्मूर्ति के प्राप्ति-स्थान के विषय में जानकारी नही है। यह खण्डित मृण्मूर्ति है जो कबन्ध मात्र है। इस कबन्ध की माप ८"×६" है। इसमें सिर भुजाएँ एवं अधो-शरीर खण्डित है। तीर्थंकर की इस मूर्ति मे श्रीवत्स चिन्ह भी है। यह मृण्मूर्ति मूलतः ध्यान-मुद्रा मे रही होगी, क्योंकि भुजाएँ वक्ष से सटी न होकर वक्ष से अलग दिखलायी गई हैं। शैली के आधार पर यह मृण्मूर्ति गुप्तकालीन प्रतीत होती है। (चित्र २)[2]।

उपर्युक्त दो मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त तीर्थंकर की एक और भी मृण्मूर्ति प्राप्त हुई है। यह तीसरी मृण्मूर्ति मिदनापुर (बंगाल) के तिल्दा नामक स्थान पर मिली थी जो अब आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता के संग्रह में है[3]। इसमें तीर्थंकर का कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकन हुआ है।

प्राचीन भारतीय कला में जैन मृण्मूर्तियों का अभाव है। अब तक उपरोक्त तीन मृण्मूर्तियाँ ही उपलब्ध हैं। जैन मृण्मूर्तियों की कमी का उपयुक्त उत्तर पा सकना कठिन है। वैसे जैन तीर्थंकर की मृण्मूर्तियों के निर्माण एवं पूजन के सम्बन्ध में कोई धार्मिक प्रतिबन्ध नहीं था। जैन बृहत्कथा कोष[4] के ज्ञानाचरण कथानकम् में अहिच्छत्रा के राजा वस्तुपाल द्वारा एक जैन मन्दिर (जिनायतन) निर्मित कराने का उल्लेख मिलता है जो उस मन्दिर में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मृण्मूर्ति स्थापित कराना चाहता था। कारीगर उक्त मूर्ति बनाने में असफल रहे। अन्ततः एक जैन उपासक मृण्मूर्ति बनाने में सफल हुआ था। मृण्मूर्ति-कला प्रायः लोक-जीवन की कला मानी जाती है। क्या जैनधर्म की मृण्मूर्तियों का अभाव इस धर्म के प्रति लोगों की उदासीनता का सकेत है ?

---

१. राज्य-संग्रहालय, सं०, ५३-६६ (आकार ५॥"×२॥")।

२. राज्य-संग्रहालय, स० ६७.७ :

३. इन्डियन आर्कीओलोजी १९६०-६१ ए रिव्यू, पृ० ७० Pl. LXXXG.

४. बृहत्कथाकोष, (सं०) डा० ए. एन. उपाध्ये, बम्बई, १९४४, कथानक सं० २०, पृ० ३५।

आधुनिकता-आधुनिक और पुरानी

डा० प्रद्युम्नकुमार जैन

यह सच है कि आधुनिकता स्वयं में कोई मूल्य नही है, अपितु मूल्यों का अधिकरण है। वह मूल्यों की वनस्थली है जो कालक्रम के साथ कभी मुरझाती, कभी खिलती हुई अस्तित्ववान है। या यूं कहिए आधुनिकता मूल्यों के चुनाव का एक इतिहास और चुने हुए मूल्यों को विभिन्न आयामों में देखने का एक दृष्टि-क्रम है। कुबेर नाथ राय के शब्दों में, "वास्तविकता फैशन से कहीं गहरी और सूक्ष्म चीज है। यह एक दृष्टि-क्रम है, एक बोध-प्रक्रिया एक संस्कार-प्रवाह है......एक खास तरह का स्वभाव है......" यह संस्कार-प्रवाह काल-तत्व पर तिरता हुआ भी काल-गत सीमाओं से मुक्त अविछिन्न है। हां, इस प्रवाह के स्फूर्ति-केन्द्र अवश्य यत्र-तत्र बिखरे हैं जो इतिहास क्रम के मील-पट्ट से दृष्टिगत होते है। ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व का काल उसी आधुनिक भाव-बोध का काल कहा जा सकता है जो आज अपनी पूरी-स्फूर्ति के साथ उभर कर ऊपर आया है। भगवान महावीर तत्कालीन भाव-बोध के कविर्मनीषी है। प्रस्तुत निबन्ध मे उसी महावीर-कालीन एवं वर्तमान-कालीन आधुनिकता का एक तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करने का प्रस्ताव है।

ईसा पूर्व की छटवी शताब्दी नवीन दृष्टि खोज की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। धर्म तत्कालीन मनीषियों के लिए एक दृष्टि-बोध है। वह कुछ पिटेपिटाये क्रिया-कलापों की नुमायश भर नही है। इसी धर्म-रूपी नवीन दृष्टि की खोज मे पुराण कश्यप, अजित केशकम्बलि, पकुध कच्छायन, संजय बेलट्ठिपुत्त, मक्खलि गोशाल आदि अनेक यथाकथित तीर्थंकरों ने आधुनिकता की पयस्विनी के स्रोत पर परिश्रम किया। सभी के प्रयासों में एक बात जो सामान्य रूप से मुखर थी, वह थी—पुरातन के प्रति विद्रोह अथवा पुराने मूल्यों के प्रति सम्पूर्णतः मोह-भंग। नात्तपुत्त महावीर ने उक्त तीर्थंकरों के अपूर्ण अभियान अथवा छटपटाती आत्माभिव्यक्ति को एक निश्चितता प्रदान की। महावीर ने एक महत्वपूर्ण घोषणा की, कि धर्म एक दृष्टि-बोध है। दृष्टि-बोध एक प्रकार से आत्म-बोध का परिचायिक है। अस्तु आत्म-बोध ही धर्म का केन्द्रबिंदु है। आत्म-बोध का तात्पर्य है अपने ही अस्तित्व का बोध अथवा सहानुभूति। स्वातिरिक्त किसी अन्य तत्व का, चाहे वह कितना ही ऊंचा क्यों न हो, अस्तित्व-बोध उपादेय नहीं है। उपादेयता का प्रतिफलन स्वानुभूति से ही सम्भव है। स्वानुभूति अस्ति का स्वीकार है, अस्ति का स्वीकार ही उपादेय है और जो उपादेय है वही वस्तुतः आनन्दकारी है। इस प्रकार स्वानुभूति अस्तित्व-स्वीकृति के रूप मे सत्य, उपादेय रूप मे शिव तथा आनन्द रूप मे सुन्दर है। स्वानुभूतिपरक धर्म इस प्रकार सत्यं, शिव सुन्दरम् का प्रतीक है।

मोक्ष जीवन का चरम मूल्य उद्घाटित हुआ। मुल्य के सामान्य अर्थ-बोध में जीवन की वह स्थिति आती है जो सत्य, शिव और सुन्दर की दृष्ट्या काम्य है। मोक्ष की सम्बोधना है, परन्तु उस चरम काम्यता का तात्पर्य यहां केवल परोपजीवी तुष्टि-स्पृहा से ही नही है, अपितु वह कामना अथवा काम्यता से भी अत्यन्त निवृत्ति और निर्बाध, अहेतुक अस्तित्व-बोध की चरम उपलब्धि। उपलब्धि और निवृत्ति के योगस्वरूप ही मोक्ष की स्थापना हुई। उपलब्धि स्वतत्व की अस्ति-सूचक भाव-भूमि का स्वीकार है, तथा निवृत्ति स्व में स्व के नास्तित्व अथवा पर के अस्तित्व का इन्कार है। अतः मान्य हुआ, कि स्वोपलब्धि के रूप में जीव या आत्मा का अस्तित्व है तथा निवृत्ति के रूप मे जीव या आत्मा का अस्तित्व है तथा निवृत्ति के रूप मे अजीव या अनात्मा का नास्तित्व है। अब व्यावहारिक रूप में उपलब्धि की उत्क्रान्ति निवृत्ति की आचारिक भूमिका पर निर्भर करती है, क्योंकि निवृत्ति नास्तित्व के निषेध की एक प्रक्रिया है। चूंकि स्वोपलब्धि के लिए स्वेतर सब कुछ अनुपादेय है, और अनुपादेय का त्याग ही निवृत्ति है। अस्तु निवृत्ति-रूपा स्वोपलब्धि अत्यन्त त्याग की एक स्थिति है। त्याग इसीलिए महावीर से दृष्टि-बोधीय दर्शन में चरम मूल्य के

अर्जन की एक मात्र भूमिका है।

त्याग, यदि वास्तविक रूप में देखा जाए, आत्मान्वेषण की तीव्र यन्त्रणा का अहसास भर है। कोई वस्तु हमसे भौतिकत: कितनी दूर है—त्याग के लिए इसका कोई अधिक मूल्य नही, बल्कि हमारे अन्दर किसी वस्तु के कितने दूर होने का अहसास है और उस अहसास मे कितनी दृढता है—यह है त्याग का वास्तविक मापदण्ड। त्याग हमारे अस्तित्व के असंसारीकरण की प्रक्रिया है। और मोक्ष त्याग की आत्यन्तिक अवस्था है। मोक्ष की स्थिति इस प्रकार परिपूर्ण असंसार की स्थिति है। व्यावहारिक रूप से मोक्ष स्व के निषेध (अनात्मा) के निषेध की आत्यन्तिक स्थिति है। व्यवहार-धर्म इसी निवृत्ति-प्रधान त्याग और तपस्या का धर्म होता है। मोक्ष रूपी चरम मूल्य के अर्जन हेतु व्यवहार-धर्म के लिए इसके अलावा कोई दूसरा विकल्प सम्भव ही नही।

परमार्थ अथवा, जैनो के पदानुसार, निश्चय धर्म स्वोपलब्धि की सम्यक् व्यवस्था है। परन्तु वह स्वोपलब्धि व्यवहार धर्म की निवृत्ति से कोई स्वतन्त्र अवस्था नहीं। निवृत्ति अथवा त्याग, जैसा कि कहा आत्मान्वेषण की तीव्र यत्रणा का अहसास है, तो निश्चय स्वोपलब्धि उक्त अहसास का एक अहेतुक अहसास भर है। यहाँ तक कि मोक्षावस्था मे जब एक ओर परिपूर्ण असंसार का अहसास है तो उसी में दूसरी ओर उक्त अहसास का एक अहेतुक अहसास भी संलग्न है। ऐसी अवस्था मे असंसार रूपी ज्ञान को क्षायिक ज्ञान और अहसास के अहेतुक अहसास रूपी ज्ञान को केवल-ज्ञान की संज्ञा दी गई। व्यवहार और निश्चय धर्म इस प्रकार एक-दूसरे के परिपूरक है, क्योंकि व्यवहार धर्म में ही असंसार का अहसास है और निश्चय धर्म उसी अहसास का एक अहेतुक अहसास है। बिना अहसास के अहेतुक अहसास सम्भव नहीं और बिना अहेतुक अहसास के असंसार का अहसास कोई मानी नही रखता। इसीलिए परिपूर्ण जीवनप्रणाली निश्चय और व्यवहार-धर्म का समन्वय ही कही जाएगी।

आधुनिकता की अ-अनुभूति वस्तुतः निश्चय जीवन-प्रणाली की एप्रोच है। इसमें स्वेतर सम्पूर्ण मान्यताओं, मर्यादाओं और परम्पराओं का निषेध अथवा निवृत्ति भाव निहित है। मोह-भग के रूप मे वहां असंसारीकरण-प्रक्रिया का प्राधान्य है। इस परम्परा-मुक्ति आन्दोलन के पीछे स्व की मौलिकता की छटपटाहट है। निश्चय जीवन की यह छटपटाहट व्यवहार के अनेक प्रतिमानों, प्रतीकों और रेखाचित्रों में व्यक्त है। और इस प्रकार यह जीवन के सम्पूर्णत्वादि को जी लेने का एक जीवंत उपक्रम है। महावीर ने भी इसीलिए किसी भी धर्म-ग्रन्थ अथवा ईश्वरादिव्य अस्तित्व को अपने धर्म-प्रवर्तन का आश्रय-दाता नही माना। स्वतन्त्र और मौलिक आत्म-प्रक्रिया को अनात्म के सम्पूर्ण त्याग के द्वारा हीं सम्भव स्वीकारा। यही से आधुनिक भाव-बोध का इतिहास प्रारम्भ हो जाता है।

आधुनिक भाव-बोध का परम वैशिष्ट्य उसका यथार्थवादी दृष्टि-बोध है। यथार्थवादी दृष्टि-बोध का सीधा-सा तात्पर्य है ज्ञान के विभिन्न आयामों का उचित समादर। ज्ञान के यदि मोटे से दो आयाम यथा, ऐन्द्रिक एव अतीन्द्रिक मान ले तो स्पष्ट होता है, दोनों ही आयामों की सापेक्षा मूल्यवानता है। कोई भी आयाम ऐकान्तिक रूप से न तो सत्य है और न ही असत्य। प्रत्येक की वैधता जो एक तार्किक प्रक्रिया मात्र है अपनी-अपनी भूमिका पर निर्भर करती है। भूमिका से तात्पर्य उसकी तार्किक आधार-भूमि से है जिससे कोई वैध कहा जाने वाला वचन नि.सृत होता है और प्रामाणिक मान्य होता है। इस प्रकार यथार्थ-बोध किसी भी सत्य का सापेक्ष मूल्याकन मात्र है। इस मूल्याकन में सत्य की तात्विकता का हानि-लाभ नहीं, अपितु उसका निरंतर आयामी-करण होता है। वस्तु-सत्य एक आयाम से एक और गहरे अथवा व्यापक आयाम मे अतर्भूत होता जाता है। महावीर ने आत्म-ज्ञान के पांच आयामो का निर्देशन किया—मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय एव केवल। पांचों आयाम उत्तरोत्तर गहरे और व्यापक हैं, जिनमे प्रत्येक पूर्ववर्ती आयास का अपने उत्तरवर्ती आयाम मे समाहार है। मति में आत्मानुभूति की जो उपलब्धि होती है श्रुतादि में वह निराकृति नही हो जाती है, अपितु उनके व्यापक आयामों का एक अभिन्न अंग बन जाती है। छोटा सा उदाहरण है, कि हमने अपने मति-ज्ञान से सामने पड़े हुए वस्तु-सत्य को समाचार-पत्र मान्य किया। यह

समाचार-पत्र का होना श्रुत से केवल-ज्ञान पर्यंत वैसा ही वैध है जैसा कि मति-ज्ञान मे था। हा, यह हो सकता है कि अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान रूपी अतीन्द्रिय ज्ञान में वही वस्तु-सत्य समाचार-पत्र के साथ-साथ कुछ और भी दिखाई पड़ने लगे। उसकी अनेकानेक गुण द्रव्य गत पर्यायें समवेत रूप से विषयगत हो जाये, परन्तु उस सम्पूर्ण जटिल एवं व्यापक दृष्टि-बोध मे मति-ज्ञान के एक लघु कण का अनस्तित्व नही हो सकता। इस प्रकार वस्तु-सत्य के प्रत्येक आयाम मे दूसरे आयाम का तात्विक समादर यथार्थ दृष्टि-बोध की जान है। जैनो ने इस स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद और आज के भी अनेकानेक मनीषियों ने विभिन्न नामो से आधुनिक भाव-बोध के अन्तर्गत मान्य किया है।

इसी यथार्थवाद के परिणामस्वरूप वस्तु-सत्य की प्रत्येक पर्याय का प्रत्येक क्षण यथार्थतः भोग्य हो गया। इस प्रकार चिन्तक अथवा साहित्यकार के लिए प्रत्येक क्षण एक विशेष महत्व को लिए प्रकट हुआ। वस्तु सत्य अपनी सम्पूर्ण तात्विकता के साथ शृखला-बद्ध क्षणों की सारिणी में प्रकट हुआ देखा जाने लगा। क्षण की उपादेयता अथवा अनुपादेयता अलग चीज है, लेकिन प्रत्येक क्षण है...यह मान लेना महत्वपूर्ण हो गया। महावीर ने कहा—धर्म के लिए मान लेना पहले आवश्यक है कि पाप भी है, आत्मा भी है और अनात्मा भी है, ससार भी है और मोक्ष भी है, आदि—ऐसे वैपरित्य युगल के अस्तित्व को स्वीकार कर ही पाप का, आत्म-बोध का, मोक्ष का अगीकार और विरोधी का निषेध किया जा सकता है। जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं, उसका निषेध भी कैसा। महावीर ने इसीलिए तत्कालीन सभी समस्याओं का यथार्थ दर्शन कर उन्हें उपादेयोन्मुखी किया। दास-प्रथा, आर्थिक असमानता, यौन सम्बन्ध, शोषण आदि सभी समस्याओं पर उनका निश्चित दृष्टिकोण है।

आधुनिकता के इस प्रथम दौर मे एक महत्वपूर्ण मुद्दा और है—अहिंसा। अहिंसा का साधारणतः अर्थ है 'न मारना'। 'न मारने' मे पर के निमित्त अनुराग और करुणा की प्रतीक होती है। क्या करुणा मोह-भंग दर्शन की निस्संगिता से कोई मेल खाती है? क्या तीर्थंकर जो अहिंसा के सर्वोच्च अवतार हैं पर के अनुराग से अन्न हैं? वस्तुतः अहिंसा-तत्व को अनुराग और करूणा से संयोजित करना ही भूल है। अहिंसा निस्संगता की ही पर्याय है। क्योंकि हिंसा, यदि वस्तुतः देखा जाये, राग का परिणाम है। बस राग-वृत्ति का निषेधी-करण ही वीतरागता है। और वीतरागता अहिंसा है। न मारना तो उक्त वीतरागता का प्रतिफलन है। वीतरागता आत्म-दृष्टि मात्र है। अहिंसा उसी आत्म-दृष्टि की प्रक्रिया है। अहिंसक के लिए किसी का मरना या जीना दोनों बराबर हैं। अहिंसक के पास तो एक साफ दृष्टि है, जिससे वह वस्तु सत्य के स्वतः होने वाले परिणमन का यथा रूप अवलोकन करता है। वह किसी परिणमित क्षण का कर्ता नही, दृष्टा होता है। संसार के प्रत्येक परिणमित क्षण का वैसा ही निदर्शन कर देना और उसे किसी गहरे तात्विक निषेध से संयोजित कर देना आधुनिक भाव-बोध का तकनीक है, जो महावीरके अहिंसा-बोधका ही दूसरा नाम है।

अहिंसा-बोध में वस्तु-सत्य का सम्यक् समादर है। वस्तु-सत्य वही है जो अस्तिमय है। अतः अस्तित्व अथवा, जैन पदावली मे, सत्ता की प्रत्येक पर्याय समादरणीय है। देश, काल, भाव, द्रव्य आदि अनेक अपेक्षाओ से पर्यायो की विविधता अनन्तरूपा बनती है। ये अनन्तरूप सत्ताणुएं अपने कार्मिक क्षयोपशम की शक्ति से उत्थित और विलुप्त होती हुई अहिंसा के शुद्ध ज्ञान का विषय बनती है। अहिसक अपने पूर्ण निस्सग भाव से इन सत्ताणुओ का स्वभाव मात्र अवलोकित कर निज स्वभाव की उपलब्धि में संलग्न रहता है। इस निज स्वभाव की उपलब्धि का व्यावहारिक परिणमन है अतर्जीवीकरण, जो लेखक के दृष्टि-कोण मे राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, मानवीयकरण के भी बाद का सोपान है। आज जबकि हम केवल इन प्रारम्भिक सोपानों में ही भटक रहे है, महावीरकालीन आधुनिकता इन सबको लांघ चुकी थी, लेकिन कालान्तर में वही पतनग्रस्त होकर केवल सम्प्रदायीकरण के सोपान पर आ बैठी। अब हमारे पास भविष्य में यह आशा करने का यथेष्ट आधार उपलब्ध है, कि आत्म-बोध की इस आधुनिक प्रक्रिया का विकास जीवन के प्रत्येक पहलू में उत्तरोत्तर होता ही चला जाएगा। ●

राजस्थान के जैन सन्त मुनि पद्मनन्दी

परमानन्द जैन

राजस्थान भारतीय जैन संस्कृति का प्राचीन समय से केन्द्र रहा है। राजस्थान मे निर्मित अनेक गगनचुम्बी विशाल एवं कलापूर्ण जिन मन्दिर उसकी शोभा को दुगणित कर रहे है। यहां से सहस्रो जिन मूर्तियो का निर्माण और उनका प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न हुआ है। अनेक महापुरुषो ने यहाँ जन्म लेकर राजस्थान की कीर्ति को दिगन्त व्यापी बनाने का यत्न किया है। यहाँ अनेक मुनि पुगव आचार्य, भट्टारक और विद्वान हुए हैं। जिन्होने जैन धर्म की पताका को उन्नत मे पूरा सहयोग प्रदान किया है। राजस्थान मे अनेक महानुभाव दीवान जैसे राज्यकीय उच्चपदों पर प्रतिष्ठित रहे है। और राज्य-श्रेष्ठी तथा कोषःध्यक्ष भी रहे है। जिनमे से कुछ ने आत्म-साधना के साथ जनसाधारण की भलाई करने मे अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया है। अनेक सन्तो और विद्वानो के उपदेश से जनसाधारण मे आत्म-हित की भावना प्रकट हुई है। उन सन्तो ने विविध प्रकार के साहित्य की सृष्टि कर जैन सस्कृति का विस्तार किया है। और साहित्य का सकलन तथा उसकी सुरक्षा का भी कार्य किया है। जैन विद्वानो ने बिना किसी स्वार्थ के सत् साहित्य की सृष्टि कर तथा सस्कृत-प्राकृत के ग्रथों का हिन्दी गद्य-पद्य मे अनुवादित कर जन मानस मे जैन धर्म के अहिसा तत्त्व का प्रचार व प्रसार किया है। दूसरी ओर अनेक जैन वीरो ने राज्य की सुरक्षा के हित आत्म-बलिदान किया है, और उसकी समृद्धि बढ़ाने मे अपने कर्तव्य का पालन किया है। आज इस छोटे से लेख द्वारा राजस्थान के एक जनसेवी सन्त का संक्षिप्त परिचय दे रहा हूँ जिसने अपने जीवन का समग्र बहुभाग जैन संस्कृति के साथ लोक में शिक्षा का आदर्श उपस्थित किया है और अपने विशुद्ध निर्मल आचार द्वारा जनता में नैतिक बल का संचार किया है।

जैन सन्त पद्मनन्दो भट्टारक प्रभाचन्द के पट्टधर शिष्य थे।[1] विशुद्ध सिद्धान्तरत्नाकर और प्रतिभा द्वारा प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए थे। उनके शुद्ध हृदय में अभेदभाव से आलिङ्गन करती हुई ज्ञान रूपी हंसी आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करती है। स्याद्वाद सिन्धुरूप अमृत के वर्धक थे। जिन्होंने जिनदीक्षा धारण कर जिनवाणी और पृथ्वी को पवित्र किया था। महाव्रती पुरन्दर तथा शान्ति से रागांकुर दग्ध करने वाले वे परमहस, निर्ग्रन्थ पुरुषार्थशाली, अशेष-शास्त्रज्ञ सर्वहित परायण मुनिश्रेष्ठ पद्मनन्दी जयवन्त रहे।[2] इन विशेषणो से पद्मनन्दी की महत्ता का सहज ही बोध हो जाता है। इनकी जाति ब्राह्मण थी। एक बार प्रतिष्ठा महोत्सव के समय व्यवस्थापक गृहस्थ की अविद्यमानता मे प्रभाचन्द्र ने उस उत्सव को पट्टाभिषेक का रूप देकर पद्मनन्दि को अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया था। इनके पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय पट्टावली में सं० १३८५ पौष शुक्ला सप्तमो बतलाया गया है। वे उस पट्ट पर स० १४७३ तक तो आसीन रहे ही हैं, इसके अतिरिक्त और कितने समय तक रहे यह कुछ ज्ञात नही हुआ, और न यह ही ज्ञात हो सका कि उनका स्वर्गवास कहाँ और

---

१. श्रीमत्प्रभाचन्द्रमुनीन्द्रपट्टे
शश्वत प्रतिष्ठा प्रतिभागरिष्टः।
विशुद्धसिद्धान्तरहस्यरत्न रत्नाकरा नदतु पद्मनन्दी ॥
—शुभन्द्र पट्टावली

हंसो ज्ञान मरालिका सम समाश्लेष प्रभूताद्भुता।
नन्द क्रीडति मानसेति विशदे यस्या निशं सर्व्वतः।
स्याद्वादामृत सिन्धु वर्धन विधौ श्रीमत्प्रभेन्दु प्रभाः।
पट्टे सूरि मतल्लिका सजयतात् श्री पद्मनन्दी मुनिः।
महाव्रत पुरन्दरः प्रशमदग्धरोगांकुरः।
स्फुरत्परम पौरुषः स्थितिरशेष शास्त्रार्थ वित्।
यशोभर मदोहरी कृत समस्त विश्वम्भरः।
परोपकृति तत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः।
—शुभचन्द्र पट्टावली।

कब हुआ है? कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि पद्मनन्दी भट्टारक पद पर १४६५ तक रहे हैं। इस सम्बध में उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण तो नही दिया, किन्तु उनका केवल वैसा अनुमान मात्र है। अतएव इस कयास मे कोई प्रामाणिकता नही है; क्योंकि संवत् १४७३ की पद्मकीर्ति पार्श्वनाथ चरित की लिपि प्रशस्ति से स्पष्ट जाना जाता है कि पद्मनन्दि उस समय तक पट्ट पर विराजमान थे। जैसा कि उक्त प्रशस्ति के निम्न वाक्य से प्रकट है:—

"कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री रत्नकीर्तिदेवास्तेषा पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री पद्म-नन्दिदेवास्तेषां पट्ट प्रवर्तमाने।"

(मुद्रित पार्श्वनाथ चरित्र प्रशस्ति)

इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे दीर्घ जीवी थे। पट्टावली में उनकी आयु निन्यानवे वर्ष अट्ठाईस दिन की बतलाई गई है। और पट्टकाल ६५ वर्ष आठ दिन बतलाया है।

यहाँ इतना और प्रकट कर देना उचित जान पडता है कि वि० सं० १४७९ में असवाल कवि द्वारा रचित 'पासणाह चरिउ' में पद्मनन्दि के पद पर प्रतिष्ठित होने वाले शुभचन्द्र का उल्लेख निम्न शब्दों में किया गया है—'ततो पट्टंवर ससिणामें, सुहससिमुणिपय पंकम चंदहो।' चूंकि सं० १४७४ में पद्मनन्दि द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तिलेख उपलब्ध है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पद्मनन्दि ने सं० १४७४ के बाद और सं० १४७९ से पूर्व किसी समय शुभचन्द्र को अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया था।

कवि असवाल ने कुशार्तदेश के करहल नगर मे सं० १४७१ में कवि हल्ल या जयमित्र हल्ल द्वारा रचित 'मल्लिणाह' काव्य की प्रशंसा का भी उल्लेख किया है। उक्त ग्रंथ भ० पद्मनन्दि के पट्ट पर प्रतिष्ठित रहते हुए उनके शिष्य द्वारा रचा गया था। कवि हरिचन्द ने अपना वर्धमान काव्य भी लगभग उसी समय रचा था। इसी से उसमें कवि ने उनका खुला यशोगान किया है—'पद्मणंदि मुणिणाह गणिदहु, चरण सरणु गुरु कइ हरिइंदहु।'

(वर्धमान काव्य)

आपके अनेक शिष्य थे, जिन्हें पद्मनन्दि ने स्वयं शिक्षा देकर विद्वान बनाया था। भ० शुभचन्द्र तो उनके पट्टधर शिष्य थे ही, किन्तु आपके अन्य तीन शिष्यों से भट्टारक पट्टों की तीन परम्पराएं प्रारम्भ हुई थी, जिनका आगे शाखा प्रशाखा रूप मे विस्तार हुआ है। भट्टारक शुभचन्द्र दिल्ली परम्परा के विद्वान थे। इनके द्वारा 'सिद्धचक्र' की कथा रची गई है[३]। जिसे उन्होंने सम्यग्दृष्टि जालान के लिए बनाई थी। भ० सकलकीर्ति से ईडर की गद्दी की स्थापना हुई थी। चूकि पद्मनन्दी मूलसघ के विद्वान थे, अतः इनकी परम्परा में मूलसंघ की परम्परा का विस्तार हुआ। पद्मनन्दि अपने समय के अच्छे विद्वान, विचारक और प्रभावशाली भट्टारक थे। भ० सकलकीर्ति ने इनके पास आठ वर्ष रहकर छन्द, काव्य, व्याकरण, कोष, धर्म दर्शन, साहित्य और कला आदि का ज्ञान प्राप्त किया था और कविता मे निपुणता प्राप्त की थी। भट्टारक सकल-कीर्ति ने अपनी रचनाओ में उनका सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। पद्मनन्दि केवल गद्दीधारी भट्टारक ही नही थे, अपितु जैन सस्कृति के प्रचार एव प्रसार मे सदा तन्मय रहते थे।

पद्मनन्दि प्रतिष्ठचार्य भी थे। इनके द्वारा विभिन्न स्थानों पर अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई थी। जहा वे मन्त्र-तंत्रवादी थे वहा वे अत्यत विवेकशील और चतुर थे। आपके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तिया विभिन्न स्थानो के मन्दिरों मे पाई जाती है। पाठकों की जानकारी के लिए दो मूर्तिलेख नीचे दिए जाते हैं:—

१ आदिनाथ—ओं संवत १४५० वैसाख सुदी १२ गुरौ श्री चाहुवाण वंश कुशेशय मार्तण्ड सारवे विक्रमन्य श्रीमत सरूप भूपान्वय कुडदेवात्मजस्य भूषज शक्तस्य श्री सुवसृपथैः राज्ये प्रयर्तमाने श्री मूलसंघे भ० श्रीप्रभाचन्द्र देव तत्पट्टे श्री पद्मनन्दि देव तदुपदेशे गोला राडान्वये ..।

(भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ९२)

२ अरहंत—हरितवर्ण कृष्णमूर्ति—सं० १४६३ वर्षे माघ सुदि १३ शुके श्री मूलसंघे पट्टाचार्य श्री पद्मनन्दि देवा गोलाराडान्वये साधु नागदेव सुत......। (इटावा के

---

३ श्री पद्मनन्दी मुनिराज पट्टे शुभोपदेशी शुभचन्द्र देवः।
श्रीसिद्धचक्रस्य कथाऽवतारं चकार भव्यांबुज
भानुमाली ॥
—(जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० भा० १ पृ० ८८)

जैन मूर्ति लेख) प्राचीन जैन लेख सग्रह पृ० ३८ ।

ऐतिहासिक घटना

भ० पद्मनन्दि के सान्निध्य मे दिल्ली का एक संघ गिरनार जी की यात्रा को गया था । उस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय का भी एक सघ उक्त तीर्थ की यात्रार्थ वहाँ आया हुआ था । उस समय दोनो संघो मे यह विवाद छिड गया कि पहले कौन वन्दना करे । जब विवाद ने तूल पकड लिया और कुछ भी निर्णय न हो सका तब उसके शमनार्थ यह युक्ति सोची गई कि जो संघ पाषाण की सरस्वती से अपने को 'आद्य' कहला देगा वही सघ पहले यात्रा कर सकेगा । अतः भट्टारक पद्मनन्दि ने पाषाण की सरस्वती देवी के मुख से 'आद्य दिगम्बर' कहला दिया, इसमे विवाद के सुलझने मे उस समय सहायता मिली । चूंकि इस विवाद का निर्णय मुनि पद्मनन्दि के द्वारा हुआ था । पद्मनन्दि ने पाषाण की सरस्वती देवीके मुख से 'आद्य दिगम्बर' शब्द कहला कर दिगम्बर पहले है । अत: वे पहले ऊर्जयन्त गिरि की यात्रा करे । ऐसा निश्चित होने पर दिगम्बरों ने पहले तीर्थ यात्रा की—भगवान नेमिनाथ की भक्ति पूजा की । उसके बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने । उसी समय से बलात्कार गण की प्रसिद्धि मानी जाती है । वे पद्य इस प्रकार है:—

> पद्मनन्दि गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी ।
> पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती ।।
> ऊर्ज्जयतगिरौ तेन गच्छः सरस्वतोऽभवत् ।
> अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नम श्रीपद्मनन्दिन ।।

यह घटना ऐतिहासिक है जो पद्मनन्दि के साथ घटित हुई है । पद्मनन्दि नाम साम्य के कारण कुछ विद्वानो ने कुन्दकुन्दाचार्य से इस घटना का सम्बन्ध जोड दिया था । वह गलत है । यह घटना प्रस्तुत पद्मनन्दि के समय घटी है । इससे भ० पद्मनन्दि के मत्र-तत्रवादी होने की पुष्टि होती है ।

रचनाएं

भ० पद्मनन्दि की अनेक रचनाएँ होगी, जिनमें देव-शास्त्र, गुरुपूजन सस्कृत, सिद्धपूजा सस्कृत और दो तीन रचनाएँ इन्ही पद्मनन्द की हैं या अन्य पद्मनन्दि की, यह विचारणीय है । इन रचनाओं में पद्मनन्दि के अतिरिक्त प्रभाचन्द्र का कोई उल्लेख नही है । जब कि अन्य रचनाओं मे प्रभाचन्द्र का भी उल्लेख उपलब्ध होता है । ऐसी रचनाएं श्रावकाचारसारोद्धार, वर्धमान काव्य, जीरापल्लि पार्श्वनाथ स्तोत्र और भावना चतुर्विशति ।

श्रावकाचार सारोद्धार सस्कृत भाषा का पद्यबद्ध ग्रंथ है उसमे तीन परिच्छेद हैं जिनमे श्रावकधर्म का विवेचन किया गया है । इस ग्रंथ के निर्माण मे प्रेरक लंब कचुक कुलान्वयी (लमेचू वंशज) साहू वासाधर[1] है । उनके पितामह का भी नामोल्लेख हुआ है । जिन्होने 'सूपकारसार' नामक ग्रथ की रचना की थी । यह ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध है, विद्वानो को उसका अन्वेषण करना चाहिए । इस ग्रंथ की अन्तिम प्रशस्ति मे साहू वासाधर के परिवार का अच्छा परिचय कराया गया है । और बतलाया गया है कि गोकर्ण के पुत्र सोमदेव हुए जो राजा अभयचन्द और जयचन्द के समय प्रधानमन्त्री थे । सोमदेव की पत्नी का नाम प्रेमसिरि था, उससे सात पुत्र उत्पन्न हुए थे । वासाधर, हरिराज, प्रहलाद, महराज, भवराज, रतनाख्य, और सतनाख्य । इनमे ज्येष्ठ पुत्र वासाधर सबसे अधिक बुद्धिमान, धर्मात्मा और कर्तव्य-परायण था । इसकी प्रेरणा और आग्रह से ही मुनि पद्मनन्दि ने उक्त श्रावकाचार की रचना की थी । वासाधर ने चन्द्रवाड मे एक जिन मन्दिर बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा विधि भी सम्पन्न की थी । कवि धनपाल के शब्दों में वासाधर सम्यक्त्वी, जिन चरणों का भक्त जैन धर्म के पालन में तत्पर, दयालु, बहुलोक मित्र, मिथ्यात्व रहित तथा विशुद्ध चित्त वाला था[2] । भ०

---

१ श्रीलम्बकेचुकुल पद्म विकासभानुः,
सोमात्मजो दूरितदारुचयकृशानुः
धर्मेकसाधन परो भुविभव्य वन्धु-
र्वासाधरो विजयते गुणरत्न सिन्धुः।
—बाहुबली चरित सधि ४

२. जिणणाह चरण भत्तो जिणधम्मपरो दयालोए ।
सिरि सोमदेव तणओ णंदउ वासद्धरो णिच्च ।।
सम्मत्तजुत्तो जिणपाय भत्तो दयालु रत्तोबहुलोय मित्तो ।
मिच्छत्तचत्तो सुविसुद्ध चित्तो वासाधरो णंदउ पुण्ण-
चित्तो ।। —बाहुबली चरित सं० ३

प्रभाचन्द्र के शिष्य धनपाल ने भी सं० १४५६ मे चन्द्रवाडनगर में उक्त वासाधर की प्रेरणा से अपभ्रंश भाषा मे 'बाहुवली चरित' की रचना की थी।

दूसरी कृति वर्धमान काव्य या जिनरात्रि कथा है। जिसके प्रथम सर्गमें ३५६ और दूसरे सर्ग मे २०५ पद्य पाये जाते हैं। जिनमें अन्तिम तीर्थंकर महावीरका चरित अकित किया गया है। किन्तु ग्रन्थ रचनाकाल नही दिया, जिससे उसका निश्चित समय बतलाना कठिन है। इस ग्रन्थ की एक प्रति जयपुर के पार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर मे अवस्थित है जिसका लिपि काल सं० १५१८ है। और दूसरी प्रति स० १५२२ की लिखी हुई गोपीपुरा सूरत के शास्त्र भडार में सुरक्षित है। इनके अतिरिक्त 'अनत व्रत कथा' भी भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि की बनाई हुई उपलब्ध है, जिसमे ८५ श्लोक है।

जीरापल्लि पार्श्वनाथ स्तवन और भावना चतुर्विंशति इन दोनों स्तवनों के कर्ता भी उक्त पद्मनन्दी ही है। शेष रचनाए अन्वेषणीय है।

पद्मनन्दि ने अनेक देशों, ग्रामों, नगरों आदि मे विहार कर जनकल्याण का कार्य किया है, लोकोपयोगी साहित्य का निर्माण तथा उपदेशों द्वारा सन्मार्ग दिखलाया है। इनके शिष्य-प्रशिष्यो से जैनधर्म की महती सेवा हुई है। वर्षों तक साहित्य का निर्माण, शास्त्र भंडारों का सकलन और प्रतिष्ठादि कार्यों द्वारा जैनधर्म और जैन सस्कृति के प्रचार मे बल मिला है। इसी तरह के अन्य अनेक सत है जिनका परिचय भी जन साधारण तक नही पहुँचा है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर पद्मनन्दि का परिचय दिया गया है। चूकि पद्मनन्दि मूलसंघ के विद्वान थे, वे दिगम्बर रहते थे और अपने को मुनि कहते थे। और यथाविधि तथा यथाशक्य आचार विधि का पालन कर जीवन यापन करते थे। ●

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में

प्रकाशक का स्थान	वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागज दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्विमासिक
मुद्रक का नाम	प्रेमचन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	प्रेमचन्द, मन्त्री वीर सेवा मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
सम्पादक का नाम	डा० आ. ने. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्, कोल्हापुर
	डा० प्रेम सागर, बडौत
	यशपाल जैन, दिल्ली
	परमानन्द जैन शास्त्री, दिल्ली
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, दिल्ली।
स्वामिनी संस्था	वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली

मै प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही हैं।

१७-२-७०

ह० प्रेमचन्द

(प्रेमचन्द)

नरेन्द्र सेन

के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण

श्रीमान् प० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला के ४७वे ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित 'प्रमाण प्रमेयकलिका' नामक संस्कृत न्यायग्रन्थ आचार्य नरेन्द्रसेन के द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में कोठिया जी ने ७ नरेन्द्रसेनो का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम और द्वितीय नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति, तृतीय नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति, चतुर्थ पचम षष्ट नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति और सप्तम नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति कहे गये है। इस प्रकार चार नरेन्द्रसेनो का नामोल्लेख करके इनमे से अन्तिम अर्थात् सप्तम नरेन्द्रसेन को प्रमाण-प्रमेय कलिका का रचयिता मानकर इनका समय शक स० १६७३ वि. सं. १८०८ बतलाते हुए इन्ही को कोठियाजी ने उपर्युक्त न्यायग्रन्थ का प्रणेता निर्धारित किया है।

कोठियाजी ने प्रथम नरेन्द्रसेन के सबध मे अपनी प्रस्तावना मे लिखा है कि वादिराजसूरि रचित 'न्याय-विनिश्चय विवरणातर्गत अन्तिम प्रशस्ति के 'विद्यानन्द-मनतवीर्यसुखदम्' इस द्वितीय पद्य मे बादिराज ने विद्यानंद, अनंतवीर्य, पूज्यपाद, दयापाल, सन्मतिसागर (मतिसागर) कनकसेन और स्वामी समंतभद्र-सदृश समर्थ आचार्यों की पक्ति मे नरेन्द्रसेन का नाम उल्लेख करके उनकी निर्दोष नीति को भक्ति से स्मरण किया है। साथ ही साथ इस सम्बन्ध मे दूसरा कोई साधन प्राप्त न होने के कारण कोठियाजी ने वादिराज द्वारा ही रचित पार्श्वनाथचरितार्गत प्रशस्ति मे प्रतिपादित शक वर्ष ९४७ (ई० सन् १०२५) को उधृत करते हुए न्यायविनिश्चयविवरण की प्रशस्ति में उल्लिखित नरेन्द्रसेन को वादिराजसूरि से पूर्ववर्ती बतलाया है। पर वादिराज की प्रशस्ति मे प्रतिपादित सभी विद्वानों को वादिराज से पूर्ववर्ती मानना युक्तिसगत नहीं होगा। क्योंकि उनमे से कम से कम कतिपय विद्वान अवश्य उनके समकालीन भी रहे होंगे।

वादिराज के गुरु, कनकसेन के शिष्य दयापाल के सम्बन्ध मे शिवमोग्गा जिलान्तर्गत नगर तालुका के होंबुज के ३५वे शिलालेख मे "राजमल्ल-देवगे गुरुगलेनिसिद कनकसेन भट्टारकर वरशिष्यर् शब्दानुशासनक्के प्रक्रियेयेन्दु रूपसिद्धिय माडि दयापालदेवरू" यह उल्लेख मिलता है। इस शिलालेख का काल ई० सन् १०५० है। इसमे प्रतिपादित दयापाल और न्यायविनिश्चयविवरण की प्रशस्ति मे प्रतिपादित दयापाल एक ही व्यक्ति ज्ञात होते है। ऐसी परिस्थिति मे दयापाल वादिराज और नरेन्द्रसेन ये तीनों समकालीन मालूम होते है।

अब नरेन्द्रसेन से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख को देखे। धारवाड जिलान्तर्गत गदग तालुक, मुलगुंद के ई० सन् १०५३ का शिलालेख नरेन्द्रसेन के शिष्य नयसेन के सम्मुख लिखवाया गया दानशासन है। इसमें नरेन्द्रसेन को वैयाकरणी बतलाया है। वह पद्य इस प्रकार है:

चाद्र कातन्त्र जैनेंद्र शब्दानुशासन पाणिनी म।
जैन्द्र नरेन्द्रसेनमुनीन्द्रगेकाक्षर पेरगिवु भोग्गे॥

इस शिलालेख मे गुरु नरेन्द्रसेन के साथ शिष्य नयसेन की बडी प्रशसा है। शिलालेख मे नयसेन को "समस्त-शब्दशास्त्रपारावारपारंगत" बतलाया है। इसमे चालुक्य राजा त्रैलोक्यमल्ल प्रथम रामेश्वर के सधिविग्रही एवं नयसेन के शिष्य बेलदेव के प्रार्थनानुसार शिंद कंचरस के द्वारा मुलगुद जिनालय को प्रदत्तदान का विस्तृत वर्णन है। पूर्वोक्त नयसेन ने कन्नड मे २४ आश्वासो से युक्त 'धर्मामृत' नामक एक कथा ग्रथ की रचना की है। बल्कि यह ग्रन्थ हिन्दी में अनुवादित होकर आरा से प्रकाशित भी हो चुका है। नयसेन भी गुरु नरेन्द्रसेन की तरह वैयाकरणि थे। पर उनका व्याकरण अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। तो भी संस्कृत मे 'भाषाभूषण' नामक कन्नड व्याकरण को रचने वाले द्वितीय नागवर्म (ई० सन् लगभग १२४५) ने अपने इस व्याकरण ग्रन्थ के ७४वे सूत्र मे 'दीर्घोक्तिर्नय-सेनस्य' इस रूप मे नयसेन का उल्लेख अवश्य किया है।

नयसेन के द्वारा धर्मामृत का समाप्तिकाल नदन सवत्सर युक्त 'गिरिशिखिवायुमार्गशशिसख्या' शक वर्ष बतलाया गया है। इस हिसाब से धर्मामृत का समाप्तिकाल शकवर्ष १०३७ सिद्ध होता है। पर इसमे एक बाधा यह है कि नंदन संवत्सर शकवर्ष १०३७ मे न आकर शकवर्ष १०३४ में आता है। शकवर्ष १०३४ का ई० सन् १११२ होता हैं। अस्तु नयसेन ने अपने धर्मामृत मे स्वगुरु नरेन्द्रसेन के तप और श्रुत की प्रशसा करते हुए अपने को समग्र तर्कशास्त्र की शिक्षा प्रदान करनेवाले बतलाया है। साथ ही साथ नयसेन ने गुरु नरेन्द्रसेन को सिद्धात मे आचार्य जिनसेन से शास्त्र पाण्डित्य मे पूज्यपाद से और षट्तर्क में समन्तभद्र से बढकर बतलाया है।

चालुक्यचक्रवर्ती भुवनैकमल्ल द्वितीय सोमेश्वर से पूजित गुणचन्द्र पंडितदेव के द्वारा मुनि नरेन्द्रसेन को सवात्सल्य त्रैविद्यचक्रवर्ती की उपाधि दी जाने का उल्लेख करते हुए नयसेन ने अपने धर्मामृत मे इन नरेन्द्रसेन को 'महावागीश' बतलाया है। हमे नयसेन का नाम सर्वप्रथम ई० सन् १०५३ के मुलगुद के शिलालेख मे ही मिलता है। मुलगुद शिलालेख के इस १०५३ के समय में २५ कम कर देने मे ई० सन् १०२८ होता है। ऐसी स्थिति मे मुलगुंद का यह शिलालेख ही नरेन्द्रसेन को वादिराज का समकालीन सिद्ध करता है। पूर्वोक्त सभी बातो को ध्यान में रखकर विचार करने पर 'प्रमाणप्रमेयकलिका' के रचयिता यही नरेन्द्रसेन मालूम होते है। आशा है कि मित्रवर डा० दरबारीलालजी कोठिया इस विषय पर फिर अवश्य विचार करेंगे। ★

रामपुरा के मंत्री पाथूशाह

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

मध्यप्रदेश के मन्दसौर जिले मे रामपुरा एक पुरातन शहर है। यहाँ पाथूशाह की बावड़ी नाम का एक कुआ है। इसकी दीवाल मे लगी हुई शिला पर तथा समीप के स्तंभ पर दो संस्कृत शिलालेख है। भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रकाशित ग्रन्थमाला एपिग्राफिया इण्डिका के भाग ३६ में पृ० १२१ से १३० तक ये लेख छपे है। इन्हीं का सक्षिप्त परिचय यहाँ दे रहे हैं।

रामपुरा (जिसे लेख मे दूषणारिपुर भी कहा है) मे बघेरवाल जाति के ५२ गोत्रो मे एक सेठिया गोत्र के संघई नाथू रहते थे। इनके पुत्र स० जोगा थे (इन्हे लेख में योग भी कहा है)। रामपुरा के चन्द्रावत वशीय राजा अचलदास ने इन्हे अपनी सेवा मे नियुक्त किया था। इन्होंने एक जिन मन्दिर बनवाया था। इनके पुत्र सं० जीवा और जीवा के पुत्र स० पाथू हुए। (लेख मे पाथू का संस्कृत रूप पदार्थ लिखा है)। ये अचलदास के वशज दुर्गराज और चन्द्रराज की सेवा मे मुख्य मंत्री के पद पर नियुक्त हुए थे। लेख मे दुर्गराज की विस्तृत प्रशसा मिलती है। इन्होने कई युद्धों मे विजय पाई थी, दुर्ग सरस् तालाब खुदवाया था तथा पिगलिका नदी पर बांध बनवाया था। चन्द्रराज की वीरता की भी लेख मे प्रशंसा मिलती है। लेख का उद्देश पाथूशाह द्वारा उपर्युक्त कुएं के (जिसे लेख में दीर्घिका कहा है) निर्माण का वर्णन करना है। यह लेख संवत १६६३ मे लिखा गया था। कुएं का निर्माण सूत्रधार रामा की देखरेख मे हुआ था। लेख मे पाथूशाह के अन्य धर्मकार्यों का भी वर्णन है। उन्होंने पूजा, प्रतिष्ठा रथ यात्रा आदि का आयोजन किया था तथा इसी लिए राजा ने उनका अभिनन्दन भी किया था। प्रस्तुत लेख का पूर्ण पाठ जैन शिलालेख सग्रह भा० ५ मे भी संग्रहीत किया है जो शीघ्र ही भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित होने जा रहा है। ★

अमरकीर्ति नाम के आठ विद्वान

परमानन्द जैन शास्त्री

जैन वाङ्मय का आलोडन करने से यह सुनिश्चित जान पडता है कि एक नाम के अनेक विद्वान होते रहे है। उदाहरण के लिए अकलक, प्रभाचन्द और पद्मनन्दि आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन नामो के अनेक विद्वान विभिन्न समयो मे हुए है। इसी तरह अमरकीर्ति नाम के भी कई विद्वान दृष्टिगोचर होते है।

एक अमरकीर्ति पट् कर्मोपदेश के कर्ता है जो भट्टारक चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। अमरकीर्ति ने महीयड् देश के 'गोध्रा' नगर के चालुक्य वशीय कृष्ण (कण्ह) के राज्य का उल्लेख किया है। इसका कारण वे गुजरातके निवासी जान पडते है। यह माथुर सघ के विद्वान अमितगति द्वितीय की परम्परा मे हुए है। यह अपभ्रंश भाषा के प्रौढ विद्वान थे। इनकी अपभ्रश भाषा की दो कृतियाँ उपलब्ध है। इन्होने अपना नेमिनाथ पुराण स० १२४४ मे बना कर समाप्त किया था। उसके तीन वर्ष बाद स० १२४७ मे पट्कर्मोपदेश की रचना हुई है। इसमे गृहस्थ के पट्कर्मो का सुन्दर विवेचन दिया हुआ है। १४ सधी और २१५ कड़वक है जिनकी श्लोक सख्या २०५० प्रमाण है। दशवी सधि मे जिन पूजा पुरंदर विधि कथा दी हुई है। पुरदर विधान कथा, अलग रूप मे भी उपलब्ध होती है। इनकी निम्न रचनाएँ—महावीर चरिउ, जसहर चरिउ, धर्मचरित टिप्पण, सुभाषित रत्ननिधि, धर्मोपदेश चूड़ामणि, भाण पईव नाम की रचनाएँ अनुपलब्ध है।

दूसरे अमरकीर्ति 'वर्धमान' के प्रगुरु थे। इनकी गुरु परम्परा देवेन्द्र, विशालकीर्ति, शुभकीर्ति, धर्मभूषण, अमरकीर्ति, ·····धर्मभूषण और वर्धमान। वर्धमान ने शक स० १२९५ वैशाख सुदी ३ बुधवार को धर्मभूषण की निषद्या बनवाई थी थी। इस शिलालेख के अनुसार अमरकीर्ति का समय शक सं० १२५० के आस-पास का जान पड़ता है। इनका समय ईसा की १४वी शताब्दी है। इनके समय का समर्थन संवत् १३०७ के एक शिलालेख से भी होता है।

तीसरे अमरकीर्ति वे है जिनके शिष्य माघनन्दी व्रती और प्रशिष्य भोगराज सौदागर थे। भोगराज ने शक सं० १२७७ (वि० स० १४१२) मे शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी।

चौथे अमरकीर्ति—वे है जो कलिकाल सर्वज्ञ धर्मभूषण के शिष्य थे और जिनका उल्लेख शक स० १२९५ मे लिखे गये श्रवण बेलगोल के शिलालेख नं० १११ (२७४) मे आया है।

पाचवे अमरकीर्ति वादी विद्यानन्द के शिष्य थे। जिनका उल्लेख शिलालेख न० ४६ मे हुआ है। इनका रचा हुआ एक यमकाष्टक स्तोत्र अनेकान्त वर्ष १० कि० १ मे प्रकाशित हुआ है। इस स्तोत्र के अन्त में कवि ने 'देवागमालकृति' नाम की रचना का भी उल्लेख किया है[1]। इस कृति की कोई उपलब्धि नही हुई जिससे उसके सम्बन्ध मे कुछ लिखा जा सके। मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी ने इनका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी बतलाया है।

छठवे अमरकीर्ति भ० मल्लिभूषण के शिष्य थे[2]। मल्लिभूषण मालवा के पट्ट पर आसीन थे। इन्ही के समकालीन विद्यानन्द और श्रुतसागर थे। इन अमरकीर्ति की एक कृति जिन सहस्रनाम की सस्कृत टीका है, जो भट्टारक विश्वसेन के द्वारा अनुमोदित है। चूकि मल्लिभूषण और

---

१ अध्येष्टाऽऽगम मध्यगीष्ट परम शब्द च युक्ति विदां।
चक्रे यः परशील-वदि-मदभिद् वागमालंकृतिम् ।।
—अनेकान्त वर्ष १० कि० १, पृ. ३

२ मल्लिभूषण शिष्येण भारत्यानन्दनेन च।
सहस्रनामटीकेयं रचिताऽमरकीर्तिना ।।
—जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा० १, पृ. १४६

श्रुतसागर का समय विक्रम की १६वी शताब्दी है, अतः इन अमरकीति का समय भी १६वीं शताब्दी होना चाहिए।

सातवे अमरकीर्ति वे है, जिनका उल्लेख वशाभक्त्यादि महाशास्त्र के रचयिता वर्धमान ने किया है। जो विद्यानन्द के पुत्र विशालकीर्ति के सधर्मा अमरकीर्ति थे'। जिन्हे शास्त्र कोविद विमलाशय, कामजेता, निर्मल गुण और धर्म के आश्रय तथा जिनमत के प्रकाशक बतलाया है। जैसा कि ग्रन्थ के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

जीयादमरकीर्त्याखभट्टारक शिरोमणि: ।
विशालकीर्ति योगीन्द्र सधर्मा शास्त्र कोविदः ॥
अमरकीर्ति मुनि विमलाशयः कुसुमन्यायमदाचलवज्रभृत्।
जिनमतापहृतारितमाश्च यो जयति निर्मल धर्म गुणाश्रयः ।।

विशालकीर्ति के पिता विद्यानन्द का स्वर्गवास शक सं० १४०५ सन् १४८१ मे हुआ था।

आठवें अमरकीर्ति ऐन्द्र वंश के प्रसिद्ध विद्वान थे जो 'त्रैविद्य' कहलाते थे। यह अपने समय के अच्छे विद्वान जान पड़ते है। इनका बनाया हुआ धनंजय की नाममाला का भाष्य भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है। उस ग्रन्थ की पुष्पिका में उन्हें त्रैविद्य महा पण्डित और शब्द वेधसी बतलाया है। भाष्य को देखने से वे विविध ग्रन्थों के अभ्यासी ज्ञात होते है।

'इति महापण्डित श्रीमदमरकीर्तिना त्रैविद्येन श्री सेन्द्र वंशोत्पन्नेन शब्दवेधसा कृताया धनजय नाम मालायां प्रथमकाण्ड व्याख्यातम्।'

प्रस्तुत कोष ग्रन्थ का भाष्य लिखते हुए अमरकीर्ति ने परम भट्टारक यशःकीर्ति अमरसिंह, हलायुध, इन्द्रनन्दी, सोमदेव, सोमप्रभ, हेमचन्द्र और आशाधर आदि के नामों का उल्लेख करते हुए, महापुराण, सूक्तमुक्तावली, हेमीनाममाला यशस्तिलक, इन्द्रनन्दि का नीतिसार और आशाधर के महाभिषेक पाठ का नामोल्लेख किया है। इनमें सोमप्रभ १२वीं, हेमचन्द्र १२-१३वी और आशाधर ने सं० १३०० मे अनगार धर्मामृत की टीका पूर्ण की है। इससे भाष्यकार अमरकीर्ति स० १३०० के बाद विद्वान ठहरते है। ★

संस्कृत सुभाषितों में सज्जन-दुर्जन

लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज' एम. ए. साहित्यरत्न

चूंकि दुनिया दुरंगी है, अतएव उसमे जहाँ दिन के साथ रात है और फूल के साथ शूल है, वहाँ वादी के साथ प्रतिवादी और पक्षी के साथ प्रतिपक्षी भी है। जहाँ मिलन के साथ विरह है और सुख के साथ दुःख है, वहाँ शिष्ट के साथ अशिष्ट है और सज्जन के साथ दुर्जन भी है। यों दुनिया का नाम सार्थक है। कारण, उसमे पग-पग पर दो नीति वाली वृत्ति लक्षित होती है।

इतिहास, अर्थ और महत्व :

संस्कृत और हिन्दी के कतिपय महाकाव्यों में सज्जन-दुर्जन का वर्णन कुछ कवियो ने किया और उसमे लोक-संग्रह की भावना जहाँ रही, वहाँ प्रकारान्तर से सज्जनों के सत्संग का और दुर्जनों से दूर रहने का भी भाव रहा। सज्जन-दुर्जन के वर्णन की भाँति सुभाषितों का भी प्रयोग काफी मात्रा में संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थो मे पाया जाता है। पर सस्कृत ग्रन्थों के सुभाषित जितने सक्षिप्त सरल सहज ग्राह्य और भाव व्यंजक तथा लोकप्रिय हुए हैं, उतने हिन्दी ग्रन्थों के नही। वैसे कबीर की साखियाँ, तुलसी-रहीम-वृन्द आदि के नीति मूलक दोहे भी जनता की जबान ने काफी कंठस्थ किये है।

संस्कृत के सुभाषित शिष्ट-संयत-सुरुचिपूर्ण हैं। इसलिए मि० वेंकटाचलम् के शब्दों में 'पडित मडली' मे ऐसे असख्यात अज्ञात कवियों की सैकड़ों-हजारों फुटकर रच-

नाये 'सुभाषित' के नाम से जनश्रुति-प्रवाह मे बहती आई है। सुभाषित शब्द का अर्थ है 'सुष्ठु भाषितम्' अर्थात् सुन्दर ढग से कहा हुआ। अतएव सुभाषित शब्द से उन समस्त रचनाओ का निर्देश होता है, जहाँ एक फुटकर पद्य मे किसी विषय का सरस प्रतिपादन किया जाता है। इनमे से अधिकाश नीति के बोधक होते है। सुभाषितों के भी सग्रह मिलते है। सुभाषितों को स्मरण किये बिना तो संस्कृत भाषा-साहित्य का अध्ययन-अध्यापन अपूर्ण ही रहता है। सच तो यह है कि सुभाषितो में जीवनदायी अनुभूतियो के तत्व बिखरे है।

इसलिए संस्कृत भाषा और सुभाषितो के सम्बन्ध मे एक सुकवि ने जो बात कही है, वह शत प्रतिशत सही है।

भाषासु मुख्या मधुरा दिव्या गीर्वाण भारती ।
तस्माद्धि काव्यं मधुरं तस्मादपि सुभाषितम् ।।

भाषाओं मे मुख्य और मधुर देव-वाणी (संस्कृत भाषा) है और उसमे भी काव्य मधुर है तथा उससे भी सुभाषित मधुर सुखद है।

सज्जन

सज्जनो मे पाये जाने वाले गुणो का समावेश प्रस्तुत श्लोक मे हुआ है।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरतिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।

सज्जन पुरुष विपत्ति मे धैर्यवान् और सर्वतोमुखी अभिवृद्धि मे क्षमाशील होते है। वे सभा मे उच्चकोटि के वेत्ता होते हैं और युद्ध क्षेत्र मे अद्वितीय साहसी। यश के लिए उनकी लालसा होती है और शास्त्र-श्रवण, तत्वचर्चा मे सुरुचि। यह सज्जनों का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

सज्जनों का स्वभाव नारियल के समकक्ष होता है। जैसे प्रारम्भिक अवस्था में पिलाये गये पानी को जटाओं का बोझ धारण करने वाला नारियल नहीं भुला पाता है और बदले में जीवन भर अमृत तुल्य पानी देता है, वैसे ही सज्जन पुरुष भी कभी किसी के उपकार को भूलते नहीं हैं। यह बात सस्कृत के एक सुकवि ने इस प्रकार कही है—

प्रथम वयसि पीत तोयमल्पं स्मरन्तः,
शिरसि निहित भारा नारिकेला नराणाम् ।
उदकममृतकल्प दद्युराजीवितान्तम्,
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ।।

सज्जन पुरुष ही सज्जनो की आपत्ति को दूर करने मे समर्थ है। कीचड मे फँसे हुए हाथियों को निकालने मे श्रेष्ठ हाथी ही समर्थ है, अन्य नही। इस हृदयस्थ भाव को एक कवि ने यो व्यक्त किया है।

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरण क्षमाः ।
गजानां पंकमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ।।

सज्जनों की सगति का प्रभाव अमोघ होता है। वह पुरुषो के लिए क्या नही करती? सभी कुछ यथासंभव करती है। सत्सगति, बुद्धि की जडता दूर करती है, वाणी मे सत्य का सचार करती है। सम्मान और उन्नति को देती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और दशो दिशाओं मे कीर्ति का विस्तार करती है। यह बात एक कवि के शब्दो मे यो स्मरण कीजियेगा—

जाड्यं धियो हरति, सिञ्चति वाचि सत्यम् ।
मानोन्नतिं दिशति, पापमपाकरोति ।।
चेतः प्रसादयति, दिक्षु तनोति कीर्तिम् ।
सत्सगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ।।

सच तो यह है कि सज्जन पुरुष पुण्य और पीयूष से परिपूर्ण होते है। वे तीनो लोको का उपकार कर प्रसन्न होते है। दूसरो के परमाणु जैसे गुणो को पहाडो के रूप मे देखने का स्वभाव होता है अतएव अपने मन ही मन में अतीव स्वस्थ और सन्तुष्ट रहने वाले सज्जन पुरुष कैसे होते है? यह कह सकना अब सम्भव ही नही रह गया है। यह बात एक कवि ने यों कही है—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूष पूर्णाः,
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्,
निजहृदि विकसन्तस्सन्ति सन्त. कियन्तः ।।

दुर्जन

सज्जन के विरोधी दुर्जन मे कौन-कौन से गुण पाये

जाते है। यह जानने के लिए आप संस्कृत के सुकवि का निम्नलिखित श्लोक पढ़िये—

अकरुणत्वमकारणविग्रहः,
परधने परयोषिति च स्पृहा।
सुजन बन्धु जनेष्वसहिष्णुता,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम्॥

अर्थात् निर्दय होना, बिना कारण लडाई-झगडा करना, दूसरे का धन चाहना, दूसरे की स्त्री की इच्छा करना, सज्जन बन्धुओ के प्रति असहनशील होना, यह तो दुर्जनो का जन्म सिद्ध अधिकार है।

यदि आप दुर्जनों को पहिचानना चाहे तो नीचे लिखा श्लोक पढे—

मुख पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला।
हृदयं क्रोध संयुक्तं त्रिविधं धूर्त्तलक्षणम्॥

कमल के पत्ते जैसा मुख, चन्दन जैसी शीतल वाणी और क्रोधयुक्त हृदय, इन तीन लक्षणों से किसी भी धूर्त या दुर्जन को पहिचाना जा सकता है।

दुर्जन व्यक्ति अपने नही दूसरों के ही दोष देखता है। यह बात सस्कृत भाषा के एक सस्कृत कवि ने इस प्रकार कही है।

खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।
आत्मनो बिल्व मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति॥

दुष्ट व्यक्ति दूसरो के तो सरसों के दाने जैसे भी दोष देख लेता है पर अपने बेल जैसे भी बड़े दोष देखता हुआ भी नही देखता है।

इसलिए उसकी प्रकृति को बदलना असम्भव है। जैसे नीम का पेड़ घी-दूध से बार-बार सींचे जाने पर भी अपनी कटुता को नही छोड़ता है, वैसे दुर्जन व्यक्ति भी बहुत बार सेवा किये जाने पर भी, सज्जनो के सम्पर्क मे आने पर भी अपनी दुर्जनता को नही छोडता है। यह बात आप एक कवि के शब्दो मे यो स्मरण रखिए—

न दुर्जनः सज्जनतामुपैति, बहुप्रकारैरपि सेव्यमानः-
भूयोऽपि सिक्तः पयसा घृतेन, न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति॥

दुर्जन को बदलना असम्भव ही है। यह बात एक दूसरे कवि ने और भी अच्छे ढंग से यों कही है—

बोधितोऽपि बहु सूक्ति विस्तरैः,
किं खलो जगति सज्जनो भवेत।
स्नापितो बहुशो नदी जलैः,
गर्दभ. किमु हयो भवेत्॥

बहुत सी सुन्दर सूक्तियो द्वारा समझाये जाने पर क्या दुष्ट व्यक्ति ससार मे सज्जन हो सकता है? नही, कदापि नही। गधे को कितनी नदियों के जलसे स्नान क्यों न कराया जाय पर वह घोडा बनने वाला नही। गधा तो गधा ही रहेगा।

और तो और—दुर्जन से प्रेरित व्यक्ति सज्जनो का वैसे ही विश्वास नही करते है, जैसे दूध का जला बालक दही या छाछ को भी फूक-फूक कर पीता है। यह बात एक कवि ने श्लोक मे यो ग्रथित की है।

दुर्जन दूषित मनसां पुंसा, सुजनेऽपि नास्ति विश्वासः।
बालः पायस दग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति॥

सज्जन-दुर्जन

सज्जनों और दुर्जनों के कार्य को बतलाने के लिए एक सुन्दर श्लोक है—

अनुकुरुतः खल सुजनावग्रिम पाश्चात्य भागयोः सूच्याः।
विदधाति रन्ध्रमेको गणवान्यस्तु विदधाति॥

अर्थात् सुई के अगले-पिछले भागो के समान दुर्जन और सज्जन काम करते है। सुई का अगला भाग दुर्जन जैसा छेद करता है और पिछला भाग सज्जन जैसा उस छेद को बन्द करता है।

दूसरे शब्दों मे 'दुर्जन पुरुष वह मिट्टी का घडा है जिसे तोडना जितना सरल है जोडना उतना ही जटिल है और सज्जन पुरुष वह सोने का घडा है, जिसे तोड़ना कठिन है पर जोड़ना अतीव सरल है।' यह बात आप एक कवि के शब्दों मे यों हृदयंगम कीजिये—

मृदुघटवत् सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनक घटवत् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः॥

सज्जनों और दुर्जनो की मित्रता के सम्बन्ध मे एक बड़ा ही सुन्दर श्लोक संस्कृत वाङ्मय में मिलता है और वह यह है—

आरम्भ गुर्वी क्षयिणी क्रमेण,
लघ्वी पुरा वृद्धिमुपेति पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्ध परार्ध भिन्ना,
छायेव मैत्री खल सज्जनानाम्॥

दुर्जनों की मित्रता प्रातःकालीन छाया सी है, जो आरम्भ में बहुत बडी होती है पर कुछ काल बाद बारह बजते ही समाप्त हो जाती है और सज्जनो की मित्रता अपराह्न कालीन छाया सी होती है, जो आरम्भ मे बहुत कम होती है और छह-सात बजे तक बराबर बढती ही जाती है।

सज्जनो और दुर्जनो के स्वभाव मे जो विरोध पाया जाता है तथा उनका प्रत्येक बात को तौलने का, सोचने-समझने का जो दृष्टिकोण रहता है, उसे संस्कृत के सुकवियो ने अच्छी तरह समझाने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए एक ने कहा है—'दुर्जन व्यक्ति की विद्या विवाद के लिए होती है और धन घमड करने के लिए तथा शक्ति दूसरो को पीडित करने के लिए परन्तु सज्जन की विद्या ज्ञान के लिए होती है और धन परोपकार के लिए तथा शक्ति दूसरो की रक्षा के लिए'[1]। और दूसरे ने बताया कि 'दुर्जन व्यक्ति शरदकालीन बादल के समान है, जो गरजता है पर बरसता नही है, वह कहता तो है पर करता नही है पर सज्जन व्यक्ति वर्षाकालीन बादल के समान है, जो बिना आवाज किये ही बरस जाता है, वह मुख से कहता नही है पर कर अवश्य देता है[2]।'

तीसरे ने अपने अनुभव को व्यक्त करते हुए कहा है—'बुद्धिमानों का समय काव्य-शास्त्र चर्चा और विनोद मे बीतता है पर मूर्खों का समय बुरी आदतो, लड़ाई-झगडों और निद्रा मे बीतता है[3]।' चौथे ने अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति करते हुए कहा—'फल वाले वृक्ष झुकते है। गुणवान व्यक्ति नम्र होते है परन्तु सूखे वृक्ष और मूर्ख कभी भी नही झुकते है[4]। सज्जनों और दुर्जनो के सम्बन्ध मे जो आकाश और पाताल जैसा अन्तर है, उसे निष्कर्ष स्वरूप पाँचवे कवि के शब्दों मे सक्षेप मे यो कहा जा सकेगा—'महापुरुषो के (सज्जनों के) मन-वचन और कार्य में एक रूपता पाई जाती है पर दुराचारियों के (दुर्जनों के) मन-वचन और कार्य में विविधता की ही विशेषता पाई जाती है[5]।'

सज्जनों और दुर्जनों के आदि स्रोत जैसे साधनो को हिन्दू धर्मग्रन्थों के आदिदेव भगवान् शंकर ने भी धारण कर रखा है, उनके जीवन दृष्टिकोण से भी हम और आप शिक्षा ले तथा सज्जन-दुर्जन को यथोचित स्थान दे और स्वय शकर जो जैसे ही निर्विकार निर्लिप्त होकर रहे—जैसे सज्जनता के प्रतीक चन्द्रमा को शकर जी ने शीर्षस्थ स्थान दिया और दुर्जनता के प्रतीक विष को कण्ठ मे स्थान दिया (उसे न जबान पर रखा और न पेट मे ही स्थान दिया क्योकि इससे विकृति की सम्भावना थी) वैसे ही समाज के लोग सज्जन-दुर्जन को स्थान दे।

गुण दोषौ बुधो गृहणन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति॥

आज इतना ही मुझे आप से निवेदन करना है।

---

१ विद्याविवादाय धन मदाय, शक्ति. परेषाँ परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

२ शरदि न वर्षति गर्जति, वर्षति वर्षासु नि. स्वनो मेघः।
नीचो वदति न कुरुते, न वदति सुजनः करोत्येव।

३ काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन तु मूर्खाणाम् निद्रया कलहेन वा॥

४ नमन्ति फलिनो वृक्षाः नमन्ति गुणिनां जनाः।
शुष्क वृक्षाश्च मूर्खाश्च न नमन्ति कदाचन॥

५ मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

सुभाषितम्—**विषयनि सेवत दुख भले, सुख न तुम्हारे जानु।**
अस्थि चबत निज रुधिर ते, ज्यों सुख मानै स्वानु॥
जिनही विषयनि दुख दिओ, तिनही लागत धाय।
माता मारिउ बाल जिम, उठि पुनि पग लपटाय॥

अनेक स्थान नाम गर्भित भ० पार्श्वनाथ के स्तवन

भंवरलाल नाहटा

वर्तमान चौवीसी मे पुरिसादानीय भगवान पार्श्वनाथ की प्रसिद्धि सर्वाधिक है। उनके जितने तीर्थ, मन्दिर और प्रतिमाए भारत मे विद्यमान है, अन्य किसी भी तीर्थंकर के नही। प्राचीन मान्यता के अनुसार भ० पार्श्वनाथ के जन्म से पूर्व ही उनके तीर्थ व प्रतिमाए पूज्यमान थी। भगवान अरिष्टनेमि के समय मे सखेश्वर तीर्थ यादवपति श्रीकृष्ण की सेना की मूर्छा जो जरासन्ध की जरा से हुई थी—इन्ही सखेश्वर पार्श्वनाथ के प्रभाव से दूर हुई थी। भ० पार्श्वनाथ के अधिष्टाता शासन देव-देवी पार्श्वयक्ष धरणेन्द्र पद्मावती विशेष जागरूक होने से एव मन्त्र-यन्त्रो मे उनसे सम्बन्धित सामग्रीप्राचुर्य्य के कारण भ० पार्श्वनाथ की पूजा-अर्चा भी बहुलता से होती आई है। बीस तीर्थंकरो की निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर महातीर्थ जैनेतर समाज मे 'पारसनाथ पहाड़' के नाम से ही प्रसिद्ध है। बगाल मे तो अन्य तीर्थंकरो को कम ही जानते है। कलकत्ते मे भारत प्रसिद्ध कार्तिक महोत्सव की रथयात्रा धर्मनाथ स्वामी की होते हुए भी पार्श्वनाथ की कहलाती है एव रायबद्रीदास कारित शीतलनाथ जिनालय भी 'पार्श्वनाथ' के नाम से प्रसिद्ध है। जितने विविध प्रकार सख्याधिक स्तुति स्तोत्रादि पार्श्वनाथ भगवान के उपलब्ध हैं उतने अन्य तीर्थंकरो के नही। प्राकृत, सस्कृत अपभ्रश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती में रचित स्तोत्र-स्तवनादि की सख्या हजारो पर है इनमे से कई स्तोत्रों मे १०८ या इनसे भी अधिक स्थान नामगर्भित स्तवन प्राप्त होते है। श्री विजय धर्मसूरिजी सम्पादित प्राचीन तीर्थमाला सग्रह भाग १ मे ४४ वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ संबन्धी ऐसी चार रचनाए प्रकाशित हुई थी—

१ पार्श्वनाथ चैत्यपरिपाटी, कल्याणसागर
२ पार्श्वनाथ नाममाला, मेघविजय
३ पार्श्वनाथ सख्यागर्भितस्तव, रत्नकुशल
४ गौडी पार्श्वनाथ स्तवन, शान्तिकुशल

इनमे से दो मे तो १०८ स्थानों की नामावली है तथा अन्य दो मे इनसे भी न्यूनाधिक नाम दिये हुए है। हमारे सग्रह मे ऐसी कई अप्रकाशित रचनाए है जो १५वी से १८वी शताब्दी के बीच की है। इनमे पार्श्वनाथ के स्थानों के नाम बहुत से तो एक समान है पर कुछ भिन्न-भिन्न भी है। इनसे जिसे जो नाम याद थे उनसे वे अपनी रचना मे सम्मिलित कर लिए, सिद्ध होता है। इन स्थानो में अब पार्श्वनाथ के मन्दिर कहां-कहां है एवं कहा-कहा रहे' इसकी खोज की जानी चाहिए। कुछ स्थान तो तीर्थ रूप मे प्रसिद्ध है, पर कई स्थानो का पता लगाना भी कठिन हो गया है। कई स्थान पाकिस्तान मे चले गये एव कइयो की प्रतिमाएँ अन्यत्र चली गयी एव नष्ट भी हो गये। पार्श्वनाथ के कई तीर्थों के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र ग्रन्थ निकल चुके है, एव उन तीर्थों के सम्बन्ध मे कई चमत्कारिक बाते-प्रवाद रूप से प्रसिद्ध है। ३७ वर्ष पूर्व जैनसस्ती वाचनमाला से "श्री प्रगट प्रभावी पार्श्वनाथ तथा जैन तीर्थमाल" ग्रथ प्रकाशित हुआ था जिसमे १११ पार्श्वनाथ सम्बन्धी चमत्कारिक कथाएँ संगृहीत है। यो इस ग्रन्थ में १८४ स्थानो का विवरण दिया है। पार्श्वनाथ के स्थानों सम्बन्धी एक ही ग्रथ में इतनी सामग्री अन्यत्र नही मिलती। जैनसस्ती वाचनमाला से सखेश्वर पार्श्वनाथ, स्तभन पार्श्वनाथ सम्बन्धी तीन ग्रंथ स्वतन्त्र भी निकल चुके हैं। विविध तीर्थकल्प, उपदेश सप्ततिका आदि ग्रथों में भ० पार्श्वनाथ के कई कल्प हैं हीं। स्तभन पार्श्वनाथ सम्बन्धी छोटे-छोटे कल्पों का सग्रह भी सस्कृत मे पन्द्रहवी शताब्दी का प्राप्त होता है।

कई स्तोत्र ऐसे भी हैं जिनमे भ० पार्श्वनाथ के गुण-गर्भित १०८ नामों का सग्रह है। संभव है १००८ नाम-गर्भित स्तोत्र भी रचा गया हो। यहां जो रचनाएं प्रका-

शित की जा रही है उनमें एक अपूर्ण है, उसकी पूरी प्रति कहीं मिलने पर ही रचयिता एव रचनाकाल का पता लग सकता है। अधिकांश रचनाएं खरतरगच्छीय विद्वानो की हैं एवं हमारे संग्रह में विद्यमान हैं। ऐसे स्थान नामगर्भित जितनी भी रचनाए मिलती हों उन सबको सगृहीत कर प्रकाशित कर देना चाहिए, यह प्रेरणा देने के लिए ही वर्षों से हमारे सग्रहीत रचनाओं को यहां प्रकाशित किया जाता है। मुनि राजश्री अभयसागरजी भ० पार्श्वनाथ के नामों की विस्तृत तालिका बना रहे है, उसके लिए भी यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

अभी-अभी श्री चापस्मा जैन संघ प्रकाशित "श्री भटेवा पार्श्वनाथ जिनालय अर्घ शताब्दी स्मारक ग्रथ" प्रकाशित हुआ है उसमें भ० पार्श्वनाथ नामो, स्थानों, आदि सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित हुई है।

कई वर्ष पूर्व मुनि श्री ताराचन्दजी संपादित 'पार्श्वा-दर्श' नामक ग्रथ प्रकाशित हुआ था जिसमे श्री पार्श्वनाथ सम्बन्धी स्तुति स्तोत्र स्तवनादि का बड़ा संग्रह है। सखेश्वर पार्श्वनाथादि एक-एक तीर्थ के स्तवनों का भी सग्रह स्वतत्र रूप से निकले है।

(श्री जिनभद्र सूरि विरचित)

अष्टोत्तर शत पार्श्वनाथ स्तवनम्

पणमवि पण परमिट्ठि पाय पउमावय देवीय,
वयरुट्टा धरणिंद पास जय विजया सेवी;
ठाण ठाणट्ठिय पासनाह हूं जणमण मोहण,
समरिसु समरिसु सामि माल अइसइ मण रोहण ।।१

सिरि वाणारसि नयर राजगृह नयर पचारइ,
थाल नयर सिरि सिद्धखेत्र पहु सिरि गिरिनारइ;
जीरावल फलवद्धि नागद्रह महिमा पूरीय,
करहेडई कलिकुंड पास सवि कलि मल चूरिय ।।२

अणहिलवाड नयरि सामि वसरुपइ दीसइ,
थंभणपुर वर पंचरूप पहु पास सलीजइ;
मंगलपुरि मंगल निवास नव पल्लव नामिइं,
चित्तह चोरण चित्रकोटि, चिंतामणि सामि ।।३

।। वस्तु ।।

पास जिणवर पास जिणवर देवगिरि नयरि।
सिरि सिरि पुरि पंच पुरि नगरकोटि नागउरि गिरिपुरि।
अउजाहर राणपुरि अजयमेरि जावाल पुरवरि।
जेसलमेरि हमीरपुरि हाल्हणपुरि चिहुरूप।
कुंभलमेरिह मंडपह पणमीजइ चिहुरूप ।।४

।। भास ।।

संखेसर समेयगिरि सिरि अससेण मलहार।
आरासणि रावण सरण करिसु जिणेसर सार।
पालीताणइ पाप हर घोघापुर नवखंड।
सेरीसइ सोभागनिधि सामी पास प्रचड ।।५
चतुर्मुखि खरतर जिण भुवण अरबुद गिरिवर शृंगि।
तिह्र भूमिट्ठिय पूजीयइ नवफण सामी रंगि।

जूनइ गढि जोहारि जिण जनम सफल करि आज ।
ऊनय नयरि निहालणीय नयणे तीरथ राज ॥६

॥ वस्तु ॥

कुक्कड़ेसर कुक्कड़ेसर पुरहि अहिछत्त ।
छव्वटणि दीवपुरि सींहदीव देवकइ पाटणि ।
वरकाणइ कइंदवणि कइरवाड़ि कार्कार सुवासणि ।
मज्जाउद जाउर जवणउर बीजापुर जोइ ।
उज्जेणी जोगिणपुरइ जिण जगि जीव न होइ ॥७

॥ ढाल ॥

धवलकए पास कलिकुंड घृतकल्लोल मेलगपुरह ।
सामलउ ए अहमदावाद आसाउलि सलखणपुरह ।
वहथली ए वसम देव वेलाउल वडली नयरि ।
आसीयउ ए आसलकोटि गोपाचलगिरि जोधपुरि ॥८
महुरह ए मगसीय गाम मम्मणवाहण मन रलीए ।
तलाजज्ञ ए अरम दारंभि अमूयवाड़इ बीजलीए ।
वडपद्रइ ए थयराउद्रि नाडउद्रहि पद्राड़पुरि ।
हडाद्रई ए हियडलइ हेव पास वहिसु हुं हरस भरे ॥६

॥ वस्तु ॥

मोरवाड़इ मोरवाड़इ मयण मय हरण ।
टीमाणह माणीयइ ए मूलथाण मानिय विभूषण ।
धंधूकइ धरमधुर बाधणउरि पुरि रह्याउ दूषण ।
पाटडधइ सिद्धा सुयए अणि अंथइ भोहड ।
चोरवाड़ वीसल नयरि जसु सेवइ कोहड ॥१०

॥ भास ॥

सिरि सिणोरइ पुरइ रुण चेलण पुरइ ।
साहपुरि खारपुरि पास पचासरे ।
राजपुरि राजए नयरि पंथाहड़े ।
कुशल करि सामि कंकोलपुर आहड़े ॥११
कंत कतीपुरी ढिंपुरी चेलणं,
गरुय गुण गह गउड़ीपुरी मंडण,
वड नयरि वड़ नयणि नाह निरखिज्जए ।
पारकरि पास पय कमल फल लिज्जए ॥१२

॥ भास ॥

जसु समरणि नासइ सर्व रोग ।
जसु समरणि लाभइ समय जोग ।
जसु समरणि सवि आपद टलंति ।
जसु समरणि सवि संपदि मिलंति ॥१३
कड पूर्याण सायणि भूय पेय ।
अरि हरि करि व्यंतर दुट्ठ जेय ।
तुह चरण सरण जे करइ नाह ।
तिह ते नव पहुवइ पास नाह ॥१४
इय सय अट्ठोत्तर ठाण सठिय पास जिणवर मानिया ।
मइ सुद्ध चित्तइ गरूय भत्तइ रासबंधहि गुंथिया ।
जे कंठ कदल करइ निरमज्ञ भाव भवियण ते सया ।
जिणभद्द सासय सुह समाणय अट्ठ सिद्धिहि संपया ॥१५

इति श्री अट्ठोत्तर सत पार्श्वनाथ स्तवनम् ॥
[अभय जैन ग्रन्थालय गुटका न० ३४ पत्र १३१ से ३४; १७वी शती लिखित]

अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है । अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे । ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इस लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है । हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों कालेजों, विश्वविद्यालयो और जैन श्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे 'अनेकान्त' के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें । और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें ।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

पद्मावती

प्रकाशचन्द्र सिंघई एम. ए., बी. टी.

प्रत्येक धर्म में देवी-देवताओं की उपासना की जाती है और उन देवियों का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। कुछ देवियां जैन, शैव, हिन्दू और बौद्ध धर्म में एक-सी समानता रखती है। उनमे पद्मावती एक देवी है जिसका विवरण चारों धर्मों मे एक सा मिलता है। इन देवी-देवताओं के कुछ विशिष्ट चिह्न होते है और चिह्नों के आधार पर उन देवियों को जान सकते हैं जैसे लक्ष्मी का चिह्न कमल है जिसे धन देवी कहा गया है।

जैन धर्म में पद्मावती को सर्प की देवी कहा गया है और सर्प की देवी बौद्ध, शैव तथा हिन्दू धर्म मे भी मिलती है। पद्म पुराण में पद्मावती को हर की पुत्री कहा गया है।[1] भैष्म पुराण मे "देवी पद्म महेशम् समघर वदनं ...।" पद्मावती स्तोत्र मे महा भैरवी कहा गया है। शैव सप्रदाय में 'भैरव' शिव को कहा गया है। 'हर' (महादेव) सर्प डाले हुए दिखाये जाते है, इसमे 'हर' की पुत्री पद्मावती की समानता, पार्श्वनाथ की यक्षिणी पद्मावती जिसके सिर पर सप्त फणी सर्पों का छत्र है, से की जाती है।

जांगुली जो अक्षोभ्या से दूसरी ध्यानी बुद्ध है, सर्प देवी मानी गई है। साधन माला की सगीति के अनुसार यह बुद्ध से भी पहले की है क्योंकि बुद्ध ने अपने शिष्य आनंद को इसकी पूजन का मत्र बताया था और यही साधनामाला मे 'तारा' के नाम से जानी जाती है।[2] भय आठ प्रकार के माने गये हैं। सर्प भय भी एक है पर 'तारा' का नाम लेते ही सब भय दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार जैन धर्म में पद्वती देवी है जिसका नाम लेते ही सब भय दूर हो जाते हैं जैसा कि पद्मावती स्तोत्र मे उल्लेख है।[3] जांगुली के सिर पर पंच फणी छत्र, बायें हाथ मे सर्प पकड़े हुए, दायें हाथ मे वज्र और कुंडली मारे सर्प पर आसीन है।[4]

अमोघ सिद्धि, जो चौथी तथा नेपाली बौद्धों के अनुसार पांचवी ध्यानी बुद्ध है, का वाहन गरुण है। पुराणो के अनुसार गरुड और सर्प एक दूसरे के शत्रु होते है। इससे साधनमाला मे सप्त फणी सर्प के समान छत्र को धारण किये—बताया गया है।[5]

हिन्दू धर्म मे सर्प को धारण किये बलराम जी की मूर्ति मिलती है।[6] बिष्णु को तो शेष शय्या पर दिखाया गया है तथा विष्णु के सिर पर पच फणी सर्प छत्र दिखाया जाता है।

सर्पों (नागों) के विषय में जान लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है। प्रमुख नाग आठ प्रकार अद्भुत पद्मावती कल्प[7] रघुनदन तिथि तत्व[8] तथा मल्लिषेण के भैरव

---

१ पद्मपुराण, पृ. २

२ बी. भट्टाचार्य : इन्डियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी, पृ. १८५

३ तारात्वं सुगमागमे, भगवती गौरीति शैवागमे।
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता॥
गायत्री श्रुतिशालिनी प्रकृति रित्युक्तासि साख्यागमे।
मातर्भारति ! किं प्रभूत भाषितैर्व्याप्तं समस्त त्वया॥
श्लोक २०॥
पद्मावती स्तोत्र, भैरव पद्मावती कल्प परिशिष्ट ५ पृ.

४ पिक्चर गैलरी : बड़ौदा स्टेट म्युजियम, बड़ौदा।

५ बी. भट्टाचार्य : इन्डियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी पृ. ५, फलक ८ (सी)।

६ वदोह ग्वालियर में बलराम की मूर्ति फलक xviii, ए गाइड टू दी आर्कोलाजीकल म्युजियम, ग्वालियर।

७ अनंत, वासुकी, तक्षक, कारकोटक, पद्म, महापद्म, शंख पाल कुलिक। अद्भुत पद्मावती कल्प चतुर्थ ४६; इन्डियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी; पृ. ५६।

८ तिथित्तत्व पृ. १२; संपादित मथुरानाथ शर्मा।

पद्मावती कल्प[9] में है। इसी प्रकार भैरव पद्मावती कल्प मे इन नागों की उत्पत्ति तथा वर्ण का उल्लेख मिलता है—वासुकी और शख, क्षत्रिय, अनन्त और कुलिक-ब्राह्मण, तक्षक और महापद्म-वैश्य तथा कारबोटक और पद्म शूद्र वर्ण के। वर्ण के अनुसार रंग भी चित्रित किया गया है—क्षत्रिय वर्ण के सर्प लाल रग के, ब्राह्मण-मयक, वैश्य-पीले तथा शूद्र वर्ण के सर्प काले रंग के होते हैं।[10]

अमिताभ के सेवक के रूप मे आठो प्रकार के नागो का उल्लेख किया गया है। इन ध्यानी बुद्ध, शुक्ला, कुरुकुल्ला का निरूपण पद्मावती के रूप में कर सकते है ऐसा ब्राह्मण और जैन दर्शन मे है।[11]

इसी प्रकार तीसरी सदी का अभिलेख, जो भरहुत स्तूप के द्वार से प्राप्त हुआ—मे नाग राजाओ की राजधानी पद्मावती का उल्लेख है। इस नगर का उल्लेख विष्णु पुराण तथा भवभूति के 'मालती माधव' मे भी किया गया है।[12]

कुमार स्वामी ने नागों को जल चिह्न भी माना है। पद्मा को धन तथा समृद्धि की देवी कहा गया है तथा इसे 'श्री' से जाना जाता है। इसी आधार पर नव प्रकार की निधि-पद्म, महापद्म, मकर कच्छप, मुकुद, नीम, वर्च्छ, नंद और शख के रूप मे मानी गयी है। इन निधियों का संबध सर्पों से इसलिए है; क्योंकि प्रत्येक सर्प फण में एक विशेष प्रकार की मणी रहती है। उस मणी को जल में से ही प्राप्त करते हैं। इसीलिए समुद्र को रत्नाकर कहा गया है।[13]

नव प्रकार की निधि और आठ प्रकार के सर्प माने गये है। लक्ष्मी का जन्म समुद्र से हुआ जो निधि तथा सर्पों का वास है इससे धन देवी लक्ष्मी को सर्प देवी पद्मा के रूप मे माना जाना स्वाभाविक लगता है।

इस प्रकार हिन्दू, शैव, बौद्ध, और जैनधर्म में सर्प देवी के उल्लेख मिलते है, पर उसके नाम अलग-अलग है। जैनधर्म में पद्मावती सर्प देवी की कथा इस प्रकार है।

"पूर्व जन्म पद्मावती तथा धरणेद्र नाग, नागिन थे। ये दोनों एक लकड़ी मे थे, उस लकड़ी को एक साधु ने आग मे लगा दिया था। उसी समय भगवान पार्श्वनाथ वहां पहुँच गये और दोनों नाग नागिन की रक्षा की, पर वे झुलुस गये थे। मरते समय पार्श्वनाथ ने दोनों को णमोकार मत्र सुनाया जिसके प्रभाव से मरकर भवनवासी देव (युगल) के रूप मे उत्पन्न हुए।[14] जब भगवान पार्श्वनाथ तप कर रहे थे तब पार्श्वनाथ के शत्रु कमठ ने इनका तप भंग करने के लिए उपसर्ग किया तब दोनों ने मणी मयी फण तान कर भगवान पार्श्वनाथ की पाहन वर्षा से रक्षा की।[15] ये दोनो पार्श्वनाथ के भक्त थे।

पद्मावती का स्वरूप :

पद्मावती देवी के चार हाथ जिनमें दाँयी ओर का का एक हाथ वरद मुद्रा मे रहता है और दूसरे हाथ में अंकुश। बाँयी ओर के एक हाथ मे दिव्य फल और दूसरे में पाश रहता है।[16] अकुश और पाश से लपटें निकलती रहती है।[17] इसके तीन नेत्र होते हैं। तीसरा नेत्र कोध के समय ही खुलता है तथा उसमे से विकराल क्रोधाग्नि निकलने लगती है।[18] इसके सिर पर पंच फणी सर्प छत्र रहता है।[19] देवी का वाहन कुर्कुट है[20] जिसकी एक बूंद

---

९ भैरव पद्मावती कल्प अ० १० श्लोक १४।

१० वही, १५-१६।

११ पद्मपुराण, पृ. २, भैष्य पुराण, भैरव पद्मावती, कल्प १०-१४।

१२ दी साइट आफ पद्मावती—वाई. एम. वी. गद्रे, आर्कालाजीकल सर्वे आफ इंडिया वार्षिक रिपोर्ट १९१५-१६, पृ. १०४-१०५।

१३ बनर्जी जे. एन : डब्लपमेंट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ. ११६, पाठ टिप्पणी १।

१४ भावदेव सूरि : पार्श्वदेव चरित्र ६,५०-६८।

१५ गुणभद्र : उत्तर पुराण ७३. ३३९-४०।

१६ भैरव पद्मावती कल्प २,१२।

१७ "व्याघ्रो रोल्का सहस्र ज्वलदलल शिखालोलपाशांकुशाढये।" पद्मावमी स्तोत्र, श्लोक १; भैरव पद्मावती कल्प, पृ. ७८।

१८ वही २,१२; २, २।

१९ हेमचन्द्राचार्य : अभिधान चिंतामणी, पृ. ४३।

२० पाशाङ्कुशो पद्म वरे रक्तवर्णा चतुर्भुजा।

में समूचे विश्व को समाप्त करने की शक्ति है।[२१] पद्मावती के दो रूप—सौम्य रौद्र। रौद्र रूप से अत्याचारियों का नाश होता है और सौम्य से विश्व कल्याण। सौम्य रूप में होने पर देवी के शरीर से उषा काल के सूर्य की आभा-सी फूटने लगती और चेहरा प्रसन्न हो जाता है तथा हाथ पैरों से कमल की सी सुगन्ध निकलने लगती है।[२२]

उक्त विवरण ज्ञात करने के बाद पद्मावती देवी के विषय मे पुरातात्विक तथा साहित्यिक साक्ष्यों को दृष्टिगत कर लेना आवश्यक है।

पुरातात्त्विक :

साहित्य मे पद्मावती और अम्बिका को एक ही माना गया है पर पुरातत्त्व मे इन दोनो की भिन्न-भिन्न मूर्तिया है। अम्बिका[२३] को प्राचीन काल की तथा पद्मावती की मध्यकाल की अनेक मूर्तिया प्राप्त होती है।

खड गिरि की गुफा में चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं उनके नीचे चौबीस जिन शासन देवी हैं इनमे चार हाथ वाली यक्षिणी पद्मावती भी है।[२४] अक्कनवस्ति नाम का मन्दिर, जो श्रवण बेलगोल में है, का निर्माण शक स० ११०३ है। उस मन्दिर के गर्भ गृह मे पार्श्वनाथ है तथा गर्भ गृह के दरवाजे के दोनो ओर धरणेंद्र और पद्मावती की करीबन तीन फुट ऊची मूर्तियाँ है।[२५] चन्द्रगिरि पर्वत (मैसूर) पर कत्तलेवस्ति नामक मदिर के बरामदे मे पद्मावती की मूर्ति है।[२६]

नालंदा उत्खनन में एक चतुर्भुजी यक्षी की मूर्ति प्राप्त हुई है, जो पद्मावती की है। यह उत्तरी भारत में अपनी समता नहीं रखती।[२७] नालंदा के एक जैन मदिर में प्रवेश करते ही दांयी ओर के एक आले मे एक सप्त मणी करीबन डेढ़ फुट की पार्श्वनाथ[२८] प्रतिमा है, उभय पार्श्व में चमरधारी पार्श्वद खड़े हैं तथा निम्न भाग में चतुर्भुजी देवी पद्मावती हैं।[२९]

पूना के आदीश्वर मन्दिर में एक पद्वती मूर्ति है जो फूलो और वस्त्रो से सुसज्जित है सुसज्जित है।[३०] वर्धा जिले के सिंधी ग्राम के मन्दिर मे एकसुन्दर भूरे पाषण की खड्गासन पद्मावती मूर्ति है[३१]। इसी प्रकार नागपुर के मन्दिर मे भी काले पाषाण की देवी की मूर्ति है[३२]।

साहित्यक :

देवी पद्मावती का तीसरी सदी के निर्वाण कलिका[३३] तथा वि० स० छठवी सदी के तिलोय पण्णत्ति[३४] में उल्लेख मिलता है। इसके बाद मुनि कुमारसेन के विद्यानु-

---

पद्मा कुक्कुटस्था ख्याता पद्मावतीति चा। ३७।
अपराजिता पृच्छा २२१।

२१ भावदेव सूरि : पार्श्वनाथ स्तोत्र ८, ७२८।

२२ मल्लिषेण सूरि : भैरव पद्मावती कल्प परिशिष्ट ५, श्लोक २-८, पृ. २६-२७।

२३ हरिद्वर्णा सिंह सस्था द्वि भुजा च फलं वरं।
पुत्रेणोपास्य माना च सुनोत्संगा तथाऽम्बिका ।।३६।।
अपराजिता पृच्छा सू. २२१।

२४ बनर्जी जे. एन. : जैन आइकोनोग्राफी, क्लासीकलएज पृ. ४१४ विद्याभवन बंबई।

२५ जैन शिलालेख सग्रह प्रथम भाग, शिलालेख क, १२४, ३२७, पृ. ४३, ४४।

२६ वही पृ. ५-६।

२७ आर्कोलाजीकल सर्वे आफ इडिया वार्षिक रिपोर्ट १९२५-२६, पृ. १२५, फलक lvi-lvii, रिपोर्ट १९३०-३४ पृ. १६५, फलक cxxxvii व lxviii; रिपोर्ट १९३५-३६ फलक xvii; गाइड टू राजगिर—कुरेशया और घोष।

२८ मौलो फणि फणाः सप्त नय श्री भिः कराइव।
धृताः शांत रसास्वादे यस्य पार्श्वः स पातु वः ।।१२६
अमरचद सूरि कृत पद्मानंद महाकाव्य।

२९ मुनि कांतिसागर : खोज की पगडडियां, पृ. १९९।

३० जैन एन्टीक्वेरी, जि. १६, क्र. १ जून ५० पृ. २०।

३१ मुनि कातिसागर : खंडहरों का वैभव, पृ. ४०, पाद टिप्पणी १।

३२ जैन सिद्धांत भास्कर : भाग २०; कि. २, दिसं. ५३, पृ. ५१।

३३ पादलिप्त सूरि : निर्वाणकलिका पृ. ३४, फतेह चंद वेलानी जैन ग्रंथ और ग्रंथकार, जैन सस्कृति मंडल वाराणसी, पृ. २।

३४ यतिवृषभः तिलोयपण्णति; ; प्र. भा. (४,९३६) पं० जुगलकिशोर मुख्तार : पुरातन जैनवाक्य सूची सरसावा; भूमिका पृ. ३४।

शासन ग्रंथ जो लगभग वि० सं० की आठवीं सदी का है, मे धरणेन्द्र पद्मावती को मन्त्र के अधिष्ठातृ देवता के रूप में माना है[३५]। वि० सं० ६वीं सदी में भगवज्जिनसेताचार्य ने 'पार्श्वाभ्युदय' का निर्माण किया जिसमें धरणेंद्र पद्मावती का वर्णन है। वादिराज सूरि ने वि० सं० १०८२ में पार्श्वनाथ चरित्र की रचना की। इसमें कमठ उपसर्ग का वर्णन है तथा धरणेंद्र पद्मावती का उल्लेख है। श्वेताम्बर आचार्य भावदेव सूरि ने भी पार्श्वनाथ चरित्र की रचना की जिसमें धरणेंद्र पद्मादती का जीवन परिचय दिया[३६]। मल्लिषेण सूरि ने भैरव पद्मावती कल्प की रचना की जिसमें देवी पद्मावती का वर्णन किया[३७]। जिनप्रभ सूरि ने विविध तीर्थ कल्प की रचना की, जिसके पद्मावती कल्प में देवी के चमत्कारों की कथा का वर्णन है[३८]। साथ ही पद्मावती चतुष्पदी प्राकृत काव्य की रचना की जिसमे ४६ गाथाएँ हैं[३९]।

'मुनि वंशाभ्युदय' कन्नडी भाषा के काव्य ग्रथ की पांचवीं संधि में देवी का उल्लेख है। इसके अलावा माणिक्यचन्द्र, सकल कीर्ति, पद्मसुन्दर और उदयवीर गणि द्वारा रचित पार्श्वनाथ चरित्रों में कमठ कथा और देवी की भक्ति का उल्लेख मिलता है।

महत्त्व :

जैनधर्म में २४ तीर्थंकरों की निर्धारित शासन देवियाँ हैं[४०]। इन सब में अधिक महत्त्व तेइसवे तीर्थकर पार्श्वनाथ की शासन देवी पद्मावती को दिया गया है।

भगवान् पार्श्वनाथ के समय में जैनधर्म को अधिक उन्नत करने में पद्मावती का योग रहा है तथा इनके पति धरणेंद्र ने कमठ उपसर्ग से पार्श्वनाथ की रक्षा की, इससे गुणो के संग्रह मे 'दक्ष' और जिन शासन की रक्षा में निपुण होने के कारण 'यक्ष' की सज्ञा दी गई[४१]।

ब्र० नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष और देव चन्द्र कृत 'राजा वलि कथे' मे उल्लेख है कि भट्टाकलंक का विवाद बौद्धों के साथ वि० स० सातवी सदी में हुआ था तब देवी के द्वारा बताये गये उपाय से ही तारा, जो बौद्धों की देवी है, को हराया था। 'राजा बलि कथे' कन्नडी ग्रंथ है जिसका अंग्रेजी अनुवाद रायस महोदय ने किया है।

आराधना कथाकोष से ज्ञात होता है कि आचार्य पात्र केसरी की शंका का समाधान पद्मावती ने किया था जिसका समर्थन श्री वादिराजसूरि के न्यायविनिश्चयालंकार से होता है[४२]। इस घटना का उल्लेख श्रवण वेलगोला के शिलालेख न० ५४ से होता है—"देवी पद्मावती सीमधर स्वामी के समवशरण मे गयी और गणधर के प्रसाद से एक ऐसा श्लोक लायी जो त्रिलक्षण के कदर्थन का मूलाधार बना[४३]।

भद्रबाहु स्वामी ने 'उवसग्गहर स्तोत्र' का प्रारम्भ भगवान पार्श्वनाथ और पार्श्वयक्ष स्तुति से किया है इस स्तोत्र से यह स्पष्ट है कि मुनि भद्रबाहु स्वामी के सघ की रक्षा धरणेंद्र पद्मावती ने एक व्यतर के उपसर्ग से की थी[४४]। इसी कारण यह स्तोत्र धरणेंद्र पद्मावती की भक्ति से परिपूर्ण है। भगवती सूत्र में भी देवी का उल्लेख है[४५]।

---

३५ मुनि सुकुमार जैन : विद्यानुशासन प्रथम कल्प 'भैरव पद्मावती कल्प।

३६ यह ग्रंथ हरगोविंद दास और बेचरदास द्वारा संपादित तथा प्रकाशित सन् १६१२।

३७ मल्लिषेण सूरि : भैरव पद्मावती कल्प अध्या० ३।

३८ जिनप्रभ सूरि : विविध तीर्थ कल्प; सिंघी जैन ग्रथमाला वि. सं. १६६० पृ. ६८-६६।

३६ बेलनकर : जैन रत्नकोष, जि. १, भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, १२४४, पृ. २३५।

४० बनर्जी जे. एन. जैन आइकोनोग्राफी : पृ. ४२५, एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, विद्या भवन बंबई।

४१ तस्या: पतिरतु गुणसंग्रहदक्षचेता यक्षो ब भूव जिनशासन रक्षणज्ञः। राजसूरि पार्श्वनाथ चरित्र १२,४२ पृ. ४१५।

४२ महिमास पात्रकेसरिगुरो; परं भवति यस्य भक्त्यासीत् पद्मावती सहाया त्रिलक्षणं कदर्थनं कर्त्तुम्। न्यायविनिश्चयालंकार।

४३ जैन शिलालेख सग्रह : प्रथम भाग पृ. १०१।

४४ भद्रबाहु स्वामी .। उवसग्गहर स्तोत्र' जैन स्तोत्र संदोह, भा. २ पृ. १-१३ डा. जे.सी. जैन : लाइफ इन एन्सीयण्ट इंडिया एज डिपेक्टेड इन जैन केनन्स पृ. २२६।

प० जिनदास ने होली रेणुका चरित्र की रचना की जिससे ज्ञात होता है कि उसके पूर्वज हरपति को देवी का वर प्राप्त था[४६]।

"भैरव पद्मावती कल्प' मे पद्मावती की १००८ नामों से स्तुति की गई है। इसी प्रकार उसमें पद्मावती कवच, स्तोत्र, स्तुति आदि दी गई है[४७]।

श्रीमती काउझे ने 'एन्शियण्ट जैन हिम्म' मे पार्श्वनाथ स्तवन संकलित किया। इस स्तवन के श्लोक श्री नय विमल सूरि के है। इसके नवमे और दसवे श्लोक मे पद्मावती की स्तुति की गई है। दशवे श्लोक की आलोचना करते हुए श्रीमती काउझे ने कहा "दशवा श्लोक देवी पद्मावती के मत्र की महत्ता को बताता है यह पार्श्वनाथ की शासन देवी है। इसकी अत्यधिक पूजा अर्चना की गई है[४८]। इसी प्रकार जैन स्तोत्र समुच्चय मे घोघामंडन पार्श्व जिन का नवमा श्लोक और पार्श्व जिन स्तवन का पद्रहवां श्लोक पद्मावती की भक्ति के लिए ही रचे गये है[४९]।

इस प्रकार पद्मावती का महत्त्व प्राचीनकाल से रहा है और इस कारण प्रत्येक जैन क्षेत्र पर पद्मावती देवी की मूर्ति की स्थापना की जाने लगी है। श्री महावीर जी मे नव निर्मित शाति नगर मे चौबीसी के बाद पद्मावती देवी की मूर्ति प्रतिष्ठापित है।

पद्मावती सम्बन्धित साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्य अधिक प्राचीन प्राप्त होते है। इससे यह कहा जा सकता है कि जैन वाङ्मय में पद्मावती देवी की परिकल्पना सबसे पहले की गई। उसके बाद बौद्धों ने उसी को तारा तथा अन्य ध्यानी बुद्ध के रूप मे साहित्य मे लाये और बाद मे हिन्दू तथा शैव मे भी। इस प्रकार पद्मावती सर्प देवी को ही अन्य रूपों में प्रदर्शित किया होगा। वही परम्परागत चली आ रही है।

आज पुन: इस देवी की महत्ता बढ़ी और उसे तीर्थ स्थानों पर तथा पार्श्वनाथ मन्दिरो में स्थापित की जाने लगी है। ★

४५ भगवती सूत्र पृ. २२१।

४६ पूर्वं हरिपतिर्नाम्नलिब्ध पद्मावती वरः। होली रेणुका चरित्र प्रशस्ति, अग्रभाग जैन प्रशस्ति संग्रह वीर सेवा मंदिर दिल्ली, पृ. ६४, श्लो. २९।

४७ भैरव पद्मावती कल्प पृ. ९९-१२७।

४८ काउजे : 'एन्सियण्ट जैन हिम्स' पृ. ४९।

४९ जैन स्तोत्र समुच्चय पृ. ४७, श्लो. ९ और पृ. ५७, श्लो. १५।

कांचन का निवेदन

अपनी मानसिक व्यथा सुनाते हुए कांचन ने स्वर्णकार से कहा—इस समय आपके अतिरिक्त मेरा कोई भी स्वामी नहीं है। मैं आपके अधिकार में हूँ। स्वामिन्! मेरा जन्म स्थान पृथ्वी का निम्नतम स्थान था। मिट्टी मिश्रित होने से मैं हत-प्रभ-सा हो रहा था। मुझे अब यह विश्वास तक नहीं था कि मैं आपकी शरण में आकर भी अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर सकूंगा। मैं बहुत ही सौभाग्यशाली हूँ कि ऐसे समय में भी मुझे आपके दर्शनों का सुअवसर प्राप्त हुआ। आपके उपकार से मैं कभी भी उऋण नहीं हो सकता। आपके अनुग्रह से ही संसार में मेरा अत्यधिक महत्व बढ़ा है।

मेरा एक विनम्र निवेदन है कि आप मेरा उपयोग जो चाहें, करें। अनल की प्रचंडतम ज्वाला में मुझे झोंक सकते हैं। विभिन्न तीक्ष्णतम अस्त्र-शस्त्रों से मेरा छेदन-भेदन कर सकते हैं। लोहे के कठोर हथौड़ों से मुझे ताड़ित भी कर सकते हैं। आपका मेरे पर पूर्ण अधिकार है। किन्तु स्वामिन्! भूल-चूक कर भी आप मुझे कभी तुच्छ गुंजा के साथ मत तोलना। उस अनमोली के साथ मुझे बैठाकर अपनी कृति का अपमान न कराएँ। उसमें सहनशीलता का नाम तक नही है। इसलिए कष्टों के भय से उसका मुख काला हो गया है और शेष भाग दूसरों के गुणों को देखकर जलने के कारण लाल हो गया है। ऐसे निम्न व्यक्तियों की संगति मेरे लिए कभी सुखावह नहीं हो सकती। एक बार पुन: प्रार्थना है कि मुझे अब कभी इस अधमा से मत तोलना। —मुनि कन्हैयालाल

शीलव्रती सुदर्शन

परमानन्द जैन

भारत के पूर्वी अंचल मे अग देश की राजधानी चम्पा थी। वहा राजा धाड़ी वाहन राज्य करता था। उसकी रानी का नाम अभया था। उसी नगर मे सुदर्शन नाम का अत्यन्त रूपवान और दयालु एक नगरसेठ रहता था। वह धर्मात्मा, सच्चरित्र और औदार्य आदि सद्गुणो से भूषित था। उसका आचार-विचार अत्यन्त सीधा-सादा था, वह दीन-दुखियो के दुख को दूर करना अपना कर्तव्य मानता था। उसका शरीर तेजपुज से आलोकित था। उसके विचारो मे स्थिरता और करुणा की झलक मिलती थी। श्रावक व्रतों का अनुष्ठाता, गभीर, वाणी मे मधुरता, सत्यता एव स्नेह और क्षमा का भडार था। उसकी मनोरमा नाम की धर्मपत्नी अत्यन्त रूपवान, सुशीला, विदुषी तथा कर्तव्यपरायणा थी। वह अपने पति के समान ही उच्च विचारो और सद्गुणों से भूषित थी। उसके चार पुत्र थे जो सुन्दर, गुणग्राही, आज्ञाकारी और अपने माता पिता के समान ही धार्मिक, समुदार एव परोपकारी थे। ज्येष्ठ पुत्र सुकान्त बड़ा ही धर्मात्मा और कर्तव्यपरायण था। सेठ सुदर्शन का घर उस समय स्वर्ग-तुल्य बना हुआ था।

सुदर्शन का मित्र कपिल नाम का एक प्रोहित था। एक दिन वह प्रयोजनवश कपिल के घर गया। कपिल ने उसका आदर सत्कार किया, और कुशल वार्ता होने के पश्चात् दोनों मित्र सौहार्द वश किसी विषय मे विचार-विनिमय करने लगे। उसी समय प्रोहितजी की धर्मपत्नी कपिला ने कमरे में प्रवेश किया, कमरे में प्रविष्ट होते ही उसकी नजर सुदर्शन पर पड़ी। वह सुदर्शन की रूप-राशि को देखकर उनके रूप पर मुग्ध हो गई। थोड़ी देर में सुदर्शन अपने घर वापिस चला गया। कपिला सुदर्शन की चाह में व्याकुल एवं खेद-खिन्न होने लगी, उसे खाना-पीना आदि सभी कार्य विरस हो गये, उसका जी अब किसी कार्य मे नही लगता था। क्योकि उसका अन्तर्मानस कामकी दाहक अग्नि से प्रज्वलित जो हो रहा था। शरीर अशान्त और ताप-ज्वर से विकल हो रहा था। काम-ज्वर ने उसे डस जो लिया था, वह विवेकशून्य हो गई। रात्रि में प्रयत्न करने पर भी उसे नीद नही आती थी। उसका मन वासना से अधिकृत हो गया था। वह निरन्तर इसी सोच-विचार मे निमग्न रहती थी कि किसी तरह उसकी भेट सुदर्शन से हो जाय, परन्तु ऐसा अवसर मिलना कठिन ही था।

कुछ दिनो बाद कपिल ब्राह्मण कार्यवश ग्रामान्तर चला गया। कपिला ने सोचा आज का दिन शुभ है, मेरी अभिलाषा उपायान्तर से फलवती हो सकती है। कोई त्रिया चरित्र खेलना चाहिए, जिससे सुदर्शन को अपनी चंगुल मे फसाया जा सके। ऐसा विचार कर एक चतुर दासी सुदर्शन के पास भेजी, उसने जाकर सुदर्शन से कहा कि आपके मित्र कपिल प्रोहित सख्त बीमार है, जब कभी होश में आते है तब सुदर्शन की रट लगाते है। अतः आप तत्काल चले और उन्हे सान्त्वना दें, जिससे उनकी अभि-लाषा कम हो। सुदर्शन ने जब अपने मित्र की बीमारी का हाल सुना तो वह उससे मिलने के लिए उत्सुक हो उठा और तुरन्त ही उठकर पुरोहित के मकान की ओर चल दिया। घर पहुँचते ही दासी ने एक कमरे की ओर संकेत किया, वह वहा चले गए। वहा सेठ ने दूर से ही सफेद चादर ओढ़े हुए मित्र को पलग पर सोते हुए देखा, अन्दर मे सिसकियाँ भरने की आवाज आ रही थी, सुदर्शन ने उसके समीप पहुँच कर चादर को जरा हटाया तो वहा मित्र की बजाय मित्रपत्नी के सोनेका आभास मिला। सुदर्शन तत्काल समझ गया कि यह कोई मायाजाल रचा गया है। वह तत्काल वहां से मुड़ा तो देखा कि बाहर से किवाड़ बन्द हैं, पीछे की ओर झांका तो मनोहर वेष-भूषा में सामने कपिला खड़ी है। सुदर्शन ने डांट कर कहा मुझे

यहां क्यों बुला रखा है ? उसने कहा आप इन्द्र के समान सुन्दर ओजस्वी हैं, इतने दिनों से मैं आपकी चाह मे थी। बड़ी कठिनता से आज यह योग मिला है। सुदर्शन ने उसे अनेक प्रकार से समझाया तो भी उसके मदन का नशा न उतरा, प्रत्युत् वह कहने लगी कि या तो आप मेरा कहना माने अन्यथा मै होहल्ला मचा कर आपको बदनाम कर दूंगी। धर्मनिष्ठ सुदर्शन दोनों ओर सकट मे फस तो गया, किन्तु ऐसे विषम अवसर पर भी उसने विवेक और धीरता से काम लिया। वह घबडाया नही, प्रत्युत दृढता के साथ असत्य का आश्रय लेकर बोला—तू तो पगली हो रही है। मै पुरुष नहीं हूँ, सन्तान भी मेरी नहीं है, और न मेरे मे पुरुषत्व है। बात भरोसा करने लायक जैसी तो नही थी, किन्तु सेठ सुदर्शन ने अपने वाक् चातुर्य से उसे भरोसा करा दिया। वह खिन्न होकर ज्यों की त्यो खड़ी रह गई, सुदर्शन ने कहा, जो भी हुआ मेरी इस गुप्त बात को प्रकट मत करना। कपिला बोली, आप भी मेरी इस बात को आगे न बढाना। बस फिर क्या था, यह सन्धि दोनो को स्वीकृत हो गई। कपिला का संकेत पाकर बाहर से दासी ने दरवाजा खोल दिया। सेठ सुदर्शन वहां से इस तरह निकला जैसे बन्धन में पड़ा हुआ कोई बन्दी अप्रत्याशित मौका पाकर निकल जाता है। घर पहुँचकर उसने सदा के लिए यह नियम कर लिया कि मैं किसी स्त्री के आमन्त्रण पर कही नही जाऊगा।

× × ×

वसन्त ऋतु की मोहक छटा उपवन में भर गई थी, आम्र-मजरी पर कोयलों की कुहुक उठ रही थी। उद्यानों में पुष्पों की बहार आ रही थी। उद्यान पुष्पों की पावन सुरभि से सुवासित हो रहे थे। वसन्तोत्सव के दिन राजा और रंक सभी वन-क्रीड़ा मे रत हो रहे थे। सेठ सुदर्शन भी अपनी धर्मपत्नी मनोरमा और अपने पुत्रों के साथ वन-क्रीडा के लिए आया था। उसी उपवन में एक ओर रानी अभया और पुरोहित पत्नी कपिला भी बैठी हुई वसन्त की चर्चा कर रही थी। रानी अभया ने सुदर्शन और उसके परिवार को देखा, वह विस्मय में गोते खाने लगी। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि मेरे नगर में इतने सुन्दर लोग भी रहते हैं। हम राजा और रानी भी जिनके सामने कुछ भी नहीं है। मानों तीन लोक का सौंदर्य इनमें भरा है। रानी ने तत्काल कपिला से उनके सम्बन्ध मे पूछा। कपिला ने कहा—दुनिया बड़ी रंगबिरगी है, बाहर से कुछ लगती है और अन्दर से कुछ होती है। देखने में तो यह पुरुष कितना सुन्दर और मनमोहक है। इसका नाम सुदर्शन है, यह नगर का धनीमानी सेठ है। इसके चार पुत्र है, यह सुन्दरी इसकी पत्नी है, पर वास्तव मे यह हिजडा है।

रानी बोली ! कपिला तू किस सनक मे बह गई, जो तू बहकी हुई अप्रिय बाते कर रही है। ऐसा होना संभव नही। कपिला बोली ! रानी जी मैने जो कुछ कहा है वह सब यथार्थ है। रानी ! इतना सुन्दर कामदेव-सा रूपवाला तेजस्वी पुरुष और हिजड़ा यह सभव नही जचता। यह इतना सुन्दर और मोहक है, मन को अपनी ओर खीचनेवाला ऐसा पुरुष तो मैंने आजतक देखा ही नहीं, यह तो कही स्वर्ग के देवों से भी बढ़कर है।

कपिला ! यही तो बात है जो मन को आश्चर्य में डाल देती है।

रानी ! आश्चर्य तो इस बात का है कि तुझे इस बात का पता कैसे चला ?

कपिला ! बस, यह मत पूछो।

रानी को यह बात लग गई, नरमी-गरमी से उसे पटाया और सारी बात उससे पूछ ली। घटना सुनते ही रानी जोरों से हंस पड़ी और कहने लगी, तेरी जैसी मूरख औरत दुनिया में कोई नही है। और उसके जैसा चतुर पुरुष नही है। एक पुरुष से ठगी जाकर तूने नारी जाति को ही नीचा कर दिया। नारी की बुद्धि तो बड़ी पैनी होती है, पर आश्चर्य है उस समय तेरी बुद्धि कहां चली गई।

कपिला ! ताना मार कर लज्जित हो गई और उत्तर में ताना कस भी डाला। अच्छा मैं तो मूर्ख ही रही, पर आप तो चतुर है कुछ कर दिखाएंगी, तभी मैं आपका लोहा मानूंगी। व्यर्थ की बातों मे क्या धरा है ? वह पुरुष हो भी, तो उसे कोई पथभ्रष्ट नहीं कर सकता। वह पर स्त्री के विषय में कामविजेता वीतरागी है, वासना और प्रलोभन उसे अपने पद से जरा भी विचलित नहीं

कर सकते। वह इंद्रियजयी ओजस्वी नर है।

रानी सुदर्शन के रूप पर तो मोहित थी ही, और उस पर यह ताना तीर का काम कर गया। वह चट बोल पड़ी, अच्छा कभी देख लेना मेरा चातुर्य।

रानी! राजमहल में जाकर उपाय खोजने लगी। महलों पर रात और दिन कड़ा पहरा रहता था, उस पर राजा का भय खाये जा रहा था, प्रतिष्ठा भी उसे रह रह कर रोकती थी। वह अनजान पुरुष मेरे पास कैसे पहुँचे, दिन-रात इसी उधेड़ धुन मे लगी रहती थी। कामवासना ने उसे अन्धा जो बना दिया था। वासना कितनी बुरी चीज है, यह सब नहीं जानने, वासना का संस्कार मानव को पतन की ओर ले जाता है, कामी लोक, लज्जा, कुल एव प्रतिष्ठा सभी को तिलाजलि दे देता है। जिस तरह मदाध पुरुष को मार्ग नही दिखलाई देता, उसी तरह कामांध को भी सत्पथ नही सूझता।

रानी का हृदय वासना का शिकार बन चुका था, सुदर्शन कब मिले? इसी चिन्ता में उसका समय बीतता था। एक दिन उसने विश्वासपात्र अपनी पडिता नामक धाय को एकान्त में अपने पास बुलाया, और अपने मन की सारी व्यथा उससे कही। पंडिता धाय बहुत चतुर थी, उसने पहले तो रानी को बहुत समझाया, और कहा कि ऐसा जघन्य कार्य करना तुझे उचित नही है। पर इसका रानी पर रत्ती भर असर नही हुआ।

रानी बोली—तू क्यों भय खाती है, मै तुझे मुहमागा इनाम दूंगी, तू किसी तरह भी उस पुरुष को यहां ला दे। यह कार्य तेरे बिना अन्य किसी के द्वारा संभव नही है। रानी ने धाय को बहुत समझाया, डराया धमकाया और लालच भी दिया। पडिताधाय लालच मे आ गई, और उसने उसे गुरुतर कार्य करने की स्वीकृति प्रदान कर दी।

यह तथ्य है कि असभ्य और दुष्ट स्त्रियां कौन सा बुरा काम नहीं कर सकतीं। रानी ने कहा जा मेरा तेरे पर पूर्ण विश्वास है।

पडिता ने विचार किया, कि राजमहल के आगे एक-एक करके सात चौकियां हैं। प्रत्येक पर एक एक सिपाही पहरेदार है। पहले आने जाने का रास्ता खोलना चाहिए। एक दिन वह किसी शिल्पी के पास गई और मनुष्य आकार की उसने अनेक मूर्तियां बनवाईं।

विशाल विभूति का स्वामी होने पर भी सुदर्शन एक धर्मात्मा श्रावक था। वह घर में भी वैरागी था, विभूति पर उसे ममता नहीं थी, वह उसे अपनी नहीं मानता था। संसार मे रहता हुआ भी उससे सदा उदासीन रहता था, वह संसार से छुटकारा पाने के प्रयत्न में सदा लगा रहता था। अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करता था और कर्मनिर्जरा करने के लिए रात्रि में श्मशान भूमि में अष्टमी चतुर्दशी के दिन ध्यान लगाता था। इस गति-विवि को पडिता जानती थी। उसने सुदर्शन को राजमहल मे ले जाने का षडयन्त्र रचा।

पडिता विशालकाय और हृष्टपुष्ट थी। शारीरिक बल मे भी वह कम नही थी। किसी औसतन आदमी को वह कंधो पर बिठा कर आसानी से ले जा सकती थी। उसने मनुष्याकार की एक मूर्ति को कपड़े से ढककर तथा उसे सिर पर रख कर राजमहल की ओर आई। पहली चौकी के चौकीदार ने उसे रोका और कहा, मैं किसी चीज को बिना देखे अन्दर नही ले जाने दूगा।

धाय ने कहा—किसी को दिखलाने की रानीजी ने सख्त मनाही कर दी है।

सिपाही बोला—मेरा जो नियम है उसे निभाना ही पड़ेगा। यह कह कर वह उस मूर्ति का कपड़ा हटा कर उसे देखने का प्रयत्न करने लगा, पडिता बलपूर्वक आगे बढ़ने लगी। इसी वाद-विवाद मे पडिता ने वह मूर्ति नीचे गिरा दी और चिल्ला चिल्ला कर उच्च स्वर से कहने लगी—सिपाही तेरी मौत ही आ गई, तूने रानीजी की देव-पूजा मे भयंकर विघ्न उपस्थित कर दिया है, मैं तुम्हारी शिकायत महारानी जी से करूगी। वे तुम्हारी दुष्टता का फल मृत्युदण्ड दिलावेगी। इसमे तनिक भी सन्देह नहीं है।

उसे सुन सिपाही घबरा गया और पंडिता के पैरों में पड कर गिडगिडाने लगा, रानी से मत कहना। मैं अब तुझे कभी भी नहीं रोकूंगा। कुछ भी लेते जाना। पडिता ने चलते-चलते धीरे से उसके कान मे कुछ कहा, भाई! रानी जी पुत्र कामना से कंदर्प पूजा में लगी हैं। यह बात किसी से कहने-सुनने की थोड़े ही होती है। तुमने तो उस पुतले

को तुड़वा दिया। अब वे अपना व्रत कैसे पूरा करेंगी। बिना पूजा के वे भोजन भी नही करती हैं। अच्छा तो यही है, कि अब तुम मुझे कभी नहीं रोकना, चाहे मैं कुछ ले जाऊं। इसी तरह उसने क्रम से अन्य छह पहरेदारों को भी वश में कर लिया।

सुदर्शन अष्टमी का उपवास कर सूर्यास्त हो जानेपर रात्रि के समय श्मशान भूमि मे प्रतिमायोग से स्थित था। उसी समय रात्रि में वह पंडिता वहाँ गई और उससे बोली, तुम धन्य हो जो तुम पर रानी अभया अनुरक्त हुई है। तुम चलकर उसके साथ दिव्य भोगों का अनुभव करो। इस तरह पडिता ने अनेक मधुर वचनों द्वारा आकृष्ट करने का प्रयत्न किया; किन्तु सुदर्शन अपनी समाधि मे निश्चल रहा। लाचार हो उसने उसे अपने कन्धे पर रख लिया और महल मे लाकर अभया के शयनागार में रख दिया। तब अभयमती ने उसके समक्ष अनेक प्रकार की स्त्रीसुलभ कामोद्दीपक चेष्टायें की, किन्तु वह उसके चित्त को विचलित करने मे समर्थ न हो सकी। अन्त मे निराशा और उद्विग्न होकर उसने पंडिता से कहा, इसे वही ले जाकर छोड़ आओ।

पडिता ने बाहर निकल कर देखा तो प्रात.काल हो चुका था, तब उसने कहा कि अब तो सबेरा हो चुका है। उसे ले जाना सभव नही है। अब क्या किया जाय।

यह देखकर अभयमती किं कर्तव्यविमूढ हो गई। अन्त मे उसने उसे शयनागार मे कायोत्सर्ग से रखकर अपने शरीर को अपने ही नखो से नोंच डाला और रोती हुई चिल्ला कर कहने लगी, हाय, हाय, इस दुष्ट ने मुझ शीलवती के शरीर को क्षत-विक्षत कर डाला है। दौड़ो, लोगो दौडो, मेरी इससे रक्षा करो। इतने में किसी ने जाकर राजा मे कह दिया कि सुदर्शन ने ऐसा अकार्य किया है। राजा ने बिना कुछ विचार किये ही सेवकों को आज्ञा दी कि श्मशान में ले जाकर इसे सूली पर चढ़ा दो।

सेवक सुदर्शन को श्मशान भूमि में ले गए। सेवकों ने सुदर्शन पर तलवार के कई वार किये, किन्तु वे सब प्रहार पुष्पहार मे परिणत हो गए। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि पुण्यवानों का दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है। सुदर्शन अपनी सच्चरित्रता और अखड शीलव्रत के प्रभाव से संरक्षित हो गया।

जब यह समाचार राजा को ज्ञात हुआ तो वह भी दौडा चला आया। राजा ने देखा कि सुदर्शन दिव्य सिंहासन मे विराजमान है, और देवगण उसकी पूजा कर रहे है। और प्रजा सुदर्शन की जय के नारे लगा रही है। राजा को वस्तुस्थिति का ज्ञान करते देर न लगी। राजा ने अपने अपराध की क्षमा मागी, और सुदर्शन से कहा कि आप नगर मे चलिए और आधा राज्य लीजिए।

किन्तु सुदर्शन ने कहा, श्मशान भूमि से जाते समय ही मैंने यह विचार किया था कि यदि इस उपसर्ग से मेरी रक्षा हो जायगी तो मै पाणिपात्र मे आहार करूंगा—दिगम्बर मुनि हो जाऊंगा। उसने सुकान्त को विधिवत् सपत्ति का स्वामित्व प्रदान कर विमलवाहन मुनि के समीप दीक्षा ले ली। जब यह समाचार अभया को ज्ञात हुआ तो उसने भी वृक्ष से लटक कर आत्महत्या कर ली। दासी पडिता वहा से भाग गई।

मुनि सुदर्शन कठोर तपस्वी थे, उन्होने आत्म-साधना द्वारा स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने समताभाव का आश्रय लिया और अनेक उपसर्ग परीषह आने पर भी उनका मनसुमेर जरा भी न डिगा और कर्मबन्धन का विनाश कर वे अविनाशी पद को प्राप्त हुए।

एकता

हम सबको अपने हाथ की पांचों अंगुलियों की तरह रहना चाहिए। हाथ की अंगुलियां सब एक सी नहीं होती, कोई छोटी, कोई बड़ी; किन्तु जब हम हाथ से किसी वस्तु को उठाते हैं तब हमें पांचों ही अंगुलियां इकट्ठी होकर सहयोग देती हैं। हैं पांच, किन्तु काम हजारों का करती हैं, उनमें एकता जो है।

—विनोबा

भाग्यशाली लकड़हारा

परमानन्द जैन शास्त्री

कम्पिल नगर में राजा रिपुवर्द्धन राज्य कर था। वह राजनीति में अत्यन्त निपुण था और सदैव प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था। उसी राज्य मे अकिंचन नाम का एक लकड़हारा भी रहता था, दीनता के कारण वह अपने साथियों के साथ जंगल में लकडियाँ काट कर लाता और उन्हें बेचकर अपना निर्वाह करता था। एक दिन उसे जंगल में सौम्य मुद्रा के धारक साधु मिले। उसने हाथ जोड़ कर साधु को प्रणाम किया। साधु ने उसे मानव जीवन की महत्ता बतलाई और उसे सत्संग मे रहने की प्रेरणा दी। लकडहारा बोला महाराज उपदेश सुनने और सत्संग में रहने को जी तो बहुत चाहा करता है। परन्तु निर्धनतावश इस पापी पेट को भरने के लिए सुबह से शाम तक प्रयत्न करना पड़ता है। इससे सत्सग का लाभ उठाया नहीं जा सकता। सोचता तो जरूर हूँ पर उसके कारण धर्म-कर्म की कोई बात नही सूझती परन्तु दरिद्रता का अभिशाप खाएँ जा रहा है। आप जैसे सन्त पुरुष ही उससे मुक्ति दिला सकते हैं ?

साधु ने कहा, मानव जीवन की महानता सद्गुणों के विकास से होती है। उसके लिए उसे धर्मानुष्ठान और व्रताचरण करना आवश्यक होता है। धर्म का साधन केवल धर्म स्थानो मे ही नहीं होता, किन्तु घर मे उद्यानों और जंगलों में भी हो सकता है। धर्म त्याग और तपानुष्ठान में है। जीवन का प्रत्येक कार्य धर्म के साथ जुड़ा हुआ है। जहाँ मानवता, उदारता, परोपकार वृत्ति और क्षमा आदि सद्गुण पल्लवित होते है, वहाँ धर्म रहता है। धर्म का परिणाम अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति है। उसका सम्बन्ध अन्दर की निर्मल भावना से है। यह ठीक है कि तुझे समय कम मिलता है, पर यह भी ठीक है कि कुछ समय व्यर्थ भी गवां दिया जाता है। रात-दिन पेट की ही चिन्ता रहती है फिर भी जीवन की कुछ न कुछ व्रत-नियम तो कर ही सकता है।

अकिंचन ने कुछ सोच-विचार कर कहा। महाराज ! मै इस समय तो एक ही नियम कर सकता हूँ। मेरा लकडी काटने का ही काम है। पर आज से मैं हरे वृक्ष को नही काटूँगा। सूखी लकड़ी जहां से मिलेगी लाऊंगा और अपनी आजीविका चलाऊँगा।

साधु ने कहा, वत्स ! जाओ, और नियम का दृढ़ता से पालन करना।

वह प्रतिदिन अपने साथी लकड़हारों के साथ जगल जाता और नियमपूर्वक लकड़ियां लाता, और उन्हें बेच कर अपना जीवर निर्वाह करता। यह ध्यान अवश्य रखता कि मेरे नियम पालन में असावधानी न हो जाय। इस तरह ग्रीष्म ऋतु पूरी हो गई और वर्षा ऋतु आ गई। सूखा हुआ जगल हरा-भरा हो गया। सभी वृक्षों मे नई कोपले फूट आई। जगल मे सर्वत्र हरियाली ही हरियाली दिखाई देने लगी। सूखी लकड़ी मिलना कठिन हो गया। बहुत दूर और बहुत परिश्रम करने पर सूखी लकड़ी मिल पातीं। साथी लकड़हारे इससे परेशान थे। एक दिन प्रयत्न करने पर भी उसे सूखी लकड़िया न न मिली। अतः उसके साथियों ने उसे वहीं छोड़ दिया। भाद्रों, आश्विन मास की कड़ी धूप और जंगल ऊबड़-खाबड़ का बीहड़ रास्त, भूखापेट, सूखी लकड़िया न मिलने की परेशानी होते हुए भी अकिंचन ने हिम्मत न हारी। वह अपनेकदम आगे बढ़ाता गया। मानो वह अपनी मजिल की ओर ही वढ रहा हो। बहुत दूर चले जाने के बाद कही उसे सूखी लड़कियों का एक ढेर दिखाई दिया, वह खुशी से छलांगें भरने लगा। और यह सोचने लगा कि अब मुझे कई दिन तक सूखी लकड़ियाँ नही ढूढने पड़ेंगी। सीधा ही यहाँ चला आऊँगा, अपना गट्ठा बांध कर सीधा चला जाया करूँगा। उस दिन उसे गट्ठा लेकर पहुँचते-पहुँचते सूर्य अस्त हो चुका था। उसने सोच ।क,ल ही

बाजार जाऊंगा। और सौदा बेचूंगा, वह झट-पट अपना खाना पकाने बैठ गया।

धनदत्त सेठ ने अपने मित्रों को इसीदिन नगर के बाहर के एक उद्यान में दावत दी। सभी मित्र बड़े उत्साह से पधारे। एक मित्र को आने में कुछ विलम्ब हो गया। जब वह उस उद्यान की ओर जा रहा था, अकिंचन का घर भी बीच में आ गया। उसे सुरभि की मस्त गंध ने अपनी ओर आकर्षित कर लिया, वह उससे खिंचकर अकिंचन के घर आ गया। वहां उसने लकड़ियों का एक गट्ठर देखा जिसकी गंध से उसे बड़ा आश्चर्य हुआ था। उसने आते ही एक रुपया अकिंचन की ओर फेंका और कहा—इसकी एक लकड़ी मुझे दे दो। लकड़हारा बड़ा चतुर था, उसके मन मे विचार आया कि जब एक लकड़ी का एक रुपया सहज ही मिल रहा है, तो अवश्य ही इस लकड़ी में कोई न कोई चमत्कार है, वह तुरन्त बोल पड़ा—मुझे नही बेचना है, आगन्तुक व्यक्ति, क्यों नहीं बेच रहा है, क्या तेरे मन में कुछ लोभ समा गया है?

लकड़हारा—लकड़ियां मेरी अपनी है। मैं ही अपनी इच्छा का स्वामी हूँ, मुझे आप बेचने के लिए बाध्य नही कर सकते। आप यदि एक रुपया के बजाय अपना सारा धन ही मुझे सौंप दें, तो भी मैं देने के लिए तैयार नही हूँ। यदि आपकी मेहरबानी हो तो आप इस लकड़ी के गुण अवश्य बतलाएं। आपकी बात से इतना तो मुझे स्पष्ट हो गया है कि लकड़ी बहुमूल्य है।

आगन्तुक व्यक्ति ने कहा—यह तो बावना चन्दन है, लाखों रुपये में भी इसका मिलना दुर्लभ है।

अकिंचन ने हंसते हुए कहा—लाखों रुपये की मेरी सम्पत्ति क्या आप एक ही रुपये में खरीद रहे थे?

अकिंचन ने आगन्तुक सज्जन को लकड़ी का एक टुकड़ा बिना कुछ दिए ही प्रदान किया। और कहा—आपने तो मुझे इसके गुण बतलाकर बहुत उपकृत किया है। अन्यथा यह मेरी बहुमूल्य सम्पदा यों ही चली जाती।

प्रातः होते ही अकिंचन एक लकड़ी लेकर बाजार में गया। साथियों ने उसका मजाक उड़ाया और व्यंग कसते हुए कहा—हां, यह एक लकड़ी तेरा पेट अवश्य ही भर देगी? अकिंचन ने किसी की एक न सुनी, वह एक बड़े सेठ की दुकान पर पहुँचा और उसने उसे बेच कर सवा लाख रुपया ले लिये। अकिंचन के घर में अब किसी वस्तु की कमी नही थी, सांसारिक सुख के सारे प्रसाधन हो गए उसका विवाह भी हो गया। वह अच्छे से अच्छा व्यवसाय करने लगा, दिन पर दिन धन की वृद्धि होने लगी। उसे अपने नियम की महत्ता का मूल्य प्रतिभासित हुआ, उसे लगा कि नियम के बिना जीवन भारस्वरूप है। वह अब सत्समागम मे प्रतिदिन जाने लगा, जब उसे किसी महापुरुष का समागम मिल जाता तो वह उसका उपदेश सुनता और अपने जीवन की सफलता की कामना करता। इस तरह उसने धर्म के अनुष्ठान में अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया।

चेतन यह घर नाहीं तेरौ।

घट-पटादि नैननिगोचर जो, नाटक पुद्गल केरौ ॥टेक॥
तात मात कामनि सुत बंधू, करमबंध को घेरौ।
करि है गौन आन गति को जब, कोई नहीं आवत नेरौ ॥१
भ्रमत भ्रमत संसार गहन वन, कीयो आनि बसेरौ।
मिथ्या मोह उदै तें समझ्यो इह सदन है मेरौ ॥२
सदगुरु वचन जोइ घट दीपक, मिटै अलोक अंधेरौ।
असंख्यात परदेश ग्यानमय, जो जानउ निज डेरौ ॥३
ताल विध्य लय त्यागि आपको, आप आपमांहि हेरौ।
जो 'मनराम' अचेतन परसौं, सहजैं होय निवेरौ ॥४

मनराम

भगवान् महावीर का सन्देश

डा० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', एम. ए., पी-एच. डी., शास्त्री

विश्व के इतिहास मे ईसा पूर्व छठवी शती सांस्कृतिक क्रान्ति का युग माना जाता है। इस युग मे सम्पूर्ण ससार में अनेक प्रकार की उथल-पुथल हुई है। परिणाम स्वरूप अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन सामने आये। धर्म और दर्शन के क्षेत्र भी इससे अछूते नही रहे। इस क्रान्ति में भारत और विशेष रूप से बिहार प्रान्त (तत्कालीन मगध) की गौरवान्वित वसुन्धरा भला कैसे पीछे रह सकती थी। महामहिम महावीर और गौतमबुद्ध जैसे महापुरुषो का प्रादुर्भाव उसी समय का सुपरिणाम है।

वैशाली (वर्तमान बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर) की गणतन्त्र परम्परा के उन्नायक, ज्ञातृवंशीय राजा सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला से ईसापूर्व ५९९ में चैत्र शुक्ला १३ को जनमे बालक वर्द्धमान को शाही शान-शौकत और चमक-दमक तनिक भी प्रभावित नहीं कर सकी। उस समय हिंसा, पशुबलि और जातिपाति के भेदभाव चरम सीमा का स्पर्श कर चुके थे। वर्द्धमान बहुत साहसी, निर्भीक और विवेक सम्पन्न थे। उनके साहस, धैर्य और पराक्रम की बहुत सी कथाएँ प्रसिद्ध है। वह परम्परा और और परिस्थिति के अनुसार नही चला, बल्कि उसने परिस्थितियों को अपने अनुरूप बनाया। उसने क्रमशः परिस्थितियो पर ऐसा नियन्त्रण किया कि थोड़े ही समय में 'महावीर' कहलाने लगा। उसकी विभिन्न गतिविधियों के कारण उसे सन्मति, महति, वीर, महावीर, अन्त्यकाश्यप, नाथान्वय आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। उसने अपने व्यक्तित्व का कैसा विकास किया जिससे कि वह सामान्य मानव न रहकर 'महामानव', 'महापुरुष' और 'महात्मा' की कोटि मे अधिष्ठित हो गया।

अपने विकास के मार्ग में महावीर ने आत्मसाधना के अतिरिक्त चिन्तन, मनन, प्राणि-मात्र की हितैषिता एवं सर्वप्राणि-समभाव की उदात्त प्रवृत्तियों को भी आत्मसात् किया। साधना और ज्ञानोपलब्धि के पश्चात् उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को बिना किसी भेद भाव के कल्याण के प्रशस्त मार्ग का निर्देश किया। 'मित्ती मे सव्वूभएमु' (सब प्राणियो से मेरी मित्रता है) यह था भगवान महावीर का आदर्श। वे अहिसा के मूर्तमान प्रतीक थे। उनका जीवन त्याग और तपस्या से ओत-प्रोत था। उन्हे रचमात्र भी परिग्रह और ममता नही थी। सत्य का जिज्ञासु और अन्वेषक प्रत्येक मानव उनके सघ के नियमो को स्वीकार कर सकता था या संघ मे सम्मिलित हो सकता था। आगम ग्रन्थों मे इस प्रकार के उदाहरण प्रचुरता से मिलते है। जिनके अनुसार कोई भी प्राणी किसी भी कुल या जाति मे क्यों न उत्पन्न हुआ हो, यदि उसके कर्म उच्च प्रकार के है तो वह उच्च कुल या उच्च वर्ण का बन सकता था और यदि उसके कार्य निम्न कोटि के या निन्दनीय है, भले ही उसका जन्म उच्चकुल में हुआ है, तो वह निम्नतर वर्ण में पहुँच जाता था। इस प्रकार की सार्वजनिक प्रवृत्तियों ने सामाजिक सश्लिष्टता और सर्वोदय की भावनाओं को बल तो दिया ही, आत्म-विकास एव अभ्युदय के लिए सभी प्रकार के सीमा बन्धनों का अभाव भी कर दिया।

भगवान् महावीर ने अपनी दिव्य देशना के द्वारा प्राणिमात्र को सबोधित किया। पशु-पक्षी तथा विविध योनियों के प्राणी भी उनके उपदेश सुन सकते थे। उपदेश का माध्यम था—जन सामान्य की भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत। उन्होने कहा कि—सुख और दुःख की अनुभूति सभी को एक जैसी होती है। अतः कोई ऐसा कार्य मत कीजिए जो आपको और दूसरों को अप्रिय हो। इसी सन्दर्भ में उनका सन्देश है :—

समया सव्वभूएसु सत्तु मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवाय विरई, जावज्जीवाए दुक्करा॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १९-२५

'सभी प्राणियों पर समभाव रखें, चाहे वह आपका शत्रु हो अथवा मित्र। सभी को अपने समान समझें। यही अहिंसा (प्राणातिपात-विरति) है'।

उन्होने दया को धर्म का मूल बताया है :—

'इष्ट यथात्मनो देह, सर्वेषां प्राणिनां तथा।
एवं ज्ञात्वा सदा कार्या, दया सर्वा-सुधारिणाम् ॥'

—पद्मपुराण, १४-१८६

भगवान् महावीर ने कहा कि सृष्टि मे जितने प्राणी है सभी को जीने का हक है। अतः जानते हुए अथवा नही जानते हुए उनकी हिंसा न तो स्वय करे और न दूसरों से ही करवायें।

सव्वे प्राणा पियाउया,
सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा।
पियजीविणो जीविउकामा,
सव्वेसि जीवियं पियं ॥

—आचाराग सूत्र १-२-३

सभी प्रणियो को अपने-अपने प्राण प्रिय है, सब सुख चाहते है, दुःख पसन्द नही करते। हिंसा नही चाहते। जीने की इच्छा सभी मे है। अतः सबकी रक्षा करना मानव का कर्तव्य है।

प्रमाद सभी प्रकार के अनर्थों की जड़ है उससे व्यक्ति का भविष्य अन्धकार के गर्त मे पडता है। भगवान् महावीर ने समाज से आग्रह किया है कि वह प्रताद को छोड कर अपने कर्त्तव्यों का निर्वहण करे।

रिवप्पं न सक्केइ विवेगमेउं
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोय समया महेसी,
अप्पाण-रक्खी-रक्खी चरमप्पमत्तो ॥

उत्तराध्ययन सूत्र-४-१०

विवेक की उपलब्धि जल्दी नही हो जाती। उसके लिए महती साधना आवश्यक है। साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह काम-भोगो का परित्याग कर समता भाव से ससार को यथार्थ स्थिति का अनुभव करे, आत्मा को पाप से बचावे और पूरी तरह से प्रमाद को छोड़ कर विचरण करे।

वे बाह्याडम्बर और प्रदर्शन को अनावश्यक तथा हेय मानते थे। उन्होने कहा—

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥

उत्तरा २५-२९

शिर मुडा लेने से ही कोई 'श्रमण' नही बन जाता। केवल 'ओकार' का जप कर लेने से कोई 'ब्राह्मण' नहीं हो जाता। केवल जगलवास करने से ही कोई 'मुनि' नही बन जाता और न वल्कल वस्त्र पहनने मात्र से कोई तपस्वी ही हो जाता है। बल्कि—

समयाए समणो होइ, बभचेरेण बभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥

उत्तराध्ययन, २५-३०

समता पालने से 'श्रमण', ब्रह्मचर्य का पालन करने से 'ब्राह्मण' चिन्तन, मनन और ज्ञान के कारण 'मुनि' तथा तपस्या करने के कारण 'तपस्वी' होता है।

महावीर स्वामी ने क्रोध, मान, माया, और लोभ जैसे विकारी भावों को अपना अहित और अपयश कराने वाले बताकर उन्हे सभी अनर्थों के जड़ के रूप में निरूपित किया है। उन्होंने कहा—क्रोध को शान्ति से जीतो। क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है, अभिमान से अधम गति को पाता है। माया से सद्गति का नाश होता है और लोभ से इस लोक तथा परलोक—उभयत्र भय एव निन्दा होती है।

भ० महावीर समाज में राष्ट्रीय जागृति लाना चाहते थे। इसके लिए उन्होने 'विवेक' को जागृत करना आवश्यक बताया। विवेक होने पर ही उपदेश की सार्थकता है।

उद्देसो पासगस्स णत्थि,
बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे।
असिम दुक्खे दुक्खी,
दुक्खाणमेव आवट्ट अणुपरियट्टइ।

आचाराग सूत्र।

उपदेश की आवश्यकता सामान्य व्यक्ति को होती हैं, विवेकी के लिए कदापि नही। अज्ञानी राग-द्वेष से ग्रस्त और कषायों से पीड़ित तथा विषय-भोगों को कल्याणकारी

मानकर उसमें आसक्त रहने वाला मनुष्य, उनसे उत्पन्न होने वाले दुखों को शान्त नहीं कर पाता है। अतः शारीरिक और मानसिक दुखों से पीड़ित वह दुख चक्र में ही भटकता रहता है।

'नो लोगस्सेसणं चरे।' आचारांग सूत्र।

मानव विवेकी बने। देखा-देखी नहीं करे।

उन्होंने कहा—

'अप्पाणमेव अप्पाण, जइत्ता सुहमेह ए।'
(उत्तराध्ययन सूत्र ६-३५)

स्वयं ही स्वयं को जीतने से सच्चे सुख की उपलब्धि हो सकती है। अतएव आत्मनिग्रह के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

'बहुयं मा य आलपेत्।'

आवश्यकता से अधिक नही बोलें। क्योंकि बहुत से विवाद, कलह आदि ज्यादा और अनावश्यक बोलने से ही होते हैं। यदि, इस सदर्भ मे भ० महावीर के इस सन्देश पर विचार करें तो सहज ही वैर-भाव, विद्वेष और कलह आदि के कारणों का विनाश हो सकता है।

अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अन्तरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा, मायामोस विवज्जए॥
—दशवैकालिक ८-४६

विना पूंछे उत्तर न दे। दूसरों के बीच में नहीं बोले। पीठ पीछे किसी की निन्दा न करे। और बात करते समय छल कपट भरे और झूठे शब्दों का प्रयोग नही करना चाहिए।

अदत्तादान (चोरी की वस्तु) अनेक प्रकार के कष्टों की जड़ है। निन्दनीय है। मरण, भय, अपयश आदि का कारण तो है ही। अतः मालिक की आज्ञा के बिना किसी दूसरे की वस्नुएं ग्रहण न करें। उन्होंने सामाजिक सलिष्टता, श्रेष्ठ तपस्या, नियम, ज्ञान, दर्शन, संयम और विनय के लिए ब्रह्मचर्य को अपनाना आवश्यक बताया है।

महावीर स्वामी ने संसार के प्राणियों की मनोदशा का अवलोकन कर कहा 'मैं और मेरा' इस मन्त्र ने सम्पूर्ण विश्व को अन्धा बना दिया है, जब कि यह मन्त्र स्वयं बहुत कष्टदायी और अशान्ति का कारण है। अनासक्त भाव रखने से प्रत्येक स्थिति में सुख मिलता है।

भ० महावीर ने धर्म का सार्वभौम रूप विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने समझाया कि—धर्म वह है जिससे अपना और सबका कल्याण हो, विकास हो, उत्कर्ष हो। मानव अपनी इच्छाओ को वश में रखे। उससे स्वय सुखी होवे और दूसरो को भी सुखी होने का अवसर प्रदान करे। उन्होंने बताया कि भोगों का उपभोग करना बुरा नही है, बुरा है उनमें आसक्त हो जाना। मिठाई खाने से मुह अवश्य मीठा होता है किन्तु मात्रा से अधिक खाने से अजीर्ण के साथ साथ कीडे भी पडने लगते है। भोगों पर नियंत्रण रखने से जीवन, सुखी, स्वस्थ और समृद्ध हो सकता है। उनके सन्देश में विश्व-कल्याण की सामर्थ्य है। उनका जीवन, उनकी वाणी और सन्देश युग-युगों तक जनता का कल्याण करते रहेंगे।

भगवान महावीर ने अपने सन्देश में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर बहुत बल दिया। त्याग और संयम, प्रेम और करुणा, शील और सदाचार उनके प्रवचनों का सार है। आज का संत्रस्त विश्व धन्य हो जावे यदि वह भगवान् महावीर के इस छोटे-से सन्देश को अपना ले, जिसके अनुसार संसार के छोटे-बड़े सभी प्राणी हमारे ही समान है।

डहरे व पाणे वुड्ढे व पाणे।
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए॥

●

संतोषी सुखी है

अनन्त आशालताओं से बाग सरसब्ज हो रहा है। असीमित इच्छाएं आ-आ कर अपनी-अपनी कामनाओं का ढेर लगा रही हैं। बेचारा पथिक उनकी पूर्ति में जीवन की बाजी लगा रहा है। पर, इच्छा पूर्ति न होने से दुखी है। जो सन्तोषी है वह सुखी है, जो आशाओं के दास हैं वे संसार के दास हैं।

अखिल भारतीय जैन जनगणना समिति

मान्यवर,

भारत मे जैनो की सख्या एक करोड से अधिक है, किन्तु पिछली जनगणना के अनुसार मात्र बीस लाख बताई गई है, क्योकि धर्म के कालम मे हम मे से अधिकाश ने जैन न लिखाकर गोत्र या बिरादरी आदि लिखा दिया।

जनसख्या की गणना सही सही हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने को जैन लिखाये।

आगामी जनगणना फरवरी १९७१ मे होगी। आप से अनुरोध है कि आप अपने नगर तथा आस पास की सम्पूर्ण जैन समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यह अवगत करा दे कि जनगणना के अवसर पर धर्म (Religion) के दसवे खाने (कालम) मे अपने को मात्र जैन ही लिखाये।

इसके लिए उचित यह होगा कि एक स्थानीय जैन जनगणना समिति बना ले, जिसके कार्यकर्ता अपने नगर तथा ग्राम ग्राम के क्षेत्र मे इस बात को प्रचारित-प्रसारित करे तथा जनगणना के समय सूचना बनानेवाले अधिकारियो के साथ जाकर सही सही गणना करा दे। जैन धर्म और जैन सस्कृति के लिए यह महत्वपूर्ण कार्य होगा :

भवदीय—

सेठ शीतल प्रसाद जैन, अध्यक्ष

सकुमारचन्द जैन, मन्त्री

अ० भा० जैन जनगणना समिति

भगवान महावीर जयन्ती समारोह के शुभावसर पर जैन समाज से अपील

भारत मे भगवान महावीर का जन्म दिवस व्यापक रूप मे मनाया जाता है। इस अवसर पर हमारी जैन समाज के आचार्य महाराजो, मुनिगणो, त्यागी वर्ग तथा विद्वानो मे सविनय निवेदन है कि वे इस शुभ अवसर पर अपने शुभ सन्देशो, विचारों द्वारा जैन समाज को यह सन्देश पहुँचाएं कि सरकार द्वारा होने वाली जनगणना, जो फरवरी सन् १९७१ मे होने जा रही है उसमे अपनी सम्प्रदाय, जाति गोत्र आदि न लिखा कर केवल जैन ही लिखाएं। यह जानकारी गाँव-गाँव, स्त्री पुरुष एव बच्चो तक पहुँचनी आवश्यक है। यह एक महान् कार्य है। इसमे सफलता प्राप्त करने हेतु जैन समाज के प्रत्येक शुभ चिन्तक को जुट कर कार्य करने की प्रार्थना है।

महावीर जयन्ती पर होने वाले आयोजनो के कार्यकर्ताओ एव सयोजको से भी यह निवेदन है कि इस अवसर पर अपने पोस्टरो, हैण्डबिलो, निमन्त्रण-पत्रो व सभाओं के माध्यम से जन-गणना मे जैन लिखाने का व्यापक प्रचार करें।

निवेदक

भगतराम जैन

मन्त्री

अ० भा० जैन जनगणना समिति

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यो की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) मे भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बडा साइज, सजिल्द १५.००

(२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद मे युक्त, सजिल्द। ८-००

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

(६) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १-२५

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

(१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टो और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ४-००

(११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

(१३) तत्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५

(१५ महावीर का सर्वोदय तीर्थ ·१६ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका १६ पैसे, (१७) महावीर पूजा ·१६

(१८) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००

(१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोकी प्रशस्तियो का महत्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००

(२०) न्याय-दीपिका—आ अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० ७-००

(२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर शासन-सघ प्रकाशन ५-००

(२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठो में। पुष्ट कागज और कपडे की पक्की जिल्द। २०-००

(२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अग्रेजी में अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।